

भक्तिवर्त्मवर्तिविघ्नध्वान्तविदारकभगवद्ददानलावतार
महाप्रभु-श्रीमद्-वल्लभाचार्यचरण-प्रकटितः

तत्त्वार्थदीपनिबन्धः

भागवतार्थप्रकरणम्

(पञ्चमस्कन्धादारभ्य समाप्ति यावद्)



गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतया

योजनाख्यया व्याख्यया

सहितः



तृतीयो भागः



अन्यैश्चापि विविधैः ग्रन्थैः

विभूषितः

ग्रन्थप्राप्तिस्थल :

प्रस्तुत द्वितीय संस्करणके प्रकाशनमें सहयोगी महानुभावों तथा संस्थाओं की सूची :

- (१) गोस्वामिलालकायिल श्रीगोविन्दरायजी महाराज नाथद्वारा, राजस्थान-३१३ ३०१.
- (२) तृतीयपीठाधीश गोस्वामी श्रीधरजेशकुमार तृतीयपीठ, कांकरोली, राजस्थान-३१३ ३२४.
- (३) चतुर्थपीठाधीश गोस्वामी श्रीदेवकीनन्दनाचार्य द्वारा श्रीपावेंती बहुजी ए. ट्रस्ट, चतुर्थपीठ, गोकुल, मथुरा, उत्तर प्रदेश-२८१ ३०३.
- (४) पंचमपीठाधीशात्मज गोस्वामी श्रीगिरधर गोविन्दरायजी पंचमपीठ, कामां, भरतपुर, राजस्थान-३२१ ०२२.
- (५) गोस्वामी श्रीरघुनाथलाल महाराज मनुभवन, भगतसिंह मार्ग, पाल, बम्बई-४०० ०५६.
- (६) गोस्वामी श्रीराजकुमार गोपीनाथजी महाराज बड़ा मन्दिर, श्रीजीवनजी महाराज लेन, भुलेश्वर, बम्बई-२
- (७) गोस्वामी श्रीगोकुलनाथजी महाराज बड़ा मन्दिर ट्रस्ट श्रीजीवनजी महाराज लेन, भुलेश्वर, बम्बई-४०० ००२.
- (८) श्रीवल्लभविद्यापीठ—श्रीविठ्ठलेश प्रभुचरण आ. हो. ट्रस्ट वंभव को-ओपरेटिव हाउसिंग सोसायटी, पूना-बेंगलोर रोड, कोल्हापुर-४१६ ००१.
- (९) "पुष्टि प्रकाशन" अडैल, महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य मार्ग, नयाशहर, किशनगढ, अजमेर-३०५ ८०२.

प्रथम संस्करण : वि. सं. १९९१

प्रस्तुत द्वितीय संस्करण : वि. सं. २०४०

जी. वरदराजन्

एसोसिएटेड एडवर्टाइजर्स एण्ड प्रिंटर्स

५०५ तारदेव, आर्थर रोड,

बम्बई-४०० ०३४.

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

आमुख

यद्दर्शनं निगमआत्मरहःप्रकाशं मुहान्ति यत्र कवयोजपरा यतन्तः ।
तं सर्ववादिषयप्रतिरूपशीलं बन्धे महापुरुषमात्मनि गूढबोधम् ॥

यद्दर्शनं निगमआत्मरहःप्रकाशम्

“आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः” जैसे उपनिषदवचनोंमें श्रवण-मनन-निदिध्यासनरूप उपायोंद्वारा जिस वेदैकवेद्य आत्मरहस्यका दर्शन या प्रकाशन अभीष्ट है, वह पीरुष प्रयासको दृष्टियत करके विहित हुआ है. यदि जीवात्माके प्रयासोंद्वारा किसी उपलब्धिकी वात करनी हो तो कहना पड़ेगा कि साधककेलिए वेदान्तवचनोंका श्रवण-मनन-निदिध्यासन अनिवार्य कर्तव्य है. इसी तरह भक्तिमार्गीय साधककेलिए भी भागवतादि ग्रन्थोंमें वर्णित भगवल्लीलाओंका श्रवण-कीर्तन-स्मरण आवश्यक है.

ज्ञानमार्गमें ब्रह्मसाक्षात्कारहेतु जैसे ज्ञानमार्गीय उपायोंकी कुछ मर्यादा हैं, उसी तरह भक्तिमार्गमें भी भगवत्प्राकट्यहेतु कुछ भक्तिमार्गीय उपायोंकी भी मर्यादा हैं ही. साधक ज्ञानमार्गीय हो या भक्तिमार्गीय पुरुषोपायोंके द्वारा ब्रह्मके जिज्ञास्वरूपका अथवा भजनीयरूपका प्राकट्य संभव है. यह शास्त्रीय सिद्धान्त है. अतः साधनोपदेश करनेवाले शास्त्र तत्तन्मार्गीय उपायोंका पुरुषार्थत्वेन विधान करते हैं. कर्ममीमांसाकी भाषामें कहें तो शास्त्र तत्तन्मार्गीय नित्य-नैमित्तिक-काम्य उपायोंमें पुरुषकी प्रवृत्तिके हेतु विधि अथवा अनुपायसि निवृत्तिके हेतु निषेध करते हैं.

यद्यपि ज्ञान एवम् स्नेह दोनों ही कर्मकी तरह पुरुषतन्त्र न होकर वस्तुतन्त्र या स्वतन्त्र ही होते हैं. फिरभी ज्ञानजननानुकूल व्यापारमें जिज्ञासु पुरुषकी

प्रवृत्ति एवम् तत्प्रतिकूल व्यापारसे जिज्ञासु पुरुषकी निवृत्ति के हेतु जैसे ज्ञान-मार्गीय विधि-निषेधोंकी सार्थकता है, वैसे ही भक्तिजनमानुकूल एवम् तत्प्रतिकूल व्यापारोंमें भावुक पुरुषकी प्रवृत्ति-निवृत्तिके हेतु भक्तिमार्गीय विधि-निषेधोंकी भी सार्थकता है. अतएव ज्ञानमार्गीय साधकको जैसे तन्मार्गीय विधि-निषेध बन्धनकारी होते हैं, वैसेही भक्तिमार्गीय साधकको भी भक्ति-मार्गीय विधि-निषेध बन्धनकारी होते हैं.

तत्तन्मार्गीय साधकको जैसे तत्तन्मार्गीय विधि-निषेध बन्धनकारी होते हैं, क्या उस तरह तत्तन्मागनुसारी परमेश्वरके जिज्ञास्यरूप या भजनीयरूप के लिए भी तत्तन्मार्गीय विधि-निषेधोंके बन्धन अनिवार्य माने जा सकते हैं ? साधारण साधककी तरह परमेश्वर भी यदि तत्तन्मार्गीय शास्त्रोंके विधि-निषेधोंके बन्धनसे परे न हो तो उसे 'परमेश्वर' कहना ही निरर्थक हो जाता है. यदि शास्त्रीय विधि-निषेधोंके बन्धन आत्मकृत बन्धन है, अतः वे परमेश्वरके निरंकुश ऐश्वर्यके विपरीत नहीं हैं, ऐसा कहा जाता है तो वह केवल वाग्विबलस ही है, अर्थात् यह बन्धन है ऐसा स्वीकारते हुए भी बन्धन नहीं भी है ऐसे स्वीकारना है. वास्तविकता यही है कि शास्त्रीय बन्धन अनीश पुरुषके लिए ही बन्धन होते हैं. परमेश्वर पुरुषोत्तमके लिए नहीं. अतएव निजप्राकट्यके जो शास्त्रविहित उपाय हैं अथवा शास्त्रनिषिद्ध जो अनुपाय या दुरुपाय हैं, उनकी परवाह किये बिना ही परमेश्वर स्वेच्छया सर्वजनगम्य या विशेषानु-ग्रहभाजनगम्य होकर प्रकट हो सकता है.

ज्ञान एवम् भक्ति जैसे परमात्मप्राकट्यके पुरुषोपाय हैं उसी तरह इच्छा एवम् अनुग्रह स्वप्राकट्यके लिए पुरुषोत्तमोपाय हैं. काम क्रोध भय द्वेष सीहूद सम्बन्ध स्नेह ज्ञान आदि वृत्तिशाले सभी तरहके अधिकारियोंके समक्ष न केवल भगवान् प्रकट हुए अपितु उन्हें मुक्ति या भक्ति का भी दान दिया ऐसा वर्णन भागवतमें मिलता है. अतएव परमानन्ददासजी ऐसी भगवल्लीलाका यज्ञोपान करते हैं : "कौन रस गोपिन लीनों घूंट ? परमानन्द वेदसागरकी मर्यादा गई तू !"

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण भी अतएव कहते हैं कि श्रीकृष्ण अद्भुत-कर्मा हैं. ऐसे कि असाधनको भी साधन बना लेते हैं—“असाधनमपि साधनं करोति”.

यही कारण है कि जो श्रुतियाँ—“स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्” या “आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः.” कहती है, उन्हें ही यह भी कहना पड़ता है कि “नः यमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन यमेवेष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्”. नाम-रूप-कामत्मिक अंगभूत जगत्में अप्रकट अंशी सच्चिदानन्दको प्रकट करनेके जितने यथार्थ उपाय ज्ञानमार्ग एवम् भक्तिमार्ग हैं उतना ही यथार्थ एक तीसरा उपाय पुष्टिमार्ग भी है. ज्ञानमार्ग तथा भक्तिमार्ग पुरुषोपाय हैं तथा पुष्टिमार्ग पुरुषोत्तमोपाय है. इनमेंसे किसी भी एक उपायके बारेमें अत्याकारिताकी मनोवृत्तिका अतएव कुछ भी शास्त्रीय औचित्य नहीं है. वेदस्तुति (भाग. १०) में श्रुतियोंका यह निवेदन वर्णित हुआ है कि प्राण-मन-इन्द्रियोंको निरुद्ध कर निजहृदयमें मूनिजन जिसकी उपासना करते हैं, उसी परमेश्वरको द्वेषपूर्वक स्मरणद्वारा उसके शत्रु भी प्राप्त कर लेते हैं. जिन भगवान्के कमनीय भुजदण्डोंको कामभावसे निरखनेवाली स्त्रीजन पा लेती हैं, उन्हीं भगवान्के चरणकमलोंमें रहे मकरन्दके आस्वाद हेतु लालायित श्रुतिगण भी समदर्शी भगवान्के लिए समान ही होनी चाहिये !

ज्ञानमार्ग या भक्तिमार्ग रूप पुरुषोपाय जीवात्माको परमात्माके ज्ञेयरूप या भजनीयरूप के अभिमुख बनाते हैं, परन्तु जबतक परमात्मा किसी जीवात्माका शत्रुत्वेन या भक्तत्वेन वरण नहीं करता, तब तक उस परमात्माके ज्ञेयरूप या भजनीयरूप का विवरण उसके संमुख नहीं हो पाता. यह ज्ञानमार्ग या भक्तिमार्ग की औत्सर्गिकी मर्यादा है. और जब वह परमात्मा किसी जीवात्माके सम्मुख ज्ञेयात्मना या भजनीयात्मना प्रकट होता चाहता है तो बस वह पहले प्रकट हो ही जाता है. उसके ज्ञेयात्मना प्रकट हो जानेपर जीवात्मा वादमें कभी ज्ञाता बन जाती है. अथवा उसके भजनीयात्मना प्रकट हो

जानेपर बादमें कभी जीवात्मा भक्त बन जाती है. यह आपवादिकी रीति पुष्टिमाग है.

इस आपवादिकी पुष्टिरीतिके कारण जब परमात्मा द्वेष्यात्मना किसी जीवात्माके सम्मुख प्रकट हो जाता है तो वह जीवात्मा अपने चित्तकी द्वेषयमी एकाग्रताके कारण भी मुक्त हो जाती है. यही गति उन जीवात्माओंकी भी होती है जिनके समक्ष परमात्मा भयंकर शान्त अथवा कान्तके रूपमें प्रकट हो जाता है.

चित्तकी तीन (राग, द्वेष या उदासीन) तरह की अवस्थाओंके अनुरूप सर्वप्रथम रागके बारेमें कुछ जान लेना उपयुक्त होगा. रागात्मिका वृत्ति हमारी अप्रतिषिद्ध तथा प्रतिषिद्ध भी हो सकती है. शास्त्रतः या लोकतः अप्रतिषिद्ध रागात्मिका वृत्तिको हम संसारमें सर्वजनसहज भी मान सकते हैं. प्रतिषिद्ध रागात्मिका वृत्ति सर्वजनसहज नहीं होती. वे अविबेकपूर्ण तथा आवेशातिरेकवश असहज विकृतिके रूपमें हमारे भीतर पनप जाती हैं. माता-पिता-सन्तती, बन्धु-बान्धव पति-पत्नी या स्वामि-सेवक आदि सम्बन्धोंमें अप्रतिषिद्ध रागात्मिका वृत्तिके उदाहरण खोजे जा सकते हैं. इसी तरह परधन, परपत्नी या परपति आदिमें रागात्मिका वृत्ति लोकतः तथा शास्त्रतः प्रतिषिद्ध होनेपर भी आवेशातिरेकवश यदा-कदा हमारे भीतर एक विकृतिके रूपमें प्रकट होती देखी जाती है.

भागवतवर्णित भगवल्लीलाओंका सूक्ष्मेक्षिकया अवलोकन करनेपर यह स्पष्ट होता है कि सहज रागात्मिका वृत्तियोंवाली जीवात्माओंके बीच प्रकट भगवान्ने निजमाहात्म्यके शनैःशनैः ज्ञापनद्वारा तथा उन-उन वृत्तियोंके अनुरूप अपने स्वरूप तथा लीलाओं द्वारा उन वृत्तियोंका वास्तव्यभाव्वात्मिका सख्यभाव्वात्मिका माधुर्यभाव्वात्मिका या दास्यभाव्वात्मिका भक्तिमें उदात्तीकरण किया था.

जबकि द्वेषभावात्मिका और औदासीन्यभावात्मिका वृत्तियोंकी तरह प्रतिषिद्ध रागात्मिका वृत्तियोंको मुक्तिमें पर्यवसित कर दिया था.

किसी भी स्थितिमें इतना तो स्पष्ट ही है कि स्वेच्छया प्रकट हो जानेपर श्रास्त्रोंके कर्मज्ञानभक्तिमार्गीय विधिनिषेधोंकी मर्यादाओंके सेतुको परमेश्वर मदमत गजराजकी तरह छिन्नभिन्न कर देता है. "वही हमसे साधु कर्म करवाता है जब हमें ऊपर उठाना चाहता है और वही हमसे असाधु कर्म करवाता है जब हमें नीचे धकेलना चाहता है" (कौ. उ. ३/९) यह उत्सर्ग या मर्यादा है शास्त्रवर्णित, परन्तु इसके अपवादकी पुष्टि भगवान्की लीलामें प्रदर्शित हुई है. कभी भगवान्से द्वेषभाव रखनेवालेको असाधु कर्मोंके फलरूपेण मुक्तिदानद्वारा ऊपर उठाया गया है और कभी नहीं भी! कभी साधुकरूप यम-नियम-स्वाध्याय-तप-व्रतादिमें तत्पर किसी साधकको उत्तम फलसे वंचित भी रखा गया है.

वस्तुतः तो विधि-निषेधके बन्धन खड़े करना या उन्हें तोड़ना ये दोनों ही भगवान्की लीलामें हैं. एक शास्त्रप्रमाणसे सिद्ध तथा दूसरी शास्त्रप्रमेयरूप स्वयम् परमेश्वरके संकल्प तथा सामर्थ्य द्वारा साधित. भगवान्के भूतलपर सर्वजनमध्यतया प्रकट हुए विना, "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" तथा "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः न मेधया न बहुना श्रुतेन यमेवैष वृणुते तेन लभ्य" जैसे परस्पर विरोधाभासी निगमवचनोंमें छिपा हुआ गूढ रहस्य, किसे समझमें आ सकता है! अतएव कहा गया है कि "यद्दर्शनं निगमआत्मरहः प्रकाशम्".

परब्रह्म परमात्मा भगवान् पुरुषोत्तम श्रीकृष्णद्वारा तत्तद् अधिकारियोंके तत्तद् रसभावोंके आलंबनविभावात्मना प्रकट तत्तद्रूपोंका वर्णन भागवत (१०।४३।१७) में बहुत सुन्दर उपलब्ध होता है :

"जब अपने अग्रज बलरामके साथ भगवान् कंसके दरबारी रंगमंचकी ओर आगे बढ़ने लगे तो वहाँ उपस्थित मल्लोंको प्रतीत हुआ कि विजली-सी अब उनपर गिरनेवाली है, साधारण मनुष्योंको लगा कि कोई श्रेष्ठ नर उनके सम्मुख आ रहा है, स्त्रियोंको प्रतीत हुआ कि साक्षात् मूर्तिमान् कामदेव ही उनके समक्ष प्रकट हो गया है, गोपगण तो भगवान्को अपना स्वजन ही समझ

रहे थे, दुष्टराजाओंके किन्तु लगा कि यह उनके शासनार्थ कोई चक्रवर्ती सम्राट आगया है, वसुदेवदेवकी तो उन्हें अपना शिशु मान कर कुशलक्षेमकी चिन्तासे प्रसन्न हो गये, कंसको लगा कि कृष्ण नहीं किन्तु साक्षात् मृत्यु ही उसके प्राण हरनेको आ रही है, अज्ञानियोंको किन्तु रक्तरीजित ब्राह्मणोंको धारण करनेवाले कृष्ण सुन्दर नहीं लगे, योगिजन जो वहाँ उपस्थित थे उन्हें तो अपनी योग-साधनाके सिद्धिरूपेण परतत्त्वका ही साक्षात्कार कृष्णदर्शनरूपेण हुआ और वृष्णिओंको लगा कि कोई देवाधिदेव आज उन्हें दर्शन देने आया है।”

परस्पर कितने विरुद्ध रूप तथा शील, एक ही स्थलपर एक ही कालमें उपस्थित अनेक दर्शकोंके भावोंके आलम्बन बनकर, भगवान्‌ने प्रकट किये !

श्रुति कहती है कि “बहुत सारे तो ऐसे स्वरूपकी बात सुन ही नहीं पाते और जो सुन पाते हैं वे सुनकर भी समझ नहीं पाते, जो इस तत्त्वकी बातें करता है वह भी उसे समझकर नहीं किन्तु विस्मिततया ही कुछ कहता रहता है, कुशल तो वही है जो इसे पा लेता है” (कठो. २।७). अन्यथा ‘अजपर’ विद्वानोंके भीतर परमेश्वरके दर्शन करनेपर ज्ञानके बजाय मोह ही क्यों उत्पन्न होता ?”

मुह्यन्ति यत्र कवयोऽजपराः यतस्तः

श्रुतिमें इस प्रश्नका अद्भुत समाधान उपलब्ध होता है. वहाँ (तै. आ. ३।१३।३) कहा गया है कि “वह परमात्मा अजायमान होनेपर भी बहुधा जन्मग्रहण करता रहता है. इसका रहस्य (कोरे पाण्डित्यसे नहीं किन्तु) धीर पुरुष ही भलीभाँति समझ पाते हैं.” स्वयमेव भगवान्‌को भी अतएव गीतामें यह खुलासा देना पडा है कि वे अज अविनाशी आत्मा तथा सकल लोकके परमेश्वर हैं, फिरभी अपनी प्रकृतिमें अधिष्ठित रहते हुए आत्ममायासे जन्मग्रहण करते हैं. देहदृष्टिसे जन्ममृत्युके चक्रमें प्रसन्न होनेपर भी आत्मदृष्टिसे तो हम भी अज-अविनाशी हैं. और उतना ही माहात्म्य यदि परमेश्वरका भी हो तो ईश्वर-ईशित्वमें कोई तारतम्य नहीं रह जाता है. परन्तु हमारे जन्म-ग्रहणकी प्रक्रियाका परमेश्वरके दिव्य जन्म-कर्मोंसे यह अन्तर है कि हमारे

जन्म-कर्म परमेश्वरकी मायाके अधीनतया होते हैं तथा परमेश्वरके जन्म-कर्म उस मायाको स्वाधीन रखते हुए संपन्न होते हैं (द्रष्टव्य गीता ४।६-९ तथा ९।७-९०).

अतः आत्मदृष्टिसे हमारा अज होना एक सहज तथ्य है और अतएव शाश्वत आत्मामें जन्ममृत्युका आभास एक मायिक घटना है. परमेश्वरकेलिए जैसे अज होना उसका सहज स्वभाव है वैसेही दशरथात्मज या तन्दात्मात्मज होना भी उसका सहज सामर्थ्य है. इसी ‘सहज सामर्थ्य’ को ‘आत्ममाया’ कहा गया है. आत्ममाया आत्मतन्त्र होती है आत्मा मायातन्त्र नहीं. वस ! इतनेमें सारी कथा भागवतकी कही जा सकती है. परन्तु देहकी मायिक क्षणभंगुरतासे भयभीत साधक जब आत्माके अमायिक अजत्व-अविनाशित्वका अवलम्बन अधीरतया करता है, तब परमात्माके दिव्य जन्म-कर्मोंको भी अपनी कूपमण्डूकता-वश अपने जन्म-कर्मोंकी तरह मायिक तथा अजत्व-अविनाशित्वको अपने अजत्व-अविनाशित्वकी तरह मायोपहित मान लेता है. मायाके अधीन जन्मकर्म तथा मायाको स्वाधीन रखकर जन्मकर्म के बीच रहे अन्तरको वह पहचान नहीं पाता. हमारा यह जन्म हमारे प्राप्तन कर्मोंके दुःखद फलभोगके बन्धन-तया होता है, जबकि भगवज्जन्म माया-काल-कर्म-स्वभावादि सभी शक्तियोंको स्ववशमें रखकर दिव्य लीलाकी इच्छाके कारण ही होता है. परन्तु अधीर अजपर विद्वान् इस अन्तरको समझ न पानेसे मुग्ध हो जाते हैं. अतएव कहा “मुह्यन्ति यत्र कवयोऽजपराः यतस्तः”

भगवान्‌का अज होना या तन्दात्मात्मज होना, दोनों ही दिव्य तथ्य हैं. परन्तु अत्याकारितासे अजपर होना निगमवर्णित आत्मरहस्यके प्रकाशनमें व्यवधान उत्पन्न करना है.

तं सर्वं वादिविषयप्रतिरूपशैलम्

ब्रह्म तो उभयरूप होता है (दृष्टव्य बृहद् २।३।१ तथा तै. आर. ३।१।४।२) मूर्त-अमूर्त मर्त्य-अमृत चल-अचल, प्रकट-अप्रकट, क्षर-अक्षर तथा अज-नन्दात्मज

आदि. इन दो तरहके रूपोंमेंसे किसी भी एकको अत्याकारितया स्वीकार कर अपर रूपका प्रत्याख्यान सत्य (सत्+त्यत्) ब्रह्मकी सत्यताको इन्कारना है. ऐसी संकीर्ण दृष्टि रखनेका श्रुति निषेध करती है "नेति नेति" कह कर ब्रह्म मूर्तामूर्तरूपादि विरुद्ध धर्मोंकी समष्टी ही केवल नहीं अपितु अविरुद्ध आश्रय भी है. वह, अतएव, "सत्यस्य सत्यम्" है. महाप्रभु कहते हैं कि ब्रह्म सर्ववादानवसर तथा नानावादानुरोधी है (दृष्टव्य भाग ६।१।३६ तथा १०।१६।३३). ब्रह्मवादके अनुसार, अतः अन्य जितने भी वाद (नामतः, माया-वाद प्रकृतिवाद परमाणुवाद कर्मवाद स्वभाववाद कालवाद या अभाववाद आदि) हैं उन्हें अत्याकारवश प्रस्तावित न किया जाये तो वे अन्धहृस्ती-न्यायके अनुसार प्रामाणिक हैं. यही ब्रह्मकी नानावादानुरोधिता है. अर्थात् नाना वादोंद्वारा प्रतिपाद्य माया प्रकृति परमाणु कर्म स्वभाव काल आदि रूप धारण करनेकी क्षमता है. श्रुतिमें भी तो कहा गया है कि "तं यथा यथोपसते तथैव भवति" (मुद्गलो. ३।३) इसी तरह गीता (४।११) में भी कहा गया है कि "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्". ब्रह्मकी इस नानावादानुरोधिताका ही निरूपण महाप्रभुने सिद्धान्तमुक्तावली (का. ३-५) में इन शब्दोंमें किया है: "सच्चिदानन्द ब्रह्मके नामरूपकामरिभक इस जगत्की व्याख्या विभिन्न वादी विविधतया करते हैं. कोई इसे मायिक, कोई प्राकृत, कोई परमाणु-आरब्ध कोई स्वतन्त्र, यों अनेकधा व्याख्या करते हैं. वास्तविकता परन्तु यह है कि एक वही ब्रह्म इन सारे रूपोंमें प्रकट होता है. श्रुतिका तो यही मत है, "भागवतमें भी यही बात निरूपित हुई है—"तं सर्ववादविषयप्रतिरूप-शीलम्" द्वारा.

इस 'सर्ववादविषयप्रतिरूपशीलम्'के दोनों ही अर्थ शक्य हैं. एक तो यह कि जितने भी वाद हैं उनके प्रतिपाद्य-विषयों (माया-प्रकृति आदि) के अनुरूप ब्रह्म अपना शील-स्वभाव प्रकट करता है. दूसरा अर्थ यह भी सम्भव है कि ब्रह्मवादके अलावा सभी वादोंके विषयोंके विपरीत भी ब्रह्मके रूप तथा स्वभाव हैं. कोई भी वाद ब्रह्मतत्त्वका पूर्णतया निरूपण नहीं कर पाता. फिर भी सभी वाद ब्रह्मतत्त्वके ही विभिन्न रूपोंका अपर्णतया निरूपण करते हैं.

श्रीशंकराचार्यको अभिमत मायावादके अनुसार द्वैतघटित सभी गुण-धर्म-रूप, चाहे दिव्य हों या अन्यथा, जहाँ जिस ब्रह्ममें वे भासित होते हैं वहीं उनका अभाव भी होता है. इसे ही "स्वप्रतिपन्नोपाधी त्रैकालिकनिषेध-प्रतियोगित्वम्" कहा जाता है.

उदाहरणतया भगवान् श्रीकृष्णके ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान वैराग्य आदि गुण, श्यामल रूप तथा मनोहारिणी आकृति आदि ब्रह्मरूप अधिष्ठानमें भासित भी होते हैं तथा उनका वहीं अभाव भी है. माखनबोरीकी लीलामें वैराग्य गुणका अभाव है तथा ब्रजको त्याग कर मथुरा-द्वारका जा बसनेमें वैराग्य गुणका भास भी होता है. अतः वैराग्य गुण 'स्वप्रतिपन्नोपाधिमें निषेधप्रतियोगी' है.

इस भगवत्स्वरूपवर्णनकी शैलीका भलीभाँति अध्ययन करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि मायिक गुणधर्मरूपाकृतिकी तरह माया भी स्वप्रतिपन्नोपाधि-रूप ब्रह्ममें स्वनिषेधकी प्रतियोगी है. ऐसी स्थितिमें मायाप्रतिपादक वाद भी निरूप्य-निरूपकभावरूप सम्बन्धवश ब्रह्ममें भासित होता है तथा उसका वहाँ अभाव भी है. इसी तरह अन्यवादोंमें भी गति है. अतः ब्रह्मनिरूपणार्थ ये सारेके सारे मायावादादि वाद मिथ्या वाद सिद्ध होते हैं. क्योंकि ब्रह्म सर्व-वादानवसर है. यह निषेधात्मक दृष्टिकोण है.

महाप्रभु इसे अस्वीकार नहीं करते किन्तु इसमें इतना और जोड़ते हैं कि वही ब्रह्म नानावादानुरोधी भी बन जाता है. यह विधानात्मक दृष्टिकोण है. यही है प्रतिपाद्य सभी उपनिषदोंका गीताका ब्रह्मसूत्रका तथा भागवतका भी. इसे ही हम भी भागवतके आद्योपदेशरूप चतुश्लोकीके त्रिमशंसे प्रारम्भ करेंगे.

भागवतका आद्योपदेश

सर्वप्रथम सर्गादिमें भगवान् नारायणके मुखसे ब्रह्माजीको जो उपदेश प्राप्त हुआ; वह अति सूवात्मक था. केवल चार श्लोकोंमें निबद्ध. पश्चात् ब्रह्माजीने अपने पुत्र नारदजीको वह उपदेश कुछ विस्तारपूर्वक दिया. यह द्वितीयोपदेश करीब एकसौ पच्चीस श्लोकोंमें निबद्ध हुआ है. तृतीयोपदेशमें

ब्रह्माजीकी आज्ञानुसार नारदजीने विपुल विस्तार किया। भगवद्ज्ञानावतार वेदव्यासजीने उस विस्तीर्ण भगवल्लीलाक्याको अपनी समाधिमें साक्षात्कार द्वारा संवादित भी किया। यहाँ आकर वह कथा अठारह हजार श्लोकपरिमित विस्तीर्ण हो गई। चतुर्थोपदेशके रूपमें अपने पिता वेदव्यासजीसे सीखकर पंचमोपदेशके रूपमें श्रीशुकमुनिने परीक्षितराजाको यह कथा सुनाई। इस तरह उपदेशपरम्परा आगे बढ़ती चली गई है, जो इस लेखनका विषय नहीं है प्रकृत प्रसंगमें भागवतके आद्योपदेशके चार श्लोक यों हैं :

अहमेवासमेवाप्रे नान्यद् यत्सवसत्परम्

पश्चादहं यदेतच्च योवशिष्येत् सोऽस्यहम् ॥ १ ॥

ऋतेयं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि

तद्विद्यादात्मनो मायां यथाभासे यथा तमः ॥ २ ॥

यथा महान्ति भूतानि भूतेषुच्यावचेष्टवन्-

प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेऽवहम् ॥ ३ ॥

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनात्मनः

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत्स्यात्सर्वत्र सर्वदा ॥ ४ ॥

यहाँ बहुत सुस्पष्ट शब्दोंमें तीन-चार बातें कही गई हैं।

(१) सृष्टिकी उत्पत्तिसे पूर्व, उसके उत्पन्न होनेके बाद; तथा उप-संहारके बाद भी एकमेवाद्वितीय तत्त्व केवल ब्रह्म ही था है और रहेगा। अर्थात् माया प्रकृति परमाणु कर्म स्वभाव काल आदि कुछ भी नहीं। अतएव वह ब्रह्म ही केवल था। अर्थात् सदसद्विलक्षणमायोपहित या सूक्ष्मचिदचिदवस्था-रूपा-प्रकृतिविशिष्ट आदि कुछ भी नहीं था। अतएव कहा गया "अहमेव आसमेव"। क्योंकि तब ब्रह्मसे अतिरिक्त न कुछ सत् था न असत् और न सदसद्विलक्षण ही (नान्यद् यत्सवसत्परम्), सृष्टिके उत्पन्न होनेके बाद भी यह जो कुछ दिखलाई दे रहा है वह भी शुद्ध ब्रह्म (अहमेव अस्मि) ही है। अर्थात् स्वैतर सदसद्विलक्षण मायासे कल्पित या स्वैतर स्पूलचिदचिद्वि-शिष्ट नहीं। इसी तरह सृष्टिके प्रलयके बाद भी जो कुछ बचा रहेगा वह ब्रह्म

ही (योवशिष्येत् सोऽस्यहम्) होगा। अर्थात् विशेषरहित आवरणरूप मिथ्या माया अथवा सूक्ष्मचिदचिद्रूपा प्रकृति आदि कुछ भी नहीं।

(२) सच्चिदानन्द ब्रह्मसे नामरूपकर्मात्मिका संदंशभूता अर्थसृष्टि तथा नामरूपरहिता चिदंशभूता आत्मसृष्टि में क्रमशः चिदंश तथा आनन्दांश के निरुहणके कारण बाह्यार्थ तथा अन्तरात्मा की ब्रह्मात्मकता-सच्चिदानन्दता प्रहीत नहीं होती। यद्यपि परमात्मासे भिन्न, किसी कारणसे बाह्यार्थ या अन्तरात्मा न तो प्रकट हो सकते हैं न हैं और न किसी अन्य तत्त्वमें लीन ही हो पायेंगे। यह प्रथम कारिकामें वर्णित हुआ है। फिर भी बाह्यार्थ तथा अन्तरात्मा रूप उभयविध विषयोंकी ब्रह्मात्मकता प्रहीत नहीं होती तथा उनमें ब्रह्मभिन्नताका आभास होता है। इनमें सदसद्विलक्षणता-मायिकता प्रतिक्षण परिणामिता-प्राकृतता प्रागभाव-प्रध्वंसाभाव परमाणुसमवेतता देश-काल-स्वरूपकृतपरिच्छिन्नता दुःखरूपता आदि धर्मोंका जो भास होता है वह भगवान्की बारह शक्तिओंमेंसे एक अविद्याशक्ति तथा दूसरी व्यामोहिका माया-शक्तिके कारण होता है (दृष्टव्य भाग. १०।३९।५५ तथा गीता ७।१४)। ब्रह्मात्मकताके आवरणको तथा ब्रह्मधर्मोंसे अन्यथाभूत मिथ्याधर्मोंके भासको सदसद्विलक्षण नहीं किन्तु असत् ही समझना चाहिए। जैसे प्रकाशके तिरौ-धानवश वस्तुपर मीले अन्धकाररूप आवरण या पारमार्थिक बिम्बकी सन्धिधर्मों पारमार्थिक दर्पणके कारण प्रतिबिंबका मिथ्याभास होता है। इसे विषयसृष्टि नहीं किन्तु विषयतासृष्टि समझनी चाहिए।

(३) जैसे आकाश आदि अमूर्त विभु द्रव्य, मूर्त उच्छ्वावच द्रव्योंके भीतर अनुप्रविष्ट भी होते हैं तथा अप्रविष्ट भी। इसी तरह सच्चिदानन्द ब्रह्म विषय-सृष्टिमें संदंश-चिदंशरूपेण अनुप्रविष्ट होनेपर भी आनन्दांशरूपेण अप्रविष्ट रहता है। इसी तरह विषयसृष्टिमें अनुप्रविष्ट रहनेपर भी विषयतासृष्टिमें संदंशरूपेण भी सर्वथा अप्रविष्ट रहता है।

(४) अतएव जो तत्त्वजिज्ञासु हैं उन्हें उस ब्रह्मको ही जाननेका प्रयास करना चाहिये जो अन्वय-व्यतिरेक अर्थात् अनुप्रविष्टतया तथा अप्रविष्टतया सर्वत्र-सर्वदा विद्यमान रहता है।

महाप्रभुके अनुसार बाह्यायंसृष्टि तथा अन्तरात्मसृष्टि सर्वभवनसमर्थ अबाधितज्ञान तथा सत्यसंकल्पोत्थ-अनन्तमूर्ति रूप (सत्यं, ज्ञानम्, अनन्तं) ब्रह्मके भीतर ही प्रकट होती हैं। अतः सर्वप्रथम अबाधितज्ञान-विषयत्वेन सृष्टि पारमाथिक है। ब्रह्मके सर्वभवनतामर्थ्यवश प्रकट हुई होनेसे भी उभयविध सृष्टि पारमाथिक है। तथा अनन्त नाम-रूप-कर्म उस सत्यसंकल्प परमेश्वरके वैसे संकल्पके कारण प्रकट हुए हैं इसलिए भी पारमाथिक हैं।

इस जड़जीवात्मक जगत्में जीव, भगवान्की अविद्याशक्ति तथा माया-शक्तिके वशीभूत होकर, स्वबहिर्भूत बाह्यायोंकी जैसे वे ब्रह्मात्मक हैं उस रूपमें उन्हें पहचान नहीं पाता है। ब्रह्म सर्वज्ञ है तथा उसका ज्ञान अबाधित ज्ञान है। परिणामतः जीवको अनुभूत होती आंवरणरूपा विषयताका तथा अन्यथाप्रतीतिरूपा विषयताका अनुभववसाय तो सर्वज्ञतया ब्रह्मको होता है। परन्तु अबाधित ज्ञानरूपतया ब्रह्मको उक्त विषयताओंका व्यवसायात्मिक भान नहीं होता है। महाप्रभु अतएव इन्हें 'विषय' न कह कर 'विषयता' कहते हैं। और साथ ही साथ यह भी स्पष्ट करते हैं कि विषय भगवान् है परन्तु विषयता मायाजन्या है। यह व्यामोहिका माया भी भगवान्की अन्यतमा शक्ति होनेसे उतनी ही पारमाथिक है जितने स्वयम् भगवान्। अतः उक्त विषयता मायो-पादात्मक नहीं, जैसे प्रतिबिम्ब दर्पणपादानक नहीं केवल दर्पणहेतुक होता है। इसी तरह विषयता मायाहेतुक है। इस अर्थमें उसे 'मायिक' कहा जाता है। पाश्चात्य दर्शनकी भाषामें कहे तो विषय "द थिंग एज इट इज" है तथा विषयता "द थिंग एज इट ऑर्गैजस" है।

श्वेताश्वतरोपनिषद्में यह आता है कि मायाशक्तिपुक्त मायी महेश्वर इस चिदंशिदात्मक जगत्का सृजन करता है। और वहाँ विषयरूप संज्ञ विष्वक्में चिदंशरूप जीव महेश्वरकी बारहमेंसे एक व्यामोहिका मायाशक्तिद्वारा प्रदर्शित विषयताओंके कारण विषयितया बंध जाता है।

इस सन्दर्भमें यह जातव्य है कि बाह्यायं तथा अन्तरात्मा रूप विषयसृष्टिके प्राकट्यसे पूर्व तथा इनके ब्रह्ममें लीन हो जानेके बाद इनका ब्रह्मसे केवल

अन्वयात्मक सम्बन्ध ही रहता है और स्थितिकालमें अन्वयव्यतिरेकरूप उभ-यात्मक। जनकि विषयतासृष्टिके साथ सदृशेन भी अप्रविष्ट होनेसे ब्रह्मका केवल व्यतिरेकात्मक सम्बन्ध ही होता है। इसी तरह ब्रह्मज्ञानीको जागतिक सभी नामरूपकर्मोंमें ब्रह्मका केवल अन्वय ही अनुभूत होता है व्यतिरेक नहीं (ब्रह्मैतद्वि सर्वाणि नामानि रूपाणि कर्माणि विभक्ति तदेतत् त्वयं सद् एकमय-मात्मा आत्मा एकः सन् एतत् त्रयम्. दृष्टव्यः बृहद्. १।६।१-३.) यह भी ब्रह्मकी विद्याशक्तिका ही प्रभाव है। क्योंकि अन्यथा ब्रह्मका तो इस सृष्टिके साथ अद्भुत अन्वयव्यतिरेकात्मक सम्बन्ध है। न आत्यन्तिक एकत्वघटित और न आत्यन्तिक अनेकत्वघटित। वह सम्बन्ध "त्रयं सद् एकम्" और "एकः सन् त्रयम्" के रूपमें परिभाषित हुआ है। ब्रह्मज्ञानीको, अतएव ब्रह्मके स्वरूप या स्वभावमें अनुगत एकत्वकी ही विद्याशक्तित्वद्वारा अनुभूति होती है। अज्ञानीको ब्रह्मके सामर्थ्यवश प्रकट नामरूपकर्मानुगत अनेकत्वकी ही प्रतीति अविद्या-शक्ति द्वारा होती है। परन्तु भगवद्भक्तको भगवान्की पुष्टिशक्तिके कारण स्वभावानुपाति-एकत्व तथा सामर्थ्यानुपाति-अनेकत्व दोनोंकी अनुभूति होती है। अन्वयव्यतिरेक दोनों जब समझमें आये तभी भगवल्लीलाका बोध सम्भव है अन्यथा नहीं।

भक्तिका पूर्वांग ब्रह्मके माहात्म्यका ज्ञान है, जिसके कारण भक्तको भगवान् सर्वज्ञ-सर्वदा अनुप्रविष्टतया अनुभूत होते हैं। भक्तिका उत्तरांग भगवान्में मुद्द सर्वतोगिक स्नेह होता है, जिसके कारण भक्त जागतिक नाम-रूप-कर्ममें अनुप्रविष्ट भगवान्को जान लेनेके बाद भी, उनके अप्रविष्ट परमानन्द-स्वरूपकी विरहानुभूति करता रहता है। अतएव महाप्रभु कहते हैं कि जड़-जीव-रूप जगत्को ब्रह्मके सन्निदर्श होनेके कारण ब्रह्मतया बुद्धिद्वारा जानना चाहिए, किन्तु सन्निदानन्द परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण अपने क्षरा-भरातीत पुरुषोत्तम स्वरूपमें इस जगत्में तिरोहित या अप्रविष्ट भी हैं, अतः चाहना तो हृदयमें पुरुषोत्तमकी ही रखनी चाहिए।

इससे समझा जा सकता है कि ब्रह्मके सर्वज्ञ-सर्वदा अन्वयव्यतिरेकात्मक सम्बन्धका उपदेश भक्तिमार्गीय उपदेशमें कितना प्राणभूत तत्त्व या तथ्य है।

शांकर सम्प्रदायकी व्याख्यारीतिके अनुसार यहाँ जगत्का मिथ्यात्व प्रतिपादित हुआ है. वाल्लभ वेदान्तकी व्याख्यारीतिके अनुसार यहाँ ब्रह्म और जड़-जीवके बीच तादात्म्य प्रतिपादित हुआ है. तादात्म्य न आत्यन्तिक एकत्व है और न आत्यन्तिक अनेकत्व. वह तत्त्वदृष्ट्या एकका अनेकत्वानुभाव है तथा बोधदृष्ट्या अनेकतामें एकत्वानुदर्शन है. एकत्वानुदर्शनमें अनेकताका, शक्तिमें रजतके बाधकी तरह, बाध नहीं होता. जैसे अर्जुनको दिव्यदृष्टिके लाभ होनेपर विराट् पुरुषमें विश्वकी बाधितानुवृत्ति नहीं प्रत्युत तत्त्वानुभूति हुई थी. ब्रह्म और जगत् के तादात्म्यकी अनिधगत अबाधित अनुभूति हुई थी.

शांकर सम्प्रदायकी व्याख्यारीतिके अनुसार ब्रह्ममें सृष्टिप्राक् तथा प्रलयान्तर अविद्यमान सृष्टिका बीचमें मायिक भास, स्वप्रतिशोषाधिमें तैकालिक-निषेध-प्रतियोगिताका घोटक है. जैसे शयनसे पूर्व तथा पश्चात् जाग्रदवस्थामें अविद्यमान वस्तुओंका स्वप्नमें मिथ्याभास होता है. वाल्लभ वेदान्तकी व्याख्यारीतिके अनुसार बाह्यार्थे जडसृष्टि न तो अन्तरात्माकी अविद्यासे कल्पित है और न हमारी अन्तरात्मरूप साक्षिचेतनामें त्रिकालवर्ती असंख्य वस्तुओंकी जाततया अथवा अज्ञाततया कल्पना ही पैदा होनी भी सम्भव है !

जहाँ तक "प्रपञ्च मिथ्या है, क्योंकि वह दिखलाई देता है. जैसे स्वप्न दिखलाई देनेपर भी मिथ्या है. जैसे जाग्रदवस्थामें स्वप्नकी अनुवृत्ति नहीं होती, वैसे ही प्रलयकालीन ब्रह्मचेतनामें जगत्की भी अनुवृत्ति नहीं होती" जैसी युक्तियोंका प्रश्न है तो स्वयं श्रीशंकराचार्यने ही ऐसी युक्तियोंका अकाट्य प्रत्याख्यान "बैद्यम्याच्च न स्वप्नादिवत्" (ब्र. भा. २।२।२९) सूत्रके भाष्यमें किया है.

वे कहते हैं :

"स्वप्नदृष्ट वस्तु मिथ्या होनेपर भी दिखलाई तो देती है, इसी तरह जागरितोपलब्ध वस्तु भी दिखलाई देनेके बावजूद मिथ्या ही है, ऐसा मानना युक्तियुक्त नहीं है. क्योंकि स्वप्नोपलब्ध वस्तुका जागरणमें बाध होता है जबकि जागरितोपलब्ध वस्तुका कभी भी बाध नहीं होता. यह तो सभी लोग

जानते हैं. अतः इस तथ्यका अपलाप कोई बुद्धिमान व्यक्ति कर नहीं सकता. दूसरी एक महत्वपूर्ण बात यह भी है, जागरितोपलब्ध वस्तुको स्वतएवतो मिथ्या सिद्ध किया नहीं जा सकता, अतः स्वप्नके सादृश्यका बहाना खोजना पड़ता है. परन्तु केवल सादृश्यका ही विचार करें तो अगिनकी भी, वह जलकी तरह दिखलाई देती है ऐसे सादृश्यके आधारपर, शीतल मान लेना चाहिये !"

इस विचारशैलीके वारेमें महाप्रभु तथा श्रीशंकराचार्य के बीच पूर्ण मतैक्य स्वीकारा जा सकता है. स्वप्नसादृश्यके आधारपर जाग्रदनुभूतिको निरालम्बन या मायिक विषयावलम्बन नहीं माना जा सकता. अन्तरात्म-चेतनामें प्रतीयमान स्वप्निक वस्तुओंको, वहाँ स्वप्नके देशकालमें अविद्यमान होनेके कारण मिथ्या मानना पड़ता है. परन्तु परमात्मचेतनाके भीतर स्वप्नकी तरह प्रतीयमान जड़-जीवरूपा विषयसृष्टिको केवल अबहिभूतताके सादृश्यवश मिथ्या नहीं माना जा सकता. क्योंकि वे (क) अबाधितज्ञान-विषयतया (ख) सत्यसंकल्पोत्थतया, तथा (ग) सर्व-भवनसामर्थ्यवशात् परमात्मचेतनामें परमार्थतः प्रकट हुए होते हैं. प्रलयकालमें ये विषय अपने विषयी ज्ञानमें परमार्थतः लीन भी हो जाते हैं. जैसे सागरोत्थ मेघजलके बिन्दु बरस जानेपर पुनः सागरजलमें विलीन हो जाते हैं. अथवा जैसे ध्रुवप्रदेशके समीप सागरजलके जम जानेपर हिमखण्ड प्रकट होते हैं और पिघल जानेपर पुनः वे सागरजलमें लीन हो जाते हैं.

अतः उत्पत्तिसे पूर्व तथा प्रलयके पश्चात्, जो उनकी निषेध-प्रतियोगिता है वह तैकालिकी नहीं है. सागरजलमें हिमखण्डके जमने-पिघलनेकी दुहाई देकर उसकी स्थितिको इन्कार नहीं जा सकता है. इसी तरह, असर्वज्ञ अन्तरात्माके बाधयोग्य ज्ञानमें भासित स्वप्नदृष्ट वस्तुओंके सादृश्यकी दुहाई देकर, सर्वज्ञ परमात्माके सर्वथा बाधानहँ ज्ञानमें स्वेच्छा-समुद्भूत स्वप्नवत् अन्तः-प्रतीयमान जड़जीव-विषयको तैकालिक-निषेध-प्रतियोगी नहीं माना जा सकता है. श्रीशंकराचार्यके - "नैवं जागरितोपलब्धं वस्तु स्तम्भादिकं कस्याचिदप्यवस्थायाम् बाधयते" उद्गार नितान्त मननीय तथा महाप्रभुको सर्वथा मान्य ही हैं. लयकी और बाधकी कथायें एक ही नहीं होती.

शास्त्रोंमें अनेक स्थलोंपर जो जगत्की स्वप्नोपमता वर्णित हुई है, वह उसके मिथ्यात्वके निरूपणार्थ नहीं है। परमात्माके अबाधित तथा देश-काल-स्वरूपतः अपरिच्छिन्न ज्ञानके भीतर ज्ञानविषयत्वेन जगत्की उत्पत्ति-स्थितिलयके निरूपणार्थ ही स्वप्नका दृष्टान्त दिया गया है। अतएव ब्रह्म-भिन्नतया उन्हें 'असत्' भी कहा गया है। यह सब किन्तु जगत्की ब्रह्मात्मकताको समझानेकेलिए ही है।

इस तरह भागवतके आद्योपदेशरूप चार श्लोकोंके विमर्शके बाद अब द्वितीयोपदेश तथा तृतीय-चतुर्थोपदेश के चिन्तनार्थ हमें क्रमशः प्रवृत्त होना है। इनका विमर्श हम पूर्वोक्त चतुर्थश्लोकीकी सूत्रवृत्ति तथा सूत्रभाष्य के रूपमें ही करना चाहेंगे। तदनुसार सर्वप्रथम कुछ सूत्रोंको पृथक्-पृथक् दृष्टिगत करना उचित होगा। यथा—

- (१) अहमेव आसमेव अग्रे नान्यद् यत्सदसत्परम्
- (२) पश्चादहम् यद् एतत् च
- (३) यो अवशिष्येत सो अस्मि अहमेव
- (४) ऋतेथं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत च, आत्मनि तद् विद्याद् आत्मनो मायां, यथाभासो यथा तमः
- (५) एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनात्मनः
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत्स्यात्सर्वत्र सर्वदा।

इसमें तृतीय श्लोकको समाविष्ट नहीं किया गया है, उसका हेतु केवल यही है कि वह चतुर्थ श्लोकमें विवक्षित अन्वयव्यतिरेकको समझानेकेलिए ही कही गई बात है। अस्तु।

द्वितीयोपदेशमें इन पांच सूत्रोंकी वृत्ति

द्वितीयोपदेशमें ब्रह्माजीने इन चार सूत्रात्मक श्लोकोंकी करीब सवा सौ श्लोकोंमें विवृत्ति की।

(१) इस उपदेशके प्रारम्भमें ब्रह्माजीने भगवान्की स्वयंप्रकाशरूपता तथा विश्वप्रकाशरूपता का वर्णन, भगवान्की मायातीतताका वर्णन, मायाशक्ति

की व्यामोहकताका वर्णन; तथा द्रव्य कर्म काल स्वभाव या जीव न तो भगवान् वासुदेवसे श्रेष्ठ और न तत्त्वतः भिन्न अर्थ हो सकते हैं, यह दिखलाया है (भाग. २।५।११-१४ तक की कारिकाओंमें)। इस "तत्त्वतः भिन्न अर्थ" होनेके निषेधके गर्भमें ही "ये रूपतः ही केवल भिन्न अर्थ हैं" यह विधान निहित है।

इसके बाद प्रमाण प्रमेय साधन तथा फल सभीकी नारायणपरता— "नारायणपरा वेदाः (प्रमाण) देवा नारायणाङ्गजा नारायणपरा लोकाः (प्रमेय) नारायणपरामखाः नारायणपरो योगः नारायणपरं तपः नारायणपरं ज्ञानं (यज्ञयोगतपोज्ञानादिसाधन) नारायणपरा गतिः (फल)" का ब्रह्माजीने वर्णन किया है।

इस वर्णनके बाद पूर्वोक्त "अहमेवासेमेवाग्रे नान्यद् यत्सदसत्परम्" सूत्रकी विवृत्ति करते हुए ब्रह्माजी कहते हैं: "उस द्रष्टा ईश्वर कूटस्थ अखिलात्मा द्वारा मेरा सृजन हुआ है और उसके ईक्षणमात्रसे प्रेरित होकर मैंने सभी सृज्य वस्तुओंका सृजन किया है। उस विभु निर्गुण तत्त्वने जगत्की उत्पत्ति-स्थिति-निरोधकेलिए मायाद्वारा रजस्वस्तत्वमोगुणोंका ग्रहण किया है। ये गुण द्रव्याश्रित होनेपर कार्य अथवा विषय के रूपमें, ज्ञानाश्रित होनेपर कारणके रूपमें; तथा क्रियाश्रित होनेपर कर्तक के रूपमें मायाके अधीश्वर नित्यमुक्त पुरुषको बांध लेते हैं। अर्थात् वह पुरुष स्वेच्छया लीलात् इन् गुणोंसे बंध जाता है। क्योंकि बंधनेवाला पुरुष अन्य कोई नहीं किन्तु ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान वैराग्य युक्त स्वयं भगवान् हैं। ऋत्विः सकल चेतनचेतनवस्तुके अधीश्वर वे भगवान् इस तरह अपने स्वरूपका निपूहन कर लेते हैं। एकमेवाद्वितीय होनेपर भी लीलायां मायाद्वारा काल-कर्म-स्वभावरूप धारण कर लेते हैं (२।५।१७-२१)।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि यह सृष्टि, मायाके अधीन या मायाविवश तत्त्व या पुरुष से नहीं, किन्तु मायाके अधीश्वरद्वारा हुई है। स्पष्ट है कि यह माया मायेश भगवान्से भिन्न नहीं हो सकती। क्योंकि सूत्रमें ही स्पष्टतया "नान्यद्

यत् सदसत्परम्" अंशद्वारा सत्त्वेन असत्त्वेन अथवा सदसद्विलक्षणत्वेन ब्रह्माभिन्न प्रत्येक वस्तुका व्यावर्तन कर दिया गया है.

(२) "पश्चाद् अहं यद् एतत्" सूत्रकी विवृति ब्रह्माजीने बड़ी विस्तीर्ण की है (भाग २।५।२२ से भाग २।७।३७ तक). सृष्टिके प्रकट होनेपर बाह्यार्थ तथा अन्तरात्मा रूप उभयविध विषयसृष्टिके साथ ब्रह्माका अनुप्रवेश-अप्रवेशरूप अन्वय-व्यतिरेकात्मक सम्बन्ध भी ब्रह्माजीने क्रमशः दिखाया है. अन्वयलीलाका (भाग २।५।२२-भाग २।६।४४) में, तथा व्यतिरेकलीलाका (भाग २।६।४५-भाग २।७।३७) में वर्णन किया है.

प्रारम्भमें कालसे गुणव्यतिकर, स्वभावसे परिणाम तथा कर्मसे पुरुषाधिष्ठित महत् तत्त्व के प्राकट्यका वर्णन किया. पश्चाद् ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति, द्रव्यशक्ति रूप त्रिविध अहंकारका प्राकट्य, फिर पंच महाभूत पंचतन्मात्रा, पंचज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेंन्द्रिय के क्रमसे सप्तलोक चातुर्वर्ण्य-नियामक अधिदेव आदि अनेक रूपांका वर्णन हुआ है. इनका वर्णन करते हुए ब्रह्माजी 'यद् एतद्' अंशकी विवृति "अहं भवान् भवश्चैव त इमे मुनयोऽग्निजाः सुरासुरनराः नागाः खगा मृगसरीसृपाः गन्धर्वाप्सरसो यक्षा रक्षोभूतगणोरगाः पशवः पितरः सिद्धा विद्याघ्राञ्चरणा द्रुमाः अन्ये च विविधा जीवा जलस्थलनभोकसः ग्रहसंकेतवस्तारास्तडितः स्तनयित्तवः" द्वारा करते हैं. पश्चात् '(तद्) अहम्' की विवृति "सर्वं पुरुष एवेदं भूतं भव्यं भवश्च यत्" वचनद्वारा करते हैं. यह अन्वय दिखलाकर यहीं किञ्चित् व्यतिरेक भी दिखलाया है "तेनेदमावृतं विश्वं वितस्तिमधितिष्णति" अंश द्वारा.

ब्रह्माजी स्पष्ट शब्दोंमें यह स्वीकारते हैं कि सृष्टिनिर्माणमें काममें लायी गयी सामग्री उस परमपुरुषके अवयवोंसे प्राप्त की गई है— "पुरुषावयवैरेते संभारा संभूता मया इति संभूतसंभारः पुरुषावयवैरहम् तमेवं पुरुषं यज्ञं तेनैवायजमीश्वरम्" (भाग २।६।२६-२७).

यहीं (२।६।३०) ब्रह्माजीने यह खुलासा भी दिया है कि यह सम्पूर्ण विश्व भगवान् नारायणमें आहित है जो निर्गुण भगवान् सर्गादिमें मायाके

विविध गुणोंको स्वतएव स्वीकारते हैं. अतएव वे अजन्मा भगवान् आद्य पुरुषरूपतया स्वयमेव स्वयम्में स्वयम्का सृजन पालन तथा संहरण एकके बाद दूसरे कल्पमें करते रहते हैं. भगवान् केवल विशुद्ध (स्वेतरमायोपाधिरहित) सर्वान्तर्यामी प्रत्यक् तथा सम्यक् अवस्थित होते हैं. वे सत्य पूर्ण अनादि-अनन्त निर्गुण (स्वेतरगुणरहित) नित्य अद्वय रूप होते हैं. ऐसे भूमा पर-ब्रह्मके आद्य अवताररूप पुरुष काल स्वभाव सदसत् मन द्रव्य विकार गुण इन्द्रियां विराट् स्वराट् चल अचल आदि सभी कुछ होते हैं.

इस तरह जडाजड़ सृष्टिमें भगवान्को स्वरूपतः अन्वय दिखलानेके बाद धर्मतः अन्वय दिखलानेकेलिए ब्रह्माजी कहते हैं— "जगत्तमें जितनी भी वस्तुएं ऐश्वर्य तेज इन्द्रियबल मनोबल, शरीरबल या क्षमा आदिसे युक्त हैं अथवा जो भी विशेष सौन्दर्य लज्जा, वैभव आदिसे युक्त रूपवान या अरूप तत्त्व हैं वे सभी परमात्मस्वरूप हैं.

इस तरह 'यद् एतद् तद् अहम्' सूत्रकी अन्वयविधितसे विवृति हुई. इसके बाद प्रायः सम्पूर्ण सातवां अध्याय भगवान्को भूतलपर वाराहद्वि विविध लीलावतारोंके वर्णनपरक है. यह व्यतिरेकविधितसे "यद् एतद् तद् अहम्" सूत्रकी विवृति है.

जब जगत्के प्रत्येक पदार्थ भगवान्को ही विविध नाम-रूप हैं तब लीलावतारोंका असाधारण वैशिष्ट्य दुर्लभ्य हो जाता है, यदि जागतिक नाम-रूप-कर्ममें हम भगवान्का केवल अन्वय ही माने तो. परन्तु अन्वयके साथ व्यतिरेक भी स्वीकारनेपर उस व्यतिरेक अंशसे पुनः लीलावतारत्वेन दिव्य नाम-रूप-कर्मधारणका वैशिष्ट्य समझनेमें कोई कठिनाता नहीं रह जाती.

अतएव इस तत्त्वार्थदीपनिबन्धके मंगलाचरणमें महाप्रभुने अद्भुतकर्म भगवान्को त्रिविध क्रीडाओंका वर्णन किया है.

(क) यः क्रीडति (अपने सच्चिदानन्द स्वभावको अंशतः भी तिरोहित किये बिना क्षराक्षरातीत पुरुषोत्तमकी मूलरूपेण या लीलावतार-रूपेण क्रीडा).

(ख) यः (विषयरूपं) जगद् भूत्वा क्रीडति (जड़ वस्तुमें सदृशेन अनु-
प्रविष्ट परन्तु चिदानन्दांशेन अप्रविष्ट, जीवात्सामें चिदंशेन
प्रविष्ट किन्तु आनन्दांशेन अप्रविष्ट भगवान्की क्रीडा).

(ग) यतो (विषयतारूपं) जगत् क्रीडति (सर्वांशेन अप्रविष्ट भगवान्की
स्वशक्ति व्यामोहिवा मायाद्वारा प्रदर्शित क्रीडा).

इस क्रीडाभेदको भलीभांति समझ लेनेपर अन्वयानुविधायिनी क्रीडा
तथा व्यतिरेकानुविधायिनी क्रीडा के भेदको समझनेमें काठिन्य नहीं रह जाता.

'यः क्रीडति' के कल्पमें प्रकट हुए नाम रूप तथा कर्म तीनों ही दिव्य
आनन्दात्मक ही होते हैं. अतः उनमें भगवान्का व्यतिरेक नहीं होता. केवल
अन्वय रहता है.

'यः जगद् भूत्वा क्रीडति' कल्पमें आनन्दांश एवम् चिदंश के तिरोधान-
द्वारा अन्वय-व्यतिरेक दोनों ही घटित हो जाते हैं.

'यतो जगत् क्रीडति' कल्पमें मिथ्या आवरणपूर्वक मिथ्याभास व्यामो-
हिवा मायाद्वारा प्रदर्शित होता है. अतः अन्वयरहित केवल व्यतिरेक ही
होता है.

(३) इसी सातवें अध्यायके सैतिसवे श्लोकसे ब्रह्माजीने "यो ब्रह्मिष्येत
सोऽस्म्यहम्" सूत्रकी विवृति की है. इसमें कल्कि-अवतारसे प्रलयलीलाका
वर्णन प्रारंभ कर, भगवान्को अचिन्त्य अनन्त अपरिमेय गुणोंका वर्णन करते
हुए अन्त (भाग. २।७।४७-४९) में प्रलयशेष भगवद्रूपका वर्णन किया गया
है—"शश्वत्प्रशान्तमभयं प्रतिबोधमालं शुद्धं समं सदरातः परमात्मतत्त्वं शब्दो
न यत्र पुरुकारकवान् क्रियार्थो माया परैर्यभिमुखे च विलज्जमाना, तद्वै परं
भगवतः परमस्य पुंसो ब्रह्मेति यद् विदुरजससुखं विशोकम्... व्योमेव तत्र
पुरुषो न विशीर्यतेऽजः".

इस प्रसंगमें यह कदापि भूल नहीं जाना चाहिये कि आगामी कल्पमें इसी
रूपमें इसी रूपद्वारा पुनः स्वरूपात्मिका ही सृष्टि प्रकट होनेवाली है. और

यहाँ यदि माया बच नहीं जाती तो फिर सर्गादिमें पुनः वह आती कहाँसे है ?
यदि इस अमायोपहित स्वरूपमें सृष्टिके अभिन्ननिमित्तोपादान बननेकी आत्स-
सामर्थ्यरूपा माया न स्वीकारें तो .

(४) चतुर्थ सूत्रके बारेमें अधिक विवेच्य न होनेसे पिष्टपेषण निरूप-
योगी है.

(५) पंचम सूत्र "एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनात्मनः अन्वय-
व्यतिरेकाभ्यां यत्स्यात् सर्वत्र सर्वदा" की विवृति ब्रह्माजीने—"इस तरह विषय-
भावन भगवान्के वर्णनरूपेण यह भागवत में तुम्हें सुनायी. जो कुछ है वह
हरिसे भिन्न नहीं है. न हरिके अलावा अन्य किसी कारणसे कुछ है. चाहे
वह सत् हो या असत्. भगवान्की विभूतिका यह समासशैलीमें वर्णन है.
अब तुम इसे विस्तारसे कहना. ऐसी तरह कि अखिलाधार सवत्मा भगवान्
हरिमें मनुष्योंकी भक्ति प्रकट हो जाये." इन शब्दोंमें की है.

इस विवृत्तिसे सिद्ध होता है कि सूत्रवाक्योक्त तत्त्वजिज्ञासा भक्त्यर्थ है.

इस तरह द्वितीयोपदेशके बाद अब तृतीय-चतुर्थोपदेशके विमर्शकी ओर
हमें अग्रसर होना पड़ेगा.

तृतीयोपदेशमें इन पाँच सूत्रोंका भाष्य

तृतीयोपदेश अथवा चतुर्थोपदेश के बाद आगेके उपदेशोंमें फिर अधिक
विचारणीय नहीं रह जाता. ब्रह्माजीसे भागवतोपदेश ग्रहण करनेके बाद
नारदजीने उसका भाष्य भगवान्की दशविध लीलाके रूपमें किया. जगत्में
भगवद्भक्तिकी अभिवृद्धिके लिए और उसे श्रीवेदव्यासको सुनाया. श्री-
वेदव्यासने अठ्ठारह हजार श्लोकपरिमित समग्र भागवतकी रचना नारदोप-
विष्ट दशविध लीलाओंके निजसमाधिमें दर्शनसंवाद्द्वारा की. इन दशविध
लीलाओंके नाम तथा लक्षण एवम् पूर्वोत्तरभावसंगतिके विमर्शके बाद इनके
सूत्रभाष्यभावपर विचार करना अधिक उपयुक्त होगा.

नामतः

(१) सर्ग, (२) विसर्ग, (३) स्थान, (४) पोषण, (५) ऊर्ति, (६)

मन्वन्तर, (७) ईशानुक्या, (८) निरोध, (९) मुक्ति, (१०) आश्रय.

लक्षणतः तथा पूर्वोत्तरभावसंगतितः

- (१) अशरीर विष्णुका पुरुषशरीर-स्वीकार सर्ग लीला है.
- (२) पुरुषसे ब्रह्मादिकी सृष्टि विसर्ग लीला है.
- (३) उत्पन्न रूपोंका तत्त्व मयादाके अनुसार पासन स्थान लीला है.
- (४) स्थित रूपोंकी अभिवृद्धि पोषण लीला है.
- (५) पुष्ट रूपोंका आचार ऊति लीला है.
- (६) उनमें भी सदाचार मन्वन्तर लीला है.
- (७) सदाचारमें भी विष्णुभक्ति ईशानुक्या लीला है.
- (८) भक्तोंकी प्रपंचविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्ति निरोध लीला है.
- (९) निष्प्रपञ्च भक्तोंको होता स्वरूपलाभ मुक्ति लीला है.
- (१०) मुक्तोंका ब्रह्मस्वरूपमें अवस्थान आश्रय लीला है.

(सुबोधिनीके अनुसार)

मूलवचनतः

दशमस्य विशुद्धचर्चं नवानामिह लक्षणम् ।
वर्णयन्ति महात्मानः श्रुतेनार्थेन चाम्जसा ॥
भूतमात्रेन्द्रयधियां जन्म सर्गं उदाहृतः ।
ब्रह्मणो गुणवैषम्याद् विसर्गः पौरुषः स्मृतः ॥
स्थितिवैकुण्ठविजयः पोषणं तदनुग्रहः ।
मन्वन्तराणि सद्धर्मं ऊतयः कर्मवासनाः ॥
अवतारानुचरितं हरेरेशास्यानुवर्तिताम् ।
पुंसामीशकथा प्रोक्ता नानाख्यानापोबंहिताः ॥
निरोधोस्यानुशयनयात्मनः सह शक्तिभिः ।
मुक्तिर्हृत्वान्ययारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः ॥

आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते ।
स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्धते ॥
योऽध्यात्मिकोयं पुरुषः सोसावेवाधिदैविकः ।
यस्तन्नोभयविच्छेदः स स्मृतोऽह्याधिभौतिकः ॥
एकमेकतराभावाद् यदा नोपलभासहे ।
त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः ॥

(भाग. २।१०।२-९)

उपनिषद्में—“यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म” वचनमें प्रतिपादित जन्म, जीवन, मुक्ति तथा प्रलय के उल्लेखसे ब्रह्मका लक्षण दिया गया है. तदनुसार भागवतमें भी तृतीय-चतुर्थस्कन्धोक्त लीला जन्मवर्णनपरक है. पंचम-षष्ठ-सप्तम-अष्टम-नवम-दशम-स्कन्धोक्त लीला जीवनवर्णनपरक है. एकादश-स्कन्धोक्त लीला मुक्तिवर्णनपरक है. इन नवविध लक्षणोंसे लक्षित आश्रय तत्त्व स्वयं अक्षरब्रह्म द्वादशस्कन्धोक्त प्रलयलीलाका अधिष्ठान है. यह नव-विध लीलाका लक्ष्य है. द्वादशस्कन्धमें वर्ण्य अक्षरब्रह्म पुरुषोत्तमका धामभूत भी है. अतः अक्षरब्रह्मात्मक व्य.पिवैकुण्ठ लोकमें उसके काल-कर्म-स्वभाव-मायातीत होनेसे सभी कुछ अक्षरात्मक ही केवल होता है. अतः क्षर जगत्की अपेक्षासे उपादानकारण होनेके कारण अक्षरब्रह्म, क्षर जगत्की उत्पत्ति-स्थितिकी तरह प्रलयका भी अधिष्ठान माना जाता है. जैसे घट न केवल मृत्तिकामें उत्पन्न एवं स्थित ही होता है अपितु लीन भी वहीं होता है. क्षर जगत्का प्रलया-धिष्ठानभूत अक्षरब्रह्म पुरुषोत्तमका धर्मरूप होता है. जैसे सूर्यका धर्मरूप उसके चारों ओर फैला प्रभामण्डल होता है. पुरुषोत्तम साकार है और उसकी अपरिच्छिन्नता अक्षरब्रह्म है. अक्षरब्रह्म देश-काल-स्वरूपतः अपरिच्छिन्न है और उसकी साकारता पुरुषोत्तम है. अतएव द्वितीय स्कन्ध (भाग. २।१।१-१७)में वर्णित सृष्टिकी उत्पत्तिसे पूर्व ब्रह्माजीकी दिखलाये गये भगवद्भाममें चलती सारी लीला अक्षरात्मिका नित्यलीला है. इस अर्थमें अक्षरब्रह्म भी

पुरुषोत्तमकी एक लीला है. और इसलिए दशविध लीलारूप लक्षणोंसे लक्षित पुरुषोत्तम समग्र भागवतका शास्त्रार्थ है. दशविध स्कन्धाथं उस पुरुषोत्तमकी दशविध लीलायें हैं.

इन्हें ही ब्रह्मोपदेशके अवसरपर भगवान्मुने (१) अहमेवासमेव . . .

(२) परब्राह्मं यदेतद् (३) योवशिष्येत सोस्म्यहम् सूत्रोंद्वारा प्रतिपादित किया था. "दशमस्य विशुद्धधर्मं नवानामिह लक्षणम्" कह कर "योवशिष्येत सोस्म्यहम्" तथा "एतावदेव जिज्ञास्यं . . ." सूत्रोंका भी भाष्य यहाँ किया गया है. उपनिषद्के वचनमें जैसे 'प्रयन्ति' तथा 'अभिसंविशन्ति' पदोंकेद्वारा मुक्ति तथा प्रलय का वर्णन अभिप्रेत है, वैसे ही भागवतमें भी एकादश स्कन्धमें मुक्ति (आत्यन्तिक लय) का तथा द्वादश स्कन्धमें नैमित्तिक तथा प्राकृतिक प्रलयका वर्णन अभिप्रेत है.

यद्यपि यथोपलब्ध वर्णनके अनुसार आत्यन्तिक लय तथा प्राकृत प्रलयके बीच अन्तर बहुत दुर्बोध है. परन्तु शास्त्रप्रामाण्यवादियोंको यथाशास्त्र कुछ भेद स्वीकारना ही पड़ेगा. क्योंकि, "अन्यथारूपके त्यागपूर्वक स्वरूपेण अवस्थान" मुक्ति हो तो उत्तरदल-स्वरूपेण अवस्थान अंशमें 'स्वरूप' का अर्थ आश्रयस्वरूप लेना कि नहीं यह विचारणीय है. पूर्वदल-अन्यथारूपत्याग' को तो लक्षणकोटीमें निविष्ट माना जा सकता है. परन्तु स्वरूपेण अवस्थान भी यदि लक्षणकोटीमें निविष्ट ही तो लक्ष्यकोटीमें उसके अतिरिक्त और क्या आ सकता है यह भी विचारणीय है.

प्राकृत प्रलयके अधिष्ठानरूप या आश्रयभूत परब्रह्मसे ही पुनः आगामी कल्पमें सृष्टिकी उत्पत्ति स्वीकारनी पड़ेगी. अतः उस समय माया प्रकृति परमाणु काल कर्म स्वभाव आदि किसी भी तत्त्वके सहयोग या साचिव्य सहित ब्रह्मसे सृष्टिकी उत्पत्ति स्वीकारनेपर वही उसका अबाधित-पारमार्थिक स्वरूप सिद्ध हो जायेगा. उसे यदि सूत्रमें "अहमेव आसमेव नान्यद् यत् सदसत्परम्" कहा गया है तो तदनुरोधसे उस आश्रयस्वरूपान्तःपाती भी मानना पड़ेगा. इस तथ्यको कदापि विस्मृत नहीं करना चाहिए.

यों दशविध लीला अर्थात् आश्रयलीला भी ब्रह्माजीकी आज्ञाके अनुसार श्रीनारदजी-व्यासजी-शुकदेवजीने जगत्में भगवद्भक्तिकी अभिवृद्धिकेलिए कही हैं. न तो मुक्तिकेलिए और न आश्रयतत्त्वकी भक्तिरहित शुष्क अनुभूतिकेलिए ही. यह भी भूलना नहीं चाहिए.

इस खुलासाके बाद अब हम यह सरलतया समझ सकते हैं कि ये दशविध लीलाकथायें उल्लिखित पांच सूत्रोंकी ही भाष्यरूपा हैं.

प्रथम सूत्रका भाष्य

(१) "अहमेवासमेवाप्रे नान्यद् यत्सदसत्परम्" सूत्रके भाष्यकी अवतरणिकारूप व्याख्या तृतीयादि उपदेशमें सर्ग-विसर्गलीलाके वर्णनसे भी पहले मिलनी शुरू हो जाती है.

द्वितीय स्कन्धके अष्टमाध्यायके प्रथम श्लोकसे छब्बीसवें श्लोक तक : सृष्टिसे पूर्वकालिक ब्रह्मके स्वरूप, सृष्ट्युत्पत्तिरीति, स्थिति, बन्धमोक्ष-व्यवस्था एवम् प्रलय आदि अनेक विषयोंकी जिज्ञासा भगवद्भक्तिकी अभिवृद्धिकेलिए परीक्षितद्वारा की गई वाणंत हुई है. अन्तमें "ब्रह्मरातो भूषां प्रीतो विष्णुरातेन संसदि प्राह भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसंमितम्, ब्रह्मणे भगवत्प्राक्तं ब्राह्मकल्प उपागतं" वचनद्वारा भाष्यारंभ हुआ है.

श्रीशुक अग्रिम नवमाध्यायके प्रारंभमें यह कहते हैं कि स्वप्नद्रष्टा अन्तरात्मा तथा बाह्यार्थतया दृष्ट स्वप्नदृष्ट पदार्थोंके बीच आत्यन्तिक द्वैतचिह्न विषय-विषयीभाव नहीं होता. अतः स्वप्नदृष्ट अर्थात् स्वप्नद्रष्टा आत्माके साथ सम्बन्ध आत्ममायाघटित ही स्वीकारना पड़ता है. उसी तरह स्वयंप्रकाश अनुभवात्मा परब्रह्मका स्वप्रकाश जड़जीवरूप विषयके साथ सम्बन्ध भी स्वीकीय सर्वभवनसामर्थ्यरूपा मायाके बिना उपपन्न नहीं हो सकता है. बहुरूपा मायाके साथ क्रीडामें रत होनेपर वह अद्वय एकरूप परमतत्त्व भी अनेकरूपों जैसा लगता है. इन अनेक माया-परिग्रहीत रूपोंको 'मम' कहा जाये तथा सहजसिद्ध अद्वैक-स्वरूपको 'अहम्' कहा जाये इतना भेद दोनोंके बीच होता नहीं, फिरभी वह स्वयमेव ऐसा भेद मानकर ही क्रीडामें प्रवृत्त होता

है। फलतः भेद घटित हो जाता है। क्योंकि ब्रह्म सत्यसंकल्प है। परन्तु जब स्वमहिमा अर्थात् स्वधाममें, जो काल तथा माया से परे है, वह रमण करना चाहता है तब वह काल-मायाके साथ रमणके मोहका त्याग कर इन दोनों शक्तियोंका प्रयोग भी रमणमें स्थगित कर देता है।

ब्रह्माजीके निष्कपट व्रतका आदर करनेवाले भगवान्ने अपने इस कालमायातीत स्वरूपात्मक धामका दर्शन ब्रह्माजीको सृष्टिसे पहले दिया था (भाग. २।१९।४)।

इसके बाद श्लोक (९) से प्रारम्भ कर श्लोक (१६) तक उस काल-मायातीत दिव्य आनन्दात्मक भगवद्भामका वर्णन है। जिसका दर्शन पाकर ब्रह्माजीने सृष्टिकी रचना की। इस भगवद्भामका वर्णन न तो विक्षेपरहित आचरण अथवा न आचरणरहित विक्षेपके रूपमें हुआ है। न यह भगवद्भाम ब्रह्माजीकी द्वैतघटित भक्तिमयी उपासनावाली आहार्यबुद्धिके रूपमें वर्णित हुआ है और न ब्रह्माजीको भगवान् द्वारा दिखाये गये किसी जादुई तमाशेके रूपमें ही वर्णित हुआ है। यह वर्णन लौकिक काव्योंकी रूपकादि अलंकारोंवाली भाषा जैसी भाषामें भी वर्णित नहीं हुआ है। वावजूद इसके इस स्वधामके वर्णनमें भगवान्के दिव्य रूप-रंग-आकृति-गुण-धर्म-कर्म-वस्त्र-आभूषण-पत्नी-पार्षद-भक्त-सिंहासनादिका वर्णन हुआ है। वहाँ भी भगवान्को प्रकृति-पुरुष-महद्-अहंकार-एकादशेन्द्रिय-पंचेतन्मात्रा-पंचमहाभूतरूपा पंचविशतिसंख्याक शक्तिओंसे आवृत भी ब्रह्माजीने पाया। और इतने सारे रूपगत द्वैतोंके बावजूद उस दिव्य धामको काल-मायातीत भी पाया !

यह स्पष्ट है कि इन सभी द्वैतघटित रूपोंमें भगवान्को व्यतिरेकरहित केवल अन्वयात्मक सम्बन्धको माने बिना कुछ भी उत्पन्न नहीं हो सकता। महाप्रभुके अनुसार यह सच्चिदानन्द परब्रह्मकी, अपने सदंश चिदंश या आनन्दांश मेंसे किसी भी अंशके तिरोधान बिना सम्पन्न होती, नित्य आत्मक्रीडा है। इस तरह “यः क्रीडति” का कल्प यहाँ वर्णित हुआ है। ऐसी क्रीडाके दर्शन ब्रह्माजीको आत्मतत्त्वकी विशुद्धिके हेतु कराया गया था यह—“आत्मतत्त्वविशुद्धयर्थं यदाह

भगवान् तं ब्रह्मणे दर्शयन् रूपम्” (भाग. २।१९।४) वचनमें वर्णित हुआ है।

अतः ‘आत्मतत्त्वविशुद्धि’ या ‘दशम आश्रयतत्त्वकी शुद्धि’ कहे दोनोंका अर्थ एक ही रहता है। “अहमेवाससमेवाप्रे नान्यदयत्सदसत्परम्” का भाष्य आत्मतत्त्वविशुद्धि पद द्वारा हुआ है। तथा “योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्” का, भाष्य “दशमस्य विशुद्धयर्थं नवानामिह लक्षणम्” वचनद्वारा हुआ है। अर्थतः अतः एक ही रूप उभयत्र वर्णित हुआ है। और हम देख सकते हैं कि इस आत्मतत्त्वकी विशुद्धिके बाद ब्रह्माजी न तो सृष्टिव्यापारसे विरत हुए और न भगवद्भक्तिसे ही। यह—“तद्दर्शनाद्वादपरिप्लुतात्तरो हृष्यतनुः प्रेमभराश्रुलोचनः ननाम पादाम्बुजमस्य विश्वसुगयत्पारमहंस्येन पथाधिगम्यते” (२।१।१७) तथा “तं प्रीयमाणं समुपस्थितं तदा प्रजाविसर्गे निजशासनाहंणम्” (वहाँ २।१९।८) इन दो वचनोंद्वारा सिद्ध होता है। अतः आश्रयशुद्धि तैष्कर्म्योपदेशार्थ नहीं अपितु भगवत्कर्मोपदेशार्थ है।

अतः “दशमस्य विशुद्धयर्थं नवानामिह लक्षणम्” भाष्य, ब्रह्मोपदिष्ट “इदं भागवतं नाम यन्मे भगवतोदितं संग्रहोयं विभूतीनां स्वमेद्विपुलीकुच यथा हरो भगवति नृणां भक्तिः भविष्यति” वचनरूपा वृत्तिके; तथा भगवदुपदिष्ट “योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्” तथा “एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुजात्मनः अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत्स्यात्सर्वत्र सर्वदा” इन दोनों सूत्रोंके सर्वथा अनुरूपही है।

इस एकवाक्यताको अच्छी तरह समझ लेनेपर तृतीय स्कन्धके प्रारम्भमें आते सर्गादिकालीन परमात्माके वर्णनके बारेमें अधिक कुछ विवेक्य नहीं रह जाता। फिरभी संवादाथे पांच-छह श्लोक उद्धृत करनेका लोभसंवरण नहीं हो पा रहा है।

यथा—

अथ ते भगवल्लीला योगमायोपबृंहिताः ।
विश्वस्थित्यत्युद्भवान्तामः॑ वर्णयाम्यनूपवंशः ॥
भगवानेक आसेदमग्र आत्मात्मनां विशुः ।
आत्मैच्छानुगतावात्मनानामत्युपलक्षणः ॥

स वा एष तदा द्रष्टा नापश्यदृश्यमेकराट् ।
 मेनेऽन्तमिवात्मानं सुप्तशक्तिरसुप्तदृक् ॥
 सा वा एतस्य संद्रष्टुः शक्तिः सदसदात्मिका ।
 माया नाम महाभागा यदेदं निमैमे विभुः ॥
 कालवृत्त्या तु मायार्या गुणमय्यामघोषोजः ।
 पुरुषेणात्मभूतेन वीर्यमाघत वीर्यवान् ॥
 ततोऽभवन्महत्तत्त्वमव्यक्ताकालभोदितात् ।
 विज्ञानात्मात्मदेहस्थं विश्वं व्यञ्जस्तमोनुदः ॥

यहाँ दृश्यनिरपेक्ष द्रष्टा एवम् दृक्शक्ति की विद्यमानता, दृश्यकी अनुपस्थिति, दृश्योपस्थापिका शक्तिके सुप्त होनेका उल्लेख, सुप्तावस्थावाली शक्ति तथा शक्तिमान आत्मा का तादात्म्य, सदसदात्मिका मायाका द्रष्टाकी शक्तिके रूपमें उल्लेख, जगत्की उत्पत्ति-स्थिति-लयमें उसकी करणता इत्यादि सभी निरूपण पूर्ववर्णित तथ्योंसे सुसंगत ही हैं. अतः दृष्टि तथा दृश्य के साथ परमात्माका प्रारम्भमें केवल अन्वय ही था यह सिद्ध होता है.

द्वितीय सूत्रका भाष्य

(२) “पश्चादहं यदेतत्” सूत्रको थोड़ा सरल बनाना हो तो “यद् एतद् अहम्” में रूपान्तरित किया जा सकता है.

यह सूत्रवाक्य विभिन्न सम्प्रदायोंमें विभिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त होता है.

यथा—

केवलद्वैतवाद = यद् एतद् तदधिष्ठानोहम्

विशिष्टाद्वैतवाद = यद् एतद् तद्विशिष्टोहम्

केवलद्वैतवाद = यद् एतद् तत्कर्ता/तन्निर्णायकः/तदाधारो अहम्

महाप्रभूकी वेदान्तव्याख्या-रीतिके अनुसार “एतद् = अहम्” पदोंका सामानाधिकरण्य एक नहीं अनेकरूपोंमें सम्भव है. यथा—द्रष्टृ-दृश्यभाव कर्तृ-कार्यभाव द्रव्य-नामरूपभाव उपादान-उपादेयभाव आधार-आधेयभाव

अन्तर्गामि-शरीरभाव नियामक-नियम्यभाव भोक्तृ-भोग्यभाव व्यापक-व्याप्य-भाव प्रकाश-प्रकाश्यभाव आदि अनेक रूपोंमें सामानाधिकरण्य न केवल सम्भव है अपितु उपनिषदादि शास्त्रोंमें तत्तत् स्थलोंमें प्रतिपादित भी है ही.

उपनिषदोंका तो यह प्राणभूत उपदेश है. अतः कुछ उपनिषद्वचनोंको मूलरूपेण देख लेना यहाँ उचित होगा. कमी सन्देहनिराकरणार्थ अपेक्षित अनुवाद भी संक्षेपमें देनेका प्रयास करेंगे.

‘यदेतत्सदहम्’ उपनिषदमें

तैत्तिरीयारण्यक (१।२३।९) में— “विधाय लोकान् विधाय भूतानि विधाय सर्वाः प्रदिशो विशश्व. प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य आत्मनात्मानम् अभिसंविवेशः.”

तैत्तिरीयोपनिषद् (३।६) में— “सोऽकामयत. बहुस्यां प्रजायेयेति. स तपोऽभ्यत. स तपस्तप्त्वा. इदं सर्वमसृजत. यदिदं किंच तत्सृष्ट्वा तदेवानु-प्राविशत् तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्, निरुक्तं चानिरुक्तं च, निलयनं चानिलयनं च, विज्ञानं चाविज्ञानं च, सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्. यदिदं किंच तत् सत्यम्”.

छान्दोग्योपनिषद् (३।१४।१) में— “सर्वं खलु इदं ब्रह्म”

वहीं (६।१।४) “यथा सोम्येकेन मृत्पिडेन सर्वं मृण्मयं विजातं स्याद्. वाचारंभणं ‘विकारो’ नामधेयं ‘मृत्तिका’ इति एव सत्यम्. अर्थः जैसे एक मृत्पिण्डको जान लेनेपर सारेके सारे मृण्मयों (मयट्, विकारार्थक है अतः मृत्तिकारों) का ज्ञान हो जाता है. क्योंकि मिट्टीके घडेको ‘मृत्तिकार’ कहना तो कहने भरकी बात है. मिट्टीके घडेका सच्चा नाम तो ‘मृत्तिका’ (‘इति’ पद शब्दस्वरूपवाचक) ही है. अर्थात् इसी तरह ‘एतद्’ का सच्चा नाम ‘अहम्’ ही है.

वहीं (६।२।१-२) में— “सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्. तदैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत. कुतस्तु खलु सोम्येवं स्यादिति कथमसतः सज्जायेतेति. सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवा-

द्वितीयम्. तदक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति” अर्थः “यह पहले भी सत् ही था एकमेव अद्वितीय. कुछ लोग कहते हैं कि यह पहले असत् था और असत्से फिर सत् बन गया. परन्तु असत्से सत् कैसे बना जा सकता है. अतः कहना पडेगा कि पहले भी यह सत् ही था. एकमेव अद्वितीय. उसने चाहा कि वह अनेक बन जाये” इससे स्पष्ट है कि जगत् न केवल स्थितिकालमें अपितु उत्पत्तिसे प्राक्कालमें भी सत् ही था. यह जो जगत् दिखाई देता है वह ब्रह्म था एकमेव अद्वितीय, है भी और रहेगा भी. स्थितिकालमें सत्ताका विधान अधिगतार्थका उपदेश होनेसे शांकर मतमें अप्रमाण माना जा सकता है. परन्तु उत्पत्तिसे प्राक्कालमें भी जगत्के सत् होनेका उपदेश तो सर्वथा अनधिगतार्थका ही उपदेश है, प्रमाणरूप.

वहीं (६।८।७)में—“एतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि”. अर्थात् यह दृश्यमान बाह्यार्थ तथा द्रष्टा अन्तरात्मा दोनों ही समानरूपेण ब्रह्मात्मक हैं. एक बाधार्थसामानाधिकरण्यवश तथा अन्य वास्तविकतया ऐसा भेद श्रुत नहीं है.

बृहदारण्यकोपनिषद् (१।६।१-३)में—“त्रयं वा इदं नामरूपं कर्म.... ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि नामानि... रूपाणि... कर्माणि विभक्ति. तदेतत् त्रयं सद् एकम् अयमात्मा आत्मा एकः सन् एतत् त्रयम्”.

वहीं (७।१।१) में—“पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते. पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते” अर्थात् जैसे वह ब्रह्म है ऐसे यह दृश्यमान भी ब्रह्म है. ब्रह्मसे ब्रह्मका प्रादुर्भाव होता है. ब्रह्ममें ब्रह्मात्मक-जगत्के लीन हो जानेपर ब्रह्म ही बचा रहता है.

श्वेताश्वतरोपनिषद् (१।१२) में—“एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चिद् भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्त्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्.”

ऐसे अनेक श्रुतिवचनोंके आधारपर (श्रुतेनार्थेन चाञ्जसा) “यद् एतद् तद् अहम्” सूत्रकी महत्ता समझी जा सकती है.

इस तृतीयोपदेशमें स्थानलीला पोषणलीला उतिलीला मन्वन्तरलीला ईशानुकथालीला तथा निरोधलीलाओं का वर्णन इसी “यद् एतद् तद् अहम्” का मुर्छिचर भाष्य है. एक ऐसा भाष्यकी जिसे सुननेके सच्चे अधिकारी कभी विषयासक्ति या मुक्ति की झंझटमें फसना नहीं चाहते. भागवत (१०।८।१२१) में यह कहा गया है कि दुर्बोध्य आत्मतत्त्वके ज्ञापनार्थ जब भगवान् भक्तमनोहर विग्रह धारण कर भूलत्पर प्रकट होते हैं; तथा भक्तके हृदयमें अपनी लीला-कथाओंका सागर छलका देते हैं, तब लौकिक विषयोंमें आसक्तिको छोड़ देने-वाले कुछ विरले परमहंस मुक्तिका मोह भी तोड़ कर, उसी लीलाकथामृतके महापंखमें तैरते रहना चाहते हैं !

बस यही तो भागवतोपदेशका परम एव चरम तात्पर्य है. यही दशम तत्त्व आश्रयकी परम विष्णुद्धि है. अन्य शुद्धिके प्रकार अप्रमाणिक नहीं किन्तु सच्चे भक्तको अनभीष्ट है; सभी भागवतोपदेष्टा सर्वेश्वरी भगवान् नारायण, ब्रह्मा, व्यास, शुक, मेनेत्र्य या सूत आदिके तात्पर्यसे बहिर्भूत भी हैं.

भागवत भक्त्यर्थ है तथा भक्ति ही भागवतार्थ है. भक्तिरसकी अनुभूतिके लिए ब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण बन गया. भक्तिरसकी अनुभूतिके लिए ब्रह्ममेंसे जीवात्मा व्युत्चरित होती है. अतएव भागवतके प्रारम्भ (१।८।२०) में कहा गया है कि “भगवान्का भूतलपर प्राकट्य भक्तियोगविधानार्थ है. भागवत उन लीलावतारोंकी कथाओंके गानार्थ मुख्यतया प्रवृत्त हुई है. उस लीलागानमें उपयोमी जगद्ब्रह्मतादात्म्य-विज्ञानके तथा तन्मूलक विषयवैराग्यके आनुषंगिक उपदेश भी भागवतमें भगवल्लीलाकथाओंके अंगगया अन्त्यान्य कथाओंद्वारा दिये गये हैं (द्रष्टव्य भाग. १२।१।१४). मुख्यता तो किन्तु भगवल्लीलाकथाओंकी ही है.

भागवतका श्रवण-कीर्तन-चिन्तन करनेवाले किसी भी व्यक्तिके लिए यह अतिरोहित है कि भागवतके भीतर दशमस्कन्धवर्णित निरोधलीलाका महत्त्व कितना अधिक है. इस महत्त्वानुरोधवश थोडा-कुछ निरोधलीलाका विमर्श भी प्रासंगिक ही होगा.

निरोधलीला

“दशमस्य विश्वद्वयर्थं नवानामिह लक्षणम्” विधानके कारण व्याख्या-कारोंमें परस्पर प्रचुर बँटव्य हो गया है.

विभिन्न व्याख्याकारोंके मतमें ‘निरोध’ का अर्थ, द्रष्टृदमन, असुरसंहार, भूभारहरण, योगनिद्रा तथा प्रलय यों विभिन्न रीतिसे किया गया है.

भक्तियोगविधानार्थं अवतीर्ण भगवान्द्वारा द्रष्टृदमन भूभारहरण या असुरसंहार या तो धर्मसंस्थापनार्थं या भुक्तिवितरणार्थं माने गये हैं. वह सभी स्कन्धोंमें भगवान्के सभी लीलावतारोंकी कथा है. तब निरोधलीलाकथाकी कोई अपूर्वता नहीं आती.

जहाँ तक ‘निरोध’ का योगनिद्रा या प्रलय अर्थ किया जाता है तो उसका दशमस्कन्धमें कहीं वर्णन ही उपलब्ध नहीं होता ! अतएव ध्वराकर कुछ लोग दशमस्कन्धमें निरोधलीलाका वर्णन न मानकर आश्रयलीलाका वर्णन स्वीकारते हैं; तथा निरोधलीलाको बारहवें स्कन्धका विषय मान लेते हैं. यह गडबड़ हुई है “निरोधोऽस्यानुशयनम् आत्मनः सह शक्तिभिः” लक्षणमें ‘अस्य आत्मनः’ तथा ‘अनुशयनम्’ पदोंके स्पष्ट स्वारस्यपर दुर्लक्ष्य करनेसे.

यदि ‘अस्य आत्मनः’ का अर्थ जीवात्मा लेते हैं तो जीवात्माको योगनिद्राका कहीं वर्णन नहीं हुआ है. दशमस्कन्धमें जीवात्माकी देह इन्द्रिय प्राण अन्तःकरण रूप शक्तियोंका अनुशयन, जिन्हें सायुज्य-मुक्तिका दान दिया गया है उनके बारेमें, तो स्वीकारा जा सकता है. परन्तु जिन ब्रजभक्तोंकी या मथुरास्थित द्वारकास्थित और अन्यत्र स्थित भक्तोंकी भी मुक्तिका वर्णन नहीं हुआ है, उनका वर्णन दशमस्कन्धमें या तो आनुबंधिक या अर्थहीन मानना पड़ेगा. अतः ‘अस्य आत्मनः’ का अर्थ प्रकृतपरामशितया सर्गादि-लीलाकारी परमात्माके रूपमें ही लेना उचित है. ‘अनुशयन’ का अर्थ भी योगनिद्रा मुक्ति या प्रलय करनेपर आगामी एकादश द्वादश स्कन्धोंकी लीलाका वर्णन प्रयोजनहीन बन जाता है. अतः ‘अनुशयन’ के अर्थको समझनेकेलिए श्वेताश्वरोपनिषद् (४।५) के

“अजो ह्येको ज्वमाणोनुशेते” प्रयोगपर ध्यान देना आवश्यक है. यहाँ संसारी जीवकी सुप्ति या मुक्ति का वर्णन नहीं किन्तु प्राकृत विषयोंके उपभोगके अनुकूल स्थितिका वर्णन ही अभिप्रेत लगता है.

भगवान्ने भी दिव्यरूपेण जन्मग्रहण करके भी पुनः उस दिव्य चतुर्भुज रूपको उपसंहृत कर प्राकृत शिखर जैसा वपु धारण किया ऐसा वर्णन जन्मप्रकरणमें उपलब्ध होता है (द्रष्टव्य भाग. १०।३।४६). प्राकृत वपु धारण कर प्राकृत जनोके बीच प्राकृत विषयोंके उपभोगानुकूल भगवान्ने ब्रजमथुरा एवम् द्वारका आदि स्थानोंपर लीला की. यह लीला किन्तु अपनी द्वादशविध आत्मशक्तियों को साथ रखते हुए की. इसे ही ‘अनुशयन’ कहा गया है. उन्हें तिरोहित कर नहीं. अतएव यह कहा गया (भाग. २।७। ३१) है कि दिनमें अपना-अपना कार्य कर रातमें थककर सो जानेवाले गोकुलवासियोंके बीच भगवान्ने अपना वैकुण्ठ प्रकट कर दिया था. अतः उक्त लक्षणका सच्चा अनुवाद यों करना चाहिये “इस सर्गादि लीलाके करनेवाले भगवान्का आत्मशक्तियोंके साथ भूतलपर प्रकट होकर प्राकृत पुरुषकी तरह प्राकृत विषयोंके उपभोगानुकूलतया स्थित होना निरोध है.”

आप्तकामका माखन चोरी करना निरोध है. आत्मारामका ब्रजगोपि-काओंके साथ रमण करना निरोध है. रागद्वेषादिरहित सर्वात्मा भगवान्का वृन्दावनमें अपने सब्बाओंको रक्षाकेलिए असुरोंका संहार करना निरोध है. यह ‘निरोध’ पदका अर्थ “श्रुतेनार्थेन चाञ्जसा” है. क्योंकि भगवान्ने स्वीकारा है—“समोहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योस्ति न प्रियः ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्” (गीता. १।२९) भक्त भगवान्केलिए जन्म लेते हैं भगवान् भक्तकेलिए !

परमात्मा अपनी आत्मारति आप्तकामत अधोक्षजता आदि मयादाओंको तोड़कर जीवात्माओंके बीच उनकी ही तरह, अपनी समग्र दिव्य शक्तियोंके साथ प्रकट हो जायें तो, वह भगवान्का भक्तमें निरोध है. इसे ‘साधननिरोध’ कहते हैं. ऐसे प्रकट भगवान्को दिव्य रूप-गुण-आकृति-कृति आदिके दर्शन या कर

भक्त जब प्रपंचासक्तिसे छूटकारा पाकर अनन्यतया भगवदासक्तिका लाभ पाता है तो उसे 'फलनिरोध' कहा जाता है. इस फलकी सिद्धि भूतलपर प्रकट भगवान्‌के लीलाव्यापारसे होती है. अतः भूतलपर भगवान्‌की लीलाको 'व्यापारनिरोध' कहा जाता है. "शर्यासनाटनात्तापस्नानक्रीडाशानादिषु न विदुः सत्तमात्मानं वृण्वयः कृष्णचेतसः" (भाग. १०।१०।४६) तथा "तन्मस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मा-गाराणि सस्मरः" (भाग. १०।३१।४३) इन वचनोंमें फलात्मक मुख्य निरोधका वर्णन हुआ है.

नवमस्कन्धमें भक्तोंका वर्णन हुआ है. अतः पूर्वोत्तरकथासंगतिके विचारसे भक्तोंका निरोध मुख्य निरोध है. फलतः भगवदासक्तिसाधिका लीला मुख्य निरोधरूपा लीला है. परन्तु आनुषंगिकतया मुक्तिसाधिका लीला भी निरोध लीला हो सकती है. प्रभुने भूतलपर जन्मग्रहणसे पूर्व ही ऐसे आनुषंगिक निरोध (प्रपंचविस्मृतिपूर्वक भगवद्‌भीतिप्रयुक्त चित्तकी भगवदेकतानता) को सिद्ध किया था ऐसा वर्णन "आसीनः संविशन् तिष्ठन् भुञ्जानः पर्यटन् महीम् चिन्तयानो हृषीकेशम् अपश्यत् तन्मयं जगत्" (भाग. १०।२।२४) वचनमें हुआ है. कंसको भक्ति न देकर मुक्ति दी गई थी. अतः यह भगवान्‌की गौण निरोधलीला है.

"यद् एतद् तद् अहम्" के तादात्म्यकी अनुभूति केवल ज्ञानसे ही नहीं अपितु काम क्रोध भय द्वेष सौहृद सम्बन्ध स्नेह आदि सभी तरहकी वृत्तियोंसे संभव है. यह दिखलाकर भागवतमें औपनिषद उपदेशका कितना अद्भुत लीलाकथात्मक भाष्य हुआ है! यह हम इस वचनमें देख सकते हैं: "कामं क्रोधं भयं स्नेहमन्यं सौहृदमेव वा नित्यं हरी विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते" (भाग. १०।२१।१५). यह पुरुषोपायतया नहीं किन्तु पुरुषोत्तमोपायतया बणित हुआ है.

तृतीय सूत्रका भाष्य :

(३) "योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्" सूत्रका भाष्य मुक्तिलीला तथा आश्रयलीला के रूपमें हुआ है.

हमने देखा कि सृष्टि दो तरहकी प्रकट हुई है: जड़ बाह्यार्थ तथा चेतन-अन्तरात्मा. मुक्तिलीला जड़रूपके साथ नहीं किन्तु जीवरूपके साथ भगवान्‌ करते हैं. जीवात्माका प्राकट्य आनन्दांशके तिरोधानद्वारा सम्पन्न किया गया है. उस जीवात्मामें आनन्दांशका प्राकट्य होते ही अन्यथा रूप उसका छूट जाता है. जीव-पुनः स्वरूपस्य सच्चिदानन्दात्मक हो जाता है. "मुक्तिर्हिस्वान्म्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः" मुक्तिके भागवताभिमत पांच प्रकार हैं.

- (१) सालोक्य
- (२) साष्टि
- (३) सामीप्य
- (४) सारूप्य
- (५) सायुज्य-एकत्व.

परमात्मामेंसे व्युच्चरित होनेपर एकत्वका तिरोधान तथा द्वित्वका आविर्भाव होता है. व्युच्चरित अंशमें किन्तु जब तक आनन्दांशका तिरोधान नहीं होता तब तक उस अंशमें दिव्य आनन्दाकारका सारूप्य रहता है. आनन्दांशके तिरोधानसे सारूप्य तिरोहित हो जाता है. फिरभी जब तक जीव भगवत्सामीप्यसे वंचित नहीं होता तब तक अविद्या उसे प्रभावित नहीं कर पाती. अतः सामीप्यके तिरोधानके बाद उसमें भगवान्‌के ऐश्वर्य वीर्यं यश श्री ज्ञान वैराग्य गुण भी तिरोहित हो जाते हैं. परिणामरूपेण अविद्याका प्रभाव जीवपर पड़ता है. तब वह दिव्य भगवद्‌धामसे प्राकृत जगतमें जन्मग्रहण करता है.

इसीके व्युत्क्रमशः सालोक्य साष्टि सामीप्य सारूप्य तथा अन्तमें सायुज्य या एकत्व के लाभ रूप पंचविध क्रमिक मुक्तियोंका वर्णन हुआ है. यह "यत्प्रयन्ति" में बणित प्रकार है. भगवद्‌धाममें सालोक्यादि मुक्ति आनन्दांश के प्राकट्यद्वारा प्रकट हुई होनेसे इन विविध रूपोंके साथ भगवान्‌का व्यतिरेकरहित नित्य अन्वयरूप सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है. यह हमने पहले भी कई बार समझा दिया है. इसे 'आत्यन्तिक लय' कहते हैं. यह एक प्रकार है "योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्" का.

नैमित्तिक तथा प्राकृतिक प्रलय द्वादश-स्कन्धीय लीला है। वह दूसरा प्रकार है "योवशिष्येत सोस्म्यहम्" का। इस विषयमें पुनः कुछ विस्तृत विमर्शकी अपेक्षा है। नित्यलयको तथा नैमित्तिकलयको प्रकृत प्रसंगमें अनावश्यक होनेसे हम छोड़ देना चाहेंगे।

आश्रयलक्षणमें आश्रय तत्त्वको दो तरहसे परिभाषित किया गया है:

- (१) विषयतासृष्टिके विवर्तोपादानत्वेन या अधिष्ठानत्वेन
- (२) विषयसृष्टिके परिणाम्युपादानत्वेन या अंशित्वेन।

(१) पूर्ववर्णित आवरण तथा अन्यथाप्रतीति रूप विषयताका आभास जिस ब्रह्मरूप अधिष्ठानपर, जिन भगवान्की व्यामोहिका मायाके कारण होता है; तथा जिस ब्रह्मके ज्ञानसे वह विषयता निरुद्ध हो जाती है, वह परब्रह्म परमात्मा ही आश्रय है: "आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्दते"। ब्रह्मज्ञानीको ब्रह्मका अभान या अन्याभास नहीं होता।

किन्हीं व्याख्याकारोंको साम्प्रदायिक अत्याकारितावश इस लक्षणमें प्रयुक्त 'आभास' पदका अर्थ नवविध लीलामें लगती है। ऐसी स्थितिमें 'निरोध' दशमस्कन्धीय लीलाका वाचक नहीं रह जायेगा। उस स्थितिमें जब नवविध लीलाके साथ समभिव्याहृत 'निरोध' पद दशमस्कन्धीय लीलाका वाचक न हो तो, असमभिव्याहृत 'आभास' पदको इन नवविध लीलाओंके वाचक माननेमें भी कोई विनिगमना नहीं रह जाती। यदि दशमस्कन्धीय लीलाको 'आभास' पदसे विवक्षित न माना जाये तो वह मिथ्या-मायिक भास नहीं रह जायेगी। श्रीमधुसूदन सरस्वती प्रभृति कुछ विद्वान् भगवद्रूपको तो 'सच्चिन्मयी नीलिमा' मान लेते हैं, परन्तु ब्रज-ब्रजभक्त-ब्रजलीलाको या इसी तरह मथुरा आदि स्थल-भक्त-लीलाओंको अमायिक नहीं मानते, अर्ध-जरतीय वृत्तिसे। अतः असमंजस हो जाता है। कृष्णलीलाको आभाससे पृथक् अर्थात् आभासका निरोध मान लेनेपर, इतर लीलावतारोंमें वैषम्यबुद्धिका भी कोई नियामक सामने आता नहीं है।

(२) अक्षरब्रह्म आश्रय है, विषयसृष्टिके परिणाम्युपादानत्वेन; क्योंकि परिणाम्युपादानमें उपादेय कार्य प्रकट होता है, स्थित होता है तथा लीन भी होता है। विवर्तोपादान या निमित्तकारण में नहीं। द्वैतवादी वेदान्तिओंकी तटस्थ आधारकारणकी कल्पनामें द्वैत अपरिहार्य होनेसे अद्वैत प्रसंगमें उसकी चर्चा अनावश्यक है।

इस विषयसृष्टिके दो भेद बाह्यायं तथा अन्तरात्मा दिखलाये गये हैं। अन्तरात्मामें दैवी सृष्टि मुक्तिकी अधिकारी होती है। अतः इन्हें बाह्यायं सृष्टिके प्रलयसे पहले भी मुक्तिलीलाद्वारा आश्रयोपलब्धि होती है, भक्ति-द्वारा अथवा ज्ञानद्वारा। भक्तोंको भगवत्प्रपत्तिकी क्रियाद्वारा 'तवाहम्' या 'मम त्वम्' भावके अनुसार सालोक्यादि चतुर्विध मुक्तिद्वारा भजनानन्दात्मिका आश्रयभावापत्ति सिद्ध होती है। ज्ञानीको ज्ञानके 'सोहम्' भावके अनुरूप अक्षर-सायुज्यरूपा मुक्तिद्वारा ब्रह्मानन्दात्मिका आश्रयभावापत्ति सिद्ध होती है।

परन्तु जो आसुरी सृष्टिके जीव मुक्तिके अन्धकारी हैं उनको तथा जड़ सृष्टिके अन्तर्गत प्रकृति तथा प्राकृत तत्त्वोंको, प्राकृतिक लयके समय आश्रय-भावापत्ति सिद्ध हो जाती है।

इसीका वर्णन करते हुए यह कहा गया कि जो आध्यात्मिक पुरुष है वह आधिदैविक पुरुष ही तो है। फिरभी इन दोनोंमें आधिभौतिक पुरुष विच्छेद कर देता है। श्वेताश्वतरोपनिषद्की भाषामें कहें तो आधिभौतिक पुरुष भोग्य है, आध्यात्मिक पुरुष भोक्ता है तथा आधिदैविक पुरुष प्रेरिता है (सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्मेतत्)।

एकादश स्कन्धमें प्रतिपाद्य आत्यन्तिक लयरूप विदेहमुक्तिके सालोक्य आदि प्रकारोंमेंसे किसी भी एक प्रकारसे भगवद्भाम अथवा सायुज्यके लाभ होनेपर मुक्तात्मामें आध्यात्मिक भोक्तृभाव तिरौहित हो जाता है, फलतः आधिभौतिक भोग्य देहादि पदार्थोंको उपलब्धि होने भी बन्द हो जाती है (यदा एकतराभावे एकं न उपलभामहे)। इसी तरह द्वादश स्कन्धमें प्रतिपाद्य प्राकृतिक लय अर्थात् पांचभौतिक तत्त्वोंसे प्रारम्भ कर त्रिगुणात्मिका

प्रकृति पर्यन्त सभी आधिभौतिक भोग्य पदार्थोंके अक्षरब्रह्ममें प्रलीन हो जानेपर सच्चिदानन्द ब्रह्मके सर्वशोमें आधिभौतिक भोग्यभाव तिरोहित हो जाता है, फलतः अमुक्त आध्यात्मिक भोक्ता जीवात्माओंकी भी तब उपलब्धि होनी बन्द हो जाती है, क्योंकि वे भी भोग्य न रहनेसे भोक्तृभाव त्यागकर पहले समष्टि पुरुषमें तथा तद्द्वारा अक्षरब्रह्ममें लीन हो जाते हैं (यदा एकतराभावाद् एकं न उपलभामहे), ऐसी अवस्थामें कि जब त्रिविध जड जीव या अन्तर्यामी रूप पृथक्तया न रह कर स्वयम्में लीन हो जाते हैं तब भी अर्थात् उनकी ऐसी प्रलीनताकी अवस्थामें (तब) भी स्वाश्रयाश्रयरूप परमात्मामें तीनों रूपोंका ज्ञान रहता ही है (त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः). प्रलयकालमें इस ज्ञानके अभावमें परमात्मा आगामी कल्पमें सृष्टिकर्ता बन नहीं पायेगा.

इस तरह इस "एकमेकतराभावाद् यदा नोपलभामहे त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः" (भाग. २।१०।१९) के स्फुट अभिहितार्थके विमर्श करनेपर मुक्तोपसृप्य तथा प्रलयशेष परमात्माके आश्रयरूपको सरलतासे समझा जा सकता है, फिरभी कुछ विद्वान् श्रुत 'दोमेंसे एकतर' पदके स्थानपर अश्रुत 'तीनमेंसे एकतर' पदकी भावनासे अभिभूत होकर व्यर्थ ही इस कारिकाका वरुह व्याख्यान करते हैं कि "तीनमेंसे एक भी न रहनेपर तीनों ही नहीं रह जाते, अतः जडजीवेश्वरका द्वैतप्रपञ्च केवल मिथ्या प्रतिभास है, परमात्मा तो इस मिथ्या प्रतिभासका निर्विकार साक्षी शुद्ध चैतन्य मात्र है".

इनका गणित (३-१=०) के समीकरणका विचित्र उदाहरण है !

परन्तु महाप्रभुकी व्याख्यारीति इस प्रसंगमें बड़ी सावधानीसे विचारणीय है, महाप्रभु गीतोक्त "नासतो विद्यते भावः नाभावो विद्यते सतः" सिद्धान्तके अनुसार सत्यसंकल्प सर्वभवनसमर्थ तथा बाधानहंज्ञान रूप परमात्मामें प्रकट हुए जड जीव तथा ईश्वर रूपोंकी स्थितिकालमें सत्ताके अनुरोधवश प्रलय कालमें भी इनका अभाव न मानकर केवल तिरोभाव ही स्वीकारते हैं, और अतएव तयाकथित अभावकी साधिका अनुपलब्धिको भी स्वतंत्र प्रमाणके रूपमें मान्य नहीं करते हैं, अतएव "एकतराभावे एकांनूपलब्धि"की महाप्रभुकी अभिप्रैत व्याख्याका समझनेका प्रयास अब हमें करना है :

परमात्माको केवल मुक्तोपसृप्य या प्रलयशेष होनेसे ही आश्रय नहीं मान लिया जाता है, अपितु स्थितिकालमें भी सकल नामरूपोंके उपादानभूत द्रव्य-ज्ञान तथा भूत-भवद्-भव्य वस्तुमात्रमें, तसमें स्वयंप्रकाशतया भासित होते जानके आश्रयतया भी परमात्माको आश्रय मानना चाहिये, "तमेव मात्त-मनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं जिभाति" (मुंडक. २।२।११). अतः जड जीव और व्यष्टि-अन्तर्यामी, जो सच्चिदानन्द परमात्माके क्रमशः सर्वश चिदंश एवम् आनन्दांश हैं, इनमेंसे किसीमें भी अपनी संपूर्ण त्रिपुटीका अहन्तया भान नहीं रहता, व्यष्टि-अन्तर्यामी भी निजव्यापारमें अभिनिवेशकी लीलाद्वारा स्वैतर जड एवम् जीव का स्वयम्में अहन्तया ज्ञान नहीं रखता, तब सर्वश जडमें या चिदंश जीवमें तो सम्भावना ही नहीं हो पाती, अतः त्रिपुटीमेंसे किसी भी एकको स्वव्यतिरिक्त अवशिष्ट दोमेंसे एकतरके अभाववश अन्यतरकी उपलब्धि नहीं होती, किन्तु परस्पर सापेक्ष होनेसे एकतरके भाववश ही अन्यतरकी उपलब्धि होती है, फलतः त्रिपुटीमेंसे कोई भी एक न्यूनतम केवल स्वयंको जान पाता है, अथवा अधिकतम, अवशिष्ट दोमें एकवद्भाव मान कर दूसरेको जान पाता है, जडजीवान्तर्यामीके जैतका भान तो इन्हें स्वयम्में प्रकट करने-वाले परमात्माको ही हो पाता है, सर्वोपादान सर्वान्तर्यामी सर्वात्मा सर्वाश्रय तथा सर्वलयशेष होनेसे, यह निगूढ रहस्य महाप्रभुने तात्पर्यावगाहनके रूपमें प्रकट किया है.

अतएव द्वादशस्कन्ध (१२।४।१-२१) में यह वर्णित हुआ है कि प्राकृतिक प्रलयमें जब पंचमहाभूतादि तत्त्व स्वस्वकारणमें लीन होते हैं तब अन्तमें त्रिगुणात्मिका अव्यक्त प्रकृति तथा पुरुषकी शक्तियाँ भी कालद्वारा उपसंहृत हो जाती हैं, शेष तब रह जाता है अक्षरब्रह्म, बुद्धि इन्द्रिय अर्थ-विषय तथा अपार्थ-विषयता सभी रूपोंमें तब केवल अक्षरब्रह्मका भान बचा रहा जाता है, इन बुद्धि इन्द्रिय अर्थ-विषय तथा अपार्थ-विषयता के साथ सर्वत्र अक्षरान्वय ही रह जाता है, कहीं भी ब्रह्मव्यतिरेक रह नहीं जाता, अतः अक्षरचेतनामें दृश्य तथा अव्यतिरिक्त होनेसे बुद्धि-इन्द्रिय-अर्थ-अपार्थ सभी कुछ अक्षरात्मक बन जाते हैं (तदा बुद्धीन्द्रियार्थरूपेण यत् (च) आद्यन्तवद् अवस्तु (तदूपे-

णापि) इयत्वाव्यतिरेकाभ्याम् आश्रयं ज्ञानं प्राति)।

एक ही तैजस द्रव्य, जैसे, दीप चक्षु तथा रूप की विविधताके साथ प्रकट होता है; उसी तरह बुद्धि इन्द्रिय तथा रूपादि तन्मात्राके रूपमें ऋत ही प्रकट हुआ है. अतः ये ऋतसे भिन्न अनृत नहीं है.

एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्यका उद्घाटन यहाँ भागवतने कर दिया है. वह यह है कि, यत्-तत्त जो "यह मायामात्र-अस्तु है" ऐसा विधान किया जाता है, वहाँ सावधानतया यह समझ लेना चाहिये कि ब्रह्माथार्थ मिथ्या नहीं, इन्द्रियाँ मिथ्या नहीं, बुद्धि मिथ्या नहीं और न आत्मा ही मिथ्या हो सकती है. फिर भी इन चारोंके मिश्रणसे बना ब्रह्माज्ञानप्रयुक्त योग अपार्थ मिथ्या होता है. अतः देहमें आत्मबुद्धि अथवा आत्मामें देहबुद्धि भ्रान्ति है. अन्यथा न देह मिथ्या है और न आत्मा (द्रष्टव्य भाग. १२।४।२३-२७). जैसे लोकमें न रज्जु और न सर्प ही मिथ्या होते हैं. फिर भी रज्जुमें प्रतीयमान सर्प तथा सर्पमें प्रतीयमान रज्जु अपार्थ होते हैं, दोनोंमें ब्रह्मात्मकता अनुभूत न होनेपर.

एक और महत्त्वपूर्ण रहस्योद्घाटन इस आश्रय तत्त्वके निरूपणमें भागवतकार करते हैं. वह यह कि सौर तेजोद्रव्यसे निर्मित नेत्रोंके लिए सौर रश्मिसे निर्मित मेघ ही सूर्यदर्शनमें प्रतिबन्धक बनते हैं. इसी तरह अहंकारादि प्राकृत द्रव्य भी ब्रह्मोपादानक-ब्रह्मात्मक हैं. तथा अन्तरात्मा भी ब्रह्मांशभूत है. फिर भी अधिदेव ब्रह्म तथा आध्यात्मिक ब्रह्मांशभूत जीवके बीच ब्रह्मात्मक आधिभौतिक बुद्धि-अहंकारादि द्रव्य विच्छेद उत्पन्न करते हैं.

अतः आश्रय तत्त्वका विशुद्धबोध यदि हमें प्राप्त करना हो तो सर्वत्र-सर्वदा-सर्वथा शुद्ध ब्रह्मकी लीला ही स्वीकारनी पड़ेगी कि—

ब्रह्म बन्धो ब्रह्म मुक्तिः ब्रह्म बद्धस्तयेतरः ।

ज्ञानाज्ञानेपि ब्रह्मैव करणे मोक्षबन्धयोः ॥

ब्रह्मणा ब्रह्मणो मुक्तिः ब्रह्मण्येव यथा मता ।

ब्रह्मणा ब्रह्मणो बन्धो ब्रह्मण्येव तयोच्यते ॥

अवशिष्ट सूत्रोंके भाष्यमें विशेष कुछ कथनीय न होनेसे हम यहीं विषयका उपसंहार करते हैं.

प्रस्तुत भागवतार्थनिबन्ध तथा उसके साथ प्रकाशित हो रहे अन्य भी अनेक ग्रन्थोंके आद्य सम्पादक-प्रकाशक महानुभावोंके प्रति इस पुनःसंस्करणके प्रकाशनके समय हम अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करते हैं. इस संस्करणके नेगेटिव संशोधन आदि कार्यमें हमारे सहयोगी श्रीरसिकभाई तथा श्रीतिलक-भाई एवम् चि. मिनेश के भी हम कृतज्ञ हैं.

अन्तर्ग—

जयति श्रीवल्लभायों जयति च विट्टलेश्वरः प्रभुः श्रीमान् ।

पुरुषोत्तमश्च तैश्च निदिष्टा पुष्टिपद्धतिर्जयति ॥

श्रीवल्लभमताभ्यासे कृपया येन दीक्षितः ।

दीक्षितं तमहं नौमि श्रीतान्नां सदा ॥

पदवाक्यप्रमाणपथिषु पदविन्यासविवेकधर्जितं माम् ।

अनयत सफ़रावलम्बं तस्मै नतिरस्तु धर्मदेवाय ॥

वागर्थरूपो राजते ग्रन्थकृष्णो हि यन्मुखे ।

वक्तारं तं विभुं बन्धे तद्वागर्थोपलब्धये ॥

३० श्रावण

श्रीवल्लभान्द ५०६.

गोस्वामी श्याम मनोहर

तत्त्वार्थदीपानिवन्धः
तृतीयभागमें संकलित प्रश्नोंकी
अनुक्रमणिका

प्रश्नसं०	प्रश्नसं०	पृष्ठसं०
१.	आद्य सम्पादकलिखित द्वितीयभागस्य निवेदनम् ..	१-२
२.	आद्यसम्पादकलिखित श्रीभागवतामृतानुवर्षोपान ..	१-८
३.	भागवतार्थ प्रकरण (५-१२)	
	पञ्चम स्कन्ध (२१ अध्यायतः समाप्तिपर्यन्त) ..	९-३२
	षष्ठ स्कन्ध	३३-६४
	सप्त स्कन्ध	६५-८५
	अष्टम स्कन्ध	८६-१०६
	नवम स्कन्ध	१०७-१४२
	दशम स्कन्ध	१४३-२२६
	एकादश स्कन्ध	२२७-२५८
	द्वादश स्कन्ध	२५९-२७८
४.	परिशिष्ट (१) अध्याय-त्रय-प्रक्षिप्तता-समर्थनवाद-संग्रह	
	सुबोधिनी-टिप्पणी-प्रकाशाः ..	१-२
	गो. श्रीगोपेश्वर-विरचितवादः ..	१-३
	गो. श्रीगिरधर-विरचित-वादः ..	३-१४
	भट्ट-श्रीगंगाधर-कृता-जपमाला ..	१५-२०
५.	परिशिष्ट (२) भागवत-प्रामाण्य-वाद-संग्रहः	
	गो. श्रीपुरुषोत्तम-विरचित-श्रीमद्भागवतस्वरूप-विषयकशकानिरासवादः ..	१-६
	अज्ञातकर्तृक-श्रीमद्भागवत-प्रमाण-भास्कर ..	७-१२
	भट्ट-श्रीगंगाधरकृता-दुर्जनमुखचपेटिका-ग्रहस्तिकोपेता ..	१३-२६
	श्रीदामोदर-विरचित-श्रीमद्भागवत-निर्णय-सिद्धान्तः ..	२७-३२
	भट्ट-श्रीरामकृष्णकृत-श्रीमद्भागवत-विजयवादः ..	३३-७६
	श्रीरामचन्द्राश्रम-विरचिता-दुर्जनमुखचपेटिका ..	७७-७९
६.	परिशिष्ट (३) दशमस्कन्धानुक्रमणिका ..	१-८४

॥ श्रीबालकृष्णो विजयते ॥

द्वितीयभागस्य निवेदनम् ।

श्रीगङ्गोत्कलनाथकृपयास्मिन्नेव हायनेऽजकूटोत्सवावसरे श्रीमद्भागवतार्थनिबन्धस्य प्रकाश्यावरणभङ्गालकृतज्ञः पूर्वभागः श्रीमद्भागवतस्वारास्यनुसुत्तानां करकमले आसीत्सि-वेदित इति विदितचरमेव मनीषिणां भवताम् । तस्यैवायमपरो भागः पञ्चमस्कन्धोपादानस्य द्वादशस्कन्धान्तः कारिकातद्योजनाभ्यां विमृषितस्तत्कठिनांशविवेचनेन प्रसाधितश्च साम्प्रतं भवतां पुरतो निवेद्यते । अतः लल्ल द्वादशस्कन्धपूर्व्याऽल्लण्डानन्दाकारद्वादशाङ्गपूर्णपुरुषोत्तम इव सर्वोद्भूतिकरणार्थं ग्रसोत्सवे प्रादुर्भवति श्रीभागवततत्त्वार्थपदीपः सपरिकरः ।

प्रथमभागविष्कृतौ बहवः प्रत्युहा उदपद्यन्त । अस्मिन्नपरभागसंस्कृतौ श्रीवैश्वानर-वाक्पतीनामनुकम्पावशात् सर्वैत आनुकूल्यमाप्रवम् ।

श्रीमद्बल्लभवाङ्मयप्रचारोत्कमनोभिर्गो० श्री ६ श्रीब्रजरत्नलालजीमहाराज-चरणैर्मदीयकार्योन्तरातिपातान् दूरीकृत्यैतदर्थमेव नियुक्तोहं येनानन्यवृत्तिसापेक्षसंशोधन-मेकतानेन विधातुमपारयम् । मङ्क्षु प्राकट्ये इदं प्रधानं कारणम् । एवञ्च विधा-विलासिनो गोस्वामिचरणाः श्री ६ श्रीबल्लभलालजीमहाराजचरणाः पञ्चमेशोपादानस्य द्वादशस्कन्धान्तं कारिकातद्योजनायाः प्रतिकृतिं (प्रेसकोपी) कृपयाऽवदुः । झटिति प्राकट्ये ते भवन्तोपि हेतुः, कारिकापेक्षया योजनायाः प्रतिकृतिस्तु शुद्धतरासीदतो भवतामुपकारं वारं वारं स्मरामि । एवञ्च निबन्धकठिनांशविवेचनस्य प्रथमद्वितीयस्कन्धस्वविभागे भगवदीयतेलीबालमहाशयैः प्रकाशितः निबन्धः । तदप्ये प्रथमभागे तन्निवेद्यार्थं गवेपितमपि तन्नामप्रवम् । परन्तु कलिते प्रथमभागे मोहमयीस्थमङ्गलदासजीभगवदीयः सोत्साहं स भ्रमिदं विवेचनमाल्लिख्य प्राहिणोत् । अतः सर्वथा धन्यवादाहैः स भातुको भागवतः । यत्परिश्रमेण कठिनांशङ्केशमन्तरेण अध्येष्यते जनः ।

सोपानाधिकर्मणि "प. भ. ईश्वरलाल मनलाल शाह" "मञ्जुलालभार्गवास्तर" इत्यादिभिर्याः सुहृदो मम परिभ्रमं लघुकुर्वन्ति स्म इति विद्यया तेपि धन्याः। श्रीगोपीजनवल्लभ-चरणसेवनरितरेण श्रीमनलालभगवदीयेन सुद्वयव्ययप्रदानरूपां पितृप्रतिज्ञापूर्व सन्प्राथ महान् उत्साहोऽदर्शितः। दैवसम्पत्तेरियमेव क्लृप्तं यत्स्या विनियोगोऽलौकिकमगवत्कार्ये एव स्यात्।

निवेदनैत्रैक आन्तरनिर्बेदो मां सुखरीकरोति, कोटिपरिमितवैश्यावसङ्ख्याकेसिन्धु सम्प्रदाये सुद्वितसंस्कृतग्रन्थानां व्यवस्थितप्रचारो न भवति। विद्या मूल्यं वितरणं तु प्रति पुस्तकं कुर्म एव, तत्र बहूनि पुस्तकानि व्ययीभवन्ति। अवशिष्टानां बहुकालं रक्षणं कर्तुमपि न पारयते। कापि तदोषः कीटादिभिर्न विनश्येदिति तत्ततः सूक्ष्मेक्षिकया कोभीक्षणं पश्येत्।

श्रीमद्भागवतार्थनिबन्धस्यारातुपकारकाश्चतुःपञ्चग्रन्थाः प्रकाशनयोग्या वर्तन्ते। अध्यायार्थः, अक्किचिन्तामणिः, श्रीलालुमण्डानां गो. श्रीकल्याणरायाणाश्च लेखी, प्रक्षिप्ताध्याय-समर्षणं निबन्धसार इति। भागवतप्रकरणविभागस्तु गो. श्री ६ श्रीजजरललालजीमहाराज-चरणैः सुद्वयित्वा प्राकाश्यं नीतः। निबन्धः सङ्ग प्रकृत्या गभीरहार्दोस्ति, नहि टीकाग्रन्तरेण प्रेक्षावन्तोप्यवगन्तुं प्रभवन्तीति प्राक्कनमैतिषं मनसि कृत्य यावत्समासाद्यसाहित्यं प्रकटी-कर्तुमीहन्ते न्यायकोविदा गो. श्री. ६ श्रीजजरललालजीमहाराजचरणाः। श्रीकल्याणरायाणां श्रीमती टिप्पणी विस्तृता सती रसिकजनानन्दजनयित्री श्रीमदाचार्यवाचां विद्यायनिरसन-पूर्वकतद्दार्ढ्यबोधकर्त्री विराजते। सा सपदि स्वतन्त्रतया निर्भावमर्हति।

प्रकरणाध्यायार्थसङ्कलना सारस्येनेदमित्यतयावगता भवेदतो नूतनप्रणाड्या भागवतार्थमृतार्णवस्य सोपानरूपाणि कोटिकानि निर्मायात्र निवेद्यते पुरतो भवता प्रेक्षावताम्।

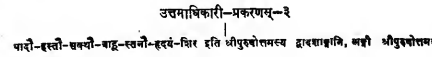
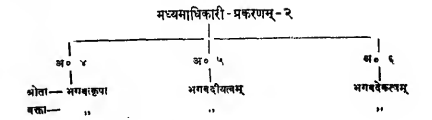
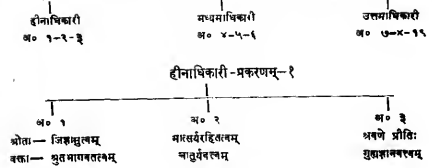
समन्तु यच्छोधितमन्यथा मया स्वहृष्टिदोषादनभिज्ञभावात्।
कपालवो भागवताः सदा मां फलं हि 'कृण्येस्तु' निवेदितं तत् ॥

रासोत्सवः
सं. १९९१

श्रीवल्लभपादपद्मपरमपरमजितो
भवदीयः
श्रीमनलालशास्त्री

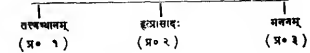
श्रीकृष्णः ।
श्रीभागवतार्थमृतार्णवस्य
सोपानानि

प्रथमस्कन्धे-अधिकारिरूपणम्-श्रोता-वक्ता

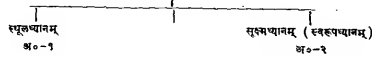


अध्यायाः-७५१९

द्वितीयस्कन्धे-साधनरूपणम्



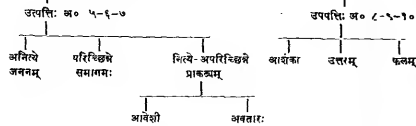
प्रथमं साधनं—तत्त्वध्यानं—प्रकरणम्-१



द्वितीयसाधनं—ह्रस्वासादः—प्रकरणम्-२



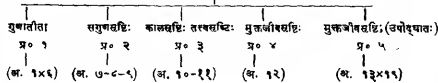
तृतीयसाधनं—मननम्—प्रकरणम्-३



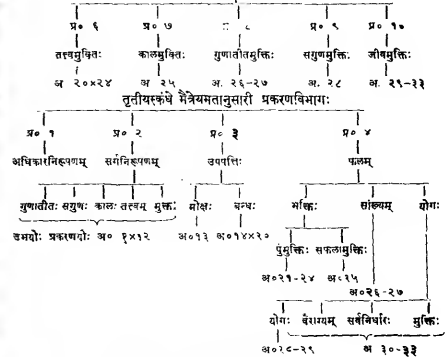
तृतीयस्कन्धे—लौकिक-अलौकिकसर्गनिरूपणम्—अ० ३३



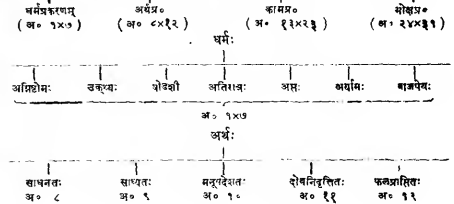
दन्धसृष्टिः

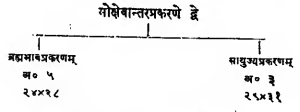
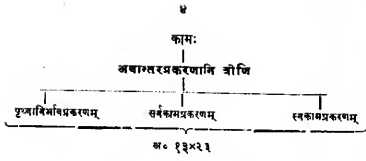


मुक्तसृष्टिः



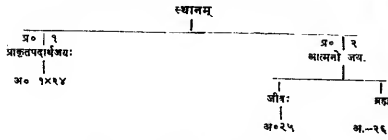
चतुर्थस्कन्धे-विसर्गनिरूपणम्



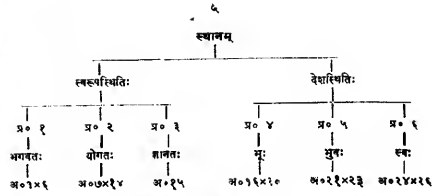
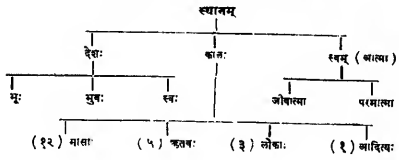


पञ्चमस्कन्धे स्थानलीलानिरूपणम् ।

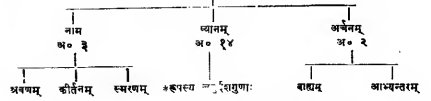
अध्यायसंख्यायां स्थानस्य रूढार्थतः प्रथमपक्षः



अध्यायसंख्यायां यौगिकार्थतः द्वितीयः पक्षः

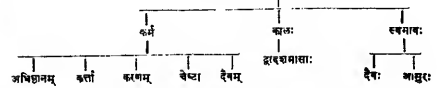


षष्ठस्कन्धे-पुष्टिनिरूपणम् ।

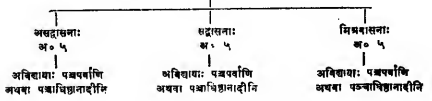


*रूपेण मोक्षदः प्रोक्तः रसेनात्मन्दायकः । गन्धेन भक्तिदः प्रोक्तः स्वर्गोन्नाशितापनुत्तुम् ।
मनोहरस्तु नात्रेण योगेनात्मप्रवेशदः । कालमोक्षप्रदो द्विष्टः स्वामी सर्वसुखप्रदः ॥
हीनमावाहः कष्टदः सकलार्थदः । पितो योगप्रदः प्रोक्तो भिक्षो मृत्युप्रदः स्मृतः ॥
वद्यास्थितो ज्ञानदश्च स्नेहाद्वरयो भवेद् ध्रुवम् ॥

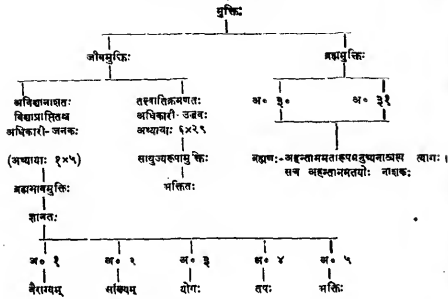
स्कन्धार्थविचारे पुष्टिः कालादिबाधकरुपा



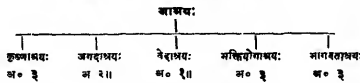
सप्तमस्कन्धे-ऊतिः-कर्मवासनानिरूपणम्



एकादशस्कन्धे मुक्तिनिरूपणम्



द्वादशस्कन्धे आश्रयलीलानिरूपणम्



इति श्रीनिबन्धानुसारी प्रकरणाध्यायाथर्वविभागः

निबन्धटीकासंरक्षणं विदित्वा पीयूषपानं रसिकाः प्रकुर्युः ।
सोपानपन्था विहितः प्रवेष्टुं लीलाथर्वे भागवते निजेन ॥ १ ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनबलभावाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीभागवतप्रतिपदमणिवरभावांस्तुष्टुपुस्तकसिद्धिर्जयते ।

श्रीमद्ब्रह्मभाचार्यचरणप्रकटिततत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गतं तृतीयं

श्रीमद्भागवतार्थप्रकरणम् ।

(श्रीगो० श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतयोजनाव्याख्यासमेतम्)

(निबन्धकठिनांशविवेचनसंयुतञ्च)

अथ पञ्चमस्कन्धनिबन्धस्य

एकविंशाध्यायः ।

अतः प्रसङ्गिनं प्राह मानतो ह्यतिदेशतः ।

अन्ते सुसन्धितं मध्ये शून्यमेवंविधं तु तत् ॥१३६॥

श्रीबालकृष्णो विजयते ।

श्रीदशदिगन्तविजयिश्रीगो.श्री ६ श्रीपुरुषोत्तमचरणविरचिता

पञ्चमस्कन्धनिबन्धस्य योजना ।

निजकृतिपरिपाकव्याकुलीमृतबुक्तिः

क इह खलु विभूनामाशयं वेत्तुमीष्टे ।

तदपि करुणयाऽस्मत्प्राथ नः ह्येदह्यारि-

स्वपदनखविधुं दृक्पानपात्रीकुर्व्व ॥ ? ॥

तत्किरणैर्निजसरणिं दर्शय हार्दं च कर्षय ध्वान्तम् ।

योजय देव निबन्धं जाने येनार्थसम्बन्धम् ॥ २ ॥

दिनो मण्डलस्य मानं निरूपयन्ति—मानतो ह्यतिदेशत इति ।

पूले 'दिनो मण्डलमि'त्यनेन स्वर्गोक्त उच्यते, 'उरःस्थले ज्योतिरनी-

स्वरादिलोकसंस्था तु पातालादेरिवेरिता ।
राशिमध्यगता भूमिर्न्यूनाधिक्येन वर्त्तते ॥१३७॥
ज्योतिश्चक्रस्य तु गतिः सूर्येणेति निरूप्यते ।
ब्रह्मकल्पे तथेत्येके मानसावेस्तु सम्भवात् ॥१३८॥

कमल्ये'ति 'दितो बृहन्ती'त्यादिकथनात् । अन्तरिक्षन्तु नापिसरोरूपं नभस्तलं स एव भ्रूलोकः, 'भ्रूलोकस्य नाभित' इति द्वितीये वाक्यात् । तद्वि मानतः पञ्चाशत्कोटियोजनसङ्ख्यायामेव । गये 'यथा द्विदलयोर्निष्पात्रादीनामि'त्यतिदेशादित्यर्थः । स्वरूपमाहु-अन्ता इत्यादि । 'ते अन्तरेणान्तरिक्षं तदुभयसन्निभमि'ति गये कथनात् । गये 'तदुभयसन्निभमि'ति तयोर्भूलोकस्वलोकयोर्थासापुष्ययोः सन्निभतं सम्बद्धम् । तथा च तस्य भूलोकनिकटभागस्तत्स्थितानां भोग्यो शुलोकनिकटतत्स्थानाम्, तद्वक्ष्यति चतुर्विधे 'अथस्तासवितुरि'त्यादिभिः । एवं सति पक्षमचारयोगो भागः शतयोजनात्मको भूलोकवासिभोग्य उपरितनः सिद्धादिभवनमारभ्य शुलोकस्यभोग्यः शेषः सप्तषष्ठिराहस्यमितोऽन्तरिक्षनामा भ्रूलोकवासियसादिभोग्यस्तेन भूलोकाच्चन्द्रचारपर्यन्तो द्विलक्षयोजनात्मको भ्रूलोकः पञ्चाशत्कोटिविस्तीर्ण इति सिद्धयतीत्यर्थः ॥ १३६ ॥

नन्वत्र भूमण्डलायामसन्निवेशादिकं राष्ट्रः प्रश्नानुरोपेन विराड्ध्यानार्थं भ्रुच्यते । अतः स्वर्लोकान्दिस्थानमप्यवश्यं वक्तव्यमेवेति तदुक्तो नोच्यत इत्याकाङ्क्षायामाहुः-स्वरादीत्यादि ।

तुः शङ्कानिरासे, पातालादिविरोधव्युत्पन्नयोजनान्तरस्यायामविस्तारस्य बन्धमाणात् । तेनैव सा कथिता । तथा च तेषां दूनैकव्यभिचागे निविडभागे मायभागश्च तत एव ज्ञातुं शक्य इति विराड्ध्यानस्य तावदेव सिद्धिरित्यनो नोच्यत इत्यर्थः । ननु 'स एष उदगयने'त्यादिग्रन्थस्य किं ययोजनं, राज्ञाऽप्युल्लात् । न च 'कालस्याऽनुगतितर्या तु लक्ष्मणेऽम्भी बृहत्पती'तिद्वितीयस्कन्धे प्रश्नाच्चतुरत्वेनेदमित्तिवास्यम्, 'स कालः परमापूर्वं' इत्यादिना तृतीयस्कन्धे एव तस्योत्तरितलादित्यत आहुः-राशीत्यादि । तुरत्यर्थं, अस्मिन्नध्याये निरूप्यमाणेन सूर्येण, एतदुभयं निरूप्यत इत्यर्थः । मतान्तरेण तत्प्रयोजनमाहुः-ब्रह्मेत्यादि । तुः ययोजनशङ्कानिरासे । द्वितीयस्कन्धे ब्रह्मकल्पो राजसन्देशनिरासायोक इति मानसोचरादिकं च सर्वं पिथव्रतादिकृतं त्वेवेति प्रसङ्गनस्तत्रत्यमिदमप्युच्यत इत्यर्थः ॥१३८॥

सूर्यस्य तु पृथग्ज्ञानमेवमत्र विचारितम् ।
कालसूत्रमिहैकं हि रघुगुप्ते यथोचितम् ॥१३९॥
सूक्ष्म एव स्थितः सूर्यः स्थूलस्यापि प्रवर्त्तकः ।
सारथिस्त्वाविशेषेण मूर्त्तिभेदेन वा तथा ॥१४०॥

सिद्धान्तेनाहुः-सूर्यस्येत्यादि । तुः पूर्वोक्तपक्षनिरासे 'पादं कल्पमयो शुष्मि'ति मध्ये उक्तत्वात्स्यापि वक्तुमुचितता । तथा च तृतीयेऽहोरात्रादीनामुक्तत्वेऽपि पक्षस्य पञ्चदशदिनात्मकत्वेन कथनात्तादादिद्विद्विहासहेतुज्ञानाभावे प्रत्यक्षविरोधेन पुनः सन्देशः स्यादिति तन्निरूप्यर्थं तदेतु भूतदिवसरात्रिद्विद्विहासज्ञापनाय, यत्रैते राशयस्तस्य ज्योतिश्चक्रस्यापि पूर्वाध्याये क्लो. ३० 'यदुग्रिण्डालस्यैरथस्य मेरं परिभ्रमतः संवत्सरात्मकं चक्रं देवानामहोरात्राभ्यां परिभ्रमती'त्यनेनोक्ताया गतेर्ज्ञापनाय च तदुक्तिरिति सूर्यस्य पृथगेव ज्ञानमत्र विवक्षितमिति तदेवात्र मुख्यतया विचारितमित्यर्थः । अत्र 'स एष' इति गद्यविवरणरूपे 'यदा मेने'त्यादिगद्यम् । तस्य सङ्ग्रहो 'यवदृशिणायनमि'त्यादीति ज्ञेयम् । राशिमध्यगतभूमिर्न्यूनाधिकत्वं सूर्यभोग्यनक्षत्राक्रान्तदिवससङ्ख्यापिज्ञेयम् । ज्योतिश्चक्रगतेर्भेदस्तद्विभागध्याये मूल एवानुमानेन बोधनीय इति न कोऽपि शङ्कालेशः । ननु पूर्वाध्याये सूर्यरथस्य सम्प्रसारणत्वं चक्रं मानसोचरोपरि भ्रमतीत्युक्तम्, स तु गिरियुतोच्छ्रायो लक्षोच्छ्रायान्मेरोरतिनीचैस्तत्सदुपरि भ्रमन् रथि-रूपोऽपि सहस्रोच्छ्रायो द्विगुणो वा भवेत्, न लक्षिकस्तथा सति तस्यापि नोचैस्ताम्ने-रूपपरि कथं दिनरात्रिपथव्याम् । किञ्च, तस्य गत्याऽस्यदादिदिनरात्र्योर्ध्याया न्यूनाधिक-भावस्तथाऽहोरात्रस्य नास्तीति कथं वैपथ्यम्, गतेरैक्यादित्याशङ्कायां द्विविधगति-तत्पर्ययोनकस्य कालोपाधित्वं चोपपादयन्ति साद्धं; पङ्क्तिः-कालेत्यादि । कालस्य सूत्रत्वं तृतीये वक्तव्यम् । 'अथचक्रं हसा भगवता कालेन भ्राम्यमाणानामि'त्यनेन । सूर्यस्य हि स्थूलं सूक्ष्मं चेति रथययमेकैकचक्रम् । इहास्मिन् रथगुप्ते । हि यतो हेतोः । कालसूत्रं कालात्मकं सूत्रम्, यथोचितं यादृगमत्यर्थं यथापेक्षितं तदर्थं तत्र तथास्थितमेकम् अत उभयोरपि कालोपधित्वम् । हिरोऽपि सम्बद्धयते । यतो हेतोः सूक्ष्म एव रथे स्थितः सूर्यः स्थूलस्यापि रथस्य निगामकतया प्रवर्त्तकः । तु पुनः सारथिरूपोऽपि विशेषणकल्पेण मूर्त्तिभेदेन वा तथा प्रेरकतया प्रवर्त्तकः । ॥१३९॥ ॥१४०॥

सूक्ष्मरूपरथा ये तु त ऊर्ध्वं मण्डले स्थिताः ।
 रहटे घटिका यद्वत् आरोहणादिकम् ॥१४१॥
 आरोहणे मन्दगतिरवरोहे तु शीघ्रता ।
 समे मध्यमभावश्च ज्योतिश्चक्रगतिः समा ॥१४२॥
 राश्यादिभावमापन्नाश्चक्रस्याशा निरूपिताः ।
 मेषे तुलायां च तथा अत ऊर्ध्वं व्यवस्थया ॥१४३॥

तु पुनः ये राहादिसप्तध्वन्ताः सूक्ष्मरूपा एकैके रथा येषां ते मण्डले
 स्थूले चक्रे यद्ग्रहहृते घटिकास्तिष्ठन्ति तद्गर्ध्वं स्थिताः । (ते विष्णुपुराणे द्विती-
 येंश्लोके द्वादशाध्याये 'शश्विचक्रे सोमस्ये'त्यादिना निरूपितास्ततोऽवगन्तव्याः ।
 यद्यपि सप्तर्षीणां रथा नोक्तास्तथापि तेषां गमनदर्शनात्कल्पनीया विमानानि वा) *
 गतिस्थानभूतानि मण्डलानि तु मध्यममण्डलस्योभयतो दिग्भ्रू क्रमेण हसन्ति ।
 तेभ्यारोहणे मन्दा गतिरवरोहणे शीघ्रा प्रत्यहं मण्डलभेदाद्भिद्यते, वायुवशाच्च ।
 समे ज्योतिश्चक्रतुल्ये मध्यममण्डले गतेमैध्यमता, अत आरोहणादीं तथा तथा गति-
 रस्तीति गतिभेदाद्दिनराश्यान्वृत्ताधिकसमाभावो ज्योतिश्चक्रगतिः समा । अतः
 परमात्माघरोरात्रान्तानां सर्वैककल्पमिति गतिद्वयाद्गतिस्थानभूतमार्गभेदाच्च सर्वैक-
 कल्पमिति गतिद्वयाद्गतिस्थानभूतमार्गभेदाच्च सर्वं समजसमित्यर्थः ॥१४१॥१४२॥

स्थूलचक्रोर्ध्वभागस्य त्रिविधत्वे प्रमाणमाहुः-राश्यादीति । तपेति
 समानभूमितम् । अत ऊर्ध्वं व्यवस्थयेति । मेषतुलाभयमेषो यथा यत्र भुक्ता
 तत्र तपेति । अयमर्थः, ज्योतिश्चक्रं तावत्कुलाचक्रबद्धुत्तानं मानसोचरोपरिसमानयैव
 गत्या भ्रमति, तस्य चक्रस्य स्थितिस्तु यथा पटहस्योर्ध्वेद्व्युत्कतया स्थापितस्य, परं सर्वं
 गोलोक्तुति, तत्र च मेरोलेसयोजनसमुद्भाहत्वे षोडशसहस्रं भूयन्तः प्रविष्टत्वात् पानसो-
 चरवस्तकाबद्धःसमूहिनवतिसहस्रयोजनोपरि मेरोर्मूर्धेति यो बध्मपाणोऽसस्ययायो-
 भानसस्तमानस्यै मेषस्तुन्वा च चक्रस्योपरि, तत्र भूमिसाम्यम् । ततो मेधाचि-
 त्श्रीनोबद्धभागे ह्यस्तत्समानस्यै तुलोपरि कन्या । इवाचिरश्रीनोबद्धभागे मियुन-
 स्तत्समानस्यै कन्योपरि सिंहः । मियुनसिंहयोस्तिरश्रीनोबद्धभागे कर्कः सर्वोपरि,
 एवं सति मेधाबलितस्य कर्कमध्यपर्यन्तमारोहस्तत् आरभ्य तुलारम्भपर्यन्तमवरोहः ।
 एवं तुलानोचैस्तिरश्रीनाग्रभागे द्विचक्रस्तत्समानस्यै मेधाश्रीचैर्षिनः पूर्वैवद्विचक्राश्री-

* () चिन्दान्तर्गतं मूलपुस्तके नास्ति ।

ज्योतिश्चक्रस्य गमनाद्गतिः सूर्यस्य सर्वदा ।
 यत्र राशौ भवेत्सूर्यः सभागेऽपि रथाङ्गके ॥१४४॥
 तद्भ्रातरुव्यस्तत्र तदंशोऽपि गतिस्तथा ।

चैधेनुस्तत्समानस्यै मीनाश्रीचैः कुम्भः । धनुःकुम्भयोस्तिरश्रीने सर्वतो नीचैर्मेकरः ।
 एवं तुलातो यावन्मकरारम्भमवरोहः, मकरमारभ्य मेधाव्यपर्यन्तमारोह इति । एवं
 च एषा राशिकला उपवीतवसिष्ठति, (एतेयासुद्दगयन्दक्षिणायनवैप्रवतराश्रीनां विष्णुगाः
 परस्परं विभक्ताः, यत्रादगयने आरोहस्तत्समाने दक्षिणायनेऽवरोह इत्येवं बोध्याः । कुतः
 मानसोचरोपर्यन्तं सूर्यादिपरिभ्रमणस्योक्तत्वादिति) * । तत्र च राहादिसप्तध्वन्ताः स्वस्त-
 कलावृत्क्रीतिकभ्रमावारोहन्तोऽवरोहन्तो गच्छन्ति । तत्रापि सूर्यगतिस्थले वायुपति-
 विषम इति मल्यहं गतिभेदः । तदुक्तं श्रीधरीये वायुपुराणनाम्नैः । अन्वया
 दिनराश्यारेकस्य द्विद्विपरस्य शस इति न स्यात् । इषभादिपञ्चके दिनचर्या
 तुलायां साम्यं चाकस्मिकमाप्येत । एवं सति मूलगद्ये वदन्ते हसतीत्यत्र समापेक्षया
 वदन्ते हसतीत्यध्याहरणमथैवलात्कार्यमिति सिद्धयति । एतेन देवाहोरात्रवपि
 साधितम्, वेदानां मेष उदयः कर्कं मन्थाहस्तुलायां सायं मकरं निशीथमिति । एतान्
 परं विशेषो यद्वैदिवसे सूर्यां नवतिवारद्वयपरि परिक्रमन् तावद्भारमेवाऽणोऽधः
 परिक्रमन् हस्यते । मेरुपत्यकादिद्विचक्रिभस्सदादिद्विकेदिवसे एकवारमेवाऽर्द्धं परि-
 क्राम्यति ॥१४१॥ तदेतदुत्सापर्यित्युभेन नवकोटयं इत्यारभ्य' तसामानन्ती'त्यस्य सात्यर्षे-
 म्ये वदित्यन्तः मल्यहं सूर्यदर्शनं उपपत्तिमाहुः-ज्योतिरित्यादि । तद्भ्रया प्रत्यहं हस्यते
 न हस्यते च मेरुव्यवधानादतो दिनराशिव्यवस्था भूमिष्ठानामित्यर्थः । मातःकाला-
 दावुपपत्तिमाहुः यत्रेत्यादि । एकैकस्य राशेः सामान्यतस्त्रिंशत्त्रिंशदाः स्थूला अहो-
 रात्ररूपास्तस्यापि तावन्तो गृह्णतेरूपा एवं घटिकापलादिरपरमापन्ता ज्ञातव्याः ।
 एवं सति रथाङ्गके ज्योतिश्चक्रे सभागे राश्यात्मकज्वाद्भागवति राशौ च
 घटिकादिभागवति अग्रे प्रथमतो यत्र सूर्यां भवेत्सिद्धति तस्मात्तः । तत्रापि
 हेतुः । उदयस्तत्रेति । उग्नोचरता तस्मिन्नेव समये इति । तथा च यस्मिन्
 राशौ यस्मिन्नाहोर्द्वयमतः सूर्यदर्शनं तस्मात् । एवं तदंशे लज्जयत्यादिकेषुऽपि
 या सूर्यस्य गतिः सा तथा लज्जादिकालनिर्वायिका ज्ञातव्येत्यर्थः । तत्राऽपि हेतुः-

* () चिन्दान्तर्गतं मूलपुस्तके नास्ति ।

समानगत्याऽपि तथा स्वांशकालायतिस्तथा ॥ १४५ ॥
 साम्प्रतं तु न पक्षोऽयं मध्ये भूमिरियं यतः ।
 भूमिगोलं परिक्रम्य जलादायाति गच्छति ॥ १४६ ॥
 मण्डलानां प्रवेशेन वायोरकार्षणात्तथा ।
 वृद्धिक्षयप्रकारं हि प्राहुस्तत्रैव युज्यते ॥ १४७ ॥
 मासपञ्चकपर्यन्तमहोरात्रस्यो भवेत् ।
 वृद्धिर्वा न त्वहोरात्रे तथाऽहस्य भवेत्कचित् ॥ १४८ ॥

समानगत्येत्यादि । यथा विषमगत्या राश्यंशकालभेदास्तथा समगत्याऽपि तदुदादिभेदाः । तत्रापि हेतुः—स्वांशेत्यादि । ज्योतिश्चक्रांशभूता ये कालोपाधयस्तेऽपि यतो हेतोर्द्वयादिनियामका इत्यर्थः । तथा च नियतपरिमाणकालोपाधवारोरात्रादिरूपे ज्योतिश्चक्रगतिः प्रयोजिका, विषमपरिमाणकालोपाधौ लम्बाद्युदयरूपे तृभयोर्गतिः प्रयोजिका, अनियतपरिमाणकालोपाधौ लम्बाद्युदयरूपे तृभयोर्गतिः प्रयोजिका इति भावः ॥ १४४ ॥ १४५ ॥

नन्वत्र सूर्यप्रमर्शं तिर्यगुक्तं तत्पत्यक्षतो विरुद्धयते इति तन्निवृत्त्यर्थं द्वाभ्यां क्षुपपत्तिमाहुः साम्प्रतमित्यादि । मध्य इति । जलमध्ये । जलादायाति गच्छतीति 'अत्रयो वा एष उदेति पुनरपः प्रविश्यती'ति श्रुतेः । 'सूर्यं चाज्ययः समुत्थित' इत्यादिवाच्यैश्च तथा । तथा च सा क्षाधादिकल्पनीया ष्ववस्तेपीतीदानीं (जलमथितं तदभावात् प्रत्यक्षविरोधो न दोषावहोऽत इदानीमयं पक्षो ज्ञातव्य इत्यर्थः ॥ १४६ ॥ कथमेवमित्याकाङ्क्षायाक्षुपपत्तिमाहुः—मण्डलेत्यादि । मण्डलानां राहादिसम्बन्धन्तस्त्रित्स्थानां जले प्रवेशेन ज्योतिश्चक्रमेव वायोरकार्षणादायाति गच्छति । तथा तेन पूर्वोक्तैरेव प्रकारेण वृद्धिक्षयप्रकारं दिनरात्रयोर्हि यतो हेतोः प्राहुः, ज्योतिर्विन्द इति शेषः । तत्रैव ज्योतिःशास्त्रोक्ते तिर्यगोलपक्षे एव युज्यते साम्प्रतं पक्ष उपपद्यत इत्यर्थः ॥ १४७ ॥ पक्षद्वयसाधारण्येन सिद्धमाहुः—मासेत्यादि । तत्पूर्वैरुपपादितं योजनार्थं चन्द्रगतवैषम्यं मनसि कृत्वाहुः—तथाहस्य भवेत्कश्चिदिति, यथाऽहोरात्रिसंघट्टादौ सूर्येण तथाऽहस्य मासाहस्य क्षयो वृद्धिर्वा सा कश्चिच्चान्द्रेऽमावस्याया हि मासान् सम्बन्धयन्ति पूर्णमास्यया हि मासान् सम्बन्धयन्तीति श्रुत्युक्ते मासविशेषे भवेत् । अतश्चन्द्र-गतित्पि ज्योतिश्चक्रे विषया । तथा च त्रित्यादिद्वयनाधिकभावस्य प्रत्यक्षाभावेऽपि प्रत्यक्षान्त्यां पक्षाधिक्यन्यूनत्वाभ्यां तस्या अपि वैषम्यमनुपीयत इत्यर्थः ॥ १४८ ॥

राशिपर्यन्तगमनमेकोनत्रिंशता क्वचित् ।
 तथैकत्रिंशता कापि गतिस्तेन समा न हि ॥ १४९ ॥
 स्थूलचक्रे यतः कीलं तथा तेनोच्यते परम् ।
 स्थूलचक्रे भूमिभेदा न तु सूक्ष्मे कथञ्चन ॥ १५० ॥
 अधुना भूप्रदेशाश्च ज्ञातव्या विनियामकाः ।
 दर्शनस्य समानेन सूत्रोणाऽदर्शनं यतः ॥ १५१ ॥
 मकरादिषु वृद्धिर्हि तथा कर्कादिषु क्षयः ।

सूर्यगतवैषम्येऽनुमापकमाहुः—राशित्यादि । कश्चिदित्यनियमेन । तथा च तद्यदि देशकृतं स्यान्नियतपटिकाः पलकमेव स्यात्, न त्वनियतमतो गतिवैषम्यकृतं तदित्यर्थः ॥ १४९ ॥ ननु देश एव तथा कृतो न कल्पन् इत्यत आहुः—स्थूलेत्यादि । यतो हेतोः कीलं कालवृत्ररूपं तथा सूर्यगतिसाम्यापादकम्, तेन हेतुना परं द्वितीयं वैषम्यकारणमुच्यत इत्यर्थः । कालमिति पाठेऽप्ययमेवार्थः । ननु स्थूलचक्र इव सूक्ष्मचक्रेऽपि भूमिभेद एव कृतो नाद्रियत इत्याशङ्क्यामाहुः—न तु सूक्ष्मे कथञ्चनेति, स्थूले (ज्योतिश्चक्रे) हि राशयो देशविभागनियामका यथा वर्तन्ते तथा सूक्ष्मचक्रे (सम्बन्धरात्मके) किमपि भूिनियामकं नास्ति निरवयवत्वाद्गतिवैषम्यं विना तत्कल्पनेऽप्युक्तानुपपत्त्यपरिहाराच्चातो नाद्रियत इति गतिरेव नियामिकेत्यर्थः ॥ १५० ॥ ननु कल्पान्तरे तथाऽस्तु नाधुनेत्यत आहुः—अधुनेत्यादि । चोऽप्यर्थः, अधुनाऽपीत्यर्थः । ज्योतिःशास्त्रेऽपि तथैव सिद्धिरिति भावः ।

तत्रापि नियमिकाक्षुपपत्तिमाहुः—दर्शनस्येत्यादि । तथा च प्रदेशवैषम्यं गति-वैषम्यं च मतद्वयेपि तुल्यम्, गोलतन्मानादिज्वेव परं विशेष इत्यर्थः ॥ १५१ ॥ 'यद्यद्वसिणायने'ति गद्यस्य तापर्यमाहुः—मकरेत्यादि । वृद्धिरिति । परमहोदिनापेक्षया वृद्धिः । क्षय इति परमहादिनापेक्षया क्षयः ।

॥ निषन्धकटिनांशविवेचनम् ॥

अत्रे एकविंशत्याध्यायोक्तौ स्थूलचक्रे भूमिभेदा न तु सूक्ष्मे कथञ्चनेत्यस्य [१५०] व्याख्यानं 'गतिवैषम्यं विना तत्कल्पनेऽप्युक्तानुपपत्त्यपरिहाराच्चे'ति राशिमध्यगता भूदु न्युनाधिकभावो वर्तते । तत्र कश्चिन् न्यूनराशौ दीर्घकाले-नातिक्रमः, अधिकराशौ न्यूनैः । सूक्ष्मचक्रे प्रदेशकल्पने तत् न स्यात् । प्रतिराशिं चक्र-भेदकल्पनपरितो न्युनाधिकराशौ दीर्घसूक्ष्मकालेनातिक्रमे सर्वगतयेरेव न्युनाधिकभावो हेतुरित्यर्थः ।

अहो विवृद्धिर्मेधावो रात्रेः स्थूलं न चान्यथा ॥१५२॥
 उदगयने गतेर्मान्यं दक्षिणे शीघ्रता मता ।
 अहर्पतिर्यतः सूर्यो मान्यादक्को विवृद्धता ॥१५३॥
 परिधिस्त्रिगुणो व्यासात्किञ्चिदपि तथाधिकः ।
 लक्षाधिकं सार्धनवकोटयो परिधिमण्डले ॥१५४॥
 गणनामतमेवाद्भि सन्देहः स्यादितिर्षते ।
 उपवेशस्ततः पूर्णु समा गतिरिहोच्यते ॥१५५॥
 बुद्धिहासनिवृत्त्यर्थं स्थूलचक्रं प्रवर्त्तते ।
 मेरोःश्रुतदिशं पुर्यस्तत्र प्रोता विशो मताः ॥१५६॥

विवृद्धिरिति । विषुवापेक्षयाऽधिका दृद्धिः । रात्रेरिति । एवं क्षयदृष्टी
 दिनविपर्ययेण भवत इत्ययं ज्ञातव्यमित्यर्थः । एतेन भूले बद्धन्ते इत्यतीत्यत्र समापेक्षयति
 पदाध्याहारे यावदक्षिणायनेति गद्यमेव गमकमिति नाम कल्पनालेख इति बोधितम् ।
 एवं सूक्ष्मरस्यसूर्यैकावै सर्वेषुप्राय 'स एव' इति गद्यत्रयीकल्पसंहरति स्थूल-
 मित्यादिनैकेन ॥ १५२ ॥

अतः परं मेघं नवकोटय' इत्यारभ्य 'सामानन्ती'त्यन्तेन स्थूलचक्रकार्यं तत्त्वकर्म
 कोषस्त इति सं ग्रन्थं विचारयन्ति परिधिभिरित्यादि । व्यासार्थेऽप्यादि । मेरोःश्रुतदिशं
 सार्द्धकोटिः सार्द्धसप्तलक्षाणीति ततो त्रिगुणो मध्यव्यासः कोटिग्रयं पञ्चदशलक्षाणि
 मानसोत्तरोपत्यकावधिरिति । तत्र त्रिगुणः परिधिर्नवकोटयः पञ्चदशत्वारिंशदशलक्षाणि
 मानसोत्तरोपत्यकावधिरिति । ततोऽपित्यकावधारो तन्मध्यपर्यन्तो व्यासोऽधिको
 भवतीति लक्षग्रयमधिकं माह्वय । तेन स्थूलकः सूर्यपरिवर्त्तनदेशो लक्षाधिकसार्द्ध-
 नवकोटिरूपः सिद्धयति । इयं गणना भवान्तरकृतसन्देशनिरासार्थेति भूले ईर्यते ।
 ततो व्यच्छ्लेषे पञ्चमी, तं भ्रमणदेशं गनसि नियाय । पूर्णु वेन्द्रपादिषु चतुर्षु उपवेशः
 पूर्वव्यान्मेरोरित्यादिभ्यो दिगुपवेशः तत्र हेतुः, इहास्मिन् परिवर्त्तने समागतिक्रमपत
 इत्यर्थः ॥१५२॥१५५॥१५५॥ तत्त्वयोजनं हेतुं बाहुः बुद्धिरित्येव । एवमेकं
 प्रयोजनकमेकं गद्यं च विहतम्, द्वितीयमाहुः—मेरोरित्यादि । तथा च मेरुपरिष्ठानां
 दिग्भिर्भागो मानसोत्तरस्यपुरीचतुष्टयकृत इत्यर्थः । एतेन 'तस्मिन्नेन्द्रीभिः'ति गद्यं

अन्यत्र प्रथमं यत्र मेघे सूर्यो हि दृश्यते ।

प्राची सा सर्वलोकानां मेरुश्चोत्तरतस्तथा ॥१५७॥

व्याख्यातम् ॥१५६॥ नीचैः स्थितानां तमाहुः—अन्यत्रेत्यादि । तनोपपधिमाहुः
 सर्वेत्यादि, हि यतो हेतोरात्र 'सर्वमेव वर्षाणां मेरुत्तरतः स्थितः' इतिवाक्या-
 दुद्गुणिवैका नीचैर्भूस्थानां नियता । एवमेकस्या दिशो नियमे सति मेरुव्यवहितः
 सूर्यो यत्र यैर्मेघे दृश्यते सा तेषां प्राचीत्येवं मेरुमेघसूर्यदर्शनत्रितयनियतो

श्रीनिबन्धकठिनान्शिविवेचनम् ।

एकविंशत्यायाथौको तस्वदीपे—अत्राध्याये प्रकरणत्रयमस्तीति सूर्यस्य गमनं पूर्वैमिति
 [१२४] श्लोकेन अध्यायाथौस्मि उक्तम् । तत्र 'गणनामतमेवाद्भि सन्देहः स्यादितिर्षते'
 [१५४] एतावदन्तेन ग्रन्थेन सूर्यगमननिरूपकस्य मूलग्रन्थस्यप्रथमप्रकरणस्यार्थ उक्तः ।

अतः परं द्वितीयप्रकरणस्य गतिस्थाननिरूपकस्यार्थ उच्यते, उपदेशस्ततः पूर्णु [१५५]
 इत्यादि, कालदेवत्वदृश्य [१५९] इत्यन्तेः सार्धैश्चतुर्भिः श्लोकैः, तत्र उपदेशस्ततः
 पूर्णु इत्यादि, तत्सद्वन्दन्तरं पूर्णु ऐन्द्र्यादिषु उपदेशः 'ऐन्द्रो पूर्वस्मादि'त्यनेन गद्येन
 मेरुपरिष्ठानां पूर्वादिदिगुपदेशः, ततः'सासूद्यमध्याह्न'त्यनेन भूमिष्ठानां दिगुपदेशः, ततः'स्त-
 त्रत्वाना'मित्यनेन मेरुस्थितानां षष्ठासपयन्त उदयास्तमथाद्यभावोपदेशः, सूर्यस्य वामदक्षिण-
 गत्युपदेशश्च । ततो 'यवोदेती'त्यनेन दक्षिणे उत्तरे च समानसूत्रदेशे उदयास्ताद्युपदेशः
 समानसूत्रषड्द्वयन्तरे च । ततो 'यदा वैन्द्र्या'इत्यनेन पञ्चदशघटिकाभिरिति स्थूलचक्रे
 समानगतेरुपदेशः, 'सपादकोटिद्वय'मित्यादिना पूर्वोक्तगणनाया उपदेशः, तत 'एवं ततो
 बारुणी'मित्यनेन अन्वासु पूर्णु पूर्वोक्तादिदेशः, ततः 'तथा चान्ये वै'त्यनेन सर्वमेघेषु
 अतिदेशः, तत ' एवं मूहतेने'त्यनेन गतिस्थानस्य प्रकृष्टं मानम् । ततो 'यस्यैकं चक्रं'मित्यनेन
 चक्रस्य सारत्वं, संकसरस्य पुनः पतित्वात् कालस्य देवत्वं, दिनमाससर्वत्रयसंस्कारकमेव
 दृष्टिः, तदेतत् सर्वम् एभिः सार्धैश्चतुर्भिर्विदुष्टम् ।

तत्सद्वीपप्रकरणे सूर्यचक्रस्य अक्षप्रोतत्वमुक्तम्, तत्रैवं ध्यवत्या ज्ञातव्या, संवत्सरसमे
 मानसोत्तरदेशे संवत्सारात्मकं स्थूलचक्रं द्वादशारत्वादिना यदङ्गसहितमुक्तं तस्याङ्गम् । प्रथ्या
 अक्षेण प्रोतं न भवति । यच्च सूक्ष्मं चक्रं तदक्षेण प्रोतमस्ति परं तथा न, साङ्गं नेत्यर्थः,
 साङ्गं चक्रं कालदेवत्वदृश्ययम्, एवं निरक्तं प्रथियुक्तमधोतं सुस्वार्थदेवगमनार्थं
 मासस्य । सुस्वार्थं सर्वलोकसुस्वार्थं देवस्य सूर्यस्यगमनं द्वादशस्कन्धे प्रोक्तम् । 'द्वादशस्य वि
 शेषेषु देवो वै बद्धभिरस्य वै । चरन् समन्तात् तनुते कथं च सम्मतिम् । सन्तुद्रया सुसमिति
 लोके वंदे च प्रसिद्धम् ।' एवं धनादिनिबन्धो भगवान् हरिरीश्वरः, कल्पे कल्पे स्वमालानं
 व्यञ्ज लोकावलयन्'इत्यनेन च सर्वलोकानवरूपं सुसमुक्तम् ।

कमलाकृतिरित्या हि मेरुत्र तथैव भूः ।
 अतो मेरोः शिरस्तुल्यं मानसोत्तरमस्तके ॥१५८॥
 सूर्यचक्राक्षमध्यं हि तथाऽत्र परिकल्पना ।
 सौङ्गचक्रमिदं प्रोक्तं कालदेवत्ववृद्धये ॥१५९॥
 ततः सम्बत्सरसमे न प्रध्या सहितं तथा ।

नीचैःस्थानां दिग्भिर्भाग इत्यर्थः । त्रयाणां तथात्कोर्त्तो बीजमाहुः—कमलेत्यादि ।
 हि यतो हेतोरत्र भूगोले मेरुः कमलाकृतिरित्या तथैव तेन वतुलप्रकारेणैव
 भूः, अतो हेतोर्मेरुशिरस्तुल्यो लक्षयोजनोर्बो यो मानसोपरिभागो-
 ऽयुतयोजनोच्छ्रायान्मानसोचरादुपरिसापिकनवतिसहस्रमितस्वस्मिन् सूर्यचक्रस्य
 स्थूलस्य मध्यभागे हि निश्चयेन वर्त्तते । तथा तदनुसारिणी अवास्मिन्
 विषये कल्पना । तथा चैवमुक्ती इष्टं शास्त्रं च बीजमित्यर्थः । एवं
 स्थूलचक्रस्य भूमिष्ठदिग्भिर्भागरूपं द्वितीयं कार्यं विवृतम्, तेनैव प्रातरादिकालरूपं वृतीयं
 कार्यमपि उपपादितम् । तत्र मूले 'तामुदये'त्यादिना 'निम्नोचती'त्यन्तेन 'भूमिष्ठानां ध्वे'-
 त्यादिना 'पश्चैरञ्जित्वन्तेन मेरुस्थानां चोक्तम्, गतिसाम्यं च 'यदा चैन्ध्या' इत्यादिना
 पञ्चदश्यादिकाख्यकालनियमकथनेन बोधितम् । सपादकोटिद्वयं योजनानां सार्द्ध-
 द्वादशलक्षाणि साधिकानीति, कोटिद्वयं सप्तत्रिंशलक्षाणि सप्तसप्ततिसहस्राणि चेत्यर्थः ।
 इदं गतिस्थानस्य प्रकृतं मानममन्त्रेहास्योक्तम् । तथाऽन्ये इत्यादिना च चान्द्रनाक्षत्र-
 साधनादिमासेषु कालनियमेन ग्रहादिदृश्येन चोपपत्तिः प्रसङ्गाद्भुक्ता । एवं 'सुहृत्वेत्यादि'ना
 च रम्यगतेः प्रकृतं मानसुक्तं तदेतत्सर्वमेतेन बोधितम् ।

एवं कार्यं विचार्य 'यस्यैकचक्रमि'त्यादिनोक्तं स्वरूपं विचारयन्ति—सार्द्ध-
 मित्यादि । अङ्गानि अरनेभिर्नाभयस्तसहितम् । 'सारमि'ति पाठे, अरसहितं तत्र
 नाभिनेम्योरुपलक्षकम् । इदमेव 'वेकं त्रिणाभिवचक्रमजरमनर्भमि'तिरितिरीपारण्यकं
 श्रावितम् । अङ्गकथनप्रयोजनमाहुः—कालेत्यादि । कालस्य 'द्वादशादित्याः सन्नत्सरो वै
 प्रजापति'रित्यादिश्रुत्युक्तं यदेतत्त्वं 'संस्पर्शोऽसी'ति श्रुत्युक्ता या इद्विस्तद्वोधनयोर्त्यर्थः ।
 वृद्धिपदं क्षयस्याप्युपलक्षकम्, तस्यापि 'अस्वस्य सायत्ये'ति श्रावितत्वाद्, उभयोर्ज्योतिः-
 शास्त्रसिद्धत्वाच्च ॥१५८॥१५९॥ सूक्ष्मचक्रस्येदं धीनलबोधनायाहुः—तत इत्यादि ।

१ सारम् । २ चक्रम् ।

सुखार्थं देवगमने ण्यियुक्तं हि शस्यते ॥१६०॥
 ज्योतिश्चक्रस्य माहात्म्ये स्तोमादीनां विवर्णनम् ।
 मेरुमस्तकतो नीचो मानसाचल उच्यते ॥१६१॥
 तैलयन्त्रेण सदृशो मेरुत्र निगद्यते ।
 आद्याक्षमानं स्वष्टं हि तच्चतुर्थांशतो मितं ॥१६२॥
 लक्षाणां तु स एकोनचत्वारिंशत्प्रमाणकः ।

यत इदं सम्बत्सरात्मकं चक्रं देवरूपं समगतिमहावेगं च ततो हेतोः सम्बत्सरसमे
 सम्बत्सरात्मकस्थूलचक्रसमाने मानसोत्तरमूर्द्धनि पथ्या सहितं कीलविशेषेणासमन्ता-
 त्सहितं सूक्ष्मं चक्रं तथा न भ्रमति । किन्तु स्वल्पवेगत्वाद्देवत्वाच्च तदुपर्येव तदधीनतया
 भ्रमतीत्यर्थः । तद्युक्तमर्थस्य गये 'तथा बालरवित्या' इत्यारभ्य 'उपासत' इत्यन्तेनोक्तं
 प्रयोजनमाहुः सुखार्थंत्यादि देवः सूर्यः । तथान्ये ग्रहा इति गद्यस्य मुख्यं
 प्रयोजनमाहुः—ज्योतिरित्यादि । माहात्म्य इति माहात्म्यार्थम् ।

एवं 'नवकोटय' इत्यारभ्य 'समानन्ती'त्यन्तस्य ग्रन्थस्य तात्पर्यशुक्तम् ।
 अतः परं 'तस्याक्ष' इत्यादेशर्यं वदन्तो दृष्टान्ततात्पर्यमाहुः—मेरुवित्यादि । मेरुमस्तकं
 लक्षयोजनोत्तं तस्मान्नीचोऽयुतयोजनोच्छ्रायो मानसाचल उच्यते । अतो हेतोरत्रास्मिन्
 गद्ये तैलयन्त्रेण सदृशं विनिगद्यते, स्थूलचक्रं तदुभ्रमणं चोच्यते । तथा च सम्बत्स-
 रात्मकचक्रस्य स्थौल्यबोधनायोक्तान्तया भ्रमणबोधनाय वेदं गद्यम्, तेन तस्य स्वीत्यं
 नवतिसहस्रयोजनमितम् । अक्षानीचैरुपरि तु पञ्चविंशतिलक्षादप्यधिकं सप्तर्षियेनानां
 मत्यक्षानामग्नीन्द्रप्रजापतिकथ्यपधर्माणाममत्यक्षानां च तत्रैव परिभ्रमणादिति
 सिद्धयति । अतः परं तस्मिन्नक्ष इत्यादेशाहुः—आद्येत्यादि, स्पष्टमिति । मेरुमध्यमा-
 रभ्याऽऽमानसाचलं सार्द्धकोटिः सार्द्धसप्तलक्षाणि व्यासोऽस्ति । अक्षे तु
 चक्रमेकतः प्रोतमन्यतः कोलं प्रोतमिति त्रिचतुर्लक्षं ततोऽधिकं भवति । तथापि
 चदिस्तावदेवेति स्पष्टम् । किञ्च, हि यतो हेतोर्द्वितीयोऽक्षो ध्रुवे कृतोपरिभागस्तच्चतुर्थांशतो
 मित उच्यते ॥१६२॥ तु पुनः स ध्रुवो मेरुपरिभागादेकोनचत्वारिंशलक्षप्रमाणकस्तथा
 सति विचार्यमाणः सोऽक्षस्तावद्विंशति सार्द्धसप्तत्रिंशत्सहस्राणि स बहिर्दृश्यमानो
 भवति । मान्तद्वयेऽपि प्रोतभागोऽधिकश्च भवति । तथा च ध्रुवे कृतोपरिभाग इत्येतावतैव

१ आक्ष । २ मतः ।

ध्रुवोऽपि मेरुवत्तस्मात्ततोऽप्युत्तरतः स्थितः ॥१६३॥
 अतस्तौलाक्षवत्सोऽपि द्वितीयोऽतिविचारकैः ।
 रथोपरि स्थितिस्थानं षड्विंशत्क्षवीर्धकम् ॥१६४॥
 नवलक्षकविस्तीर्णं युगं चाऽपि तथाविधम् ।
 आध्यात्मिका देवरूपा अत्रवास्तत्र वहन्ति हि ॥१६५॥
 सप्तानामुपयोगाय लक्षयोजनमन्तरा ।
 प्रदेशोऽस्तीति बोधाय तथाऽऽकाशे गतिर्यथा ॥१६६॥
 छन्दोमयास्ततः प्रोक्ता अरुणोऽपि तथोदितः ।
 शब्दात्मका ह्यन्तरिक्षे गच्छन्तीति न विस्मितम् ॥१६७॥

चारितार्थ्येऽपि यत्तस्य मानमसे ध्रुवे कृतमान्तभागत्वं चोच्यते, तत्तस्य माननिष्कर्षार्थमेवेत्यर्थः । किञ्च ध्रुवोऽपि मेरुवन्मध्यभागस्यस्तस्माद्धेतोस्ततो ध्रुवतोऽपि पूर्वोक्त उत्तरत उत्तरभागे स्थितः ॥१६३॥ अतः स्थितिं विचार्य सोऽप्यसस्तौलाक्षवत्समदृक् मध्यतो द्वितीय ऊर्ध्वोऽपि तौलाक्षवदेवाजनेन स्थितो विचारकैश्च इति बोधनार्थमेव द्वितीयोऽपि दृष्टान्त इत्यर्थः । अतः परं 'रथनीडस्ति'त्यादिनोक्तं सूक्ष्मरथस्वरूपं विचारयन्ति-रथोपरीत्यादि । अत्र मूले तु न त्रयीमयात्पूर्वोक्तद्रव्याद्भेदो बोधयेत् । नीडपदार्थमाहुः-उपरि-स्थितिस्थानमिति । तपुरीयभागविशाल इत्यादेशैर्माहुः-नवेत्यादि । युगं चाऽपि वहन्तीत्यन्वयः । देवरूपा इति । 'वाजिभ्यो वाजिन'मित्यादिभ्रुत्युक्ताः । युगमानकथनमयोजनमाहुः-सप्तानामित्यादि, बोधायेत्यन्वयः । युगमानकथनमिति शेषः । सावत्यदेशस्थापनमयोजनमाहुः-तथेत्यादि । तथाऽतिवेगेन यथाऽऽकाशे गतिरश्वानां भवति तदर्थं युगमानकथनमित्यर्थः । एतेन 'सप्त युजन्ति रथमेकचक्र'मितिभ्रुत्युक्तोऽर्थ रथ इति पूर्वस्मादनर्वाणोऽयं भिन्न इति साधितम् ॥१६६॥ 'छन्दो नामान' इत्यस्य तात्पर्यमाहुः-छन्दोमया इति । तथोदित इति । छन्दोमयत्वाय इत्ययोजकत्वेनोक्तः । अरुणस्य छन्दोमयत्वं 'छन्दाश्चि वै सौपणैवा' इति श्रुतेर्गुरुत्वस्यैव ज्ञेयम् ।

एवं कथनस्याशयमाहुः-शब्देत्यादि । 'सैषा त्रय्येव विधा तपती'ति श्रुतेः

१. लक्षं च ।

रथस्याऽऽवयवकत्वाय स्तोत्रनृत्यादिविवर्णनम् ।
 स्थूले त्वेषैव सामग्री पश्चाच्चारुणसंस्थितिः ॥१६८॥
 राशिके तु पुरतः सूर्यस्याऽरुण उच्यते ।
 अथवा सर्वसामग्रीसहितोऽत्र द्विरूपतः ॥१६९॥
 सदा तिष्ठत्युभयथा सर्वेषां कार्यसाधकः ।
 एतस्य वा द्विधा शक्तिरचिन्त्यैवव्यव्ययरूपतः ॥१७०॥
 पक्षद्वये प्रकारस्तु कल्पनीयो यथोचितम् ।
 मासि मासि द्वयोक्त्याऽपि आवित्या मण्डला रथाः ॥१७१॥
 सामग्रीसहिता भिन्नाः कल्पनीया न संशयः ।

सूर्योऽपि तथेति न किमप्यत्रार्थयोजनकामित्यर्थः ॥१६७॥ अतः परं पुरस्तादिति गद्यार्थमाहुः-रथस्येत्यादि । 'य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्यमयः पुरुषो ह्यस्येति हिरण्यमयमङ्गुति'रिति श्रुतौ सूर्यान्तर्भवानुक्तः । अत्राऽप्यधिभाषयाये 'स एव भगवानादियुष्म एव'त्यादिना (च) वक्ष्यते । अतस्तद्विधिका सामग्री सर्वोऽप्यपेक्षितैवेति साऽऽरोच्यत इत्यर्थः ।

ननु 'पुरस्तात्सवितुररुणः पश्चाच्च नियुक्तः सौत्ये कर्मणि विकलास्त' इति स्थानद्वये कथनमित्यत आहुः स्थूलेत्यादि । तथा चान्यैव सामग्र्या तस्यापि रथस्य अणमिति बोधयितुमेकस्यैवारुणस्योभयनोक्तिः । सूक्ष्मरथे सवितुः पुरस्तात्तद्विधिका यच्छमप्यरुणः, स्थूलरथे पश्चादपि नियुक्त इति । अस्तादितरा सामग्र्यमयोरन्यै-कैवेत्यर्थः । नन्वविक्रमे अणमै कश्चिच्चतुस्रपथेताऽपि न तु विक्रम इत्यरुण्यपत्नान्तरमाहुः-अथवेत्यादि । श्रुतौ 'एकोऽश्वो वहति सप्तानामे'ति सामग्र्यन्तरस्याऽप्युक्तत्वा-दरुणस्याऽपि मूर्धिमैदो रथान्तरैःङ्गीकार्य इत्यर्थः ॥१६९॥

ननु श्रुतौ तु मकरत्रयम्, रथौ तु द्वाको विरीयस्यैवमपि न परिहार इत्यत स्तुतीयं पक्षमाहुः-एतस्येति । त्रयीमयस्य भगवद्रथस्य सूर्यस्य पक्षद्वय इति सप्त युजतीति । एकोऽश्व इत्युक्तः । नन्वेवं कल्पना मूलाभिमितेति कथं ज्ञातुं शक्यत इत्यत आहुः-आसीत्यादि । तथा च तथाऽन्येति गद्ये तयोक्तः । शेषा अनुक्ताऽपि कल्पनीयैति मूलेऽप्यनिमत इत्यर्थः ॥१७०॥ ननु लसोत्तरेति गद्ये एवं नवकोटय इति गद्योक्तैव सङ्ख्या भूबल्यस्यावृण्यते । एवं 'सृष्ट्वे'ति गद्योक्तपरिभ्रमणसङ्ख्याविचारे तु भूबल्यस्याविका

२ राशिचक्रस्य । ३ निरूपितः ।

मानसोत्तरभूमिस्तु स्वमते दशकोटयः ॥१७२॥

चतुर्विंशतिसाहस्रं लक्षाणां चैव विंशतिः ।

त्रिंशत्सुहृतां दिवसे द्वाष्टाशीत्यधिकानि हि ॥१७३॥

लक्षाणि तु चतुस्त्रिंशदेवमेव ततो मता ।

कोटित्रयं पञ्चदश लक्षाणयायाम उच्यते ॥१७४॥

त्रिगुणा किञ्चिदाधिका परिधिः परिकीर्तिता ।

अतोऽत्र मतभेदेन सङ्ख्या बहुविधाऽभवत् ॥१७५॥

लक्षमानं न पूर्वोक्तं यथायोग्यं व्यवस्थितिः ।

माहात्म्यार्थं तदुक्तं हि न विरोधस्ततः स्मृतः ॥१७६॥

सङ्ख्या भवतीति कथं परस्परविरोधपरिहार इत्यत आहुः मानसेत्यादि सार्द्धं चतुष्टयम् । अत्र द्वितीयश्लोके या मूलगत्योक्ता युद्धतैगमनसङ्ख्यायुक्ता सा अहोरात्रसुहृद्विचारैण त्रिंशद्गुणिता सती प्रथमश्लोकोक्ता मूलगत्यस्य परिधिसङ्ख्या भवति । दशकोटयो विंशतिलक्षाणि चतुर्विंशतिसहस्राणीति मूलोक्तमोहृत्किंमनमानगणना तथासिद्धेः । तदेतदाहुः—एवमेव ततो मतेति एतस्य व्यासस्तु कोटित्रयं चत्वारिंशत्साहस्र-सहस्राणि । तदुक्तं चैककोटिः सप्ततिलक्षाणि चत्वारि सहस्राणि, तदेतन्मानसोत्तर-मेवार्न्तरं भवति । तत्राष्टसहस्राणि मेरुभ्यास्तु पदसहस्राणि त्रिभ्यो मर्यादागिरिभ्यः शिष्टानि द्वादशलक्षाणि चत्वारिंशत्सहस्राणि मानसोत्तराच्च तत्तदाकान्तान्यधिकानि ब्राह्मणि । तदेतद्वोधयितुं तृतीयश्लोके पूर्वगणितमेरुमानसोत्तरान्तरद्वैगुण्यसिद्धौ व्यास उच्यते । तत्रत्रिगुणस्तु पञ्चचत्वारिंशत्लक्षाधिकनवकोटिरूपः परिधिः सिद्धयति । १७४। त्रिगुणः किञ्चिदधिकः इति । उक्तत्रिगुणस्ततो द्विलक्षाधिकश्लेष्यः । तस्यैवमेव योजनायां व्युत्पादितम् । एवं त्रैविध्ये कल्पत्रयभेदो यस्तृतीयस्कन्ध उक्तः स एव धीजय । अतो हेतोरत्र परिवर्तननिरूपणे बहुविधा सङ्ख्यामूले मतभेदेनाऽभवत् । तथा सति जम्बूद्वीपस्य पूर्वोक्तलक्षमानं न, किन्तु यस्यां परिधिगणनायां जगत्त्रिंशद्यर्थं यावद्व्येक्षितं तावदधिकं मेवाद्याक्रान्तं भूभागं निश्चित्य यथायोग्यं व्यासार्थव्यवस्थितिः कर्तव्या । हि यतो हेतोः तत् माहात्म्यार्थमुक्तं न सङ्ख्यामृतः कल्पभेदाद्विरोधपरिहारः स्मृत इत्यर्थः । अत्र स्मृतपदेन कल्पभेदः स्मर्यत इति नात्र शङ्कालेशः । एवं सार्द्धं चत्वारिंशद्भिन्नगुणप्रथमाध्यायो विचारितः ॥१७५॥ १७६॥

एकस्यैव द्विरूपेण गमने युक्तिरुच्यते ।

सूर्यस्य च तथाऽप्येषां तत्राऽप्येषां पुरा जगौ ॥१७७॥

श्रुतस्यैव विरोधेन प्रश्नो यद्यपि सम्मतः ।

इष्टोऽपि वक्तुमुक्तं हि तथा प्रोवाच सर्ववित् ॥१७८॥

सूर्यं श्रुतानुपपत्तिर्दृष्टस्याऽऽज्ञो निवार्यते ।

सूर्यस्य तु परीहारो भगवत्वाद्विरूपता ॥१७९॥

अ. २२ अतः परं द्वाविंशो युगकरणे द्वितीयं सपादाष्टदशभिर्विचारयन्ति । तत्रान्येषां चन्द्रादीनां सत्त्वकार्यरूपा गतिर्भयदाऽप्यस्याव्यायस्यार्थे इति पूर्वमुक्तम् । अयुना तद्विरोधतो विवेक्तुं प्रथमत उच्यमानयोः प्रश्नोत्तरयोः प्रासङ्गिकत्वेऽपि निष्कर्षार्थसादुभयपक्षयोः पनायाहुः—एकस्येत्यादि । अत्र सर्वेऽपि तुल्या इति सर्वेऽपि प्रकरणिनः । ननु राज्ञा सूर्यगतेरेव पृथुत्वादुत्तरेऽन्यगतेरपि कुतोऽनुमानमित्यत आहुः—तत्रान्येषां पुरा जगाविति । तत्र सूर्यगतिकथनावसरं । तथा अन्ये च ग्रहाः सोमादयः इति गद्ये तथेत्यतिदेशेनान्येषामपि द्विरूपां गतिं पुरा प्रथ्याय उक्तवान् । अतः प्रश्नाभावेऽपि पुनः समन्देशाभावाय तेषामप्यनुमान उल्लेख इत्यर्थः ॥१७७॥ नन्वस्तेतत् तत्राऽपि श्रुतविषयकसन्देहेन तद्विषयकानुमाने पृष्टे तदुत्तरत्वेन तदेव वक्तव्यम् । दृष्टविषयानुमानस्य किं प्रयोजनमिति शङ्कायां तामनूद्योत्तरमाहुः श्रुतस्येत्यादि । यद्यप्येवं तथाऽप्युक्तिमुत्तररूपां वक्तुं दृष्टः पिभीलिकादृष्टान्तोऽपि । हि यतो हेतोः सम्मततोऽतः सर्वविन्दुक्तस्तथा प्रोवाच । अप्यर्थः । अत्र हि विरुद्धं गतिद्वयमेककद्वैककण्ठं सन्दिग्धस्ता-त्पदमतो दृष्टान्ते पूर्व गतिद्वयमेककालीनं निदर्शयितुं, तच्च कुलालचक्रस्य विरतां निदर्शितं भवति, न तु भ्रमणदशायामतो दृष्टान्तोऽपि न सिद्ध इति तत्साधनाय पूर्वं गतिद्वयमेककालीनं तदनुमानमावश्यकं तदेतदाहुः—सूर्यस्येत्यादि । अत्र दृष्टान्ते यत्र येषां भ्रमता सह भ्रमतां प्रदेशान्तरेषूपलभ्यमानसम्भ, तत्र तेषां भिन्नगतिमप्यभिति व्याप्ति साधयित्वा ततस्तेन प्रकृतं साध्यते इति दृष्टानुपपत्तिनिवारणमावश्यकमिति तत्रस्य प्रयोजनमित्यर्थः । तत्राऽप्येतदनुमानं ग्रहान्तरादिगतिसाधन एव फल्यवस्थिति, न तु सर्व-गतिसाधन इत्याहुः—सूर्यस्येत्यादि । तथा च भगवत्काद् द्विरूपतात्सामर्थ्येनैव परिहार-सम्भव इति न तदर्थेभ्यदनुमानमपि तु अन्यगतिसाधनार्थमेवेत्याशयेनैव मूले सूर्यादीनामित्यादिपदमुक्तमित्यर्थः । १७८। १७९। मूले 'स एष' इत्यारभ्य सामानन्तीत्यन्ते-

भगवत्स्वञ्च तद्भुक्त्या कालभेदा यतोऽभवन् ।
वेदत्वेनापि तत्सिद्धिः समर्थस्तद्गतो हरिः ॥१८०॥
ज्योतिश्चक्रं चालयन् स स्वादीर्भुङ्क्तेऽन्यथाऽपि च ।
ज्ञत्वादि सकलं तस्मादिति भेदा निरूपिताः ॥१८१॥
एकं शतभशीतिश्च स्वार्थाः सन्ति नभोऽन्तरा ।
अद्भौः सर्वत्र गमने वत्सरो भवतीति च ॥१८२॥
विशिष्टेन स्वरूपेण सदा ज्योतिःप्रवर्तनम् ।
दिनमासत्वेयनभुक् सर्वं भुङ्क्ते पुनः स्वयम् ॥१८३॥
पञ्चशक्तियुनस्तेन पञ्चानाम्ना निरूपिताः ।

नाऽयं परिहारप्रकारो विवक्षित इत्याशयेनाहुः—भगवत्स्वं वेत्यादि । तथा च 'सर्वं निमेषा जह्निरे विद्युतः पुरुषादपि । कला ब्रह्मर्तादिः काष्ठाश्राहोरात्राश्च सर्वशः, अधेमासा मासा ऋतवः समन्तरश्च कल्पन्तामि'तिश्रुत्या बृहन्नारायणोपनिषदि यत्कालभेद-जनकत्वमुक्तम्, यच्च 'तेषां त्रयैव विद्या तपती'ति वेदरूपत्वं श्रावितम्, यच्च 'य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्ययः पुरुषो हृष्यते इत्यत्र सूर्यान्तर्वर्तिनो भगवत्वं श्रावितम् । अन्तस्तद्दर्शाधिकरणे विचारितञ्च तदेतत् 'स एष' इत्यादिना 'समाप्तनन्ती'त्यन्तेनो-पबृंहितम्, तेन भगवत्त्वादेव परिहारोऽत्र विवक्षित इत्यर्थः ॥१८०॥

स्वादीर्भुक्त्यादि । मण्डलमानिभिर्दक्षिणैः स्वस्वरूपेण चकाराद् ग्रहाद्यन्तर्धा-मित्येन चर्त्वादिस्मत्सरान्तं श्रुक्ते तस्मादिमे कालभेदा निरूपिता इत्यन्वयः ॥१८१॥ यावत्तार्द्धेन 'नभोवीध्यामि'त्यादेरर्थं तद्वदुपकार्यस्य विभागं स्मत्सररादिपञ्चान्नभकपनस्य प्रयोजनं चाहुः एकमित्यादि । उक्तसङ्ख्या एकापनदिवसाश्चकारात्त्वावन्तो जित्तीयाप-नदिवसाः स्वार्थाः स्वस्य सूर्यस्य भोग्याः सन्ति नभोमण्डलमध्ये । सर्वत्र तेषु सर्वेष्वे-ज्योतिश्चक्रचालकैर्गमने पूर्णो वत्सरो भवतीति च बोध्यते ॥१८२॥ तत्र हेतुः-विशिष्टेनेत्यादि । प्रवर्तनमिति । कुर्वन्मिति शेषः । एवं कुर्वन्कैशैरयनान्तद्भुक् पुनः स्वयं तथा सन्तर्वयं श्रुक्ते । तेन हेतुना वत्सरास्तथा निरूपिता इत्यर्थः । तथा च ब्रह्मादयः सर्वे ज्योतिश्चक्रास्तत्सर्वेष्वपि सूर्यादेवेति तत्कृता अपि वत्सराः सूर्यकृता एवेति सूर्यगतिनिरूपण एवोक्ता इति भावः ॥१८३॥

१ एवं ।

गतिभेदेन वा भेदाः प्रत्येकं मध्यमिश्रणात् ॥१८४॥
चन्द्रादीनां प्रशंसार्थमुच्चत्वं शीघ्रभोजनम् ।
चन्द्रस्य समताऽन्येषां विलम्बोऽपि निरूप्यते ॥१८५॥
अहोरात्रव्यवस्था च पितृणां चन्द्रतोऽभवेत् ।
अधःस्थितास्तु पितरश्चन्द्रं पश्यन्ति नेतरम् ॥१८६॥
कृष्णपक्षो दिनं तेषामष्टम्यादि निरूप्यते ।
सूर्येण समता यर्हि तदा तेषां तु पूर्णता ॥१८७॥
क्षयोत्प्लुक्तत्वं कर्माङ्गं मतान्तरमिति स्थितिः ।
कलापानं तथैव स्याद् देवानां तु दिनस्थितिः ॥१८८॥

पञ्चान्तरमाहुः—गतीत्यादि । मध्यपदेन समगतिः, अस्मिन्पक्षे पञ्चाऽपि भेदाः

साक्षात्सूर्यकृता एवेति विशेषः ११८३।१८४। एवं चन्द्रमा इत्यादेस्तात्पर्यमाहुः—चन्द्रा-दीनामित्यादि । समता साम्यम् । तथा च सर्वेषामुच्चत्वं चन्द्रस्य शीघ्रभोजनमन्येषा-मुशनःप्रभृतीनां यथायोग्यं सूर्यगतिसाम्यम्, ततो विलम्बोऽपि योऽत्र निरूप्यते स तेषां प्रशंसार्थं न तु सूर्यादाधिक्यज्ञापनार्थमित्यर्थः । अत्र नक्षत्राणां स्थिरत्वमेव राशि-स्वरूपान्तःपातित्वात् । अन्ये पृथगतिमन्त इति बोध्यम् ॥१८५॥ 'अथ चापूर्यमाणेऽ-त्यादेरर्थं विचारयन्ति-अहोरात्रेत्यादि । कयमित्याकाङ्क्षायां प्रकारमाहुः-अथ इत्यादि । पितृभोको हि नक्षत्रसिद्धुमारोपरि स्थिरश्चन्द्राक्षीचैः सूर्यादुपरि, तथा सति ते चन्द्रमेवोपरिष्ठे प्रकाशकतया पश्यन्ति नेतरं सूर्यम्, तस्य तदधःस्थितत्वात् । एवं सति सूर्याभिःमृत्यु यदा कृष्णाष्टम्यादुपरि तस्मात्तन्देशे चन्द्रः समायाति तदा तेषां दिनम्, यदा नीचैः सूर्यस्तदा तेषां मध्यान्होऽभावास्त्यायामस्माकं सूर्यादयःस्तथाचन्द्र-दर्शनाभावः । यदा चन्द्रोऽग्रे सूर्याभिःसरति तदा तेषामपराङ्मुखः कृष्णाष्टम्यां सायमिति । सूर्यस्तु पितृभ्यो नीचैरिति राशौ सूर्यस्थितिरप्रयोजिकेति । एवमेव तृतीयस्कन्ध-दुर्धोपनिष्ठां बोध्यम् ११८६।१८७। ननु देवानां कलापानेन चन्द्रस्यस्य सोमोत्पत्तावृत्त-त्वादयत्पूर्वार्थं पूर्णतायाश्चोक्तत्वाद्वापि तथाऽभिप्रेतत्वाच्च कथं सूर्याधीना सेत्यत आहुः-अथेत्यादि । कलापानेत्यनेनोक्तं मतं तृतीयं वा । तथा च मूले कल्याणरसङ्गहाच-दप्यभिप्रेतमित्यर्थः । चन्द्रेण देवदिनव्यवस्थाप्रकारमाहुः-देवानामित्यादि । सूर्यस्यै-१ भवेत् ।

उत्तरायणपट्टके हि रथानां दर्शनं भवेत् ।
 अंघःस्थितान् रथांस्ते हि न पश्यन्त्युच्चदर्शिनः ॥१८१॥
 प्रभवाविष्यवस्थां तु सुराचार्यः करोति हि ।
 बुधशुक्रौ सूर्यसमौ सूर्येणैव निरूपितौ ॥१९०॥
 तत्पुत्रो मङ्गलश्चैव क्रूरत्वान्न निरूपितौ ।
 सूर्याल्लक्षे यथा चन्द्रस्ततो भानि च तावता ॥१९१॥
 ततोऽग्निमग्रहाणां तु लक्षद्वितयमन्तरा ।
 उशना च बुधश्चैव तथाङ्गारक एव च ॥१९२॥
 बृहस्पतिः ज्ञानिश्चैव ऋषयस्तु ज्ञानेः परे ।
 लक्षकादशतोत्युच्चैः पञ्चानां द्विगुणत्वतः ॥१९३॥

करिमन्त्रये चन्द्रस्य षडावृत्तयो भवन्ति । तत्र तुलामारभ्य मीनान्ता देवानां रात्रिरुत्तरायणपट्टकम्, तस्मिन् रथानां चन्द्रमारभ्य ऋष्यन्तानां दर्शनं देवानां भवेत् । यदा पुनः सूर्यस्य मेघादिकन्यान्तं दक्षिणायनपट्टकं तदा सूर्याघःस्थिता देवा उच्चदर्शिन इत्युपरिष्ठाप्य पश्यन्तीति तु दिनस्थितिः । इदमेव चन्द्रकृतममराहोरात्रवितानमित्यर्थः ॥१८९॥
 बृहस्पतिनिरूपणप्रयोजनमाहुः—प्रभवादीति बुधशुक्रज्ञानिभौमनिरूपणप्रयोजनमाहुः—बुधेत्यादि । न निरूपिताविति । सूर्यसमत्वेन न निरूपितौ । तथा चैतेषां कालोपाधिनियामकलाभावेऽपि फलनिरूपकत्वबोधनार्थं निरूपणमित्यर्थः ॥ १९० ॥
 अतः परं तत् उपरिष्ठात्रिलक्षेत्यादिकं विचारयन्ति—सूर्यादित्यादि । तत्रतन्द्रा-ज्ञानि नक्षत्राणि च तावता लक्षयोजनोपरि कालापने वर्तन्ते । तथा च मूले त्रिलक्ष-योजन इति यदुक्तं तत्तेषां द्विलक्षयोजनोच्चस्वरूपविन्यासमन्तन्निवेश्येति ज्ञापितम् । तेषां देवयुद्धत्वात् । 'देवयुद्धा वै नक्षत्राणी'ति तेषां देवयुद्धरूपतत्त्वात् तेषां द्विलक्षयोजनस्य तत्रोचित्यादिति । अन्तरेति परस्परकलाभ्यवधानम् ।

ऋषीणां विन्यासप्रकारमाहुः—ऋषय इत्यादि । पञ्चानामृषीणां द्विगुणत्वत एकत एकस्य लक्षद्विगुण्याद् यौ पुनरुपरि समौ दृश्येते । समर्पणां तु यौ पूर्वौ दृश्येते उदितौ शुचीति ब्राह्मणसूत्रेण उक्ता तयोश्चापि लक्षं हि यतो हेतोर्ततोऽत्युच्चैर्लक्षैकादशतः ज्ञानेः परे उपरिष्ठाप्यः सन्तीति योजनम् । एवं स्यादैराष्टादशभिर्द्वाविंशोघ्यायो विचारितः ॥१९३॥
 १ अवस्थितान् ।

समयोश्चापि लक्षं हि ध्रुवस्तेभ्यस्त्वयोदश ।
 आध्यात्मिकांश्च तान् राशीनतिक्रम्य यतः स्थितः ॥१९४॥
 पञ्चपात्रयुतस्तत्र मोदते कृष्णतत्परः ।
 भगवत्सेवकादेव सर्वे कार्यं यतो भवेत् ॥१९५॥
 अन्ये सर्वे तदाधाराः स स्थिरः कार्यकृद्वरेः ।
 सवनत्रयधर्मस्तु तेषां गतिनियामकः ॥१९६॥
 सूर्यवद्भ्रमनं तेपामतः सम्पद्यते मया ।
 तेपामपतने हेतुर्वायुः कर्मैति केचन ॥१९७॥
 वस्तुतो भगवानेव शिशुमारस्तदाश्रयः ।
 निवेशनं ततः प्राह सर्वेषां तत्र वै हरौ ॥१९८॥

(अ. २३) अतः परं पादोनाष्टभिस्त्रयोविंशं प्रकरणे तृतीयं विचारयन्ति । अत्र यद्यपि शिशुमारः प्रकरणो तथापि तस्योपजीव्यो ध्रुव इति (पूर्व) तद्वर्णनात्पूर्वं तमेव विचारयन्ति ध्रुव इत्यादि । तस्य त्रयोदशलक्षोपरिष्ठत्ये वीजमाहुः—आध्यात्मिकानित्यादि । यतः कालाध्यात्मिकरूपोस्तान् ब्राह्मणराशीन्मेघादीनतिक्रम्य तेभ्यो रात्रिभ्योभ्यस्त्वयोदशे तावद्विंशोपरि विद्यामाने भगवत्स्थाने स्थितः । अतस्त्र पञ्चपात्रयुतः पञ्चभिरश्रीन्द्रपञ्चापतिक्रम्य पूर्वमेभ्यस्त्वयोदशे तावद्विंशोपरि विद्यामाने भगवत्स्थाने स्थितः । 'सर्वे'त्यादेरर्थं वदन्तस्त्र पञ्चपात्रयुतः इति योजनम् । एवं'मथ तस्मादि'ति गद्यार्थे उक्तः । 'सर्वे'त्यादेरर्थं वदन्तस्त्र पञ्चपात्रयुतः इति योजनम् ।—भगवदित्यादि ॥ १९५ ॥ तदाधारा इति । तदायतत्वेन कार्यकारिभिरितिः सवनेरिति कथनस्य प्रयोजनमाहुः सवनेत्यादि । मातर्पथ्यं दिनतृतीयसवनेषु क्रियमाणो धर्मस्तेषां तथेति ज्ञापनार्थं तत्कथनमित्यर्थः ॥ १९६ ॥ अन्तरीसे तद्व्रमन उपपत्तिमाहुः—सूर्यवदिति । तथा चान्तर्पथिसामर्थ्येण भ्रमनमित्यर्थः । अत्र गमकमाहुः—अत इत्यादि । यत एतद्व्यादिकं भगवदधीनमत एव तज्ज्ञाने मया सम्पद्यते 'मरे'ति भगवतोक्तमित्यर्थः । नभसि 'यथे'तिदृष्टान्तेन यदतिदिष्टं तन्न सिद्धान्ताभिप्रायेणेत्याहुः तेषामित्यादि । सिद्धान्तमाहुः—वस्तुत इत्यादि । तत्र गमकमाहुः—निवेशनमित्यादि । तथा च यथा केचित्स्वदेशान्तर्हृदयावकाश इति मतान्तरं राज आकाङ्क्षापूर्वापि स्वत एवादर्शनीयत्वात् मतान्तरस्युक्तम् । तथेदमपीत्ययमेव मुख्यः पक्ष इत्यर्थः ॥ १९८ ॥ ननु शुभो शिशुमारोपस्थाने 'अग्निःपुच्छस्य मयम्

चत्वारो वा तत्सचिवाः कश्यपोऽत्र प्रजापतिः ।
 अभयं धर्मं इत्युक्तं तेन सर्वोविरोधिता ॥१९९॥
 अवतारचरित्रं हि धारणं विषमस्वतः ।
 न ह्येवमन्योऽवस्थातुं क्षणं शक्नोति कश्चन ॥२००॥
 अन्यथा सकलां पृथ्वीं न द्रष्टा मुखवृत्तये ।
 एवं त्रिभिर्भूमर्यादा मध्यभृता निरूपिता ॥२०१॥
 अतस्त्रिभिरधःस्थानमर्यादा सकलोच्यते ।
 सूर्याञ्जिरूपणं यस्मादतः स्वर्भानुवर्णनम् ॥२०२॥
 प्रसङ्गाद् ग्रहणं चाऽऽह सूर्यादीनां तु गर्बनुत् ।
 ग्रहणं लोकसिद्धं हि न तु वेदे कथञ्चन ॥२०३॥

काण्डं तत इन्द्रस्ततः प्रजापतिरभयं चतुर्थमित्युक्तम् । इह तु पुच्छाग्रे ध्रुवमुक्त्वा
 तस्य लाङ्गले प्रजापतिरग्निरिन्द्रो धर्म इति कथमविरोध इत्यत आहुः-चत्वार इत्यादि ।
 तस्य ध्रुवस्य सचिवाः सहकारिणोऽन्यादयश्चत्वारस्तथा सति प्रजापतिना कश्यपेनेत्यत्र
 प्रजापतिपदं कश्यपविशेषणं भूतावपि 'तेजसा कश्यपस्येत्युक्तत्वात् । यमपदं च
 भ्रुवुक्त्वाऽभयशब्दार्थनिर्द्धारकम्, सर्वदेवतानिवेशस्तु तत्रात्र च तुल्यः स्थानभेदः कश्य-
 पेदादिति तेन सर्वैर्भाविरुद्धमित्यर्थः ॥ १९९ ॥

तदेतदाहुः-अवतारेत्यादि, अवतारत्वे गमकमाहुः-नहीत्यादि ॥ २०० ॥
 तथा स्थितौ प्रयोजनमाहुः-अन्यथेत्यादि । यद्युर्ध्वं ब्रह्मलसिर्यङ्मुखो वा तिष्ठेत्तदा
 अष्टमुखस्य तुच्छमुखस्य वा हनये दूरीकरणाय सकलां पृथ्वीं न दृष्टा न पश्येत् ।
 तथा च तदुभयहननमेवं स्थितौ प्रयोजनमित्यर्थः । सुप्रकरणमुपसंहरन्ति-एवं
 त्रिभिरित्यादि । मध्यमृतेति । 'मध्ये तिष्ठन्ति राजसा' इतिवाक्यात् ।
 महर्लोकार्थपेसया न्यूनत्वमत्राभितेयम् । पूर्वत्र तु स्वर्गापेसयेति नोपकमविरोधः ।
 एवं साधोऽनसप्ततिभिर्भूमिकरणं विचारितम् ॥ २०१ ॥

(अ० २४) अतः परं सार्द्धं तदुच्चभिर्भूमयः स्थितमर्यादा विचार्यते-अतस्त्रिभिर-
 रित्यादि । अत इति अतः परम्, ननु भूमयः स्वमर्यादावर्णनमस्तावे राहादिवर्णनस्य किं
 प्रयोजनमित्यपेसां पूरयन्तो नभिशतुर्विंशत्य प्रकरणमयमर्यादाहुः-सूर्यादित्यादि ।
 तथा च तावद्विरूपणे राज्ञो निराकाङ्क्षता न स्यादिति तदभावाय तत्रिरूपणमित्यर्थः ॥

अन्तरिक्षं ततोऽधस्ताद् देवाञ्चीचस्थितौ हितम् ।
 एवमेवोत्तरं नीचा ज्ञातव्या भागशः क्रमात् ॥२०४॥
 दैत्या अतिबला युक्ता भक्ता वा मुरवैरिणः ।
 अधःस्थानं स्थितौ तेषां तेन बल्यादिवर्णनम् ॥२०५॥
 आनन्दस्य प्रतिष्ठा तु तत्रैवेति निरूप्यते ।
 ज्ञानादिकं बाधकं हि दुःखं तत्र महत्तथा ॥२०६॥
 अज्ञानतः सुखं तत्र सात्त्विकानां न रोचते ।
 अतलाविषु सर्वत्र तदस्तादृशमीरितम् ॥२०७॥
 भक्तिः सर्वत्रोत्तमेति तत्राऽप्युत्तमोच्यते ।

उत्तरमिति उत्तरोत्तरम् । भागश इति यथायोग्यम् । एवमुत्तन्तीत्यन्तस्य
 भासन्निकस्यार्थ उक्तः ॥२०२॥२०३॥२०४॥ अथ तद्विभागामर्यादाहुः-दैत्या
 इत्यादि । तादृशं तेषां स्थानं कृत इत्यपेक्षायां तान् विक्षिपन्ति-अतिबला इत्यादि ।
 बल्यादीत्यादिपदं सर्पनागयोरीष सहृदयैश्च । तथा च प्रलयसाधनीमता योगिनो
 भगवत्कथा यथाभागं वसन्तीत्यर्थः ॥२०५॥ तत्रत्यमुखनिरूपणस्य तात्पर्यमाहुः-
 आनन्दस्येति । तमस आनन्दमूलत्वात्प्रयानन्दस्य प्रतिष्ठा प्रकर्षेण स्थितित्त्वेऽप्येव
 लोकेष्विति हेतोस्तत्रत्यं मुखं निरूप्यते इत्यर्थः । ननु तेषां स्वर्गादधिकमुखत्वत्वे ताभि
 देवैः कृतो नेप्यन्त इत्यत आहुः ज्ञानादिकमित्यादि । तत्र विनोदो मायाकृत इत्यतः
 स्वर्गादाधिक्यं माया च ज्ञानेन योगेन च बाध्यते, सुदर्शनपथेऽन्यत्र दुःखं
 च महत्, तथा सति तत्र सुखमज्ञानकृतमतो नेप्यत इति बोधनाय
 तपेरितमित्यर्थः । ननु तथापि सुतलमुखं न तादृश्यम्, इन्द्रादिष्ण-
 विद्यमानयेति भगवदनुकम्पाविशेषणात् । तादृशानुकम्पासम्पादितस्वप्नानुकृतता-
 भावादित्यत आहुः-भक्तिरित्यादि । उत्तम इति । आनन्द इति शेषः । तथा
 च स न बिलसम्बन्धी, किन्त्वतिरिक्त इति न बिलमुखस्य देवेशत्वमित्यर्थः ।
 यदि भगवतो बलवीदशो कृपा तदा भगवता तस्मिन्प्रहस्य किं प्रयोजनमत आहुः-
 धर्माद्यैर्मिति । तदीयधर्मस्य सत्यवाकादिरूपस्य ज्ञापनार्थम् । तथा च भगवान् जीवस्य

धर्मार्थं भगवँस्तस्य निगृहीतेति वर्णनम् ॥२०८॥
 भगवानुत्तमत्वं च पातालादिष्वकारयत् ।
 तत्परित्यज्य दुःखेन कर्मणा वर्त्तते यतः ॥२०९॥
 एवं ज्ञानं तस्य वृत्तमिति तद्वाक्यवर्णनम् ।
 महादेवस्याऽपि भक्तस्तथा किं तु ततोऽधमः ॥२१०॥
 ततो लोकत्रयं नीचं भयं किञ्चित्ततो मतम् ।
 तेषामेव सुखे हेतुर्भगवँस्तामसस्तथा ॥२११॥
 लक्षमात्रमियं भूमिः प्रायेणाऽत्र नियोगतः ।

सत्येन दैव्येन स्वात्मन्यधमत्वज्ञानेनानहङ्कारेण तुष्यतीतिज्ञापनार्थं तद्वर्णनमित्यर्थः ।
 ॥२०६॥२०७॥२०८॥ ननु भगवत्कृपायाः बलिस्वभावस्य चैतावतैव ज्ञातुं शक्यत्वेऽपि
 तद्वाक्यवर्णनस्य किं प्रयोजनमत आहुः भगवानित्यादि । उत्तमत्वमिति कृपा-
 च्चविषयस्य स्वीयत्येतिशेषः । दुःखेनेति भगवच्छ्रमदानरूपेण ॥२०९॥ तस्य वृत्तमिति
 बलेर्हेतुं नेन्द्रस्य । तथा च सत्वसंरब्धस्युत्पापेक्षया राजस एव भगवत्कृपावैशिष्ट्य
 उत्तमो भवतीति तदीयदास्यमेव वस्तुतः सर्वोत्तममिति ज्ञानं बलेर्जातं नेन्द्रस्येति
 तदपेक्षयाऽपि भक्त्युत्कर्षबोधनाय बलिवाक्यवर्णनमित्यर्थः । मयसुखनिरूपणतात्पर्य-
 माहुः-महादेवस्त्येत्यादि । इन्द्रापेक्षयाऽपि कल्पस्य बन्धपेक्षया न्यूनतस्य च ज्ञापनाय
 तद्वर्णनमित्यर्थः । एवं चतुर्विंशत्यर्थः साङ्केतवधिरुक्तः ॥२१०३॥

(अ. २५) अतः परं त्रिभिः पञ्चविंशस्य प्रकरणद्वितीयस्वार्थमाहुः-
 तेषामित्यादि । ननु पातालमूले भगवत्स्थितेः किं प्रयोजनं भूमिदूतेः सामर्थ्येनापि
 सम्भवादित्यत आहुः-तेषामित्यादि । अधोलोकनिवासस्वामसकर्मभिरज्ञानं च,
 राजसकर्मणा चासुरत्वं दुःखं च, 'कर्मणः सुकृतस्याहुः'रितिगीतावाक्यात् ।
 अतो भगवान् सङ्कषणस्तेषां बिलनिवासिनामेव सुखहेतुः । तथा तमस उपलक्षण-
 मेतन् नरकस्य सुखहेतुः । अन्यथैतेषु सुखवर्णनं नात्र क्रियेत, नारकी च निर्द्वैतर्न
 स्यात् । तथा चैतत्कार्यद्वयार्थं तत्र स्थितिरित्यर्थः ॥२११॥ सङ्कषणस्थितिः पाताल-
 मूले ब्रह्माण्डमूलाऽतो वेति सन्देहनिवृत्त्यर्थमाहुलक्षमात्रेत्यादि । इयं शेषेण धिय-
 माणा भूमिलक्षमात्रं प्रोक्तेति सम्पान्यते । प्रायेणेति सम्भावनार्थकम् । तत्र हेतुः,

उपयुक्ता ततः प्रोक्ता न तु पृथ्वी हि तावती ॥२१२॥
 तस्याधःस्थात् स्थितो हेतुः संसारो जगतो मतः ।
 सुखं च विषयोक्तस्य कीर्त्तिश्चाऽपि निरूप्यते ॥२१३॥
 दृष्ट्यैव तामसत्वं हि सात्त्विको वस्तुतो मतः ।
 सुखोत्तमस्य हीनत्वे प्रश्न उत्तरमेव च ॥२१४॥
 दुःखं सर्वत्राऽविशिष्टमतः प्रश्नस्तु नारकः ।

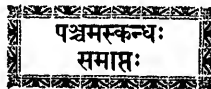
हि यतो हेतोः नियोगतः कर्मचोदनात् उपयुक्ता कर्मोपयोगिनी ततो हेतोः । तथा
 च यावती वराहावतार उद्भिद्यत्वे तावती, तेन पातालमूलेव गद्येऽभिमेतमित्यर्थः ।
 अन्यथाऽवान्तरमलयो न पदेतेति भावः । तदाहुः-न तु पृथ्वीति । ब्रह्माण्डस्याऽत्र-
 शेषधारायां न भवतीत्यर्थः । अनेनैव हेतुरुक्तः । तथा च सा सर्वोत्तरसंयुता गुणप्रवाहे
 अक्षरब्रह्मणि वा तिष्ठतीति तस्याः पृथ्वीत्वेनाधारात्तरापेक्षाभावादिति भावः ॥२१२॥
 तर्हि तद्विद्यमपि जल एव स्थास्यतीति किं शेषस्थित्येत्यत आहुः-तस्येत्यादि । तथा च
 लोकानां स्वस्तय आस्ते इति कथनात्संसारः पूर्वोक्तं बिलमूखं सुसुक्ष्मपकाश्च तत्र
 स्थितौ हेतुरित्यर्थः । अत्र मध्यमं अुताथापचित्सिद्धमादिमन्त्रिणं कण्ठोक्तं हेतव्यम् ॥२१३॥
 अत्र प्रथमगद्ये तामसी कला सात्वतीत्युभयसुक्तं तद्विरोधपरिहारायाहुः-दृष्ट्येत्यादि ।
 'असदृशो यः प्रतिभाति मायया क्षीयेव अध्वासवतात्रलोचन' इतीलाहृतवर्णने
 शिववाक्यं बीजं हेतव्यम् । एवं प्रकरणे द्वितीयः पञ्चविंशस्त्रिभिर्विचारितः ।

(अ. २६) अतः परं चतुर्भिः सङ्कषणं द्वितीयं विचारयन्तो 'महर्षे एतद्वै-
 चित्र्यमिति प्रश्नस्य तदुत्तरस्य च तात्पर्यमाहुः-सुखेत्यादि । सुखे तु सर्वोत्तमसुखं
 तद्वेत्तुकथने तु कामः कर्म चोक्तम् । तत्र कामकर्मजन्यत्वेऽपि हीनताप्रयोजकज्ञानाय
 प्रश्नः । उत्तरं 'त्रिगुणत्वादि'त्यादिनोक्तं त्रैगुण्यजन्यत्वेन हीनत्वज्ञापनायैत्यर्थः ॥२१४॥
 ननु नरकाणां प्रसिद्धात्किं देशविशेषा इत्यादिप्रश्नस्य को वाऽऽश्व इत्याकाङ्क-
 यामाहुः-दुःखमित्यादि । तथा च नरकस्य पापभोगोपयुक्तत्वात् तत्फलस्य च
 दुःखात्मकत्वात्तस्य च सर्वत्र तुल्यताकुतस्तेषां बहुत्वं कुतश्च गुणप्रधानभाव इति
 १ यथा । २ षड् अवस्थाने इतिदुदादिगणस्यधातोः कर्परि रूपम् ।

देशा न नरकं किन्तु कर्मणेति तथोत्तरम् ॥२१५॥
 यमश्च पितरश्चैव ततस्तत्र निरूपिताः।
 कर्माण्येव निमित्तानि सर्वेषां तु यथा भवेत् ॥२१६॥
 नरकश्च तथा स्वर्गं इत्यन्ते स्वर्गवर्णनम् ।
 भगवद्द्वयतिरिक्तस्य वर्णनं नैव युज्यते ॥२१७॥
 इत्याज्ञाङ्ग्य हरे रूपवर्णनेनोपसंहरतिः ॥२१७३॥
 इति श्रीबल्लभदीक्षितविरचिते तत्त्वार्थदीपनिबन्धे
 श्रीभागवतार्थप्रकरणे पञ्चमस्कन्धार्थनिरूपणं
 समाप्तम् ।

प्रश्नस्यास्य इत्यर्थः । उत्तराश्रयमाहुः—देशा नेति । देशास्ते स्वरूपतो न बहवः,
 किन्तु कर्मणा, तथा चैकत्रैव कर्मविद्यमानत्वेऽपि तत्तत्कर्मैव तेषां बह्व्ये गुणप्रधानभावे
 च प्रयोजकमिति बोधयितुमेकैव कर्मतत्फलभोगविवरणप्रकारेणोत्तरमित्यर्थः ॥२१५॥
 अत्र गमकमाहुः—यम इत्यादि । तथा चैवं वस्तुसैरपि पितृभित्तस्तद्वाह्याकरणार्थमेव
 तद्विषेचनाच्च कर्मैव निमित्तमित्यर्थः । गमकान्तरमाहुः कर्माणीत्यादि । स्वर्ग-
 वर्णनमिति । तथैव धर्मवर्णनं इत्येवमस्त्विति । शेषं स्फुटम् ।

॥ इति श्रीमत्पञ्चचरणदशिता पुरुषोत्तमदृष्टा
 पञ्चमस्कन्धनिबन्धयोजना
 सम्पूर्णा ॥



पञ्चमस्कन्धः
 समाप्तः

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदान्धार्थचरणकमलेभ्यो नमः ।

अथ तत्त्वार्थदीपनिबन्धे भागवतार्थप्रकरणे

षष्ठस्कन्धविवरणम् ।

एवं कृष्णजयारूढं हि पञ्चमे स्थानमीरितम् ।

एकोनविंशैरध्यायैः पुष्टिः षष्ठे निरूप्यते ॥ १ ॥

श्रीबालकृष्णो विजयते ।

अथ षष्ठस्कन्धनिबन्धस्य योजना ।

अथ षष्ठस्कन्धार्थं निबन्धन्तः पूर्वस्कन्धे स्थानं यथा महापुराणसामान्य-
 लक्षणप्रसूतवृत्तिविशेषरूपमलीकिकं निरूपितमेवमस्मिन्नपि स्कन्धे रक्षाविशेषरूपं
 पोषणमलीकिकं निरूप्यत इति बोधयन्तः पुष्टिनिरूपणं प्रतिजानन्ते एवमित्यादि ।
 एवं तस्य तस्य तत्र तत्र नियमनेन कृष्णजयारूढं स्थानं वृत्तिविशेषरूपम्, हि
 यतो हेतोः पञ्चमे ईरितम् । अतो हेतोः षष्ठे कृष्णानुग्रहरूपा पुष्टिरेकोनविंशैरेको
 व्रतवोपकृतया मुख्य ऊनविशो यत्र तार्वाङ्गहनविंशतिभिरध्यायैर्निरूप्यते । द्वादशे
 स्कन्धे रक्षा चतुर्थे लक्षणम् । सा च 'रक्षाच्युतावतारेहा विष्वस्यानुयुगे युगे ।
 तिर्यङ्मूर्त्यर्पिदेवेषु हन्यन्ते पैखयीद्विष' इत्येवं लक्षिता । तदर्थस्तु विष्वस्याऽनु
 विश्वोत्पत्त्यनन्तरं युगे युगे प्रतियुगं तिर्यङ्मूर्त्यर्पिदेवेषु विद्यमानास्त्रयीद्विषो हन्यन्ते ।
 तादृशी या अच्युतावतारेहा अच्युतस्य अवताराणां वा ईहा चेष्टा सा रक्षेति । एतस्याश्च
 लक्षणार्थं नावतारलीलात्वेन तुरीयपादव्यथेत्वापत्तेः, लीलान्तरेऽतिव्याप्तेश्च । नापि
 त्रयीद्विषनिवारकत्वेन सृष्ट्यादिक्रियायामतिव्याप्तेः, अच्युतावतारपदवैयर्थ्यापत्तेश्च ।
 किन्तु वेदविरोधिनिवारकभगवत्लीलात्वेन तादृशावतारलीलात्वेन वा । तथा सति
 तस्याः पुराणान्तरसाधारणत्वेऽप्यलीकिकत्वानपायात् । अत्र तथा तदुक्तावपि न
 दोषस्तथापि तत्र हननप्रकारस्य लीकिकत्वादत्र च विशेषलक्षणानामेवोपक्रान्तत्वेन

कृष्णानुग्रहरूपा हि पुष्टिः कालादिवाधिका ।

अनुग्रहो लोकसिद्धो गूढभावाग्निरूपितः ॥ २ ॥

देवगुह्यत्वसिद्ध्यर्थं नामध्यानार्चनादिकम् ।

पुरस्कृत्य हरेर्वीर्यं नामादिषु निरूप्यते ॥ ३ ॥

प्रकारस्याप्यलौकिकत्वविवक्षयाऽनुग्रहरूपा भगवद्गीलोच्यत इत्यर्थः । एवं प्रतिज्ञायां स्वरूपकथनेन रक्षाविशेषरूपतां समर्थयित्वा येनास्या विशेषत्वं तं प्रकारमाहुः—
हीत्यादि । महापुराणान्तरोक्तत्वा हि त्रयीक्षिपां स्वरूपमात्रनाशिका न तु तद्देव-
मूलकारणस्य स्वभावस्य सहकारिणः कालादेश्च वाधिका, नापि तेषां मोक्षिका ।
पुष्टिस्तु तेषामपि स्वभावस्य वाधिका यथा स्वरूपतः सन्तोऽपि न त्रयीं क्षिपन्ति
हताश्च युक्ता भवन्ति । अतः प्रकारोऽप्यत्रालौकिक इत्यर्थः । नचनुग्रहरूपाऽप्रसिद्ध-
त्वालक्षणमसम्भवोत्याकाङ्क्षायामाहुः—अनुग्रहो लोकसिद्ध इति । अनुग्रहः कृपा-
ऽपरपर्यायो मनस आत्मनो वा धर्मविशेष इच्छादिव्यतिरिक्तो लोकसिद्ध इति
लोके स्तीणधनस्याधमणस्य उत्तमणः स्वल्पधनग्रहणेनानृणित्वसम्पादने, स्यूतो प्राय-
श्चित्ताशक्तस्य पातकिनः पापनिवृत्तये स्वल्पमायश्चित्तबोधने च पापैर्दुःखह्लादिद्वेषेण
प्रसिद्धोऽतो न लक्षणमसम्भवीत्यर्थः । नन्वन्वयधर्मो भगवति कृत उच्यत इत्यत
आहुः गूढेत्यादि । कर्म्यनाधिकरणविषयवाक्येन प्रलयकर्तृत्वेन च भगवतः क्रूरता-
वगमात्स न प्रसिद्धो वस्तुतस्तस्तीति गूढभावात् । अनुकृत्यधिकरणे सर्वस्य भगवद-
नुकारितायाः सिद्धत्वाद्लौकिकेन तेनानुयेयः सोऽत्र मूलरूपे कार्यद्वारा निश्चायित
इत्यर्थः ॥ २ ॥

नन्वत्र कालादिनिवर्षकत्वं नामादिषु प्रतीयते न तु पुष्टाविति कथं तस्या-
स्तयात्प्रतीयत आहुः—देवेत्यादि । न हि पुष्टेस्तयात्वं मनुष्याणामेव दुर्गमम् ।
किन्तु देवानामपीति देवगुह्यत्वज्ञापनार्थं तद्व्यापारभूतं नामादिकं तथालेन
निरूप्यत इति श्रेयः । ननु कथमेतदवगम्यत इत्याकाङ्क्षायामाहुः—पुर इत्यादि । अत्र
हि नामादिषु यद्यथात्वं निरूप्यते तत्र नामत्वादिकं पुरस्कृत्य किन्तु 'नामध्याहरणं
विष्णोर्भेदायुक्त्वज्ञायाः सिद्धिः काम्यानुषङ्गिकीत्यादिकथनाद्भगवद्गीर्षं पुरस्कृत्येति
तेनावगम्यत इत्यर्थः । न चात्र षड्रथा तत्पुरुषेण च सम्बन्धमात्रमेव तथा (कालादि-
निवर्षकः) अवगम्यते न वीर्यमिति ऋक्षयम् । इतरवाधनरूपेण रक्षारूपेण च कार्येण तस्य

मतान्तरस्य भाषा तु नामप्रकरणे मता ।

ध्याने हरिप्रवेशस्तु स्पष्टः प्रोक्तस्तथाऽर्चने ॥ ४ ॥

त्रिभिराथं प्रकरणं नराणां देवदैत्ययोः ।

चतुर्विंशतिरध्यायैर्द्वाभ्यां चैव निरूप्यते ॥ ५ ॥

नाम त्रिविधसम्बन्धादात्मगामि भवेद्यतः ।

श्रवणाकार्तीरानात्समृत्या ततोऽध्यायत्रयं मतम् ॥ ६ ॥

तथात्वावगमात् *, लोके तथा दर्शनात् । अत एवानुग्रहस्येच्छादिभ्यो भेदः । प्रसाद-
कृपादीन्यस्यैव पर्यायाः । एवं च कालादिनिवर्षकतोऽनुग्रहप्रापरनामा वीर्य-
विशेषरूपो भगवत्कर्मः पुष्टिरिति सिद्धम् । अत्र च वेदतात्पर्यानिर्णयमदू-
ताटनादमूलोक्तकर्तृविशेषरूपस्य पापस्य दृत्रस्य च हननादितिगर्भच्छेदनाश्च
सामान्यलक्षणसमन्वयः । एवमजामिलदुष्कर्मण इन्द्रस्योत्रैत्रस्वभावकर्मणोर्दितेः
स्वभावस्य मरुतां कालकर्मस्वभावानां वाचनाश्च विशेषलक्षणसमन्वयः ॥३॥

एवमत्र त्रिभिः स्थितिकरणभूतः स्कन्धार्थो निर्णीतः । पूर्वस्कन्धत्रये जगज्जन्-
करणभूतसर्गादिनिरूपणवत् । अतः परं प्रकरणार्थो निर्णयः । तत्र नामादीन्वेवात्र
भगवत्सम्बन्धीनुपयन्त इति व्यापारतया तावदेव प्रकरणीनि, नरादिवाङ्मनःकर्मणां
तदधिष्यन्नक्तयोपयोग इत्यनुग्रहविषयाणां नरादीनामपि तथात्वं, स्थितिशीलात्ता-
श्चिवाक्षितेन्द्रादिस्थितिफलप्र, तदेवद्वोषयितुं प्रकरणिणो विचारयन्तः प्रथमप्रकरणे विशेष-
माहुः—मतान्तरेत्यादि । नामिन् भगवत्सम्बन्धस्योपचारिकत्वात्कथमेवं सामर्थ्य-
वित्याशङ्कानिरासकस्तुः । भाषाप्रयोजनं तत्रैव वाच्यम् । स्फुटमन्वत् ॥४॥

एवं प्रकरणार्थं निर्णीयं पुष्टिविषयानधिकारिणः स्फुटीकुर्वन्तोऽध्यायान्
विधजन्ते त्रिभिरित्यादि । अत्र 'नराणामिति बहुवचनाद्भेदेऽपि देवानां दैत्याना-
मिति बोध्यम् । श्रिवचनप्रयोगस्तु ज्ञात्येकत्वाभिप्रायेणेति च । तथा च देवप्रकरणे
चतुर्दशदैत्यप्रकरणे द्वावध्यावावित्यर्थः । तावतां तत्र प्रयोजनमाहुः—नामेत्यादि ।

* नामादिषु भगवद्गीर्षस्य कालादिनिवर्षकत्वावगमात् । अनुग्रहस्य कालादिनिवर्षक-
त्वादेव कालादिनिवर्षकेभ्य इच्छादिभ्यो विभेदः ।

रूपं चतुर्दशगुणं प्रत्येकं हृदि भावितम् ।
फलत्येवेति तावद्भिरध्यायैर्विनिरूपणम् ॥ ७ ॥

*रूपेण मोक्षदः प्रोक्तो रसेनाऽऽनन्ददायकः ।
गन्धेन भक्तिदः प्रोक्तः स्पर्शेनाऽखिलतापनुत् ॥ ८ ॥
मनोहरस्तु नादेन योगेनाऽऽत्मप्रवेशदः ।
कालमोक्षप्रदो द्विष्टः स्वामी सर्वसुखप्रदः ॥ ९ ॥

हीनभावाद् दुःखदश्च केवलः सकलार्थदः ।
मितो योगप्रदः प्रोक्तो भिन्नो मृत्युप्रदः स्मृतः ॥१०॥
यथास्थितो ज्ञानदश्च स्नेहाद्वयो भवेद्भुवम् ।

पूजाऽपि द्विविधा प्रोक्ता बाह्याभ्यन्तरभेदतः ॥११॥
अतोऽध्यायद्वयं तत्र क्रिया सा त्रिविधो हरिः ।
नामरूपे क्रिया चैव हरेः सर्वहितप्रदः ॥१२॥
एतन्नयं प्रसन्नश्चेद्वाति न ततोऽन्यथा ।

हरिरित्यन्तैः सार्धैः पङ्क्तिः । चतुर्दशगुणम् इति चतुर्दशधर्मकम् । द्विष्ट इति द्वेषित्वेन भावितः । एवमग्रेषु हीनभावादिति । हीनत्वेन भावनात् । मितो ज्ञातः । क्रिया सेति प्रकरणाथरूपा पूजा विविधोहरिरिति । त्रयं वा इदं नाम रूपञ्च कर्म चेति श्रुतौ प्रपञ्चस्यात्मकस्युक्तम् । अत्र प्रकरणत्वेनोच्यमानं त्रयं न प्रपञ्चरूपं किन्तु तत्रितयप्रकारको भगवानेवेत्यर्थः । अत्र गमकमाहुः—नामेत्यादि । तथा च सर्वहितप्रदत्वेन तेषां भगवद्प्रसन्नगमकमिति त्रयाणामनेन रूपेण प्रकरणाथ-
तेत्यर्थः । एतेनाध्यायार्था अप्युक्ता एव । एतेषां व्यापारत्वं स्फुटीकुर्वन्ति—एतन्नय-
मित्यादि । तथा च हितस्वरूपां स्थितिं प्रसन्नो ददातीति भगवान् कर्त्वा प्रसादः पुष्ट्यात्मकः करणं नामादित्रयं व्यापारः सोऽपि भगवत्प्रसादेनैव प्राप्यो
नान्येत्यर्थः । ननुक्तविधं नामादित्रयं प्रसादमर्थं यथा तथैव भक्तिरपि, 'कर्हिचित्स
न भक्तियोगमि'तिवाक्येन तथाऽनुमानात् । तथा च कारणसाम्ये कथं न भक्तेर-
* रूपेण मोक्षद इति. अत्रत्यं निबन्धकठिनांशविचिनं दीर्घत्वात् षष्ठस्कन्धान्ते निवेदितम्,
ततोवलोकनीयम् ।

पुष्टिः स्वार्था परार्था तु भक्तिः साऽनवमे मता ॥१३॥
अजामिलो दासयोग्यः प्रागेव हरिणा तथा ।
विचारितो गर्वमुक्त्यै तथात्वं प्रापितो वलात् ॥१४॥
स्वभावदुष्टा जीवा हि स्वधर्मोत्कर्षभावुकाः ।
अतस्तथाविधं कृत्वा स्वात्मसात्कुरुते हरिः ॥१५॥
भक्तस्यैवैविधत्वं हि न समाभावभीप्सितम् ।

तत्स्कन्धे कथनमित्यत आहुः—पुष्टिरित्यादि । अत्रोक्ता पुष्टिः स्वार्था जीवहितकरी ।
भक्तिस्तु परार्था भगवत्कार्योपयोगिनी, सा अनवमे पूर्णं प्रसादे मता । तथा च
कारणभेदात्कार्यभेदाच्च तस्या नैतत्स्कन्धार्थतेत्यर्थः । एवं दशभिः प्रकरणत्रयार्थैः
सामान्यतो विचारितः ॥१३॥

अतः परं प्रथमप्रकरणार्थं विज्ञेयतो विचारयन्ति—अजामिल इत्यादि
साद्गोचरत्वारिशुद्धिः । योग्यतायां हेतुमाहुः—प्रागेवेत्यादि । तर्हि कथमेवं भाव
इत्यत आहुः—गर्वेत्यादि । वलादिति स्वभावदोषवलात् ॥१४॥ स को वा
दोष इत्यत आहुः—स्वभावेत्यादि । चिदेश हि जीवा अविषया व्याप्ताः स्वदेह-
द्रव्याहमा स्वधर्मं गुणक्रियात्मकं उत्कर्षं भावयन्ति । अहमीदंश एवमहं करोमि
नान्यो मत्सम इति सोऽयं दोष इत्यर्थः । अत इति तद्दोषनिवारणं मनसिकृत्य
'आत्मसात्कुरुते'इति अङ्गीकरोति । तत्र हेतुः—हरिरिति । जीवदुःखहर्त्वा । तथा
च यः स्वदास्यार्थं विचारितः स्वभावदोषवशाद्द्विष्टुत्वे भवति तं स्वविचारित-
प्रसादानुसारेणैवं बाह्येष्टुत्वमनयन् तस्य हितं करोतीति जीवदोषनिवारणोऽनु-
ग्रहोऽत्र प्रकरणे पुष्टित्वेन विवक्षित इत्यर्थः । 'पुष्टिः स्वार्थे'ति यदुक्तं तदेताभ्यां
श्लोकाभ्यां विवृतम् । तावता तादृशस्थानोपणयोऽर्थयोः स्कन्धयोः सांख्येयन मर्यादा-
संबन्धान् मर्यादापुष्टिरिति या प्रसिद्धा सेयमिति फलति । एवमग्रिमप्रकरणयोरेपि
सोध्यम् । एतादृशे स्वभावज्ञानपन्थेऽप्येवं कर्मस्वभावयोर्विद्वत्सि नृशरीराणामेव करोति
तेषां मे पौरुषी भिद्ये'तिशक्यादिनिबोधयितुमस्य नरप्रकरणत्वं पूर्वमुक्तं विभिरार्थं
प्रकरणम् । नराणामिति मनुष्याणां मियत्वादेव प्राथम्यमिति च ॥१५॥

नन्वेवं सत्यत्र मतान्तरभाषा व्यासचरणैः किमित्युपन्यस्तेत्याकाङ्क्षायामाहुः—
भक्तस्येत्येत्यादि चरणत्रयम् । नन्वनभिधेत्वेन उपन्यासोऽप्यनुचित इत्याशङ्कयामाहुः—
१ नवमे ।

अतो मतान्तरी भाषा नामस्वातन्त्र्यतोऽपि च ॥१६॥

वृत्तान्तश्रवणं तस्य ततः कर्त्तनशंसनम् ।

फलं तस्येति सकलं द्वितीये विनिरूपितम् ॥१७॥

सिद्धान्तकथनं पश्चाद्बालाकृतिनिवारणे ।

यमवाक्यस्मृतौ सर्वं स्मरन्ति हरिनाम हि ॥१८॥

प्रायश्चित्तप्रसङ्गेन नाममाहात्म्यमीरितम् ।

पुष्टौ तथापि तत्प्रोक्तं तेनाऽत्रयं व्यवस्थितिः ॥१९॥

नामैस्यादि । तथा च नास्योपाख्यानस्य सर्वज्ञानाभिधेयत्वमप्युपन्यास इत्यर्थः । नन्वेवं सति भतान्तरभाषात्मनस्त्वियमजानमिति शक्यत्वे तत्त्वकरणविषयसमाप्तावगमस्यः शिवभक्तोऽपीत्यादिना निरसनीया । तस्मात्सुष्टूक्तं नामस्वातन्त्र्यत इति । एवं त्रिभिः प्रथमप्रकरणार्थं विचार्ये द्वाभ्यामध्यायार्थमाहुः—वृत्तान्तैत्यादि । अत्रायचरणे प्रथमाध्यायार्थाः श्लेषे द्वितीयस्य अग्रिमे तृतीयस्य । बलात्कृतिनिवारण इति । बलात्कारनिवारणार्थं यममुखेन तन्निरूपणस्य प्रयोजनमाहुः—यमैत्यादि । एतेनाभिधेयत्वे युक्तिरुक्ता । एवं द्वाभ्यां सामान्यतोऽध्यायार्थे उक्तः ॥१६॥१७॥

अतः परं विवृण्वन्ति, नन्वत्र पुष्टौ निरूप्यायां नामन्स्त्वद्वापारत्वात्तन्माहात्म्यकथनं युक्तम् । अस्य शास्त्रस्य भक्त्युत्पादकत्वेन नामकोचैवस्य च भक्तत्वेन तत्र विधासदाढ्यार्थं तस्यावश्यकत्वात् । तथापि प्रायश्चित्तप्रसङ्गेन तत्कथनमनुचितम् । ' प्रायः पापं विजानीयाच्चित्तं तस्य विशेषन'मिति हेमाद्रौ । तल्लक्षणेन तस्य पापनिवारणमात्रफलकतया ततो भक्तिफलाभावमसङ्गात् । न च संयोगवृत्तत्वेन तत्सिद्धिः । ' द्रष्टा इन्द्रियकामस्य जुहुयात् खादिरे वीर्यकामस्य वृषं कुर्या'दित्यादिषु तदुदाहरणेष्वेकस्य फलस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वेनेतस्य च काम्यत्वेनोभयोर्मुख्यत्वेति तत्र तत्त्वदृष्टिः, अत्र तु पापनिर्वेशस्यैव काम्यत्वेनेतरस्याकाम्यत्वेनाप्रत्यक्षत्वेन च तस्य गौणतयोदाहरणवैयर्थ्यात् । वैयर्थ्येऽपि ग्रहिलतया तत्त्वदृश्यङ्गीकारे योगसिद्धाधिकरणन्यायवाचापेक्षेः । अतः पुष्टावुपक्रान्तायां कथनेन कथनमित्याशङ्कामपनुदन्ति प्रायश्चित्तमित्युच्यते । तत्प्रोक्तमिति ज्ञानिभक्तेन श्रुक्तेन प्रोक्तम् । उक्तदोषविशेषात् । सर्वमिति पूर्वोक्तदोषः पापञ्च । पश्चादिति ज्ञानतिरोधानोचरम् । तथापि हेतुभूतम् । श्लेषं स्फुटम् । तथा १ भगवत्सेवका ये तु कथञ्चिद् भिन्नतां गता इत्यत्र कथञ्चित्तदस्य व्याख्यानमिदम् ।

भगवत्सेवका ये तु कथञ्चिद्भिन्नतां गताः ।

सर्वात्मना पापनाशस्तेनापामेव भवेद् बुधम् ॥२०॥

वैश्विन्व्यवस्थां बोधयितुं मयादापवादं च बोधयितुं तयोपक्रम इत्यर्थः । न च न्यायवाच्यदोषः । अत्रतन्त्रे गुणोपसंहारन्यायमणयनेन योगसिद्धाधिकरणन्यायवाच्यमष्टुत्वात् । एतेन भक्तेः कल्पनरहस्यबालमपि विद्वत् श्लेषः । एवं सत्ययमश्लेषः । राज्ञा हि लीलावर्षं विराड्ध्यानाङ्गत्वेन श्रुत्वा स्थानश्रवणे भगवत्स्तचन्मयादास्यापकत्वमवगत्य स्वस्य ब्राह्मणावज्ञाकर्तृत्वेन तन्निर्वेशस्याङ्कतन्त्राङ्गत्वानवयं न दास्यतीति तन्वाप्तिविलम्बभूतो निर्वेशं पप्रच्छ ' तन्मे व्याख्यातुमर्हसी'ति मर्दर्थं कथयेत्यर्थः । तत्र श्रीशुकैस्तदधिकारपरीक्षां सामान्योचरे दत्ते यदा राज्ञा तस्य वैयर्थ्यं कुञ्जराशौचदृष्टान्तेन बोधितं तदा तदुक्तमुपगम्य कर्मात्मकप्रायश्चित्तस्याऽज्ञाधिकारकत्वं बोधयित्वा राजाधिकारानुसारेण तद्वोधयन् श्रीशुकः 'प्रायश्चित्तं विमर्शन'मित्यादिना द्रव्यमुवाच । ' तत्र नाशत ' इत्यादिश्लोककथयेणैकं 'केचि'दित्यादिपञ्चभिरपरम्, ततो द्वितीयं दृढीकर्तुमितिहासमुक्तवान् । तयोः प्रथमं विमर्शने तदेहान्मयेदालोचनान्तकं तत्र पृथग्भोजनदृष्टान्तपूर्वकम् । ' एवं नियमकृद्वाचनं जनैः क्षेमाय कल्पत ' इति कथनेनाश्रिमे तपःप्रयुतीनां तदज्ञानां च कथनेन तत्समग्राङ्गं धर्मज्ञस्य श्रद्धालोः कर्तुर्विहङ्गालेन नाशयति । तत्राऽप्यनिरुद्धान्तेन सावशेषमेव नाशयति । वेणुगुल्मदाहं मूलस्य भूर्धौ दशनात् । बहिनिरुहौ पुनः प्ररोहदशनाच्च । द्वितीया भक्तिः । सा च भगवति परममेकरूपा 'यथा कृष्णापि तमाण-'मिति कर्तुर्विशेषणादवसीयते । तथा च कामन्तेनाप्युचने नीहाराभस्करदृष्टान्तोक्तं निःशेषनाशबोधनाय । ततो राज्ञः पुनर्नीहारादर्शनादत्रापि सावशेष एव नाशो भविष्यतीति शङ्कानिरासाय । ' तथा ह्यपवानि'त्येतेन श्लोकेन पूर्वोक्तपश्चादिसहितविमर्शनेनकृपावानस्येतत्कृपावानान्युक्तता । ततः ' सधोचीनो ह्ययं पन्था' इत्यनेन भक्तिमार्गस्योत्कर्षो बोधितः । तेन भक्त्या निर्विशेषः पापनाश इति नीहारात्मनोऽपि तथा । राशौ तु पुनर्नीहारान्तरमेयेति दृष्टान्तो दृढीकृतः । ततः 'प्रायश्चित्तानि चीर्णानी'त्यनेन राजोक्तकुञ्जराशौचदृष्टान्तस्य ' कर्मणा कर्मनिर्वेशेन ह्यात्यन्तिक इष्यत इति स्वांक्तस्य च निर्णयः कृतः । भगवद्विष्टत्वेन न निःपुनन्तीति भगवद्विष्टत्वा एव चाविब्रान्तं इति । तेन युधिष्ठिरादिकृताभ्येमादीनामपि पावनत्वं बोधितम् । ततः कर्मजानां भक्तौ सहकारित्वमेव न मुख्यत्वमिति भ्रम इति तादृशाशङ्काभावाय

अन्येषां ज्ञानकर्मभ्यां सावशेषक्षयो भवेत् ।
 तत्राऽपि कर्मणा नाशः कुञ्जरस्नानवन्मतः ॥२१॥
 अधमानां लौकिकानां न विश्वासस्तु नामनि ।
 देहात्मबुद्धौ नष्टायां न पापस्फुरणं मतम् ॥२२॥
 ज्ञाने तिरोहिते सर्वे सहस्रैव भविष्यति ।
 पश्चाच्चेत्पापनाशेच्छा कर्मणो दोषदर्शनात् ॥२३॥
 भक्तौ प्रवेशे हि तदा तं भक्ता मोचयन्ति हि ।
 अतः पापक्षये नाम भक्तानां ज्ञानिनां तथा ॥२४॥
 नाऽन्येषां तेन भक्तानां मोचकत्वं निरूपितम् ।
 मर्यादया कृतार्थाःस्युः यदि पापं न जायते ॥२५॥

'सकृन्मन' इत्यनेन सकृत्कृतायाः स्वल्पाया अपि केवलाया भक्तिर्निःशेषपापनिवारकत्वाय तस्याः यमाद्यदर्शकलघुत्वा तथा च हाह्वयितेहिास उपन्यस्तस्तेन सर्वात्मना पापनाशः कृष्णापितृप्राणानां भगवत्सेवकानामेव । तददर्शां पापसम्भवस्तु स्वधर्मोक्तप्रभावना-दोषात् । एवमेव 'स्वपादमूलं भजतः भियस्ये'त्यत्रापि बोध्यम् । इदमेव 'ध्रुवमि'त्योनेनो-क्तम् । एवमेकेन 'केचिन्नेवत्ये'त्यादिश्लोकद्वयनात्पर्यगुक्तम् । ये पुनर्भक्तेः सहकारित्वं ज्ञात्वा कर्मणि ज्ञाने वा पापनाशाद्यं प्रवर्त्तन्ते तादृशां ताभ्यां सावशेषः पापक्षयः । तदैतद् 'अन्येषां'मित्यर्द्धनोक्तम् । तेन 'विमर्शनमि'त्यादिकथनस्यैकं तात्पर्यगुक्तम् । ये पुनः सहकारित्वमपि न मन्यन्ते तेषां केवलेन कर्मणा पापनाशः कुञ्जरस्नानवदपार्थः । तत्र हेतुः अधमानामित्यादि । ये पुनः शुष्कज्ञानिनो 'येऽन्येऽरविन्दासे'त्यादिषुक्तास्तेषां शून्यैः साङ्गेन केवलज्ञानेन नाशोऽपि पुनः प्ररोहः पापस्य, अपथ्याशने रोगस्येव । तदैतद् देहात्मबुद्धावि'त्येकेनोक्तम् । एवं 'बेषुगुल्म-मिवाऽनिल' इत्यन्तस्य द्वितीयं तात्पर्यं विद्वन्म । तेन विमर्शनस्य प्रायश्चित्तबोधनं स्ववस्थाद्वयबोधनार्थेति बोधितम् । ननु भक्तेर्माहान्ये वक्तव्ये 'तत्पुरुषनिषेधे'ति 'सुशीलाः साधवो यत्रे'ति मन्थे भक्तनिवेशस्य किं प्रयोजनमत आहुः—पश्चादि-त्यादिद्वयम् । तथा च तत्पुरुषेत्यादिसपादः श्लोको येषामजायिलादिसदृशां प्रति बन्धवाहुल्यं तेषां ह्यारापेक्षाया आवश्यकत्वात्तत्र इत्यर्थः । फलितमाहुः—मर्यादये-
 १ कश्चित् । २ तिरोहितम् । ३ कृतार्थस्तु ।

अतस्तदपवादाद्यं पुष्टिर्मृगया विशेषतः ।
 प्रायश्चित्तप्रसङ्गेन ततः पुष्टेरुपक्रमः ॥२६॥
 नामोच्चारणकर्तारस्त्रिविधा अधुना मताः ।
 प्राकृताः पापनाशस्तु तेषां फलनिरूपणम् ॥२७॥
 यथाकथञ्चिन्नाम्नाऽपि सर्वपापक्षयः सदा ।
 अन्ते तु मुक्तिर्नियता नान्यथाभयहीनतः ॥२८॥
 विवेकिनस्तु द्विविधा भक्ताः साधारणास्तथा ।
 भक्तानां भक्तिरवैषा पुष्टिरन्येषु संस्थिता ॥२९॥
 ते ज्ञेयाः सेवका विष्णोः स्वार्थं तेन तथा कृताः ।
 ये विवेकेन नामानि नित्यमुच्चारयन्ति हि ॥३०॥

प्रेमयुक्तास्तु तत्रापि दासभावात्पदच्युताः ।

त्वेकेन । उक्तं व्यवस्थितिसुपसंहरन्ति—प्रायश्चित्तोत्पत्तेर्न ११२२०१२१२२२३१२४।
 १२५।२६। एवमष्टाभिरुपक्रममकारः समर्थितः । अतः परं मूले 'सिद्धा येऽधिकारिणो'
 'भगवत्सेवका ये त्वि'त्यादिनोक्ता यत्र तेषां फलशुक्तं तदुभयस्वरूपशुचरग्रन्थे सिद्ध-
 मिति तद्विद्वन्व्यधुनातानानां केषाञ्चिन्नामोच्चारणेऽयुक्तफलाभावाद्वायमानं सन्देहं च
 वारयन्ति नापेत्यादिभिः सार्द्धैः पङ्क्तिः । अधुना नामोच्चारणकर्तारः प्राकृताः पृथ-
 ग्गृह्णा अधमास्तेऽपि सात्विकादिभेदेन त्रिविधास्तेषां तु उभयहीनतः ज्ञानभक्तयो-
 र्हीनत्वादित्यथाफलनिरूपणम् । तदाहुः—नाम्नाऽपि यथाकथञ्चित्पापनाशः सदा
 स्वर्षपापक्षयः । अन्ते पापक्षयोत्तरं नियता मुक्तिर्नेति तामसराजससात्विकक्रमेण
 बोध्यम् । एतेन 'तत्पुरुषनिषेधे'त्यारभ्य 'चीर्णेनिष्कृता' इत्यन्तस्य तात्पर्यगुक्तम् ।
 अविश्वासदोषाभिभूतानां साधुसङ्घे यथाकथञ्चित्पापनाशो भगवद्भक्तसेवायां तथा सदा
 सर्वपापक्षयः । तत्सहादिना सकृद्भगवत्भरणे मनोनिवेशेन यमयाभ्यादर्शनम् ।
 असकृन्निवेशेन तु मुक्तिरिति । अत एव नैयत्याभाव उक्तः । उच्यमानमयमोराहुः—
 चिवेकिन इत्यादि । अन्येष्विति साधारणेषु । तेषां स्वरूपं द्विधेति द्वाभ्यामाहुः—
 त इत्यादि । चिवेकेनेति । तत्तद्गुणकर्षवशिष्टस्य स्वरूपस्य नामन्थात्सङ्घसिद्धिदा-

पुनर्दासा भविष्यन्ति भक्तिमार्गो न तेषु चेत् ॥३१॥

गुणानुवादनिरताः सेवायां वा प्रतिष्ठिताः ।

भक्तास्तेऽत्रावगन्तव्या रसिकाः कामवर्जिताः ॥३२॥

इह वश्यो हरिर्भूत्वा सायुज्यं यच्छते बलात् ।

मनोनिवेशानं ध्यानं पूजायामपि तन्मतम् ॥३३॥

प्रायश्चित्तं तु तच्चापि नाम्नीवाऽस्य च निर्णयः ।

अजामिलस्य चरितं पूर्ववृत्तं तु शुद्धये ॥३४॥

शुचीनां श्रोमतां गेहे जन्मवज्जन्म तस्य तु ।

कलिशक्तिस्तु सा दासी गुणास्तस्य नवाऽऽत्मजाः ॥३५॥

नन्दात्मकज्ञानेन । दासा इति वहिर्भूत्सेविकाः । भक्तिमार्गं इति । 'श्रद्धामृत-
कषायां म' इत्यादिनोक्तपरिचर्यानिर्वाहः । १२७२.८।२९।३०।३१।

भक्ता द्विविधास्तेषां साद्धेन स्वरूपमाहुः—गुणेत्यादिना । 'सकृन्मन' इत्यत्र
मनोनिवेशनस्यैव प्रायश्चित्तत्वमुक्तमिति प्रकरणान्तरस्थयोर्ध्यानपूजयोरपि तस्य तथा-
त्वादेतं निर्णयं तत्राऽप्यतिदिशन्ति मनोनिवेशनमित्यादि । समयत्नश्चित्तव्यापारो
ध्यानमितिरूपप्रकरणे तस्यैव सत्त्वात्पूजायामपि तस्यावश्यकतया सत्त्वावदुभयमपि तथेति
तत्राऽप्यधमसाधारणभक्त्याः समेदास्त्रिविधा अधिकारिणः सत्सद्वादिरूपं द्वारं
पापनाशप्रकारादास्यसायुज्यरूपं फलं च नाम्नीव तत्रापि यथायथमुपक्रमबलादवगन्त-
व्यमित्यर्थः । एवं प्रश्नोत्तरयोस्तात्पर्यं निर्णयाऽजामिलपूर्ववृत्तिरूपणादितात्पर्यं
निर्णयन्ति—अजामिलस्येत्यादि । श्रुक्ष्य इति पूर्वजन्मीनश्रुद्धिज्ञापनार्थम् । ३२।
।३३।३४। कलिशक्तिरित्यादि । 'नायुद्धे कलिं सम्राट् सारङ्ग इव सारङ्गम् ।
कुशलान्याशु सिद्धयन्ति नेतरणि कृतानि यदि'ति प्रथमे । 'कलिं समाजयन्त्याप्यां
गुणज्ञाः सारभागिनः । यत्र सङ्कीर्तनेनैव सर्वैः स्वार्थोऽभिलभ्यत' इत्येकादशे एवं
द्वादशे च स्कन्धे कलियुगानामुक्तत्वात्सद्गुरुणा या शक्तिः सा दासी, गुणास्तस्य
नवात्मजाः (बन्धकत्वात्चेन) दशमो गुणतीतावस्थाकल्पः मोक्षप्रयोजकत्वादन्ये च
बन्धप्रयोजकत्वादिति कार्यबलादनुमेयमित्यर्थः । ३५।

* ऽचलम् । ? मूलपुस्तके नास्तीदम् ।

पित्रादिभिरसम्बन्धो धनेन भजनं पुनः ।

सर्वभावेन तस्या वै यता मोक्षस्ततोऽभवत् ॥३६॥

गृहस्थितौ तु पितृवत्तस्याऽपि स्याद्भवे गतिः ।

सर्वभावेन यत्रैव सेवा तेनैव सद्गतिः ॥३७॥

सुतरां पुष्टिमार्गे हि सिद्धान्तोऽयं विनिश्चितः ।

शुक्ले मलिनसम्बन्धो महानिति यमानुगैः ॥३८॥

धर्माधर्मौ विनिर्णीताव्रीश्वरेच्छां न ते विदुः ।

पुष्ट्यभावस्ततः सिद्धः पूर्वपक्षोऽयमीरितः ॥३९॥

वेदप्रामाण्यसिद्ध्यर्थं नाममाहात्म्यमुत्तरे ।

पित्रादिभिरसम्बन्ध इति । अजामिलस्येति शेषः ।

पितृवदिति । अजामिलपितृवत् । भव इति संसारे । ननु तादस्यास्तथाभजने
कथं सद्गतिप्रयोजकत्वत आहुः सर्वभावेनेत्यादि । इदं पात्रे पातालखण्डे वैशाख-
माहात्म्ये दिवोदासपुत्र्या उपाख्याने प्रसिद्धम् । सा पूर्वजन्मनि महाव्यभिकारिणी ततः
शंभुपत्नीभूत्वा पश्चात्किञ्चिद्वाक्षणमतिथिं पत्नीभूत्वा सर्वभावेन प्रतीप्य तत्सङ्गेन राज-
कुमारी भूवत्, ततः कृतार्था चेति कश्चिद्भयभिकारमाशङ्क्यमाहुः—सुनरामित्यादि ।
महानिति अत्यन्तं पापजनकः । तत इति मलिनसम्बन्धात् । ईरित इति प्रथमाध्याये
उक्तः । एवमेकध्विंशतितिः प्रथमाध्याये विचारितः । ३६।३७।३८।३९।

(अ. २) अतः साद्धेनेवभिक्षितोयाध्यायार्थं विचारयन्ति—वेदप्रामाण्येत्यादि ।
ननु धर्मस्य यत्क्षणानि यमदूतेरुक्तम्, तस्य विष्णुदूतेरदूषणात्तस्य सर्वं तेषां सम्मतम्,
प्रायश्चित्तस्यैव दूषणात्तदंश एव परं विवादः, तत्र नाममाहात्म्यबोधनेन प्रायश्चित्ता-
ज्ञानहीकाराद् वेदे च 'सर्वं पाप्मानं तरति तरति ब्रह्महत्यां योऽप्यभयेन यजत'
इत्यादिषु कर्मणां प्रायश्चित्तत्वबोधनात् तदनङ्गीकारे वेदस्यांशतः प्रामाण्यहासिनिसङ्घः,
तथा सति अन्यांशेष्यनाशासमसङ्ग इत्याशङ्कानिरासाय नाममाहात्म्यकथनेपि प्रामाण्य-
सिद्धिषुपपद्यन्ति वेदप्रामाण्येत्यादि । नृत्तरग्रन्थे वेदान्मनोऽप्यदर्शनात्स्वयुत
'नाथमेतं तद्बुद्धय'मित्यनेन तस्य न्यूनत्वबोधनाच्च विपरोतं प्रतीयत इति कथयेव-

? शम्भली=कुट्टनीशम्भलीसने इत्यमरः ।

स्कन्धार्थेन विरोधः स्यादन्वयात् तन्मतान्तरम् ॥४०॥
नामार्थयोरभेदो हि वेदोऽपि हरिनाम हि ।
नामानि कृत्वाऽभिवदन्निति वाक्यात्प्रतीयते ॥४१॥
वेदवेदार्थरूपत्वाद्नामैवाऽखिलशोधकम् ।

मगम्यत इत्याकाङ्क्षायामाहुः—स्कन्धेत्यादि । सिद्धान्ते वेदोक्तप्रायश्चित्तस्य यदि सर्वथा हेतुत्वाभिमेता स्यान्मार्गादास्कन्ध एव तथा सिद्धान्त उच्येत 'केचित्केवलये'-
त्यत्र मतान्तरत्वशोधकं केचित्पदं च नोच्येत । अतो भगवदनुग्रहभाजामेव तत्तपेति
वैदिकादिप्रायश्चित्तशास्त्रस्यान्यत्र सावकाशलाभ वेदे आधिक्यमाप्यस्यापि हानिरित्यर्थः
॥४०॥ नन्वेवं सत्यानर्थक्ये प्रमाणानां विपरीतं बलाबलमिति न्यायेन प्रवृत्तिलाहोचे
न्यवस्थितविकल्पापत्त्या दोषद्वयापत्तिस्तु दुर्गर्भित्येत आहुः—नामैत्यादिसाधये ।
अयमन्वयः । वेदस्य प्रामाण्ये हि न शब्दत्वादिकं तन्त्रम्, किन्त्वर्थात्त्वयत्वं वा ईश्वर-
निःश्वासत्वम् ईश्वरवाक्यत्वं वा तन्त्रम् । तत्रार्थरूपेयत्वं तावत् 'वाचा विरूपनित्यये'ति
'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' 'एकमेवाद्वितीय'मिति श्रुत्येकवाक्यतापूर्वकं विचारे
'वेदो नारायणः साक्षात्स्वयम्भूरिति श्रुश्रुम' इति वाक्योक्त ईश्वरामेदे पर्यवस्यति ।
तस्यापिस्तु भगवानेव 'सर्वे वेदा यत्तद्व्यापनन्ती'ति 'मां विधत्तेऽपिधत्ते मा'-
नित्यादिश्रुतिभगवद्वाक्याभ्याम् । हिंतीति अतो हेतोः नामार्थयोरभेदः । किञ्च हि यतो
हेतोः 'बहुस्या'मितीच्छया स्वयं 'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः नामानि
कृत्वाऽभिवदन् यदास्त' इतिश्रुतिवाक्याद् येषु येषु रूपेषु यानि यानि नामानि
नियतवान् तानि वैदिकान्येव छट्पादादीं शब्दान्तरस्याभावात् । अतो वेदोऽपि हरिनाम ।
एवं सति वेदार्थरूपेयत्वविचारे हरित्वं हरिनामत्वं च प्रामाण्ये तन्त्रमिति सिद्धयति ।
एतानि नामासत्त्ववाक्यलक्षणयोरपि ईश्वरः स्वान्तिकं कं वा नक्षतीत्यभेदवादाद्यनु-
साराच्चेव तन्त्रम् । एतावान् परं विशेषः । वेदोक्तानां कर्मादीनां रूपाणां 'प्रजायेय'
तीच्छया शक्तिविक्षेपकरणात्प्रतिनियतकार्यकर्तृत्वेन तत्त्वत्वापनितैकत्वमेव न तु सर्व-
निवृत्तैकत्वं येषां च सर्वनिवारकत्वं तेषामपि न हृदयवाचनत्वमिति यथायथं फलवाक्य-
बलात्प्रत्यक्षबलाबावसीयते । भगवन्नाम तु शक्तिविक्षेपरहित्येन वेदवेदार्थरूपत्वात्पूर्णे-
न्यवस्थेयत्वविलशोधकम् । अतो नाममाहात्म्यं प्रामाण्यनियामकीभूतवैदिकरूपनिश्चाय-
कमिति वेदप्रामाण्यसिद्धयर्थमेव । न च 'न्यवस्थितविकल्पापत्तिः', अत्राज्ञाबाधस्य इव
वैषम्यतोमादिविधायकवाक्यानां प्राक्षणेपि चानुसृष्टीतेष्वधिकारस्य भिन्नतया तत्राक्य-

तदध्येतुध्यानसिद्धं प्रायश्चित्तं तु दुर्बलम् ॥४२॥
ज्ञानं स्वभावतो भिन्नं मतभेदास्ततोऽभवन् ।
वेदार्थस्याऽपरिज्ञानाल्लौकिकं चाऽन्युपेक्षते ॥४३॥
लोकसङ्ग्रहभेदानां नाऽन्यथा कथनं भवेत् ।
वक्तुरेवार्थसन्देशप्रदायश्चित्तं न तन्मतम् ॥४४॥
यमादिसाधनैर्युक्तं ज्ञानं संन्याससंयुतम् ।
प्रायश्चित्तमशक्यत्वात् सर्वेषां तु तद्भवेत् ॥४५॥
वस्त्रं दहति यो ह्यग्निः स न वस्त्रस्य शोधकः ।
तथा ज्ञानं न सङ्कृतशोधकं त्याजकं परम् ॥४६॥
अशक्यं साधनं चैव मोक्षपर्यवसायि च ।

भट्टचेरेनाभावादिति । ननु यथेवं तदा वेदार्थद्रष्टृभिर्ऋषिभिः साधारणतयोकस्य
प्रायश्चित्तस्य का गतिरित्यत आहुः—तदध्येत्रित्यादि ॥४२॥४३॥
कुत एवं निश्चयमित्यत आहुः—ज्ञानमित्यादिचरणत्रयम् । तदुक्तमेका-
दशस्कन्धे भगवता 'कालेन नष्टा प्रलय' इत्यारभ्य 'यथा प्रकृतिसर्वेषां चित्रा वाचः
अवन्ति हीत्यन्तेन । 'लोकसङ्ग्रहेवापि संवश्यन् कर्तुमर्हसी'ति भगवद्वाक्यमनुसृत्य
तेकथने हेसन्तरमपि सङ्गृह्यन्ते—लौकिकमित्यादिप्रादानेन । तथा च भगवदित्छा-
ज्ञातरस्ते वेदार्थं ज्ञाताऽपि लौकिकानामर्थं तद्भदन्तीति साऽन्येका गतिरित्यर्थः ।
तर्हि शिष्टादराक्षयैव प्रायश्चित्तमस्त्वित्यत आहुः—वक्तुरित्यादि । अर्थसन्दे-
हादिति वेदतात्पर्यनिश्चयाभावात् ॥४३॥४४॥

नन्वस्तु नाम्नः शोधकत्वं कर्मापेक्षयाऽऽधिक्यं च, तथापि ज्ञानेनेदं
विकल्पताम् 'यथेषां सति सिद्धोऽग्निभस्मसारकुठोऽर्जुन । ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि
भस्मसात्कुठवे तथे'ति भगवद्वाक्ये तस्यापि निःशेषतापदाहकत्वकथनादित्यत आहुः—
यमादीत्यादिसाधिकं त्रयम् । तथा चानेकसाधनसापेक्षत्वाद्देहनाशकत्वाद् इदानीं
तदपेक्षितमुद्भि विरहेणाशक्योदयत्वादेयोदाहृष्टान्तेन सावशेषनाशकत्वाद्देदीकत्वेन
त्रैविकर्मात्राधिकारकत्वाच्च न तेनाऽन्यस्य विकल्प इत्यर्थः । नन्वस्त्वेवं तथापि
वेदत्वेन ज्ञाताज्ञानपूर्वकशुभारितादेव नान्दन्तस्या फलं भवेत्, न तु यथाकथञ्चि-
१ अशक्यत्वात् । २ ऋषिभिः साधारण्येन प्रायश्चित्तकथनेन ।

शुद्ध्यभावात् तस्तिद्धयेद्वासनाऽपि विशिष्यते ॥४७॥

वेदोक्तं तदपि प्रोक्तं नाम वेदात्मकं हरेः ।

अन्यत्राऽपि व्यवहृतमवतारचतुष्टयम् ॥४८॥

अतः पुत्रोपचारेऽपि तद्वस्तु निखिलाद्यनुत् ।

धर्माधिकारी यदि तन्न मन्येत कथञ्चन ॥४९॥

तथा बलात्तथोक्तं स्यादिति जायेत संशयः ।

यमवाक्येन तद्दाढ्यर्थं प्रमेयबलमीरितम् ॥५०॥

अगस्त्यः शिवभक्तोऽपि तथा तस्त्रमुवाच ह ।

परकीयमुखास्तोत्रं सत्यमेवेति निश्चितम् ॥५१॥

मिथ्याप्रलोभनाच्चाऽत्र पूजया विनिवार्यते ।

तस्याऽपि हरिमाहात्म्यश्रवणात्पूजने मतिः ॥५२॥

यमदूतभयात्सिद्धं प्रायश्चित्तमिदं दृढम् ।

दुकादत औपचारिकस्य कथं फलसाधकमित्याकाङ्क्षायामाहुः-प्रोक्तमित्यादि । हरेर्नाम वेदात्मकं मोक्तं प्रकर्षणोपपत्तिपूर्वकमुक्तम् । अन्यत्रापि 'वेदाक्षराणि यावन्ति पठितानि क्षिजातिभिः । तावन्ति हरिनामानि कीर्तितानि न संशय' इत्यत्र वेदाक्षराणां हरिनामस्तबोधनाच्चाग्नां वेदात्मकत्वमुक्तम् । एवं शास्त्रान्तरेऽपि । किञ्च 'नाम्नां मुख्यतरं नाम कृष्णाख्यं यत्परतप । प्रायश्चित्तमशेषाणां पापानां मोचकं पर'मित्यादिषु सहस्रनामाष्टोत्तरशतनामादिषु च तथा स्मरणाच्छास्त्रान्तरेऽपि प्रायश्चित्तत्वं नाम्नां व्यवहृतम् । किञ्च 'अवतारचतुष्टयम्' यथाऽवतीर्णा भगवान्-चिन्त्यकार्यकर्ता तथा नामापि वात्मीक्यादौ शबरदेशेऽपि ब्राह्मणत्वादिकरणात्प्राचक्ष्मन्तः पुत्रोपचारेऽपि तथैत्यर्थः । एवं सार्द्धैर्नवभिद्धितीयार्थायां विचारितः । ४५।४६।४७।४८।

अ. ३ अतः परं चतुर्भिस्तृतीयार्थायां विचारयन्ति-धर्मैत्यादि । धर्माधिकारीति कर्षणदः । बलादिति श्रद्धाविशेषजनितादायमाह । तद्दाढ्यर्थमिति । प्रायश्चित्तदाढ्यर्थम् । तदिरितं प्रमेयबलमीरितम् । चकारमध्याहृत्य योजना ॥४९॥५०॥

एवं यमवाक्यसम्बन्धादात्पार्थमुक्तम् । अगस्त्योक्त्यादितात्पर्यमाहुः अगस्त्य इत्यादिद्वयम् । अध्यायत्रयसिद्धमर्थमाहुः यमदूतेत्याद्यर्थम् । एवं सार्द्धैर्नवतारिर्षिभिः प्रथमप्रकरणार्थो विचारितः ।

दक्षे प्रसादस्तपसा तत्पुत्रेषु तु बोधतः ॥५३॥

तत्कन्यासु जगद्दृष्ट्यै त्रेधाऽनुग्रह ईरितः ।

सत्त्वेन तमसा वाऽपि रजसा चेति स त्रिधा ॥५४॥

त्रिविधोऽपि हरिस्तोषोः विश्वरूपार्थमिरितः ।

तस्मिन् सर्वं सुसम्पन्नमिन्द्राय प्रददौ हरिः ॥५५॥

अतः स्थानस्वरूपस्य गुरोरत्र निवारणम् ।

अथ द्वितीयं ध्यानप्रकरणम् । अतः परं सार्द्धैस्तत्रिंशद्भिर्द्वितीयं प्रकरणं विचारयन्ति दक्ष इत्यादि । तत्रेदं रूपप्रकरणम् । अत्र हि ध्यायमानं रूपं पुष्टेर्व्यापारः पूर्वप्रकरणे उच्चार्यमाणं नामैव । पूर्वेन मनुष्या इवात्र देवाः पुष्ट्याधिकारिण इत्यधिकारिविचारेण देवप्रकरणमिदमिति तानत्र स्फुटीकुर्वन्तोऽनुग्रहेऽपि विशेषमाहुः-दक्ष इत्यादि । तथा च दक्षे तत्पुत्रेषु च साधनद्वारकस्तत्कन्यासु स्वकार्याय इति प्रकारभेदाद् द्विविधोऽपि प्रयोजकभेदाच्चैत्यर्थः ॥५३॥५४॥५५॥

तत्रापि हेतुमाहुः-सत्त्वेनेत्यादि । सेति पुष्टिः । वाञ्छन् एवकारार्थं उभयत्र अपिः सत्समुच्चार्यकः । ईरित इति । एवमत्राध्यायत्रये ईरितः, दक्षस्यैव जन्मान्तराश्रवणादुपेण मोक्षदः प्रथमे ईरितः । द्वितीये हर्षश्चादीनां संसारभावबोधना-द्रसेनान्द्रदायक ईरितः । तृतीये तत्कन्यानां वैभक्त्यनाद्वैत्येन भक्तिद ईरितः । स्त्रीणां सन्तानदातृत्वं महादात्मज्ञानपूर्वकस्नेहादिति तथैत्यर्थः ॥५४॥

अग्रिमाध्यायविचारेण तस्य मुख्यं प्रयोजनमाहुः-त्रिविध इत्यादि । एतेन तस्यावान्तरप्रकरणित्वं बोधितम् । तत्र ज्ञापकमाहुः-तस्मिन्सर्वं सुसम्पन्नमिति । विश्वरूपे तपो ज्ञानं जगद्भित्तिं त्रयं सुतारो सम्पन्नं तस्मात्तदर्थं इति ज्ञापत इत्यर्थः । ननु यथेवं विश्वरूपे प्रसादस्तदा तस्य वयः कुत इत्याशङ्क्याभिकं भगवतः कार्यं बहार्थानां च साधकमिति न्यायेनाग्रिमाध्यायार्थमाहुः-इन्द्रायेत्यादि न रक्ष्यत इत्यन्तेन । तत्र पूर्वं तदुपपादानयेन्द्रे तथा प्रसादं तत्कार्यमुत्सेन स्फुटी-कुर्वन्ति इन्द्रायेत्यादि । यत उक्तं त्रयं हरिरिन्द्राय प्रददौ प्रकर्षेण साधनं विनैव ददौ, अतोऽत्र प्रकरणे पुष्टिज्ञापनार्थं मर्यादारूपस्य गुरोर्वृंहस्यतेवौरणमनादर उच्यते इदं कार्यं पुष्टिज्ञापकमित्यर्थः । ननु मूले 'इन्द्रविश्वनेवर्षमदोह्नुत्तसत्यम्' इत्यादिनेन्द्रस्वामर्यादात्वं गुरोश्च विरोभावो ब्रह्मणा देवानां भर्त्सनकरणं चोक्त-
* तत्पृष्ठा ।

पुष्ट्यर्थं भगवद्भयानादिन्द्रो मर्यादा ईरितः ॥५६॥
 सर्वज्ञत्वाद्गुरुश्चापि हरिः प्रीत्यै तिरोदधे ।
 मर्यादास्थां यतो ब्रह्मा न गुरोर्गमनाः सुखी ॥५७॥
 सोऽपि ज्ञात्वा हरेः कार्यं विश्वरूपमुवाच हि ।
 आधिभौतिकदुःखादि विशिष्टस्तदनन्तरः ॥५८॥
 अतो बृहस्पतिगतौ तूर्णोभावो वरः स्मृतः ।
 पुष्टिः स्वार्था ततः कोऽपि न सुखं विन्दते चिरम् ॥५९॥
 अतो न ब्रह्मवाक्येन क्षमां चक्रे गुरोः कृतौ ।
 विश्वरूपोऽपि हरिणा हतः कवचदानतः ॥६०॥
 दैत्यत्वगन्धमात्रं च भगवान्नाऽत्र मन्यते ।

मिति गृहनिवारणस्य कथं पुष्टिप्रापकत्वमित्यत आहुः-भगवद्भयानादित्यादि ।
 तत्र ज्ञापकद्रव्यमाहुः-सर्वज्ञत्वेत्यादि । तथा च यद्यत्र भगवद्भयानात् हेतुर्न, स्यात्
 गुरुः शपेदेव न तु तिरोभवेत् । ब्रह्मापि भर्त्सयित्वा गुरुमेव प्रदर्शयेत्, न तु विश्वरूपं
 गुरुर्यं वदेत् । अस्तद्व्यकरणे तत्कारणाच्चेदं द्रव्यं तस्य (अमर्यादत्वस्य) पुष्टिकार्यत्वात् प्रापक-
 मिति तत्कृतं गुरोर्नादरणमपि तथेतीन्द्रेऽस्ति प्रसाद इत्यर्थः । एवमिन्द्रे प्रसादद्वयप्राप-
 यत्विश्वरूपपद्मपदादयि तु तस्मिन्ननुग्रहं वदयितुं य-ननु यदीन्द्रेऽनुग्रहस्तदा यथा दक्षेण
 ब्रह्माज्ञा सृष्ट्यर्थमज्ञीकृता, तथा 'यदि क्षमिष्यन्ममृताऽस्य कर्म'त्युक्ता कर्मक्षमाज्ञा इत्येव
 कुतो न कृता । किञ्च, ब्रह्मा सर्वज्ञोऽपि भाविने विश्वरूपस्येन्द्रस्य च यथापथं
 मरणं क्लेशं च जानन् कुतो विश्वरूपं गुरुर्यं द्रव्यत्वात्त्यागज्ञानमनुदन्ति-आधि-
 भौतिकत्वादि । तदन्तरमिति । आध्यात्मिको हत्याजनितश्च क्लेशः । अतो यद्यपि
 तूर्णोभावः श्रेष्ठस्तथापि पुष्टिः स्वार्था जीवार्था, ततो जीवार्थाया तस्याः सक्ताश-
 क्तोऽपि चिरं सुखं न विन्दते । अत इन्द्रो ब्रह्मोक्तं न कृतवान् ब्रह्मापि सम्भाव-
 नयैव ज्ञानोक्तवानित्यर्थः । ननु भवत्सिद्धमेवं तथापि विश्वरूपेऽपराधाभावात्कथं तद्वच
 इत्यत आहुः विश्वरूपोऽपीति । 'तां प्राह स महेंद्राय विश्वरूप उदारधी'रिति
 मुले विश्वरूपविशेषणादनभिधेयकारित्वात्तद्वच इत्यर्थः । नन्विन्द्रस्याऽनुग्रहीतत्वेन तस्यै
 कवचदानं न दोषावहमित्यतो हेत्वन्तरं सादृश्विभिराहुः दैत्यत्वेत्यादि । अत्रेति ।
 पुष्टौ । अत इत्यध्याहृत्य योजना । अथैस्तु प्रकट एव । एवमत्राध्यायद्वयार्थ उक्तः ।

विद्यमाने हि कवचे सानुभावे च तद्वचः ॥६१॥
 पुष्टौ हरीच्छया जातो विश्वरूपस्त्रिरूपधृक् ।
 देवो दैत्यो मनुष्यश्च मनुष्यत्वं पुरा स्थितम् ॥६२॥
 पौरोहित्ये देवभावो बृहस्पतिसमत्वतः ।
 अन्यथा यज्ञकरणं दैत्यभावस्य लक्षणम् ॥६३॥
 अतस्त्रिगुणसंयुक्तो विश्वरूपो न रक्षयते ।
 पुष्टिर्न दिरूपा हि मर्यादापुष्टिभेदतः ॥६४॥
 विश्वरूपस्तु मर्यादा द्वितीयो वृत्र उच्यते ।
 भक्तोऽपि देवद्रोहेण वर्तते विषयो यथा ॥६५॥
 अतस्तु मारणीयो हि कण्टकन्यायतः परम् ।

(अ. ९) अतः परं नवमस्थार्थं विचारयन्ति तत्रैवं देवप्रकरणमिति दत्तादि-
 विश्वरूपान्तेषु इन्द्रे च पुष्टेरुक्तत्वात्तत्रैव प्रकरणसमाप्तिरुचिता । अग्रे वृत्र-
 कथायाः किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायामाहुः-(तत्र ध्यानधयेयं सम्बन्धेनैव फलजन-
 कत्वात् । ध्यातृरूपमेव व्यापारः । तत्रारम्भे दक्षतपवक्तव्येऽपि न केवलेन तोषः ।
 किन्तु ईसगुणस्वजनयुक्तेन स्तोत्रकथनेन प्रस्तुत्य 'कल्यास्तु' इत्येतो हरि'रिति तत्रोक्तेः ।
 अग्रे च स्तुवतो रूपं प्रदर्शितवानिति ध्याने तदेव व्यापारः । उपक्रमे प्रतिपादना-
 त्तथैव प्रकरणित्वं तस्य रूपेण मोक्षदत्त्वं च दक्षस्य पुनर्जन्माकथनात् । रसेनान्ददायकत्वं
 च हर्षस्वादीनि । पुष्टिर्नरेत्यादि । अत्र स्कन्धे उक्तोत्था द्विप्रकारा पुष्टिर्हि यतो
 हेतोर्विभक्तिना अतो हेतोस्तत्कथाऽत्रोच्यत इत्यर्थः । मर्यादैति मर्यादापुष्टः द्वितीय
 इति पुष्टः ॥६४॥

ननु यद्ययं पूर्वापेक्षयाऽधिकानुग्रहभाजनं तदा मारणं कुत इत्यपेक्षायामाहुः-
 भक्तोऽपीत्यादि । तथा च भक्तिविरुद्धस्वभावनाशनाय मारणमित्यर्थः ॥६५॥
 तर्हि मर्यादापेक्षया को विशेष इत्यत आहुः-कण्टकेत्यादि । यथा हि
 पादे लज्जः कण्टको व्यथां सोद्व्याऽप्येति सुखार्थं बलाद् दूरीक्रियते तथैत्येव विशेष
 इत्यर्थः । तदिन्द्रमिन्द्रवृत्रसम्प्रादे स्फुटति । नन्वस्त्वेवं तथापि मध्ये दधीचिचप्रकथनस्य किं
 ? अपि () * चिन्हात्तर्गतं मूलग्रन्थे नास्ति । २. अथो हरे मे कुलिशेनेत्यादिना ।

पुष्टौ कर्मा तथा ज्ञानी भक्तोऽपि विनिपात्यते ॥६६॥
 अतः पुष्टिं विलोक्यैव सर्वमार्गंरतो भवेत् ।
 विश्वरूपो दधीचिश्च वृत्रश्चेति हता यतः ॥६७॥
 इन्द्रे ह्यनुग्रहः पूर्वं तद्विरोधाद्धता इमे ।
 सर्वेषां सर्वधर्मा हि हरिप्रोत्यनुगा यतः ॥६८॥
 अतोऽनुग्रहसिद्धयर्थं हरिमेव समाश्रयेत् ।
 विश्वरूपे षडध्यायास्तस्मिन् यावाननुग्रहः ॥६९॥
 तमिन्द्राय ददौ कृष्णः सप्तमेऽतो वधः कृतः ।
 साक्षाद्धस्तद्वये घातस्ततः पापं करद्वये ॥७०॥

प्रयोजनमत आहुः पुष्ट्यादित्यादि सार्द्धम् । तथा च पुष्टेर्बलिल्लक्षणमेव मार्गान्तराव-
 लोकरनक्षणं च प्रयोजनमित्यर्थः ॥६६॥६७॥

शिक्षणस्यापि प्रयोजनं भगवति दोषारोपाभाव इति हृदि कृत्वाहुः इन्द्र
 इत्यर्द्धम् । तथा च भगवान् स्वपूर्वविचारितानुरोधेन करोति, भक्तादिभारणमपि तस्य
 दितार्थैव दोषनिवृत्तये करोतीति बुद्धौ यो यो यन्मार्गीयस्तस्य तस्य तत्र तत्र रति-
 निवृत्तिप्रयोजनमित्यर्थः । ननु वधेन दोषनिवृत्त्या हितसिद्धिर्विश्वरूपवृत्रयोः सिद्धा
 दधीचेस्तु दोषाभावात्तस्य किं वधेन सिद्धम् । किञ्च, उक्तशिक्षा जितवधकथया सिद्धा
 न तु केवलदधीचिवधकथयेति तस्याः पृथक् प्रयोजनमत आहुः-सर्वेषामित्यादि ।
 हरिप्रोत्यनुगा इति हरिरीतिर्येवसाधिनः । तथा च भगवद्विचारितकरणा-
 दधीचेभ्यस्त्वतीतिरेव सिद्धा । तथाऽऽनन्दपूर्वकस्वदेहदानकथया आत्मना भगवद्विचा-
 रितकार्यकरणसिद्धयर्थं भगवदाश्रयणं कर्तव्यमिति शिक्षणं सिद्धमिति तस्यास्त-
 त्वयोजनमित्यर्थः ॥६६॥

एवं वृत्रप्रकरणप्रयोजनं त्रिचार्थं विश्वरूपप्रकरणीयाध्यायसङ्ख्यायमयोजनमाहुः-
 विश्वरूप इत्यादि । विश्वरूपे हि षड्गुणाः पूर्णाः, वैराग्यं न्यूनं 'यातुस्नेहवशात्तुग'
 इतिवचनात् । ते भगवदनुग्रहरूपा एव, अतस्तस्मिन् यावान् अनुग्रहस्तं कृष्ण इन्द्राय
 ददौ । अतः षडध्यायाः, षष्ठ एव च वधः कृतो नो सप्तमे वैराग्यस्यापूर्णत्वादित्यर्थः ॥६८॥

एवं षडध्यायप्रयोजनमुक्त्वा तद्ब्रह्महत्याया हस्ताभ्यां ग्रहणस्य तात्पर्यमाहुः-
 साक्षादित्यादि । घातो हननं कार्यत्वेन हस्तद्वये जातम्, ततः पापं ब्रह्महत्यारूपं
 १ नो । २ तपः ।

आध्यात्मिकत्वात्तस्याऽपि सेवामिन्द्रश्चकार ह ।
 सम्बत्सरेणाऽऽत्मज्ञौचं निर्वन्धश्च गतो हरो ॥७१॥
 सच्चिदानन्दरूपेषु भ्रूवृक्षस्त्रीषु तन्मलम् ।
 स्थापयामास गोविन्दप्रसादान्ग्रन्थता तु तत् ॥७२॥
 एवमिन्द्रे प्रसादस्तु भूमिर्भक्तास्तथा द्रुमाः ।
 लक्ष्म्यंज्ञाश्च स्त्रियो भक्तास्तदनुग्रह ईर्यते ॥७३॥
 ततो वृत्रसमुत्पत्तिस्तं मोचयितुमादरात् ।
 सोमादाहवनीयस्य जन्म चक्रे हरिः स्वयम् ॥७४॥
 वेदप्रामाण्यसिद्धयर्थं स्वरभङ्गं चकार ह ।
 विद्याधरः शापदग्धस्ततो मुक्तिमवाप्स्यति ॥७५॥
 उच्छिष्टेषुसोमहवनान्मन्त्रदोषाच्च दैत्यताम् ।
 स्वाहेत्येव तु मन्त्रोऽत्र कामितस्याऽनुकीर्तनम् ॥७६॥

करद्वये अत्रलौ अगृह्यादित्यर्थः ॥७०॥

तत्स्थापनादिप्रयोजनमाहुः-आध्यात्मिकत्वादित्यादि । तस्य पापस्यो-
 प्रत्नात्सम्बत्सरेण तन्निर्वन्धासम्भवात्तत्कालमचिन्नदित्यर्थः । ह इति प्रसिद्धौ ।
 तस्य फलमाहुः-हरो इन्द्रे सम्बत्सरेण आत्मज्ञौचं जातं च पुनः निर्वन्धो ब्रह्म-
 हन्तत्वेनाक्रोशरूपोऽपि गतः शिष्टं यत्तन्मलं तद्द्रुम्यादीं स्थापयामास, तत्सर्वं गोविन्द-
 प्रसादादेव नान्ययेतीन्द्रे प्रसादबोधनायेदमनोक्तमित्यर्थः । ७१।७२।

भूमिस्तुरीयमित्यादेस्तात्पर्यमाहुः-भूमिर्भक्तेत्यादि । एवं चात्र वैदिक-
 पक्षोऽपि सङ्गृहीतो ज्ञेयः । तत्र भूम्यादित्रय एव ब्रह्महत्याविभागश्रावणात् । तेन
 तत्रापीदमेव तात्पर्यमेवमेव च स्वरूपं विश्वरूपादीनामिति बोधितम् । अत्र त्वप्स्वधिको
 ब्रह्महत्याविभागः, स चाधिकं तत्राऽनुप्रविष्टमिति न्यायान्न दोषावह इति । ७३।

एवं विश्वरूपप्रकरणं त्रिचार्थं वृत्रप्रकरणं विचारयन्ति ततो वृत्रेत्यादि ।
 आदरे गमकमाहुः-सोमादित्यादि । वधे बीजमाहुः-वेदेत्यादि । तन्मोचनायाय-
 सुपाय इत्यर्थः । स्फुटमग्रे । ७४।७५।७६।

१ उत्सृष्ट

अग्निहोत्रप्रक्रियायां तथा निर्णय ईरितः ।
 कर्मणोत्पादितो देहो ज्ञानेनैव विनश्यति ॥७७॥
 अतो दधीचेरस्त्राणि ज्ञानरूपाणि तद्वधे ।
 उतपत्तिप्रलयौ यस्य वेदमार्गेण तद्बुद्धि ॥७८॥
 भक्तिर्मुक्तिश्च तस्यैव सायुज्यं नाऽन्यथा भवेत् ।
 भक्तिमूर्तिमती तत्र देवरूपास्तु संस्थिता ॥७९॥
 तद्वधव्यतिरेकेण न सा निर्गन्तुमर्हति ।
 अतो हरिः सर्वदेवैः स्तूयते सिद्धभाषितैः ॥८०॥
 भक्तिलेशोऽपि न हरिः स्वयं हन्ति कथञ्चन ।
 देवार्थं ब्राह्मणास्त्राशस्तस्य दोषस्य वर्णयते ॥८१॥
 प्रचेतसां प्रसादश्च दक्षस्याऽपि तथैव च ।
 तत्स्तुतानां च निखिलो विश्वरूपे प्रतिष्ठितः ॥८२॥
 भक्त्या च तपसा चैव ज्ञानेनाऽपि स उच्यते ।
 आधिभौतिकरूपं तु त्रयमत्र निरूपितम् ॥८३॥

(अ. १०) दक्षमाध्यायतात्पर्यमाहुः—कर्मणोत्पादितो देहो ज्ञानेनैव विनश्यति । तत्रोत्पत्तिमारभ्यान्तं यदत्रोक्तं तत्सर्वं तद्विद्यतेऽपि तद्विद्यतेऽपि तद्विद्यतेऽपि । ७७।७८।

‘स्तूयमानो मुनिगणैरित्पलेनोक्ताया इन्द्रस्तुतेस्तात्पर्यमाहुः—भक्तिरित्यादिसाङ्गैः । ननु वृत्रहन्तं दोषनिवारणाय चेद्भागवता कुतो न कृतमित्यत आहुः—भक्तिलेशोऽपि न हरिः स्वयं हन्ति कथञ्चन । प्रयोजनान्तरमानुषाधिकमाहुः—देवार्थमित्यादि । ७९।८०।८१।

ननु पूर्वप्रकरणे दक्षादिषु प्रसादो विश्वरूपार्थमुक्तस्तर्हि तेषु न प्रसादस्तत्सत्फलमपि न तेषां भविष्यतीति शङ्कां साङ्गैस्त्रिविधैरयन्ति—प्रचेतसामित्यादि । अत्रेति प्रचेतःप्रभृतिषु । तथा च तपसा ज्ञानेन समुणभक्त्या आधिभौतिकस्तेषु ‘आध्यात्मिको विश्वरूप’ इत्युभयमपि युक्तमित्यर्थः । ८२।८३।

१ नान्यथा तु तत् । २ तु ।

आध्यात्मिकानां त्रितयं विश्वरूपे प्रतिष्ठितम् ।
 बृहस्पतिसमो ज्ञाने तपस्वी च निरूपितः ॥८४॥
 कवचस्योपदेशेन वैष्णवोऽपि निगद्यते ।
 तथा वृत्रेऽपि त्रितयं ज्ञानं भक्तिबलं तथा ॥८५॥
 आधिदैविकमेतद्वि सायुज्यं नाऽन्यथा भवेत् ।
 विश्वरूपवधात्पापमक्षयं तत्प्रतिष्ठितम् ॥८६॥
 आध्यात्मिकं ततोऽप्यथा वृत्रहत्या विशिष्यते ।
 तामसानामधिपतिस्तत्पापं हन्ति दुर्जयम् ॥८७॥
 ध्यानं तत्र निमित्तं हि वैदिकं चाऽप्यभीष्टदम् ।

एतन्नितयं वृत्रेऽप्यतिदिशन्ति—तथा वृत्र इत्यादि । विश्वरूप आध्यात्मिको वृत्र आधिदैविक इत्यत्र गमकमाहुः—विश्वरूपवधादित्यादि । वृत्रहत्यायास्तत आधिक्ये हेतुमाहुः—तामसानामधिपतिरिति । तथा च राज्ञो मूर्द्धावसिक्तस्य वयो ब्रह्मकाण्डरुरिति वाक्यात्तथेत्यर्थः । ततो ‘हरि’रित्यादाभ्य ‘विधृतपाप’ इत्यन्तेन सिद्धं तत्रात्रहेतुमाहुः—तत्पापमित्यादि । ध्यानं कर्तुं तत्पापं हन्तीत्यर्थः । ननु सति पापे ध्यानप्रतिबन्धः कुतो नाऽभूदित्यत आहुः—तत्र निमित्तं हीति । तत्र ध्याने लक्ष्मीकृतं तद्रक्षणं यतो निमित्तं ततस्तत्सम्पन्नमित्यर्थः । तर्हि बाणिवेषस्य किं प्रयोजनमत आहुः वैदिकमित्यादि । वैदिकं यज्ञकरणमपि अभीष्टदमेव । चोऽवधारणे । ‘इन्द्रो महानास विधृतपाप’ इति तत्र कथनाद्भौतिकं पापं नाशयन्महेन्द्रत्वजनकमेवाभ्यदित्यर्थः । एवं चात्र प्रयोद्देशेऽप्यत्र कृतम्भरध्यानं केवलध्यानम्, तत्र ‘केवलः सकलोद्देश’ इति फलमत्र बोधितम् । तथा सती सप्तमाध्याये ‘या एवं चिन्तयतस्तस्य मरणं’ इत्यादिश्लोकद्वये इन्द्रस्य गुरुध्यानस्था चिन्तोक्ता सा ‘श्रीर्णां तबरणं सृष्टा’ इति तत्पूर्ववाक्यात्पूर्वविशिष्टविषया, तत्ततोर्णां ब्रह्मणा विश्वरूपे गुरौ बोधिते विगतज्वरा इति कथनाद् गुरोश्च भगवत्त्वात्सन्नेनासिद्धतापनु-

भक्तिदोषयुता लोके न प्रसिद्धा कथञ्चन ॥८८॥

अतस्तदपवादाय मतान्तरमिहोच्यते ।

वैराग्यं ज्ञानभक्ती च प्रसादः शाप एव च ॥८९॥

भक्तिमार्गे तु भक्तस्य न युक्तमिति तत्तथा ।

दित्यर्थः सिद्धयति । ततोऽपि नारायणवर्णोपदेशस्तत्र ध्यानरूपमेव धर्मधारणम्, तत्र च गोविन्द आसङ्ग आचवेष्टुरिति कथनाभावेन मनोहर इति प्रतिपाति । ततो नवमे उपस्थानयोतस्य भगवतो वाक्येषु 'किं दुरापं मयि मीते तथापि विप्रुषर्षभाः । मय्येकान्तमतिनीन्यन्ममो वाञ्छति तच्चवि 'दित्यादिवाक्यत्रये भगवता स्वैकान्तिनां स्वस्य च स्वभावकथनाद्योगेनात्मप्रवेशद इति सिद्धयति । ततो दशमे 'ह्री सम्मताविह मृत्यु दुरापा 'वित्यत्र 'यदग्रणीवीरक्येऽनिद्वेष' इत्यत्र द्विषतो मोक्षदानात्कालमोक्षप्रदो द्विष्ट इति सिद्धयति । अथवा नवमे देवहेलनाद् द्विष्टो विषरूपस्य कालेन मोक्षदः । दशमे दधीची योगेनात्मप्रवेशदः । तत एकादशे 'अहं समाधाय मनो यथा हे'त्यादिषु 'न नाथ भूया 'दित्यन्तेषु 'स्वामी सर्वसुखप्रद' इति सिद्धयति । ततो द्वादशे इन्द्रस्य द्वेषेऽसुरत्वेन स्वस्माद्धीनभावां हृत्रस्य च परिपताहनेनेन्द्रस्तादृज्जंशेनेन्द्रे स्वस्माद्धीनभाव इत्युभयोरपि हीनभावाद् दुःखद इति प्रतिपाति ।

(अ० १४) अतः परं चतुर्दशाध्यायचतुष्टयं विचार्यते । तेषु चतुर्विधं दृष्टस्य हृत्रस्य कथं भगवति मतिरिति राजभ्रं 'श्रुतं द्वैपायनमुखादित्या'दिना मतान्तरोपन्याससूत्रेण हृत्रपूर्वजन्मकथोच्यते । तत्र मतान्तरोपन्यासः कृत इत्याकाङ्क्षायामाहुः भक्तिरित्यादि । १८८ ।

तदपवादायेति दोषयुतत्वापवादाय । तथा च दोषः शापकृतो न तु स्वभाविक इति भक्ती तदभाव एव सर्वसम्मत आगन्तुकस्य दोषस्य भक्तिहीनतानापादकत्वादिति । ननु यथैवं सर्वसम्मतत्वेन भुक्तैरप्युपगतं तदा कस्मिन्देशे मतान्तरत्वमित्यत आहुः-वैराग्यमित्यादि । 'अहं हरे तत्र पादिकमूले'त्यादि-वाच्यैर्वृत्रो भक्तिमार्गायत्वेन विवक्षितस्तादृशस्य वैराग्यादिपञ्चकं न युक्तम् । 'तस्मान्मद्विक्तियुक्तस्य'त्यत्र ज्ञानवैराग्ययोरश्रेयस्स्वरूपनेन पुष्टिरूपाया भक्तेरपि स्वायंतया तत्वात्वेन देवान्तरप्रसादनस्याप्योजनकत्वेन शापस्य चासम्भवेन पञ्चानामप्यसम्भावितत्वात् । इति हेतोस्तदुपाख्याने तथा मतान्तरत्वेनोक्तमित्यर्थः ॥८९॥

१३ ।

भाषान्तरेऽपि यत्सिद्धमिन्द्रे तत्प्रददौ हरिः ॥९०॥

एवमिन्द्रे महापुष्टिः सर्वबाधा निरूपिता ।

सर्वबाधकरुपा हि दैत्ये पुष्टिरथोच्यते ॥९१॥

तत्रापीन्द्रप्रसादो हि यतो मृत्युनिवारणम् ।

विरुद्धयोः प्रसादं तु हरिः साधयितुं क्षमः ॥९२॥

अग्रिरूपो यतो भर्ता कश्यपः सकलं निजम् ।

रेत एकोनपञ्चाशत्प्रकारं व्यसृजहुषः ॥९३॥

प्रसादश्चाऽप्रसादश्च द्वयं चाऽपि विमिश्रितम् ।

त्रिषु कृष्णः सप्तमूर्तिः सप्तधा सप्तसप्तधा ॥९४॥

नन्वेतत्त्वे तथाऽप्येतेषामध्यायानां कथं देवप्रकरणे निवेश इत्यत आहुः-आषान्तर इत्यादि । यदिनि ज्ञानादिवत्तुष्टय । तथा चेन्द्राय सर्वं दत्तमिति बोधनायात्र निरूपितमन्यथा सुसुम्नोपाख्यानादिद्वये वदेत् । अत इन्द्रशेषलाह्वयप्रकरणे इत्यर्थः । ॥९०॥ प्रकरणेषुसंहरन्ति एवमित्यादि । एवमत्र सार्द्धं सप्तत्रिंशद्भिर्देवप्रकरणं विचारितम् ।

अतः परमष्टिर्द्वैत्यप्रकरणं विचारयन्ति-सर्वतयादि । दैत्य इति । दैत्यप्रकरणे । सर्वबाधकरूपेति । कालकर्मस्वभाववाधिका । तेन पूर्वस्माद्भिन्नोप उक्तः । नामप्रकरणे कर्मवाधिका । रूपप्रकरणे हृद्यैवादीनां कर्मवाधिका । 'हृत्रस्य स्वभाववाधिकेति ततोऽधिका । अत्र तु मरुतां त्रितयवाधिकेति ॥९१॥

नन्वेवं सति देवानां तथा कृतो न बाधस्तत्राहुः-तत्रापीत्यादि । एवं प्रकरणाभ्यां सिद्धं तावथेमाहुः-विरुद्धयो रित्यादि । तथा च भगवत्पुष्टिकर्तृतामर्थं बोधयितुमेवं प्रकरणद्वयकथनमित्यर्थः । मरुतामेकोनपञ्चाशत्पदे हेतुमाहुः-अग्रिरूप इत्यादि । नार्ग्या घृतकृष्णभसमानलात्तत्सम्बन्धे क्षुब्ध इत्यग्रिरूपः । सकल-मिति सांक्ष्म । कुष इति भगवदनुग्रहं जानानः ॥९२॥९३॥ नन्वेवं सति कथं तेषां छेद इत्यत आहुः-प्रसाद इत्यादि । प्रसादादिषु त्रिषु कश्यपवर्णेषु धर्मवर्षि-भेदेन सप्तमूर्तिः कृष्णः सप्तधा वर्चते, अतो मरुतः सप्त भूता मरुतकं सप्तधा जाताः । तथा च छेदे भगवदधिष्ठितोऽप्रसादो हेतुरित्यर्थः । तर्हि प्रसादादिषु त्रिषु भगवत्स्थितेः

प्रसन्नत्वाद्ब्रह्मपत्यं क्रोधान्नो वाञ्छितस्थितिः ।

उभयान्मानसं किञ्चिन्न्यूनमेकाधिकत्वतः ॥१५॥

वधस्याऽभिनिवेशस्तु सेवया प्रायशो गतः ।

पुष्टिरूपा तु या सृष्टिः साधारण्यविशेषभाक् ॥१६॥

सा निरुक्ता ततोऽन्यत्र न सृष्टिः पुष्टिसंश्रिता ।

व्रतितः पूजनं मुख्यमित्यन्ते व्रतसङ्घाता ॥१७॥

सर्वलीलाः पुष्टिमध्ये प्रविशन्तीति मे मतिः ।

किं कार्यमित्यपेक्षायां तद्विष्यन्ति प्रसन्नत्वादित्यादि, वाञ्छितस्थितिरिति । इन्द्रहन्तृत्वेन स्थितिः । मानसमिति इन्द्रमदशोषकत्वम् । तच्च गर्भमरणाभावादिन्द्रस्य पञ्चाशच्चमस्य जातत्वात् किञ्चिन्न्यूनं तदेतद्भगवदधिष्ठितस्य मिश्रणस्य कार्यमिति त्रिष्वपि भगवदधिष्ठानमित्यर्थः ॥१५॥

नतु तथापि पुत्रमिन्द्रहणमिसन्धाय पूजाया मारम्भत्वात्तदंशे कथं फलस्य न्यूनतेत्यत आहुः- वधस्येत्यादि । तथा च फलादेव तस्याभिनिवेशस्य निष्ठचिरतु-सन्धेयेत्यर्थः । नन्वस्मिन् स्कन्धे पुष्टिर्निरूप्या तत्र सृष्टिनिरूपणस्य किं प्रयोजनम् । राज-प्रश्नानुरोधेन चेत् व्रतितन्दनस्य किं प्रयोजनमत आहुः-पुष्टिरूपेत्यादि । साधारण्य-विशेषभागिति । श्रीशुकस्य साधारण्येऽपि विशेषवतीत्यर्थः । तथा च सृष्टयन्तरे पुष्टिनिष्ठत्वं बोधयितुं तत्कथनं श्रीशुकस्य विवक्षितमतः व्रतितन्दनमित्यर्थः । १५६ । एवं षड्भिरष्टादशो विवृतः ।

अर्द्धनोनविशार्थमाहुः-व्रतित इत्यादि । सृष्टिनिरूपणस्य प्रयोजनान्तरमाहुः-सर्वलीला इत्यादि । श्रीभागवतेपि सर्वा एव लीलाः सर्गाद्याः सविशेषा एवोच्यन्ते न तु साधारण्य इति हि सर्गादीनां विशेषलक्षणकरणत्वादवगम्यते । अन्यथा द्वादशस्कन्धे सर्गादीनां पुनः सामान्यलक्षणानि व्यासचरणा न वदेषुः, प्रयोजनाभावात् । अतः साधारण्यविशेषभाक्तं सर्वास्वविशिष्टमिति सर्वा एव लीलाः पुष्टिमध्ये प्रविशन्ति इति मे मतिः मम मतम् ।

१ वाञ्छितस्थितिः ।

अतः सृष्टिस्तु निखिला कृष्णार्थेति विनिश्चयः ॥१८॥

तस्मात्सिद्धयन्ति कार्याणि भक्त्यैवाश्रयणाद्धरैः ॥१९॥

इति श्रीमदाचार्यचक्रवर्त्तमणि-

श्रीवल्लभाचार्यचरणविरचिते

श्रीभागवतार्थनिबन्धे

षष्ठस्कन्धः समाप्तः ।

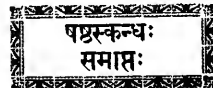
नन्वग्यैः कथं मन्तव्यम्, तत्राहुः-(अतः सृष्टिस्त्विति) तुः पूर्वपस्यनिरासे । 'द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च । यदनुग्रहतः सन्ति न सन्ति यदुपेक्षये'ति द्वितीयस्कन्धेऽनुग्रहादेव सर्वं स्थितिकथनादत्राऽस्मदुक्ते शक्यं नोचिता । अतो निखिलासृष्टिः कृष्णार्थेति विनिश्चयो निष्कृष्टोऽर्थ इत्यर्थः । १९७।१८।

तेन सिद्धमाहुः-तस्मादित्यादि । अत्रायमर्थः । श्रीभागवते ह्यनुग्रहशब्दः त्रिषु प्रयुक्तः । अत्र कालादिनिवारके धर्मे । उक्तवाक्ये तु स्थापके धर्मे । अदीन-लीलेत्यत्र त्वाश्रये । 'यस्याऽनुग्रहमिच्छामी'त्यत्र यः सोऽपि यथाधिकारमेतेष्वेव पर्यवस्यति । तेषु त्रिष्वपि धर्मेष्वश्रय एव मुख्यो भगवद्रूपत्वान्मुख्यलीलात्वाच्च । स एव च परार्थत्वात् । भक्तिजनकः श्रेयो च । तस्माद्धेतोर्द्वैरेराश्रयणाद्भक्त्यैव कार्याणि यथाधिकारं सिद्धयन्ति । तथा चैतद्बोधयितुमत्र सृष्टिकथनमित्यर्थः ।

इति श्रीमत्प्रभुचरणैः पुरुषोत्तमस्य दर्शिता

षष्ठस्कन्धनिबन्धयोजना

समाप्ता ।



षष्ठस्कन्धस्यनिबन्धकठिनांशविशेषनम् ।

(३३६ तमे पृष्ठे अनुसन्धेयम्)

षष्ठस्कन्धे प्रकरणाथैनिरूपये रूपप्रकरणतात्पर्योक्तौ रूपेण मोक्षद इत्यादि, रूपस्य षट्पदार्थगुणविशिष्टत्वात् प्रत्येकं गुणवैशिष्ट्येन हृदि भावितो भगवान् फलति, जीवहितं करोतीति पूर्वश्लोक उक्तम्, अतः परं तान् षट्पदार्थगुणान् तत्कृतं फलं च विविच्य ज्ञापयितुमाह रूपेणेत्यादिसार्थस्मिनिः । ते च गुणा ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियान्तःकरणचतुष्टय-विषया इति प्रत्येकं तपशुच्युक्ततद्व्याने मोक्षादिकल्पानि जीवहितानि ददति, तत्र प्रथमेध्याये रूपे वैशिष्ट्येन ध्यातो दक्षस्य मोक्षदायकोऽभूत् । अत एवासिन्धुध्याये दक्षतपसा प्राप्तुंते रूपे 'त्रैलोक्यमोहदं रूपं विभ्रत् त्रिभुवनेश्वर' इत्युक्तम्, तेन तादृश-रूपविशिष्टस्य ध्यानेन दक्षस्य शिवावज्ञादौपनिवृत्तिपूर्वकं सृष्टिकर्मेणि प्रवृत्तत्वापि मोक्षः सम्पन्न इति ॥ १ ॥

द्वितीयाध्याये भगवद्भूतो हि आन्दरूपः सर्वेन्द्रियान्तःकरणवेधो हर्यश्वराजला-श्वानां नारदोपदेशे कूटवाक्यार्थावबोधेऽनुभवविषयोऽभूद् येन ते संसारसं त्यक्तवन्तः, दक्षे तु न तद्वसानुभवः येन नारदेऽपिक्षेपः शपथश्चेति ॥ २ ॥

तृतीयाध्याये सर्वो सृष्टियुक्तवान् विश्वरूप उक्तस्मिन्धुध्याये कौर्षिकरूपेऽनुभावरूपश्च भगवद्भूतो ब्राह्मणानुभूतोऽतो देवान् प्रति पौरोहित्याद्विभूरूपं भजतेत्युक्तम्, देवानां च तत्र भक्तिर्जनिता, अन्यथा द्विषतां दौहित्रं पौरोहित्ये कथमशुक्रुर्वुरिति ॥ ३ ॥

चतुर्थाध्याये 'ऋषिं त्वाष्ट्रयुषजस्य परिष्कञ्जेदमनुवन्नि'तिवाक्यात् तदाविष्टभगव-त्सपर्शाद् देवानां सर्वे तापा निवृत्ताः, अत एव प्रार्थना, पौरोहित्ये वरणं भेति ॥ ४ ॥

पञ्चमाध्याये कवचं भगवन्नादरूपम् आश्वर्षणाद् दधीचेः ऋषेः प्राप्तम् । भगवन्नादो हि त्रिलोक्या मनो हरति, अत एव देत्यांस्युक्तोपि विश्वरूपो वैष्णवोऽभूत् । इन्द्राय दत्ते कवचे भगवन्नादस्य दैत्यसम्भन्धित्वनिवारणाय विश्वरूपो हरिणैव हतः । एवं नादेन-मनोहरत्वमिति ॥ ५ ॥

षष्ठाध्याये धोगेनात्मप्रवेशद् इत्थं निरूपितः, भक्तिर्देवरूपा मूर्धमती या, सा तु वृत्रोदरे तिष्ठति यथा भगवान् परितुष्यति, सा भक्तिस्तु सङ्घं विना निर्गन्तुमशक्ता, अतो देवानां परमसङ्घं ज्ञातुम्, तथापि भगवन्नादात्मककवचस्य इन्द्रे विद्यमानत्वात् तेनैवात्मिकानि सिद्धमापितानि भगवन्स्तुतिरूपाणि देवानां हृदि स्फुरितानि, तैः स्तुतो भगवान् प्रकटो भूत्वा देवैः सह सम्भाषणं कृतवान्, तेन देवानामात्मप्रवेशो दत्तः, स्वकीयाः कृताः, वृत्रवधोपायश्च ज्ञापित इति सम्भाषणं वाग्निन्द्रियविषय आत्मप्रवेशफलक इति ॥ ६ ॥

समाध्याये हस्तेन्द्रियव्यापाररूपयुद्धहेतुर्द्वेषः दैत्यादिभिर्युद्धार्थं द्वेषित्वेन भाषिते भगवति भगवान्नापितैः सह युद्धं कृत्वा कालद्वारा मोक्षं ददाति । यथा पुनः कालमस्ता न भवन्ति, परिचर्यायां तु न परस्परं हस्तव्यापारः, अतः कर्मेन्द्रियाणां परस्परं भगवता सह व्यापारकथनार्थं युद्धहेतुर्द्वेषो निरूपितः । एतच्च सैनिकान् प्रति वृत्रवाक्ये स्फुटमिति ॥ ७ ॥

अष्टमाध्याये स्वामी सर्वैरुत्पदः, इत्थं, मूर्धिमती भक्तिर्द्वेषे तथा च प्रभौ स्वामित्वभावना स्मिन्धुध्याये शीत्यभावना तथा 'प्रेन्द्रियविषयो भोगश्च परस्परम्, तथा सति पतिभार्यायै इव सर्वे स्वकीयं सुखं भक्ताय प्रयच्छति भगवान्, एतच्च वृत्रचतुः-श्लोक्यां स्फुटमिति ॥ ८ ॥

नवमाध्याये हीनत्वेन मलवत् त्यक्तो भगवान् तमपि त्यजति तदा आनन्द-तिरोधानाद् दुःखं भवति । तदित्यं ज्ञेयम्, वृत्रेण हि इन्द्राय स्वज्ञानं भक्तिर्बलं च सर्वं बोधितम्, इन्द्रेणापि वृत्रस्तुतिकरणात्सर्वं बुद्धम्, तथापि स्वजयायै इन्द्रपदप्राप्त्यर्थं च युद्धमेव कृतवान् न तु वृत्रं भगवद्भक्तं ज्ञात्वा भगवत्प्रीत्यर्थं प्रपन्नः, वृत्रप्रपचौ सत्यां तु शीघ्रं भगवत्प्राप्त्या तत्पसादेन च सर्वं सुखमनायासेनैव स्यात् । अत्र तदकरणात् प्रभौ हीनभावनाया त्यागो ज्ञापितः, ततो भगवतापि त्यागाद् आधिदैविकवृत्रहत्कारूपं दुःखं प्राप्तमिति ॥ ९ ॥

दशमाध्याये केवलः सकलार्थदः, प्रादुर्धीयां दिशि लक्ष्मीः कमलाख्या तिष्ठति, तत्र तद्भोगाय भगवानपि केवलः पार्षदादिरहितस्मित्ति, अतो हत्या भीत इन्द्रोपि सर्वेषु लोकेषु परिभ्रमणं कृत्वा तत्र तत्र शरणमलभमानस्तूर्णं मानसं प्रविष्टः, तदुक्तं 'नभोगतो दिशः सर्वं' इतिवाक्येन । यद्यपि हत्या दुष्ट इन्द्रे लक्ष्मीस्थानं प्रवेष्टुमयोग्यत्वात्थापि भगवतः स्वमावं वाचं च सृष्ट्या तत्र गतः, तत्र भगवत्समावाप्तौ यो भगवत्समीप-गमनार्थमेकं पदं प्रचलति तदा एकोनिर्विशति पदानि भगवांस्तस्मत्सुलमायाति, अतो भगवता सह तत्र गतः, उक्तं च 'ऋतं वचनं भगवान् विभर्ति अतो ऋतम्भारः' इन्द्रं प्रति भगवता पूर्वमुक्तम् 'तस्मिन् विनिहते यूयं तजोऽन्वायुषस्यध्वः', भूयः प्राप्तस्य भर्तुं यो न हिंसन्ति च मत्परा'निति (अ० ९) तद्वचनं सृष्ट्या इन्द्रो भगवत्सम्मुखं गतस्तदा भगवानपि स्ववचनं फलयितुं हत्या दुष्टस्यापीन्द्रस्य सम्मुखमागतः, तदुक्तं 'ऋतंभरध्याननिवारिताश्च' इत्यनेन, यद्यपि पूर्वाध्याये भगवति इन्द्रस्य हीनभावत्वात् भगवत्सम्मुखमागतुं न योग्य-त्वापीदं वृत्रहननं सर्वलोकेषु भक्तिप्रचारायै वृत्रदोषनिवारणार्थं च भगवदभिप्रेतं भगवत्कार्यं च, अतः कार्यं सम्पन्ने हीनभावनाफले युक्ते पुनरुक्तवृत्रजिज्ञांतिविशेषम् । अतः केवलः गतिविषयीकृतः । सकलानर्थान् दत्तवान् ध्यानेन भक्तिं हत्यातो मोक्षं यज्ञैः धर्मं महेन्द्रत्वेनार्थं

कामं चेति । आधिदैविकी हत्या ध्यानेन निवृत्ता आध्यात्मिकी श्रीरुद्रेण भौतिकी यज्ञैरिति ॥ १० ॥

एकादशेऽध्याये मितो योगप्रदः । माह्वमान इत्यस्य धातोर्निष्ठायां मितमितिरूपं कृतं ज्ञातमित्यादिवत्, तथा च मतिविषयीकृतं मतं ज्ञानविषयी कृतं ज्ञातमित्यादिवत् मानविषयीकृतं मितमित्यर्थो भवति, तत्र न्यूनाधिकभावनिर्द्धारो मानं, इदं वस्तु एतावद् एतादृशं चेतिज्ञानतद्विषयं न्यूनाधिकभावापत्वं वस्तु मितशब्देन ज्ञेयम्, तत्र द्रव्येण न्यूनत्व-मधिकत्वं च तोलनेन मानहेतुप्राप्तेण च ज्ञायते । रसनादिषु तसरीक्षादिना इदं वस्तु एतावद् एतादृशं चेतिज्ञायते, भगवतो मानं बुद्धयैव ज्ञायते, यद्यपि भगवान् तदानन्दश्च अनन्तत्वान् न मातुं शक्यते तथापि बुद्ध्या तद्व्यतिरिक्तस्य सर्वस्य मानं निर्द्धार्य भगवति तदानन्दे च सर्वोत्कृष्टस्वपरमितत्वं यदा मातं तदेव मानशब्देनोच्यते । यदाऽमृतो-द्वयौ गगने च, तथा च भगवान् तदानन्दश्च सर्वोत्कृष्टत्वेन अपरमितत्वेन च बुद्ध्या व्यवसायामिकया ज्ञातो यैस्तेर्मित इत्युच्यते । तदा तेषां केनाप्युपायेन सम्पाषण्णादियोगप्रदः, तदस्मिन्नध्याये व्यतिरेकमुखेनोच्यते, अङ्गिरसि ऋषौ उपदेशार्थमागतेषु सार्वभौगेन चित्रकेतुना पुत्राभावे सम्पदामतोषहेतुत्वकथनात् पुत्रेण स्वस्य पूर्वजानां च परलोकं गतिमत्त्वकथनात् तत्रैव परमोत्कृष्टत्वपरमुखहेतुत्वज्ञानेन भगवति तदभावात्नन्तोपदेशो लब्धस्ततश्च भगवदयोगः परमदुःखं च । ननु हीनभावादुःखद इत्यनेनास्य को भेदस्तत्रापि भगवत्परित्यागादेव दुःखलक्षणेति उच्यते । पागुर्हि देहे विद्यमानं मलं त्यजति तन्म्यानेन ज्ञानस्यापि हेरेस्तत्र परित्यागः, अत्र तु तादृशनुद्वयभावाद्दुर्घरी नोत्कृष्टत्वज्ञानं नापि परमानन्दानन्तत्वज्ञानं तेन भगवदलक्षिणरुऽयोग एव, न तु योगे जातेषु परित्याग इतिविभेद इति ॥ ११ ॥

द्वादशाध्याये भिन्नो मृत्युप्रदः । भिदिर विदारणे इत्यस्य धातोर्निष्ठायां भिन्न-मितिरूपम्, तथा सति विदीर्णमित्यर्थो भवति, इदं चात्र अहङ्कारस्य कार्ये विषयश्च; तथा अहङ्कारो हि एकं सर्वात्मकमद्वितीयमात्मरूपं भगवन्तं विदार्थ्य जीवात्मानं पृथक्करोति ततोऽहम्त्या भिन्नो जीवो ममतया जडमपि भगवतः पृथक् करोति, अत्र भिन्नत्वेन ज्ञानमेव पृथक्करणम्, ततो भगवानपि विदारणकर्मणः फलं दुःखमेव प्रयच्छति सर्वैरेव रूतैः, तत्र अङ्गीकर्तुः शोकोमोहमयातिरूपं मूलरूपेण तु स्वस्मिन् कालरूपत्वं सम्पाद्य श्रुत्यरूपमिति, एतज्ज्ञापनायैवात्राऽध्याये सर्वेषां शोकोमोहमयातिरूपम्, । मूलरूपेण तु स्वस्मिन् कालरूपत्वं सम्पाद्य श्रुत्यरूपमिति एतज्ज्ञापनायैवात्राध्याये सर्वेषां शोकोमोहमया-तिरित्युक्तं उक्तवागे द्वैते बुवार्थविश्रम्भं त्यजेत्युक्तम्, यथा भगवान् स्वात्मनः सकाशात्

न भियेत, संसादुःखेतोरहङ्कारस्य विलयार्थं च तदाधिदैविकस्य तद्व्यख्यानस्य च सङ्घर्षणस्य उपासना उक्ता, तथा तस्मिन् कीनोऽहङ्कारो न पुनः कदाप्युद्बुच्छेदिति, अतोऽहङ्कारस्यैव सर्वत्र बन्धेहेतुत्वमुच्यते, अहङ्कारकृतं बन्धं अहङ्कारस्य दृश्यते जन्ममृत्युश्चेत्यादिष्विति, अमे शिवावज्ञा तु भगवत्कार्यमत एव शापे जाते निरहङ्कारो देवी प्रसादितवानिति ॥ १२ ॥

त्रयोदशेऽध्याये यथास्थितो ज्ञानदः, अत्राध्याये उपक्रमे नारदेन स्वयोगबन्धे-नाऽऽकारितो जीवविक्षलरूपो ज्ञानधर्मा यथास्थितः समागतः, स च मोहनिवारकं जीव-विषयकं ज्ञानमुक्तवान् । 'कस्मिन् जन्मनी'त्यारभ्य 'तावदेव ही'त्यनेन बद्धावस्थापञ्च-जीवस्वरूपम्, 'एवं योनिगतो जीवः स नित्यो निरहङ्कृत' इत्यारभ्य 'परावर्हगीश्वर' इत्यनेन युक्तावस्थापञ्चजीवस्वरूपं च बोधयित्वा ज्ञानदो जातः । ततो नारदोपदिष्टविषया चित्रकेतुर्विधाधराधिपत्यं लब्ध्वा शेषात्मकसङ्घर्षणसाक्षिभ्यः प्राप्तः, सान्निध्यमहिम्नैव ब्रुवन्त् स्तुतिहेतुभूतं ज्ञानं प्राप्तस्तथापि यावद् गुरुणोपदिशति तावज्ज्ञानं न सिद्धं भवति तदर्थं शेषकृतोपदेशः, शब्दब्रह्म परं ब्रह्म मगोभे शाश्वतीतन्' इतिकथनात् शब्दब्रह्म वेदात्मकः शेषः अर्थात्मकपरब्रह्मणा नित्यसम्बद्धः, अतः स यथास्थितः उपदेशवाक्येषु च सर्वात्मकस्य अद्वितीयस्य तुरीयरूपस्य परमात्मनो यथास्थितस्य स्वरूपं बोधितवान् । तच् च ज्ञानं मक्तिपर्यवसायीति ज्ञापनाय 'यद्भक्तः पुरुषो भवेदित्युक्तम्, मक्तिविषयः पुरुषोत्तमश्च परमानन्दरूपत्वात् परमफलरूप इति ज्ञापनाथं 'यत् परात्मैकदर्शनमित्युक्तं परश्च आत्मा च तयोरेकत्वेन दर्शनं, तेन सहाभेद इत्यावावत् । यद्वा परश्चासावात्मा च परात्मा तस्यैवैकस्य दर्शनं स्फुरणमित्यर्थेद्वयमपि अभिमितं, अत एवाग्ने परमफलरूपा भक्तिर्ज्ञाता तथा चात्राध्याय इदं नित्यञ्च, नारदोपदेशेन चित्रकेतुना अहङ्कारपरित्यागेन चित्तविषयीकृतो यथास्थितोऽभिन्नोऽद्वितीयः सर्वात्मक आत्मरूपश्चित्रकेतोः सङ्घर्षणद्वारा स्वरूपफलभक्तिपर्यवसायी ज्ञानदो जातो भगवानिति ॥ १३ ॥

चतुर्दशाध्याये स्नेहाद् वशो भवेद् भुवमिति । तत्र स्नेहश्च मनसो विषयः, तृतीयस्कन्धे भक्तिरक्षणं 'देवानां गुणलङ्घाना'मित्तिवाक्ये 'सत्त्वं एवैकमनसो वृत्ति'रिति-कथनात् एकोनत्रिंशेऽध्यायेपि निर्गुणभक्तिरक्षणे 'मनोगतिरितिच्छिन्न'तिकथानाद् वैषण्यतन्त्रे च 'स्नेहो भक्ति'रितिकथनात् अविच्छिन्नमनोगतिरूप्या भक्तिरेव स्नेहत्वेन भगवान् भुवं वाशे स्थितो भवेत्, अत्राध्याये अनन्तोपदिष्टज्ञानेन चित्रकेतोर्भक्तिः स्नेहरूपा जातिति-ज्ञापनाथं विष्णुदत्तं विमानं 'सल्लसं लक्षवर्षाणा'मित्तिवाक्याद् अजरात्पूर्वं पूर्वतन्त्रस्य योगानि-निवेशस्य विद्यमानत्वात् तल्लिङ्गत्वर्थं क्षीभिः सह रमणे हरियुगलानेन च भक्ति'रुत्पत्ति'रितिनिरूपणम्, तथापि भया स्वसाधनबन्धेनैव सम्पादितमित्तिजीवसमावदोपस्य स्वधर्मोक्त-

भावनारूपस्य सत्त्वाद् दीनताभावपूर्विका भक्तिर्न जाता येन परमं फलं स्यात्, विद्याधरत्व एव आसक्तिश्च जाता, तदुभयं भक्तस्य नोचितमिति तन्नित्युच्यते । दीनताभावसम्पादनार्थं च भगवानिव शापं दापितवान्, अत्र भक्तत्वाभिमनज्ञापिका शिवावज्ञा स्वभावदोष-ज्ञापकानि शापनिमित्तानि शुक्रभोक्तानि अतद्वीर्यविद्वत्त्वादीनि चत्वारि चित्रकेतोर्विशेषणानि, शिवस्तु भगवान् सर्वज्ञ इति एनं भक्तं इदं च भगवत्कार्यं ज्ञात्वा प्रहस्य तूर्ण्यं बभूव, देवी तु न सर्वज्ञाऽतो रोषः शापदातं च, भक्त्यनुभावेनैव न शापमात्रेण विमानाच्च व्युत्तिः, कार्ये जाते दीनभावो जातः, स्वभावदोषो निवृत्त इतिज्ञापकानि देवी प्रति चित्रकेतुवचनानि प्रतिज्ञापदानाभावश्च, भक्तस्य भक्तेश्च माहात्म्यज्ञापकानि देवी प्रति शिववचनानि । आसुरयोनिन्लेपि भक्तेरप्रतिहतत्वात् ज्ञापेन गुण एव जातो न तु दोष इति ज्ञापकानि निवृत्तदोषस्य शुश्रूष्य दीनताभावपूर्वकपरमभक्तिबोधकानि चतुःश्लोकी-वचनानि, भगवतो वन्द्यत्वज्ञापकमासुरदेहत्यागसमये वृत्रसमीपेऽवस्थानम्, सर्वेषु लोकेषु पश्यसु स्वस्मिन् प्रवेशनं चेति अनेन मनोनिवेशनं ध्यानमित्युक्तम्, ध्यानप्रकरणत्वमप्यस्य चतुर्दशाध्यायात्मकस्य सिद्धमित्तिदिक् ॥ ११ ॥

३४५ तमे पट्टेनुसन्धेयम् ।

अग्ने द्वितीयाध्यायार्थोक्तौ (का० ४०) वेदप्रामाण्यसिद्धयर्थं नाममाहात्म्य-मुत्तरे । स्कन्धार्थेन विरोधः स्यादन्वया तन्मानन्तरमित्यत्र पूर्वं प्रथमाध्याये विष्णुदूत-पृष्ठेभ्यमद्वैतार्थस्य स्वरूपलक्षणवादिकं प्रतिपादितम्, ततो जीवस्य दण्डनिमित्तं पापं संस्मर-निमित्तमज्ञानं च प्रतिपादितम्, ततोऽन्तिमश्लोके पापेऽज्ञाने च हेतुभूतः प्रकृतिसत्त्वो निरूपितः, तन्नित्यस्तारहेतुरीशसङ्गश्लोक्तः, तत्र वेदोक्तानि कर्मणि प्रायश्चित्तादिरूपाणि पापनिवर्त्तकानि अन्तरज्ञानि ज्ञानसाधनानि अज्ञाननिवर्त्तकानि इत्यपि सूचितम्, पूर्वमस्य पापाग्रायात् अन्तरज्ञानि ज्ञानसाधनान्येव कर्मणि कुर्वाणः क्षितः, तानि तु कामबलेन पराहतानि पश्चात् पापे उद्धृते तानि बिलीनानि, ततोऽन्तिमश्लोके 'अकृतनिवश' इत्यनेन प्रायश्चित्तरूपाण्यपि अनेन न कृतानि, अतो दण्डरूपं दुःसात्मकं तपोऽस्य 'निर्वेश' इति तत् सर्वं विष्णुद्वैतरभ्युपगतम्, परं एतावत्, कर्मणां यत् पापनिवर्त्तकत्वं उपयजनकत्वं अज्ञाननिवर्त्तकत्वं ज्ञानजनकत्वं च यदुक्तं तत्कर्मज्ञाया ईशसञ्चारमभिप्रेत्यैव, अतो यथा यथा ईशसङ्गसञ्चारस्तथा तथा प्रकृतिसङ्गशात् पापादिनिवृत्तिरिति वेदस्य मतम्, तदत्र भगवन्नामश्रवणकीर्तनरूपया भक्त्या ईशसत्त्वे सम्पद्ये

प्रकृतिसङ्गनाशो पापादिनिवृत्तिरिति वेदप्रामाण्यसिद्धयर्थमेव नाममाहात्म्यमुत्तरे विष्णुद्वैतरूपम् । वेदवचनसिद्धं मतं मर्यादा, वेदाभिप्रायसिद्धं मतं पृष्टिः, तत्पृष्टिरूपं मतं विष्णुद्वैतौघ्येत यदि तदा अस्यापि स्कन्धस्य मर्यादाथित्वे सिद्धे स्कन्धार्थेन पृष्टिरूपेण विरोधः स्यात्, यतः पृष्टिरूपं वेदाभिप्रायसिद्धं मतान्तरं, तस्मादेव हेतोस्तैस्तथा कथनमित्यर्थः, मर्यादायां पापनि-वर्त्तकानि कर्मणि भिन्नानि मुक्तिसाधकानि च भिन्नानि पुष्टौ तृणयमेकैवेति पृष्टिरूपं मर्यादातोऽपि कर्मिति ।

पञ्चमाध्यायस्य कूटवाक्यार्थविचारः

अग्ने पञ्चमाध्याये कूटवाक्यनिरूपणे श्रीभागवते 'किमसत्कर्मभिर्मेव' इति नवकृत्यः आरुचम्, तस्य श्रीभरीये अर्थ उक्तोऽप्यस्ति तथापि महदनुग्रहदु यद् भारतं तल्लिख्यते, लिङ्गभङ्गादर्शने निरन्तरं बन्धः पारतन्त्र्यमेव, अतः असद्भिः बन्धहेतुभिः कर्मभिः किं दक्षाय-कपिशज्ञया सृजनरूपैः किं भवेत् न किमपीत्यर्थः, अत्र अन्तिमे कूटे तदर्थं च जीवस्वरू-पातुरूपसुखस्यैव प्रजात्वनिरूपणात् परतन्त्र्यायां बन्धहेतुकर्मभित्तादजननात् फलाभाव उच्यते । एवमन्येष्वपि कूटेषु तादृक् तादृक्कर्मभिर्जीवस्वरूपातुरूपसुखाभाव एव फलाभावो ज्ञेयः ॥ १ ॥ 'या निशे'ति यावयात् तुरीयावस्थाया अदर्शने अवस्थात्रयम्, माया स्वप्न एव, अतः असद्भिः स्वामिकवत् मिथ्यावतैरपि दक्षज्ञया सृजनरूपैः कर्मभिः पूर्वोक्तसुखरूपफलं न स्यादि-त्यर्थः, एवं सर्वेषु कूटेषु सृजनरूपकर्मणां समानत्वेपि तत्कूटोत्कविषोषणभेदादेव भेदो ज्ञेयः ॥ २ ॥ प्रत्यक्षाद्यः अज्ञाने बहिरर्थप्राप्तिः आशुविनाशिनी, अतः असद्भिः अचिरकालस्थितिः ॥ ३ ॥

बुद्ध्या उत्तमपदार्थविचारो भवति बुद्धिनिष्ठायाः बुद्धिपरिपाकावस्थाया अगमे उत्तमाप्राप्तिः, अतः असद्भिः उत्तमपदार्थोप्रापकैः ॥ ४ ॥

कुबुद्धिहेतुकं हीनपदार्थजोयमारो दुःखं जनेषु यावन् न जानाति तावत् कुबुद्धि-दातृन् हीनपदार्थोश्च न त्यजति, अतः असद्भिः निवृत्त्यनुपमोगिमिः । पूर्वत्र उत्तमालोमे सुखाभावः, तत्र कारणं बुद्धिपरिपाकावस्थाऽभावः अत्र तु हीनपदार्थालोमे दुःखम् तत्र कारणं कुसङ्गः कुबुद्धिश्चेतिदुर्भेदः ॥ ५ ॥

भगवद्धर्मविपरीतधर्मकरी माया, तस्या अज्ञाने उत्पत्तिविनाशावैव मायामोहेन भवतः, अतः असद्भिः उत्पत्तिविनाशकैः ॥ ६ ॥

सङ्घातनिष्ठान् आत्मपर्यन्तपदार्थान् याथास्थ्येन यावन् न जानाति, तावन् नात्महिते प्रवर्तते, अतः असद्भिः विविकत्वात्साऽज्ञापकैः ॥ ७ ॥

ऐशशास्त्रादर्शने भगवन्तं परमफलरूपं न जानाति भगवच्छ्लाघे हि भगवद्विच्छा-प्रतिहृत्प्रवृत्तिः स्वस्य मोक्षकृत्ज्ञानेन स्वस्य जायमाना बन्धरूपा, स्वस्यभोग्यत्वज्ञानेन

भगवत्सुखार्थं भगवदिच्छानुकूला प्रवृत्तिः मोक्षरूपा, अतो भगवच्छास्त्रबन्धमोक्षानुदर्शनम्, तदज्ञाने बन्धमोक्षयोरपि ज्ञानं न भवति, अतः असद्भिः भगवद्भक्तयनुपयोगिभिः ।

अनेन उच्यमानां भगवति सर्वोत्तमत्वज्ञानेन फलरूपा भक्तिः, पूर्वत्र मध्यमानां स्वस्य मोक्षादिसुखदातृत्वज्ञानेन साधनभक्तिरिति अत्रापि द्वयोर्विभेदः ॥ ८ ॥

कनिष्ठानां कालाङ्गभगवच्छक्तैर्मर्यादैव भगवति श्रद्धारूप आदरो भवति काल-
शक्तेरज्ञाने तु तन् न भवति, अतः असद्भिः भयप्रयोजकभगवद्दीर्घाशापकैः ॥ ९ ॥

शास्त्रं पिता आदेशो निवर्चनं, निवृत्ताद्यैव जीवत्स्वरूपानुरूपं सुखं प्रजाकरूपं फलं भवति, तदज्ञाने गुणेष्वेव विश्वासः सुखदत्त्वज्ञानरूपः गुणविश्वासयुक्तः स्वसुखाय कथं प्रयतेत, अपि तु दुःखायैव प्रयतेतेत्यर्थः

अत्र पित्रादेशेन यन्त्रितान् प्रजाविवृद्धये यत्नान् प्रति नारदने पिदुस्तदाज्ञायाः आज्ञाविषयप्रज्ञायाः प्रजादेतुभूतकर्मणां तैराराधयस्व आराधकस्य जीवस्य च यथार्थस्वरूपं ज्ञापितमिति नारदोक्तमेव ते कृतवन्तो न दक्षोक्तमिति रसेनानन्ददायक इति च ज्ञापितम्, भगवद्द्रष्टास्वादे आनन्दे अनुभूते संसाररसं त्यक्तवन्त इति ॥ १० ॥

वैशद्यार्थं पुनरपि दशानां कृतानामर्थो लिख्यते ।

बद्धेन अस्तन्नेत्रेण न सृष्टिः कर्तुं शक्यते ॥ १ ॥

सुप्तेन स्त्रेण कृतं सर्वमकृतमेव ॥ २ ॥

आशुविनाशि कार्यमपि फलपर्यन्तं स्थित्वाभावाद् व्यर्थमेव ॥ ३ ॥

अनुत्तमपदार्थकरणे तस्य सुखदेतुत्वाभावाद् व्यर्थैव सृष्टिः ॥ ४ ५ ॥

सस्य मुग्धत्वे उत्पत्तिविनाशशक्तित्वे सृष्टेरपि सत्वात् उपयोगाभावाद् व्यर्थैव सृष्टिः ॥ ६ ॥

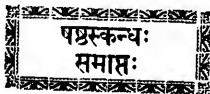
विविकल्पाज्ञाने सृष्टेरपि नात्महितार्थोऽतो व्यर्थैव ॥ ७ ॥

भगवदनुपयोगित्वे तु सुतरां सृष्टैर्व्यर्थम् ॥ ८ ॥

कालास्थानुगुणत्वे एव सर्वं सिद्ध्यति अननुगुणत्वे तु सृष्टिरेव न सिद्ध्यति ॥ ९ ॥

पितृस्तदाज्ञायाः सृष्टेश्चापि स्वरूपं ज्ञातव्यमन्यथा सर्वमयथार्थमेव स्यादिति ॥ १० ॥

॥ तत्त्वदीपकठिनांशविषेचने षष्ठस्कन्धः समाप्तः ॥



श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

अथ तत्त्वार्थदीपनिबन्धे श्रीभागवतार्थप्रकरणे

सप्तमस्कन्धविवरणम् ।

एवं त्रिरूपा पुष्टिर्हि पृष्टे यत्नेन रूपिता ।

दुःखाभावः सुखं चापि ह्यैहिकामुष्मिकं द्विधा ॥१॥

ततः पञ्चदशाध्यायैरुतिः सप्तम ईर्यते ।

पुष्टिदोषनिवृत्त्यर्थमृत्तिलीला निरूप्यते ॥२॥

विषमत्वं हरेर्दोषः पुष्टौ कामाद्यभावतः ।

अतो भगवता सृष्टा निरूप्यन्ते तु वासनाः ॥३॥

श्रीबालकृष्णो विचरते ।

अथ सप्तमस्कन्धनिबन्धस्य योजना ।

अथ सप्तमस्कन्धार्थं निबन्धनतः पूर्वस्कन्धेनास्य सङ्गतिं बोधयितुं पुष्टिस्वरूपं सूचयन्त उतिनिरूपणं प्रतिज्ञानते-एवमित्यादि । एवं जीवार्थां पुष्टिनुग्रहाख्या त्रिरूपा कर्मकालस्वभाववायिका अजामिलेन्द्रमहद्विपयिणी यत्नेन बाध्यानां दूत-
विश्वरूपद्वयकृष्णानामपि हितकारितया सुखमविचारेण पृष्टे निरूपिता । स्वार्थश्च दुःखाभावसुखभेदेन ऐहिकामुष्मिकभेदेन वा यतो द्विधा ॥ १ ॥ ततो हेतोः सप्तमे एककार्यकारित्वेन उतिनिरूप्यत इत्यर्थः । ननु स्वार्थस्यैकस्यैवैतस्यापि पुष्ट्यैव सिद्धेवैवतुं शक्यतया किमनया लील्येत्यत आहुः-पुष्टिदोषेत्यादि ॥ २ ॥ को दोष इत्यपेक्षायामुपक्रमस्थप्रश्नोत्तरस्वारस्येन तथाहुः-विषमत्वमित्यादि । कामाद्यन्भावत इति सप्तमर्थं तसिः । अत इति । तद्भावसाधनस्यावश्यकत्वात् । तथा च यद्दुःखादिकं तत्रासन्नयेति न भगवति दोष इति बोधयितुं ता निरूप्यन्त इत्यर्थः । वासनाश्च वंशविशेषरूपाः सन्तानामकत्वात् । वंशलक्षणं तु 'राज्ञां

आध्यात्मिकादिभेदेन कर्म स्याद्विधं यतः ।
 पञ्चात्मकं ततः पञ्चदशा तन्निरूप्यते ॥१॥
 ताश्च कर्मभिरेवोक्ताः कर्मभ्यस्ताः पृथङ्मताः ।
 अतः पुष्ट्याऽपि भगवान् यत्करोति स्वलीलया ॥५॥
 जीवानां तत्तथैवेष्टं वासनावशात् स्फुटम् ।
 जीवगा वासना सूक्ष्मा समावेशानु मध्यमाः ॥६॥
 उभयं जीवसम्बन्धि मनस्यन्या तु कर्मभिः ।
 जीवगा वासना ज्ञेया देवदैत्यहितेच्छया ॥७॥

ब्रह्मसूतानां वंशसैकालिकोऽन्वयः इति तत्र ब्रह्मपदेन परब्रह्मणश्चतुर्वलस्य च समूहः । राज्ञामिति पदं रत्नकर्तृमात्रपरं यौगिकम् । तथा ब्रह्मणः सकाशादुत्पन्नानां रागजनकानां त्रिकालवर्षी सन्तानो वंश इति सिद्धयति । स च वासनास्वपि तुल्य इति तद्वोधयितुं विशेषमलौकिकं स्फोटयितुं चाहुः—अगवता सृष्टा इति । न च सामान्यलक्षणेषु पञ्चमं लक्षणं मन्वन्तराणीति तद्विशेषतः सूत्रैर्बैतक्यं न तु पृथ्वलक्षणभूतवंशविशेषतमिति शक्यम् । यथा उद्देशे उत्पन्नन्तरं मन्वन्तरपाठेऽपि लक्षणे 'मन्वन्तराणि सदस्यं ऊतयः कर्मवासना' इति प्रातिलोम्यं जन्यजनकभावादेवमत्रापि मन्वन्तराणांमद्यमे स्फुटतयाऽजीचित्यबलेन वंशविशेषताग्रहणेऽपि बाधकाभावादिति ॥ ३ ॥

एवं त्रिभिः स्कन्धार्थं निरूप्य तस्य पञ्चदशभिर्निरूपणे हेतुमाहुः—आध्यात्मिकेत्यादि । पञ्चात्मकमिति । अविद्यापूर्वेजन्यत्वेन विद्यापूर्वेजन्यत्वेनाऽपि चिदानादिपञ्चकजन्यत्वेन च तादृशम् ॥ ४ ॥

ननु कर्मणस्तावद्विधत्वे स्कन्धार्थभूताया वासनायाः कथं तथात्वमत आहुः—ताश्चेत्यादि । ऊतयः कर्मवासना इति लक्षणे वाः कर्मजन्या एवोक्ता अतस्तद्रेदाचासामपि तावच्चमित्यर्थः । नन्वस्त्वेवं तथापि तासां कथं पुष्टिसहकारित्वमित्यत आहुः—अत इत्यादि । तथा च भगवत्कौटिल्येऽपि तत्र सहाकारित्वमित्यर्थः ॥ ५ ॥ ननु भगवत्कृतिः पौरस्त्या वासनास्तु पाश्चात्या इति सपानकालीनत्वाभावात्कथं सहकारित्वमत आहुः—जीवगेत्यादि । समावेशादिति । जीवस्य देहे प्रवेशात् । मध्यमेति । चिदचिद्वृत्त्यन्यरूपाऽभिमानजन्या । तथा च भगवत्कर्मजन्याया विभागसानकालीनत्वेन जीवकर्मजन्यायाः सृष्ट्यारम्भसमानकालीनत्वेन यत्नजन्याया अपि तथात्वेन पौर-

आत्मीयत्वेन विज्ञाते तेष्ववेशस्तयोर्भवेत् ।
 तदैव तादृशे शक्तिः कर्मणीति मतिर्मम ॥८॥
 अतस्तान् तादृशान्मत्वा पुष्टिमार्गं करोति हि ।
 त्रीणि प्रकरणान्यत्र पञ्चभिः पञ्चभिः क्रमात् ॥९॥
 दैत्यवैवांशभेदेन पितापुत्रौ निरूपितौ ।

स्त्यत्वाच्च काऽपि सहकारित्वे शक्येत्यर्थः ॥ २ ॥ तदेतद् ब्राह्म्यां विवृण्वन्ति—जीवगेत्यादि । एनं जीवं देवमेतं दैत्यं कृत्स्नं हितं करिष्यामीतीच्छया यो व्युत्तरणात्पक्षो विभागस्तत्काले तयेच्छया सा वास्तना जीवगा ज्ञेया, जीववर्तिनी सती सूक्ष्मदेशप्रवेशहेतुर्ज्ञेया । इदमेव पूर्वश्लोके सूक्ष्मत्वेनोक्तम् । एतच्च श्रुतावपि सिद्धयति । 'त्रयाः प्राजापत्या' इति, पञ्चरात्रे च उत्पन्नास्त्रिविधा जीवा इति । ततस्तया वासनया आत्मीयत्वेन देहे विज्ञाते सति तेषु देवदैत्यरूपेषु स्थूल-देहेषु तयोर्देवदैत्यत्वेनात्मानमभिमन्वानयोरवेशः समागमो भवेत् । इयं मध्यमाऽपि जीवगेव । 'एवं पञ्चविधं लिङ्गं त्रिवृत्पोडशविस्तुतम् । एष चेतनया युक्तो जीव इत्यभिधीयत' इति चतुर्थस्कन्धे नारदवाक्ये तस्यापि जीवशब्दवाच्यत्वात् । तदैव एवं वासनाद्वयसम्बन्ध एव तादृशे सात्त्विके राजसे च कर्मणि स्थूलशरीरस्य सामर्थ्यमिति मे मन्तिमेया श्रुत्यादितात्पर्यविचारेणोच्यते न तन्मसम्भवेत्यर्थः ॥ ७ ॥ ८ ॥ सिद्धमाहुः—अत इत्यादि । यत एवमित्यच्छया वासनादिभागः, अतस्तान् देवान् दैत्यांश्च तादृशान् वासनावशात् ज्ञात्वा हि निश्चयेन तेषां हितार्थं पुष्टिमार्गं करोति । तथा च स्वत एकपक्षपातकरणे हीतरस्यानिष्टकरणे कर्तारि वैषम्यं न तु तद्वासनामनुसृत्य । 'वैषम्येनैष्ये न सापेक्षत्वादिति' सूत्रे तथैव सिद्धेः । किञ्च, तेषां दैत्यानां मारणं तेषामपि शक्तिरिति तेषामपि हितमेवेति बाह्यैर्मुख्यादेव वैषम्यभानमिति । पुष्ट्युत्थोः सहकारित्वमूर्तेः पुष्टिदोषनिवारणार्थत्वं च नृपपन्नम् । इदमेवोपक्रमे प्रश्नोत्तरार्थां सिद्धयतीति बोधनाय हि शब्दप्रयोगः ।

एवं स्कन्धप्रयोजनं निष्कृत्य प्रकरणानि विभजन्ते—त्रीणीत्यादि । अत्र स्कन्धे क्रमात्सूक्ष्ममध्यमाश्च वासनावशेन पञ्चभिः पञ्चभिरेव्याखीणि प्रकरणानि बोधनीति शेषेण योजना ॥ ९ ॥

तत्र गमकमाहुः—दैत्येत्यादि । दैत्यदेवांशभेदेन पितापुत्रौ हिरण्यकशिपु-
 १ पितापुत्रैर्निरूप्यते, इति पाठान्तरम् ।

कर्मणैव भवेदेतदिति कर्मनिरूपणम् ॥१०॥
 नारदस्त्रितयावेशी वक्ताऽत्र विनिरूप्यते ।
 ज्ञानी भक्तस्तथा कर्मां श्रोता चाऽपि निरूपितः ॥११॥
 दैत्यानां पञ्चकर्माणि लौकिकालौकिकत्वतः ।
 लौकिकं द्विविधं कृत्यं भोगेनापि निरूप्यते ॥१२॥
 तदतिक्रमणं कृत्यं सेवाधर्मकृतं न हि ।

महादौ निरूप्य ते सूक्ष्ममध्येमे वासने स्फुटीकृते । एतद्वासनादुपै कर्मणैव
 भवेदिति बोधयितुं कर्मनिरूपणमित्यध्याहारेण योजना । तथा च चार्यं क्रम
 एव तथा प्रकरणविभागमगमक इत्यर्थः । अत्र निरूप्यपिताविति पाठे तुनाऽध्या-
 हार इति श्रुणः । पितापुत्रैरिति पाठे पितापुत्रवर्दं तदुपाख्यानपरम् । पितृद्वैतं-
 शब्दं 'तावादिदैत्यो सहसे'ति तृतीयश्रुतबोधिनीतो ज्ञेयम् । पुत्राणां देवांशब्दं च
 'आसन् मरीचेः पटुपुत्रा' इति दशमस्कन्धाज्ज्ञेयम् ॥ १० ॥

अत्र युधिष्ठिरनारदसम्वादोऽप्युपनिषत्पर्यमाहुः-नारद इत्यादि । अत्रितया-
 वेष्टीति देवदैत्यनरावेशी । तेन त्रिविधवासनाशास्त्रित्वात्सम्पत्कचदृष्टान्ताभिन्नः ।
 दैत्यवासना च मन्थवेज्जन्मन्यतिलम्पटत्वाज्ज्ञेयः । 'देवोऽदेवाञ्जयनतः सृजति स्मावि-
 लोत्सुपा'नितिवाक्येन लाम्पट्यस्य तत्सहजधर्मत्वादिति । श्रोता तथेति ।
 युधिष्ठिरस्त्रितयावेशी ज्ञानादत्रितयवर्धेत्यर्थः । तथा च सम्यग् बोधयितुं सम्यग्
 बोद्धुं च तौ शक्ताविति बोधनाय तदुपनिषत् इत्यर्थः ॥ ११ ॥

एवमत्र सामान्यतः प्रकरणायां विचारितः । अतः परं प्रथमप्रकरणार्थं
 विश्रुततो विचारयन्ति-दैत्यानामित्यादि । दैत्यानां पञ्चपर्याविधाव्याप्तत्वात्तद्दशांनि
 पञ्चकर्माणि, तानि लौकिकालौकिकत्वतो लौकिकत्वमलौकिकत्वं च प्राप्य
 द्विविधानि, तेन तदुपबोधनायाये द्वेषा विभाग इत्यर्थः । तर्हि द्वावध्यायौ युक्तौ,
 कृतः पञ्चेत्यत आहुः-लौकिकमित्यादि । द्वितीयादिभिरध्यायेद्विविधं कृत्यं सर्व-
 पोषादिरूपं तपआदिरूपं च लौकिकं कृत्यं भोगेन । अपिशब्दात्पुत्रस्नेहादिना
 चापरं द्विविधं कृत्यमेवं चतुर्भिनिरूप्यते । तदतिक्रमणं प्रथमेन सनकाद्यतिक्रमणम-
 लौकिकं निरूप्यते इत्येवं पञ्चेत्यर्थः ॥ १२ ॥

वैकुण्ठस्थितानां सेवकानां भगवत्परिचर्यपोषैर्मतानां देहेन्द्रियासृष्टीनतया
 केवलानामविद्यासम्बन्धस्याज्ञवचनन्तात्कथं सनकाद्यतिक्रमस्याविद्याकृतत्वमित्या-
 काङ्क्षायामाहुः-सेवेति । अतिक्रमणरूपं कृत्यम् । हि निश्चये । सेवाधर्मार्थां

अवज्ञा त्वन्यथा न स्याद्विज्ञाप्या वा स्वयुक्तिः ॥१३॥
 अतो दैत्यस्वभावस्य समुद्गमनतस्तदा ।
 वैकुण्ठवासयोग्यत्वात्तथा शापं त्रिधा ददुः ॥१४॥
 वासना त्रिविधा दृष्टा स्फुटमत्यन्तनिर्गता ।
 अत्यन्तभोगे तु यथा तद्वत्कामः प्रशाम्यति ॥१५॥
 अतः कृपेव शापे तु कारणं हरिणा कृतम् ।
 तृतीयस्कन्धवार्ता तु मतान्तरमिति स्थितिः ॥१६॥
 क्रोधः कामस्तथा लोभो जन्मत्रयगता यतः ।
 वासनाहेतवो लोके दैत्यत्वं जायते यतः ॥१७॥

कृतं न, तत्र तर्केण हेतुं सूचयन्ति-अन्यथेति । अन्यथा यथेत्कृतं स्यात्
 (अवज्ञा न स्यात्) । वैज्रण स्वल्लनं न कुंर्यातां तेजश्च न विहसेतामिदानीं न दर्शनाक्सर
 इत्येवं वदेतां स्वयुक्तिभिस्ते विज्ञाप्या एव ताभ्यां स्युः । यतो नैवमतो ज्ञायते अविद्या-
 कृतभेवेति । तेन सिद्धमाहुः-अत इत्यादि । तथा च विभागसमयविचारितो यो दैत्य-
 स्त्रभाषो देहसम्बन्धप्राकार्यानां विद्यासंसर्गकृतस्तस्य च सम्यग्ब्रह्मोपादेव तदतिक्रमणमित्यर्थः ।
 इदं भगवद्विचारितं सनकादिभिरपि नान्त एवेत्याशयेनाहुः-तदेत्यादि । तथा
 शापं त्रिविधेति । त्रिजन्मव्यापकं क्रमेण लोभकामक्रोधत्राहुःत्रिमकारकमित्यर्थः
 ॥१३॥१४॥ शापेन यत्कृतं तदाहुः-वासनेत्यादि । ननु भवतु वासनायाः शापेन
 निर्गमस्तथापि पुष्टेः कथं सहकारित्वमित्यत आहुः-अत्यन्तेत्यादि । तुः पूर्वपत्सरितो ।
 यथा अत्यन्तभोगे कामः प्रशाम्यति तद्वदत्यन्तनिर्गमे वासनाऽपि । अतो वासना-
 निवृत्त्येतात् शापे कारणमपि हरिणा दुःस्वहर्त्रा कृतं कृपेव सूक्ष्मेसिकायामनुग्रहात्मकमेव
 वृत्रमसङ्गं कण्टकन्यायस्योक्तत्वात् सर्वत्र भगवद्विच्छायाः कारणत्वात्ततोऽत्रापि न पुष्टेः
 सहकारित्वमत्र इत्यर्थः । ननु यथेवं तदा तृतीयस्कन्धे ब्रह्मणा 'भगवत्पतिकूलशीलावि'ति
 भाववता च 'कन्दर्धीकृत्यं मां यद्दो बह्वान्तामतिक्रमय'तिस्वेच्छाविरुद्धत्वं किमिति बोधित-
 मित्यत आहुः-तृतीयेत्यादि । मतान्तरत्वं तृतीयनिबन्ध एव व्युत्पादितम् ॥१५॥१६॥
 एवं सर्वत्र सहकारित्वबोधनाय कार्यद्वारा तेषु वासना साधिता । अतः परं तस्या
 जन्मत्रयव्यापकत्वं कुन इत्याकाङ्क्षायामाहुः-क्रोध इत्यादि । वासनाहेतव

अतः सामान्यतः प्रोक्तो लोभोऽत्रैव विशेषतः ।
 क्रोधरूपो हरिस्तस्मादत्रैवावसतार ह ॥१८॥
 तद्धर्मग्रहणे तस्य क्रोधादिर्घाति नाऽन्यथा
 वासना च ततो नाशं यास्यत्येव न संशयः ॥१९॥
 अधिकारत्वसिद्धयर्थं ज्ञानमस्य निरूप्यते ।
 भोगातिक्रमयोर्मध्ये तपश्चाऽपि निरूप्यते ॥२०॥
 ब्रह्मस्तुतिर्वरप्रसिध्श्चतुर्भिः स्यादिवहोन्नतिः ।

इत्यत्र बहुव्रीहिः । समासान्तस्य वैकल्पिकतात्काभावः । यतो वासनातो दैत्यत्वं
 जायेत तादृशवासनाहेतुकाः क्रोधादयो यतस्तच्चजन्मनि प्रसिद्धाः, अतो हेतोः सा
 त्रिविधेति तथेत्यर्थः । तत्रैव लोभ एव कृत इत्याकाङ्क्षायामाहुः—अत इत्यादि । अतः
 सामान्यतः प्रबलाद्रजोगुणात् । रजसो लोभ एव चेति । तस्य मुख्यकार्यरूपो
 लोभः । अत्रैव प्रथमजन्मन्येव विशेषत आधिक्येन प्राप्तस्तस्माद्धेतोः क्रोधरूपः
 कम्पनाधिकरणविषयवाक्योरूपो हरिस्तद्दुःखहर्त्ता भगवाननेवैव जन्मनि अवततार
 मूलस्थानादिहागतः । ह इति प्रसिद्धौ नृकेसरिणो मूलरूपत्वेनैव तापनीये प्रसिद्ध-
 तादिति ॥१७॥१८॥

दोषनिवृत्तिप्रकारमाहुः—तद्धर्मत्यादि । एवं वराहावतारेऽपि यद्धरूपत्वेन
 'पशूनां वा एष मन्वुर्यद्भाराह' इति श्रुत्या च क्रोधरूपता ज्ञेया । अतः कृपयैव-
 झरणाच्च वैषम्यं भगवतीति पुष्टिदोषनिवृत्त्यर्थमेवैव लोलैति भावः । एवं चात्र
 प्रकरणे उक्तिः करणं क्रोधादिकं व्यापारो दैत्यादिरूपेण स्थितिः फलमिति
 बोधितम् । एतेन नृसिंहलीलाख्या वेदविरोधिनाशकत्वेन रक्षारूपत्वात्त-
 द्देशे लक्षणास्याव्यापकत्वं पुष्टिलक्षणास्यानित्यापकत्वं च निरस्तम् ।
 सहकारितयाऽत्र पुष्टेः सत्त्वेऽपि लीलायामूत्तरेव मूलत्वेन तत्पयुक्तत्वा-
 दिति । एवं वराहचरित्रेऽपि ज्ञेयम् । प्रकृतमनुसाराः ॥१९॥

ननु दैत्यवासनाया नैसर्गिकत्वे द्वितीयाध्यायोक्तं तत्त्वज्ञानं तृतीयोक्तं तपः-
 स्तुती चतुर्थोक्ता वरप्राप्तिश्च कथं सङ्गच्छते । अथ एवं ज्ञानादेरसम्भवात् । ब्रह्मणः
 सर्वज्ञत्वेन तादृशे वरदानायोगाच्चेति चेत्तमाहुः—अधिकारत्वेत्यादि । तथा च
 वराधिकारज्ञापनाय ज्ञानमुच्यते, ऐहिकोन्नतिज्ञापनाय ज्ञानादिचतुष्टयं तपसः परमो-

तपसः परमोत्कर्षो वरस्तुत्यादिना भवेत् ॥२१॥
 अत्यन्तभोगसम्पत्तावतृतिर्वासनावशात् ।
 द्वेषः सहेतुको नाऽत्र धातृमारणतः क्वचित् ॥२२॥
 पुत्रस्निग्धस्ततो यस्मादात्मत्वात्तु विशेषतः ।
 भगवानपि विश्वात्मा देवान् धारयते दृढम् ॥२३॥
 अतोऽत्र वासनाहेतुरहेतुः परमो मतः ।
 कृष्णाविष्टेन दैत्येन प्रह्लादजननं मतम् ॥२४॥
 वैकुण्ठे गमनं तस्य पूर्वसामर्थ्यसम्भवात् ।
 सर्वत्र वासना तस्य ज्ञानरूपा विनिर्गता ॥२५॥

त्कर्षज्ञापनाय वरस्तुती चोच्येते । तेन सर्वत्रोऽपि ब्रह्मा अविचार्यैव बाह्यतदुत्कर्षमय-
 लोकाय दत्तवान् । अधिकारदशायां विचाराभावेन सार्वभ्यस्य तिरोधानात् । अत
 एवात्रैवैव वरोऽसुराणां ते प्रदेयः पद्मसम्भवे'त्यनेनाविचारितदानं निषिद्धयते । अतो
 दैत्यानां लौकिकालौकिकत्वेनालौकिकांशस्याऽपि तत्र सत्त्वाचक्षुरासनावशेन ज्ञानादि-
 सम्भवेऽपि नासुरत्वप्रतिरोधो न वा परलोकोपकार इत्यर्थः ॥२०॥२१॥

दैत्यानां तादृशं तत्त्वज्ञानं वासनाजन्यत्वाल्लौकिकमेव विद्यालादीनां राज्ञो
 चाक्षुषादिवदित्यत्र गमकमाहुः अत्यन्तेत्यादि । न ह्यत्र तादृकत्वज्ञे भोगादनुसिधेवैत्,
 न वा धातृमारणतो द्वेषो भवेत् । नाऽपि तादृशज्ञानवान् क्वचित्पुत्रस्निग्धो भवेत् ।
 न वा देशत्वमुद्दिष्टत्वा भवेत् । न वा भगवति विषमत्वमुद्दिष्टमेव, यस्मादेतानि तस्मि-
 न्कृत्वाणि ततो ज्ञायते तृतिर्वासनावशात् । द्वेषो वासनाहेतुकः, पुत्रस्नेहोऽपि तत्सन्नापि
 'आत्मा वै जायते पुत्र' इति वेदात्मभावहात्त्र्येन विशेषतो भगवान्
 विश्वात्माऽपि दृढं देवान् धारयत इति वैषम्यज्ञानम् । अतो हेतोरत्र
 तत्त्वज्ञानेऽपि वासनैव हेतुर्नापर इत्यर्थः । ननु तस्य यदि सर्वं वासनातस्त्वदा
 तस्मात्परमवैषम्यवस्य प्रहादस्योत्पत्तिः कथं भवेत् । अष्टमस्कन्धीयेषु श्रीवामन-
 वाक्येषु तस्य वैकुण्ठगमनं कथमुच्येत्यत आहुः—कृष्णेत्यादि । तत्रैव 'अतोऽ-
 ह्मस्य हृदयं प्रवेक्ष्यामि परात्देश' इति कथनाद्भगवांस्त्वद्दृष्टयं प्रविष्ट इति तादृशेन
 तज्जननं वैकुण्ठगमनमपि पूर्वसामर्थ्यादेव । ननु तस्य सर्वत्रोक्तानुक्तं अन्यत्रोक्तं च कार्यं
 तस्य ज्ञानरूपा वासना विनिर्गता सम्यग् बहिः प्रकटा जाता, तथैव स्नेहादिकं

अतः स्नेहस्तथा चक्रे यो यच्छूद्रः स एव सः ।
 इति बुद्ध्या मतिं चक्रे पुत्रमारणतंपराम् ॥२६॥
 कृष्णद्वेषो महत्पर्वं ज्ञापात्तत्र न तत्फलम् ।
 सद्वासनाप्रकारेण ततो मारणमुच्यते ॥२७॥
 ज्ञानुश्वेतपुत्रतां याति तदा द्वेषो भवेत्कश्चित् ।
 तदभावाय तस्नेहः पञ्चमे वै निरूपितः ॥२८॥
 औद्धत्यं सर्वपीडा च स्वपीडानिर्वृतिः सदा ।
 भगवद्भक्तपीडा च वासना पञ्चषोडशिता ॥२९॥
 अतः सद्वासनां प्राह पञ्चभिः सर्वमोक्षदाय् ।
 दैत्यभावे गते सर्वे मुच्यन्ते नाऽत्र संशयः ॥३०॥

जातमिति सर्वत्र सेवोच्यत इत्यर्थः ॥२२॥२३॥२४॥२५॥२६॥

ननु स्कन्धारम्भे द्वेषान्मुक्तिरूपा, सास्य कारणसत्त्वेऽपि कृतो नाऽभूदित्यत आहुः—कृष्णद्वेष इत्यादि । महत्पर्वेति । तामिन्द्रादिषु पञ्चमं महातमोत्सवम् । स्फुटमन्यत् ॥ २७ ॥ नन्वग्ने द्वेषकार्यस्य कनयातः पूर्वं पुत्रस्नेहकथनस्य किं प्रयोजनमत आहुः शत्रुरित्यादि । तथा च स स्नेहोऽपि महातमस एव रूपविशेष इति ज्ञापनाय तत्कथनमित्यर्थः । एवं महापर्वव्याख्याय तावन्मात्रसत्तां व्यावर्चयितुं सर्वस्या अविद्यायाः सत्त्वं कार्यद्वारा सूचयन्ति—औद्धत्यमित्यादि । निर्वृतिः कामभोगः । तथा च मूलजीवगतया वासनया सनकाद्यतिक्रमस्ततः कार्यजीवगतया लोभाद्यप आदिकम्, ततः स्फुलगायया औद्धत्यादिपञ्चकमित्येवं पञ्चभिरध्यायैः सपरिकरा दैत्यवासना आधुरसर्गबीजभूता निरूपिता । तेनार्थं प्रकरणं समाप्तमित्यर्थः ॥२८॥२९॥

एवं सप्तदशभिः प्रथमं प्रकरणं विचारितम् । अतः परं द्वादशभिर्द्वितीयं दैवसर्गबीजभूतां सद्वासनां वक्तुं देवप्रकरणं विचारयितुमारभन्ते—अत इत्यादि । अत इति अतः परम् । सर्वमोक्षदामिति । अविद्यापर्वपञ्चकनाशिकायुः नन्वभ्यर्हितत्वात्सद्वासना पूर्ववत्कथ्या, सा पश्चात्कृत उच्यत इत्यत आहुः—दैत्येत्यादि ।

२ तत्परः । ३ प्रकरणे ।

अतो ज्ञानक्रियाभ्यां च सर्वान्मोचयते स्फुटम् ।
 सैव सद्वासना प्रोक्ता या सर्वानिव मोचयेत् ॥३१॥
 दया तु प्रथमं पर्वं ज्ञानदा येन मुच्यते ।
 महत्कृपा द्वितीयं तु सानुभावा विशेषतः ॥३२॥
 ततोऽतिदुःखहेतूनां नाशकश्चेद्भिरिर्भवेत् ।
 क्रियापूर्वाङ्गभावेन तृतीयं पर्वं तद्भवेत् ३३॥
 सर्वथा सन्मुखो जीवो यथा तत्तु चतुर्थकम् ।
 कायवाङ्मनसां भावः प्रसादः सहितस्तु तत् ॥३४॥
 निर्दुष्टसर्वसुखभाक् पूर्णकामश्च पञ्चभाक् ।

‘निबन्धायासुरी मते’ति वाक्यादौत्यभावस्य वन्यकत्वेन तस्मिन् गते सर्वे शुच्यन्ते अत्र संशयो न, प्रतिबन्धकाभावस्य हेतुत्वात् ॥ ३० ॥ अतः सद्वासना ज्ञानक्रियाभ्यां सर्वान् स्फुटं मोचयत इत्यसद्वासनानिबन्धकत्वज्ञापनाय पश्चादुच्यत इत्यर्थः ॥

कार्यद्वारा तस्या लक्षणमाहुः—सैवेत्यादि । तेन काम्यधर्मादिविषयिणी सा नेति तस्या निष्कृष्टं स्वरूपं प्रकरणप्रतिपाद्युक्तम् ॥ ३१ ॥

अध्यायार्थान् वदन्तः पर्वान्पाहुः दयेत्यादि । ‘तस्मात्सर्वेषु भूतेषु दयां कुरुते’—त्यादिषु अध्यायसमाप्तिस्थवाक्यैर्षोचकज्ञानदायिनी दया तस्याः प्रथमं पर्वं । एवं सप्तमे नारदकृपायाः सानुभावाया उक्तत्वात्तद्व्यो महत्कृपा द्वितीयं पर्वं । तथा-ऽहमे श्रीशृङ्गिषाद्भुवस्वीकत्वाद् दुःखनाशकभगवत्सादुर्भावानुकूला क्रिया तृतीयं पर्वं । ततो नवमे महादस्य सर्वथा भगवत्साम्मुख्यमुक्तमिति । यथा जीवः सर्वथा भगवत्सम्मुखो भवेत्तत्तु चतुर्थं पर्वं । ततो दशमे स्वतन्त्रभक्तेरुक्तत्वाद्भगवत्प्रसादस्य चोक्तत्वात्सहितो यो भवति कायवाङ्मनसां भावस्त्वत्यर्थं पर्वं सफलमित्यर्थः । एवं पर्वकथनसुखेनाध्यायार्था उक्ताः । एते पञ्चाप्यत्र व्यापाराः । देववरूपेण स्थितिः फलमिति बोध्यम् । देवरूपं च भगवत्परत्वं ज्ञेयम् ।

ननु पञ्चमाध्याये त्रिपुरोपाख्यानस्य किं प्रयोजनमत आहुः—

दुर्वासनाया मूलं तु त्रिपुरं परिकीर्त्तितम् ॥३५॥
 आधिदैविकरूपं तु तथाऽन्यत्र हरिस्तथा ।
 कृष्णप्रसादः सर्वत्र बलं पानेऽथ रक्षणे ॥३६॥
 मर्यादा त्वत्र मार्गं हि यावता यो हि सिद्ध्यति ।
 तावत्तस्य हि कर्त्तव्यं तेन वा तास्तु बोधतः ॥३७॥
 स्थूला वैश्येश्वरश्चैव देहनाशेन मोचितः ।
 प्रह्लादोऽप्याग्रही चैव ब्रह्मा वाऽप्युपदेशतः ॥३८॥

दुर्वासनेत्यादि । तुः पूर्वपत्निरासे । एतदुपाख्यानात्कथनेन त्रिपुरं गुणव्यसमष्टि-
 मायारूपं दुर्वासनाया मूलं परिकीर्त्तितं सामर्थ्योपासककार्यादिसहितं कीर्त्तितम्
 ॥३२॥३३॥३४॥३५॥ कृतोऽस्य मूलतमित्यत आहुः-आधिदैविकरूपमिति ।
 दुर्वासना हि मोहादुत्पद्यते, मोहश्च मायया, सा तस्या मूलमित्यर्थः । तर्हि
 सद्वासना कृत इत्यत आहुः-तथाऽन्यत्र हरिस्तथेति । यथाऽत्र मायामूलं
 तथा सद्वासनायां हरिमूलम् । अत एवैतदुबोधनाय भगवतस्तन्नाशकमयोजनकलमुच्यते
 इत्याशयेनाहुः-कृष्णेत्यादि । पाने इति रसकृपाभूतपाने । रक्षण इति शम्भुरक्षणे ।
 तथा च पुष्टेः सहकारित्वबोधनप्रबुद्धकमेतत्सर्वबोधनाथमिददुष्पाख्यानाद्युक्तमित्यर्थः ॥३६॥

नन्वत्र स्कन्धे द्विविधसर्गमूलभूता द्विविधा वासना निरूपणीया । तस्या
 बोधनाय पुष्टेः सहकारित्वं च निरूपणीयम्, तदेतत्पितापुत्रयोः कथया श्रीतुसिंहावतरण-
 कथया च सिद्धं वैषम्यं च परिहृतम् । अतो दुर्वासनामूलकथनस्य हरेस्तन्निवृत्तकथनस्य
 च प्रकृतापुत्रयोगादसङ्गतिरित्युक्त्या पशान्तरमाहुः-अर्थादेत्यादि । तुः शङ्कानिरासे,
 अनुपयोगशङ्कान् कर्तव्या । अत्र वासनामार्गं । हि यतो हेतोर्मर्यादा । मर्यादापुष्टिः
 सहकारिणी, अतो हेतोः हि निश्चयेन यो यावता सिद्ध्यति
 पूर्णकामो भवति तस्य तावच्छि तावदेव भगवता कर्त्तव्यं नाधिकम् ।
 तेन वा हेतुना त्रिपुरोपाख्यानाद्युक्तमिति गोज्ञान । तत्प्रदर्शयन्ति-ता इत्यादि ।
 ताः वासनाः स्थूलास्तु बोधतः महादीयज्ञानबोधनान्मोचिताः, दैत्येऽश्चरश्च
 देहनाशेन लोभान्मोचितः । च पुनः महादोऽप्याग्रही दैहदुःखात् ।
 ब्रह्माऽपि अविचारितकारी । 'मैवं करोऽधुराणां त' इत्युपदेशतोऽविचारित-

महादेवो मनोदुःखाद्भक्तः शैवोऽपि दोषभाक् ।
 अतो मयस्तथा चक्रे तस्मादीशो विमोचितः ॥३९॥
 पितापुत्रौ पुरस्कृत्य वासनाद्वयमीरितम् ।
 सहजे वासने तेन पुष्टियुक्ता हरेः स्फुटा ॥४०॥
 सद्वासना चेत्सहजा सम्पद्गद्गादृद्धिमेष्यति ।
 तेषामेवापमानेन द्वितीया वञ्छते तथा ॥४१॥
 उभयं सहजं तस्य तदर्थं प्रक्रियान्तरम् ।
 पञ्चधा कर्मकरणान्मूलभूताऽपि नश्यति ॥४२॥

करणकेशान्मोचितः । महादेवो मनोदुःखात्त्रिपुरहननप्रयत्नेवैफल्यकृतोद्वैमन-
 स्यान्मोचितः । शैवो भक्तो भयोऽपि दोषभाक् तत्र गमकम् । अतोऽस्यादोषा-
 देव तथा तादृश्यः पुरुषके सोऽपि मनोदुःखात्स्वकृतवैफल्यजनितशोकरूपान्मोचितः ।
 तदुक्तं 'स्वयं विशोकः शोकार्चानि'त्यनेन । किञ्च तस्मादीशो विमोचित-
 त्स्त्रिपुरवधकृताहङ्कारादोश ईशन्वाभिमानादिशेषेण मोचितः । तथा चास्यां लीलायां
 मर्यादापुष्टिः सहकारिणीति बोधनायेयं कथा निरूपितेत्यर्थः ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ ३९ ॥
 प्रकरणद्वयेन यत्सिद्धं तदाहुः-पितेत्यादि । तथा च पितापुत्रोपाख्यानेन वासनयोः
 सहजत्वं हरेः सम्पद्गद्गादृष्ट्या लीलायाः स्फुटास्फुटपुष्टियुक्तत्वं सत्सद्वासनाया
 वृद्धिस्तदपमानेनासद्वासनाया वृद्धिरित्येतत्सर्वबोधनमेतेन सिद्धमित्यर्थः ॥४०॥४१॥
 एवं द्वादशभिर्द्वितीयप्रकरणं विचारितम् ।

अतः परमद्विभक्तिस्तृतीयं प्रकरणं विचारयन्ति । ननु 'द्वै-
 भूतसर्गावि'ति वाक्यात्सर्गो द्विविध इति तन्मूलभूतवासनाऽपि द्विविधेति तृतीयस्य
 प्रकरणस्य किं प्रयोजनमत आहुः-उभयमित्यादि । तथा च सङ्कीर्णसर्गमूलभूता
 तृतीयाऽपि वासना विशिष्टातिरेकन्यायेनास्तीत्यतस्तदर्थं तदित्यर्थः । अत्र च शोध-
 दयादीनां सङ्कीर्णानां व्यापारत्वं ज्ञेयम् । स्थितिविकारस्तत्रैव स्वयमेव वक्तव्यः ।
 नन्वेतदुभयोर्मध्ये एका हेया, द्वितीयोपादेयेति यद्योभयं सहजं तस्य द्विविधकर्मणा
 द्विविधफलभवनान्मुक्तिर्दूरापास्ता तत्सहकारिणी पुष्टिस्तु दुर्गेया स्वानधीना चेति
 किं तदर्थं प्रक्रियान्तरेणेति चेच्चत्वाहुः-पञ्चचेत्येति साद्वैतयम् । मूलभूतेति

निषिद्धकर्मकरणात्तथा सदासना पुनः ।
 विरुद्धवासनापोषाह्यो वा तद्दिरोधतः ॥४३॥
 भक्तिमार्गानुसारेण सती चेच्छ्रवणादिभिः ।
 वासना पोषिता काले फले भुक्ते पुनः पुरा ॥४४॥
 प्रादुरासीदतो ह्येतौ जयश्चाऽन्यश्च तादृशौ ।
 इमं सूक्ष्मं तु यो वेद तस्योपायो निरूप्यते ॥४५॥
 अतो नारदसम्प्रश्नः किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ।

दैत्यवासनेतिशेषः । तथेति नश्यतीत्यर्थः । पुनरित्यादि । दुर्वासनानिच्छत्यर्थं पञ्चधा कर्म कुर्वेत्श्रेतेनचिन्त्रिमित्तन विरुद्धवासना पुष्टा भवेत् तादृशदशायां यदि तस्य भरणं तदा तत्कर्मबलेन विरुद्धवासनासहितस्यैव तस्य ब्रह्मणि लयः स्वाप्ययवद्वा शब्दात्पातः । एतदन्यतरस्य फलं भवति । यदि दुर्वासनां स्वमित्तन-वगत्य तद्दिरोधतस्तद्दिरोधं कृत्वा सती वासना चेद्भक्तिमार्गानुसारेण पोषिता तदा काले वैकुण्ठादौ तत्फले भुक्ते सति 'पुरा आसीद्यथा तथे'त्याध्याहारः पुनः प्रादुर्भवेत् । अतो हेतोर्जयोऽन्यो विजयश्च तादृशौ भगवद्वाङ्मि गत्वापि पुनर्वासनावशादुत्पन्नौ, इमं सूक्ष्मं दुर्ज्ञेयमर्थं यो वेद अर्थाद् विधियान्तस्योपायोऽत्र प्रकरणे निरूप्यते । तथा च तादृशत्वेऽपि पुष्टेः सुज्ञेयस्यार्थं तस्य फलार्थं क्लेशाभावाद्यर्थं च तृतीयं प्रकरणमुच्यते इति नास्यानर्थक्यमित्यर्थः ॥४२॥४३॥ ४४॥४५॥

अयमेव व्यासचरणानां देवर्षिश्चाशय इत्यत्र गमकपाहुः-अतो नारदेति । यद्ययमाशयो न स्यात् तदा युधिष्ठिराकाङ्क्षायाः पूर्णतादेवर्षिभगवद्दीर्घार्थेष्वेव स्तुवन् अपरं वदामि किमिति न पृच्छेत् । राजाकाङ्क्षायाः पूर्णताच्छ्रीशुकोऽपि नोपसिपे-द्भ्यासोऽप्यत्र नोपनिबन्धीयादत् इदं त्रयाणामपि सम्मतमित्यर्थः । ननु प्रहाद-चरित्रं भुक्त्वा युधिष्ठरो भक्तिं कृतो न पृष्टवान् धर्ममेव कुतः पृष्टवैस्तत्रापि वर्णाश्रमाचारयुत्तम् । न च तस्य फलान्तरेण 'यत्पुमान्निन्दते पर'मिति फलत्वेन परमाप्यनुवादात् । तत्र च भक्तेरेव कारणतायाः प्रहादवाच्येभ्यन्ततः सिद्धत्वात् । उत्तरे च नारदेन त्रिशङ्खगणधर्मकथने श्रवणादिनवकस्यैवोक्तत्वात्वेत्य

भक्तिमार्गस्तु फलदो न प्रायश्चित्ताऽस्य हि ॥४६॥
 अतः शुद्धिं तावतीं तु करोति न ततोऽधिकाम् ।
 कपायपक्तिः कर्माणि यथाऽग्निर्द्रोहको मतः ॥४७॥
 भक्तिमार्गः केवलस्तु यस्य स्याद्वासना शुभा ।
 न द्वितीया तस्य सिद्धयेदुभयं चेत्तु कर्मणः ॥४८॥
 कपायपाकशुद्धिर्हि पक्वं नश्यति तत्क्षणात् ।
 भक्त्या ज्ञानेन वा तत्स्यादतोऽन्ते तच्च कीर्त्यते ॥४९॥
 साधारणश्च यो धर्मो यश्च वर्णाश्रमात्मकः ।

आहुः-भक्तिमार्ग इत्यादि । तुः शङ्कानिरासे । द्वितीयस्तुरेवकार्थकः । ततोऽधिकामिति दुर्वासनानिवर्तिकायम् । अतस्तां न पृष्टवानित्यर्थः । कपाय-पक्तिरिति । कपायः कार्यज्ञोवगता दुर्वासना तस्य पक्तिः श्रेयित्यं तज्जननस्वभाव-त्वात्तद्रूपाणि अतस्तन्निवर्तनाय धर्मान् पृष्टवानित्यर्थः ॥४६॥४७॥४८॥

तर्हि 'भक्त्या ततोर्पे'ति । तृष्टे तु तत्र किमलभ्यमिति प्रहादः कुत उक्तवानित्यत आहुः-भक्तिमार्गः केवल इत्यादिचरणत्रयम् । तथा च स केवलसदासनावानतः स्वानुभवमुक्तवानित्यर्थः । तर्हि नारदः कुत उक्तवानित्यत-स्तत्तावत्पेमाहुः-उभयमित्यादि । उभयं वासनाद्वयं चेत् तु पुनः कर्मणः सकाशात्कपायपाकरूपा शुद्धिः हि यतो हेतोः पक्वं दैत्यत्वं तत्क्षणात्-इत्यति कालादेव नश्यतीत्यर्थं नारदो धर्ममुक्तवान् । वासनादाहर्षं केवलेन कालेन दैत्यत्वस्यानाशाङ्कत्वात् ज्ञानेन वा तन्नाशनम् । अतो हेतो क्लेशाहङ्खणधर्म-कथने भक्तिं नवविधामुक्त्वा अन्ते उपदेशसमाप्ती तत्र कीर्त्यते विविधाद्वैत-निष्पण्णेन ज्ञानमपि कथ्यते । तथा च दुर्वासनानिच्छतिः क्वचित्केवलेन धर्मं कश्चित्सहकृतप्रत्यया तादृशेन ज्ञानेन वेति बोधनार्थं नारद उक्तवानित्यर्थः ॥४८॥४९॥ एवमष्टाभिः प्रकरणार्थ उक्तः ।

(अ. ११) अतः परमध्यायार्थान्वदन्तः प्रथमस्थार्थं वडुभिराहुः-साधा-रण इत्यादि । साधारणो धर्मः सत्याश्रमसमर्पणान्तर्निशङ्खगणवान् 'नृणामर्थं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः । त्रिशङ्खगणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यतीत्यन्वे

उभयं क्रमशः कृत्वा दुष्टां वै वासनां दहेत् ॥५०॥
 ब्रह्माण्डे तस्य सम्बन्धो यावानस्ति यतस्ततः ।
 त्रिंशद्विंशत्यधर्मेण तावत्यो वासना दहेत् ॥५१॥
 विराट्छन्दस्तथा चाण्डं त्रिंशद्विंशत्सकं यतः ।
 प्रसादः सात्त्विको बुद्धेः सत्त्वलक्षणमीदृशम् ॥५२॥
 अतः प्रसादो येनैव तत्कुर्यादुक्तसाधनेः ।
 पुरुषार्थस्य सम्प्राप्तौ दुष्टा वै विनिवर्त्यते ॥५३॥
 दुष्टोऽपीष्टफलं प्राप्य निवर्तेतापि निश्चितम् ।
 अत आश्रमभेदेन धर्माश्चत्वार ईरिताः ॥५४॥
 धर्मा एते भगवतस्तत्त्वे चूदयगोचराः ।
 धर्मिवासाय ते सर्वे दैत्यभावं दहन्ति हि ॥५५॥
 ब्रह्मचारी वनस्थश्च धर्मद्वैविध्यबोधने ।

‘सर्वेषामि’ति कथनात् । वर्णाश्रमात्मकस्तु प्रसिद्ध एव तत्तदधिकृतोक्तः । चो
 परिकरसाहित्यबोधकौ ॥५०॥ धर्मं त्रिंशद्विंशत्यधर्मकथनस्य किं प्रयोजनमत आहुः-
 ब्रह्माण्ड इत्यादि । यतः सम्बन्धस्तं प्राप्य तावतीनामवान्तरवासनानां दाहार्थं
 वावलक्षण उक्त इत्यर्थः । सम्बन्धस्य तावद्विषयत्वं कृत इत्याकाङ्क्षायामाहुः-
 विराट्छन्द इत्यादि । यतः विराट्छन्दस्त्रिंशद्विंशत्सकं च पुनः विराट्छन्द-
 वाच्यत्वात्तदर्थं तथा अतः सम्बन्धस्य तावद्विषयमित्यर्थः । अत्रोपक्रमे ‘येन चात्मा
 मसीदती’ति उपसंहारे च ‘सर्वात्मा येन तुष्टयती’ति कथनाद्यत्सिद्धयति तदाहुः-
 प्रसाद इत्यादि सार्द्धम् । ईदृशमिति भगवत्प्रयोजनकम् ॥५१॥५२॥५३॥
 *द्वितीयस्य प्रयोजनमाहुः-दुष्ट इत्यादि । निवर्ततेति दुष्टभावाच्चिवर्तते । आश्रय-
 भेदेनेति । आश्रया वर्णा आश्रमाश्च तत्रेवेन । धर्मिवासायेति भगवद्वासाय
 ॥५४॥५५॥ एवं बह्विभिः प्रथमार्थं उक्तः ।

द्वितीयस्यार्थमाहुः-ब्रह्मचारीत्यादिब्रह्मचारी । तत्र ‘पदाद्विषयो

* साधरणात्रिंशद्विंशत्यधर्मो द्वितीयस्य वर्णाश्रमधर्मस्यैवार्थः ।

एकाध्यायेनोभयेषां धर्ममध्यापनं ततः ॥५६॥
 न्यासोऽन्तिमप्रकरणं द्वितीये विनिरूपितम् ।
 तदेव कार्यं धर्मस्य नार्थकामावितीरयन् ॥५७॥
 अर्थकामौ गृहस्थस्थवासनानाशकौ यथा ।
 तादृशौ तौ समाख्यातौ तदर्थं सर्वनिर्णयः ॥५८॥
 वासना विषये दुष्टा धर्मेणैव निवर्तते ।
 धर्माधिकारस्तावच्चि ततो भक्तिस्तथा मतिः ॥५९॥
 यदैव सर्वभूतेषु कृष्णे वा परमात्मनि ।
 दुष्टभावो न जायेत तदा स्याद्वासनाक्षयः ॥६०॥
 तदा भक्त्यधिकारः स्यादन्ये न त्वधिकारिणः ।

अभावे त्वधिकारस्य यदि कृष्णं भजेत्स्वतः ॥६१॥

बहिष्कार प्रजानां य आश्रमाः, अन्तस्त्रिलोक्यास्तपरो गृहमेधो बृहद्भ्रत’
 इत्यत्र गृहस्थस्यतिरिक्तानाश्रमनयोपलभ्यते ब्रह्मचारी वनस्थश्च उच्चैर्गमनसाध-
 नोभूतो यो धर्मस्तद्बोधने कर्तव्ये उपतुष्येति । अत एकाध्यायेन उभयेषां
 ब्रह्मचारिणां वनस्थानां च धर्ममाह । तत्राऽपि ब्रह्मचारिधर्मं ‘छन्दांस्यधीयीते’-
 त्युक्तवात्रे गृहस्थसाधारणधर्माणां कथनेनाध्यापनं प्राह । ततः समाप्तौ ‘संन्यस्याह-
 ममात्मता’मिति कथनादन्तिमं प्रकरणं तृतीयाध्यायोक्तो न्यासस्तेन यद्द्वितीयेऽ-
 ध्याये विनिरूपितम् अ. १२ ‘एवंविधो ब्रह्मचारी वानमस्यो यत्किमिरी । चरन्
 विदितविद्वानः परं ब्रह्माधिच्छर्ता’ति । तदेव धर्मस्य कार्यं ‘नार्थकामावितीरयन् प्राह’ति
 योजना ॥५६॥५७॥ एवं त्रिभिर्द्वितीयाद्युत्तीयचयोरर्थे उक्तः ।

अश्रमयोरर्थमाहुः-अर्थकामाधित्यादि । यथेति विवक्षिताविति शेषः ।
 समाख्याताविति विचारपूर्वकं निर्णीता । तदर्थं तादृशार्थकामनिर्णयार्थं सर्वेषां
 धर्माणां तद्विज्ञानं कालादीनां च निर्णय उक्त इत्यर्थः । तेन वासनास्ययादिप्रकारमाहुः-
 चास्तनेत्यादि । तावदिति यावद्वासनाया अक्षयः । तत इति वासनास्ययोप-
 रम् ॥५८॥५९॥ वासनास्ये गम्यमानः-यदैवेत्यादि । तस्योपयोगमाहुः- तदा
 भक्त्यधिकारः स्यादिति । अन्य इत्यसौणवासनाः । वासनानिवर्तनस्यावश्यकत्वाय,

सद्वासनातः सङ्गाहा धर्मत्यागस्तदा यदि ।
 तदा द्वेषो भवेत्कृष्णे दुर्बुद्धिर्वा विशेषतः ॥६२॥
 तदाऽपराधो भविता भक्तिर्दुष्टा च जायते ।
 तदोपेक्षा भगवतः कालादीनामुपद्रवे ॥६३॥
 दुर्वासनाऽतो ह्यत्यन्तं भक्तोऽप्यत्र विशेषतः ।
 भीष्माक्रूरार्जुनादिवै दुःखमाप्नोति यद्वशात् ॥६४॥
 युधिष्ठिरे कृष्णभक्ते नारदः प्राह कर्म तत् ।
 विधर्मादिपरित्यागाद्यथोक्तकरणेन हि ॥६५॥
 दुर्वासनाया नाशः स्यान्नृत्यथा तु कथञ्चन ।
 जीवस्य ब्रह्मभावे तु नाश्यते जीववासना ॥६६॥
 गुरुपदेशादिवलाञ्छानेनैव तथा भवेत् ।
 पक्वा एवं हि नाश्यन्ते ज्ञानेन भजनेन वा ॥६७॥
 अन्तःकरणपाकस्तु तत्र हेतुः स्वकर्मभिः ।

अनधिकारेण भजने यद्भवति तदाहुः—अभावे त्वित्यादिसाक्षाभ्याम् । स्वत
 इत्यस्यैव विवरणं सद्वासनात इति । सङ्गादिति भगवद्भक्तसङ्गात् । तथा
 भजने यद्यधर्मकरणाभावस्तदा सा भक्तिः प्रायश्चित्तरूपतां भजन्ती दुर्वासनां
 क्षययतीति पूर्वस्कन्धीयनामप्रकरणात्सिद्धम्, यदि तदा वासनया भजने क्रियमाणे यदि
 धर्मत्यागो भवति तदा 'तदा द्वेष' इति साद्धेनोक्तं फलं भवति ।
 तस्मात्तन्नाशायधर्माभावाय चौक्तरीत्या सद्धर्मः कर्तव्य इत्यर्थः ॥६०॥६१॥६२॥६३
 दुर्वासनायाः सत्प्रेऽपि भजने सर्पादापुष्टौ यद्भवति तन्निरर्शनपूर्वकमाहुः—
 दुर्वासनात इत्येकेन । अत्रेति । सर्पादापुष्टिमुक्त्वा यामुत्तिलीलायां निदर्शनान्तरमाहुः—
 युधिष्ठिर इत्यादि, तस्मादिति शेषः । एवं चतुर्थस्य सम्पूर्णस्य पञ्चमीयैकादश-
 श्लोकानां च तात्पर्यमुक्तम् । (अ. १५. श्लो. १२) 'विधर्मः परधर्मश्चेत्यादेस्तात्पर्यमाहुः—
 विधर्मादीत्यादि । 'धर्मार्थमपि नेहेते'त्यादीनां तात्पर्यमाहुः—जीवस्येत्यादि । जीव-
 वासनेति । विभागसामयिकी वासना । तथा 'भवेदिति ब्रह्मभावे भवेत् । अन्यासां
 चतसृणां नाशनप्रकारमाहुः—पक्वा इत्यादि । तत्र हेतुरिति कार्यजीवत-

पक्वं योगेन भक्त्या वा ज्ञानेनापि स नाश्यते ॥६८॥
 तपसैव तु पच्यन्ते प्राणानां वासनो दृढाः ।
 योगेनैवेन्द्रियगताः कर्मणैव शरीरगाः ॥६९॥
 तस्मात्पञ्चविधं कर्म यथोक्तं सर्ववर्णिभिः ।
 योगेन तपसा भक्त्या ज्ञानेनाऽपि क्रमात्तथा ॥७०॥
 शुद्धाधिकारफलता भक्तेर्नान्यत्र कुत्रचित् ।
 सद्धर्मैश्चेत्सुसंतिद्धस्ततः प्रोक्तस्तथा क्रमः ॥७१॥
 स्वाध्यायश्च तपश्चैव ममतानाश एव च ।
 देहकालादिसम्पत्तौ कर्म चाऽप्युत्तमोत्तमम् ॥७२॥
 देहादिवासनानाशे चतुष्टयमुदाहृतम् ।
 अन्तःकरणधर्माणां संक्षयश्च यदा भवेत् ॥७३॥
 तदैव वासना क्षीणा अतः साधनवर्णनम् ।
 सर्वस्य मूलं विप्रा हि गुरवस्ते प्रकीर्त्तिताः ॥७४॥
 तत्कृपातो भवेत्सर्वमेकमेतद्धि साधनम् ।
 तत्सेवा सर्वकर्माणि तथा नश्यन्ति वासनाः ॥७५॥

वासनापाके हेतुः । स्वकर्मभिरिति निर्वर्णनाश्रमधर्मः । पक्वमिति ॥६४॥६५॥६६
 ॥६७॥६८॥ अन्तःकरणदुर्वासनारूपं पापम् । सर्ववर्णिभिरिति कार्यमिति शेषः ।
 यथोक्तसर्वसिद्धौ फलमाहुः—योगेनेत्यादि । अपिर्वैरायसमुच्चायकः । अनेन क्रमेण
 सिद्धिः कदेत्येत्सामायाहुः—सद्धर्मैरित्यादित्रयम् । एतेन विद्यायाः पञ्चवर्णाणि यानि
 शास्त्रार्थप्रकरण उत्तानि तेषामेतन्मूलमिति ज्ञापितम् ॥६९॥७०॥७१॥७२॥७३॥

क्रमसाधनसिद्धौ हेतुमाहुः—सर्वस्येत्यादि । सर्वकर्माणीति । तथा
 सिद्धयन्तीतिशेषः । प्रसाद इति ब्रह्मवादिनां प्रसादः । 'यथं नृलोक' इत्यादीनां

इति दर्शयितुं शापः प्रसादश्च प्रकीर्तितः ।
 ते वश्याः कृष्णभक्त्यैव युधिष्ठिरग्रहे यतः ॥७६॥
 समायान्ति ततः कृष्णसेवा चेत्सर्वदा भवेत् ।
 क्रमेण वासनाः सर्वा नाशं यान्ति न संशयः ॥७७॥
 अतो ब्राह्मणवाक्येन सेवां कुर्यादहर्निशम् ।
 कर्माशक्तौ ब्राह्मणास्तु चक्रुस्ताः कर्मभिः सह ॥७८॥
 स्कन्धे निर्धारितो ह्यर्थः स्पष्टोऽत्र विनिरूप्यते ।
 वासना द्विविधा यस्य स कुर्याद् गुरुस्सेवनम् ॥७९॥
 सर्वभावेन तद्वाक्याद्भगवद्भजनं ततः
 उभयोर्यदि दुष्टा स्याद्वासनाऽत्र कथञ्चन ॥८०॥
 तदा कर्माणि कुर्वीत यथोक्तानि स्वधर्मतः ।
 साधारणेषु धर्मेषु यदि निष्ठा भवेत्कचित् ॥८१॥
 वासना चेत्तदा नष्टा भक्तिमेव तदाऽभ्यसेत् ।

×अन्यथा ब्रह्मचर्यादि जन्म प्राप्य समाचरेत् ॥८२॥

तात्पर्यं वदन्तस्तेषां प्रसादे हेतुमाहुः-ते इत्यादिद्वयम् । पूर्वं वर्णाश्रमपरमर्कयनपूर्वकं भगवत्पूजनस्युक्त्वा समाप्तौ 'मीनेन भक्त्योपशमने पूजितः प्रसीदतामेव स सात्त्वतां प्रति' रिति । यत्केवलमेव पूजनस्युक्तं तत्तात्पर्यमाहुः-कर्माशक्ताचित्यादि । ता इति केवला भगवत्सेवाः । चक्रुरित्यस्याहस्या योजना । अपेक्षयाहारश्च । तथा च देशाकर्णणाद् द्विधोक्तिरित्यर्थः । (कर्माशक्तौ ब्राह्मणाः केवला भगवत्सेवा एव चक्रुः । कर्मशक्तौ तु कर्मभिः सहापि भगवत्सेवाः चक्रुरित्यर्थः) ७४ ॥ ७५ ॥ ७६ ॥ ७७ ॥ ७८ ॥

एवमष्टत्रिंशद्भिः सर्वैः प्रकरणाध्यायार्थं निरूप्य सार्धाष्टभिः सर्वैः स्कन्धार्थं सङ्ग्राह्यः-स्कन्धे निर्धारित इत्यादि । उभयेरिति गुरुशिष्ययोः । साधारणेष्विति त्रिंशद्भिराशुषु । अन्यथेति त्रिंशद्भिराशुषु निष्ठाभावे ॥७६॥८०॥८१॥८२॥

× ७९-८२ कारिकयोः स्कन्धान्ते ३८४ तमे पृष्ठे : निबन्धकठिनांशविवेचनमनुसन्धेयम् ।

जातिस्मरत्वं संस्कारप्रबोधो वा भवेद् ध्रुवम् ।
 तदा क्रमेण ते धर्माश्चतुर्धा व्यस्य बुद्धितः ॥८३॥
 एकैकानन्तरं कुर्याद्भक्तिं वै वासनाक्षये ।
 तदा क्रमेण भगवोस्तदायत्तो भवेद् ध्रुवम् ॥८४॥
 अनष्टायां च दुष्टायां तदा मुक्तो भवेद् ध्रुवम् ।
 विलम्बश्चेद्धरीच्छातस्तदा सद्धर्ममाचरेत् ॥८५॥
 अवश्यं तु तदा भाव्या भक्तिर्या नवमे मता ।
 महद्व्यतिक्रमे मध्ये दुष्टा वृद्धिं प्रयाति हि ॥८६॥
 तत्प्रसादाददुष्टा हि कृष्णादुभयथा गतिः ।
 इयं लीला भगवतः सततं मोचयेद्धरिः ॥८७॥

इति श्रीबल्लभदीक्षितविरचिते तत्त्वदीपे सप्तमस्कन्धविवरणं
 नवमं प्रकरणं समाप्तम् ॥

तदा तस्य जन्मान्तरं भवतीत्याहुः-जातिस्मरत्त्वमित्यादि । तादृशजन्मान्तरे कर्तव्यमाहुः-फलं चाहुः-तदा क्रमेणेति साद्धर्मतुर्भिः । एवं च यत्सेवाप्रकरणे बोधितं तत्रैतदेव मूलमितिवोधितम् ॥

इति श्रीमत्पञ्चरत्नैः पुरुषोत्तमस्य
 दर्शिता सप्तमस्कन्धनिबन्ध-
 योजना सम्पूर्णा ॥

**समाप्तः सप्तमः
 स्कन्धः**

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

अथ तत्त्वार्थदीपनिबन्धे श्रीभागवतार्थप्रकरणे

अष्टमस्कन्धविवरणम् ।

एवं पञ्चदशाध्यायैर्वासना कर्म चोदितम् ।

सद्धर्मस्तु ततः प्रोक्तश्चतुर्विंशतिभिः शुभैः ॥१॥

मन्वन्तराणि सद्धर्मः सतां धर्माः प्रकीर्त्तिताः ।

श्रीबालकृष्णाय नमः ।

अथ अष्टमस्कन्धनिबन्धस्य योजना ।

अथाष्टमस्कन्धार्थं निबन्धन्तः सप्तमाष्टमयोः सामान्यविशेषभारुपां सङ्घतिं बोधयितुं सप्तमार्थमनुवदन्तः प्रस्तुतस्वार्थमाहुः—एवमित्यादि । उक्तप्रकारेण विभिः मकरपुंश्चिधावासना तज्जनकं कर्म च उदितं सप्तमे उक्तं च । ततस्तदुत्तरमष्टमे शुभैर्भगवल्लीलापप्रतिपादकैश्चतुर्विंशतिरध्यायैः सद्धर्मैः प्रोक्तस्तेन कर्मसद्धर्मैः कर्मरूपत्वात्सामान्यविशेषभावः, सद्धर्मस्य वासनाजनकत्वाच्च कार्यकारणभावोऽपि सङ्घतिरित्यर्थः ॥ १ ॥ महापुराणान्तरोक्तेभ्यो मन्वन्तरेभ्यो विशेषं बोधयितुं लक्षणमाहुः—मन्वन्तराणि सद्धर्म इति । 'मन्वन्तरे मनुर्देवा मनुपुत्राः सुरेश्वराः । ऋषयोऽशावतारश्च हरैः षड्विधमुच्यते' (अ. ७) इति द्वादशस्कन्धोक्तसामान्यलक्षणम् । अत्र तु तत्कथनपूर्वकं सद्धर्मं उच्यते इति सद्धर्मविशिष्टमत्र विशेष इत्यर्थः । मन्वन्तराणामनेकत्वेन तेषामेकलक्षणपरत्वपटकं सद्धर्मत्वमित्यत एकवचनम् । ननु सद्धर्मस्य सन्निष्ठत्वात्कथं भगवत्सङ्घत्वंत्वमित्याकाङ्क्षायामाहुः—सतां प्रकीर्त्तिता इति । भगवत्तेति शेषः ।* तथा च ते धर्मा भगवदुक्तत्वाद्भगवत्सङ्घत्वात् इत्यर्थः ।

* पूर्वस्कन्धोक्ताः सदाचाररूपाः सामान्यधर्माः अनुगृहीतानाम्, इमे तु सतां प्रकथेण कीर्त्तिता इति विशेषधर्मा भगवतो वीर्यपरनामानः, अतो भगवल्लीलात्वम् । किन्तु पूर्वरूपे देहेन्द्रियादिनिष्ठाः । इमे तु कारणरूपतत्त्वात्मकप्रकृतियगनिष्ठाः । भक्तिस्तु जीवात्मक-पुरुषनिष्ठाऽतः कार्यकारणजीवानामुत्तरोत्तरोक्तप्रभगवदंशत्वाच्चदमर्णाम्पुत्रोत्तरोत्तरोक्त-भगवल्लीलात्वमित्यर्थः ।

(स्कन्धार्थः)

अष्टमस्कन्धार्थः ।

८७

प्राकृतास्ते समाख्याताः पौरुषो भक्तिरेव हि ॥२॥

चतुर्विंशतिधा भिन्नाः प्राकृतीं वासनां तु ते ।

सर्वथा नाशयन्त्येव जीवगां भक्तिरुत्तमा ॥३॥

द्विधा ह्यत्र पदार्थाः स्युर्मीमांसायां यथा मताः ।

पुष्ट्यन्ताः प्रथमाः प्रोक्ता आश्रयान्तास्तथाऽपरे ॥४॥

तेनोत्तरस्य पदकस्य वासना प्रथमा मता ।

प्राकृयेव हि सा दुष्टा सद्धर्मैरेव नाशयते ॥५॥

लक्षणे विपरीते हि ततः प्रोक्ते तयोः क्रमात् ।

तेषामुत्पत्तिस्थानमाहुः—प्राकृतास्ते समाख्याता इति । देहेन्द्रियान्तःकरणेषु त उत्पद्यन्त इत्यर्थः । तर्ह्यत्मनि कुतो नोत्पद्यन्त इत्याकाङ्क्षायामाहुः—पौरुषो भक्तिरेव हीति । पुरुषो जीवात्मा तत्रोत्पत्तियोग्यः पौरुषस्तादृशो धर्मो भक्तिरेव हीति निश्चये ॥ २ ॥ तेषां प्रयोजनमाहुः—चतुर्विंशतीत्यादि । 'प्राक्तो गणश्चतुर्विंशतिक' इति तत्रोत्पत्त्यास्ते तत्रत्यां सर्वप्रकारेण नाशयन्त्येव । जीवगां तु उत्तमा नवमे वक्ष्यमाणा भक्तिरेव नाशयतीत्यर्थः ॥ ३ ॥ धर्माणामाश्रममेदेन चतुर्विंशतिविधत्वस्यैवा फलभेदेन तदुपोद्बल्यति-द्विधा इत्यादि । उपदेशाति-देशाभ्यां द्वादशलक्षणां मीमांसायां यथामताः विचारिताः पदार्थाः सद्धर्मा अत्र हि स्कन्धे फलभेदेन द्विधा स्युः । फलभेदं स्पष्टीकुर्वन्ति-पुष्ट्यन्ता इत्यादि । तथा चैवं द्वादशानां द्विविधत्वे चतुर्विंशतिर्वमित्यर्थः ॥ ४ ॥ अयं फलविभागो मीमांसायां न प्रकट इति तं प्रकटयन्ति-तेनेत्यादि । उपरे पदकेऽतिदेशेन विकृतिरूपा विचारितास्ते च काम्यत्वाद्द्विकृताः स्वार्था इति तत्रासना प्रथमा पुष्ट्यन्ता मतेत्यर्थः । तेनाद्यप्युक्तीयवासनाया आश्रयान्तत्वमर्थविव बोधितम्, ननु मीमांसाविचारिता एव चेद्धर्मा अत्र गृह्यन्ते तदा को विशेषः सद्धर्मवित्यत आहुः—प्राकृतीत्यादि । तथा च मीमांसाविचारितेत्या नित्यकर्ममात्रकरणेषुपि तेषाम्मुख एव पर्यवसानान्न प्राकृतवासनाक्षयोऽपि तु वासनान्तरानुपाद एवातः सद्धर्मा आवश्यक इत्यर्थः ॥५॥ अत्र गमकमाहुः लक्षणे विपरीत इति सपादाभ्याम् ।

मन्वन्तराणि सद्धर्म ऊतयः कर्मवासनाः ॥६॥
 कर्मजाः प्राकृता एव पूर्वं नाशकया ततः ।
 नष्टाश्चेत्प्राकृताः सर्वास्ततो भक्तिः प्रवर्त्तते ॥७॥
 सद्धर्मास्तु ततो ज्ञेयास्त्रिविधास्ते प्रकीर्त्तिताः ।
 तामसाः सात्त्विकाश्चैव राजसाश्च विभागशः ॥८॥
 चतुर्द्धा दशधा चैव नवधा च प्रकीर्त्तिताः ।
 त्रिविधस्यापि धर्मस्य मत्स्यो वक्ता निरूपितः ॥९॥
 मन्वादिभिस्तु ये धर्माः स्वकाले वै प्रकीर्त्तिताः ।
 तांश्चेत्सर्वात्मना यस्तु समातिष्ठति भागशः ॥१०॥
 स एव वासनाः सर्वा दहतीत्यत्र रूप्यते ।
 तपसोपनिषत्पाठः प्रथमे परिकीर्त्तितः ॥११॥

तथा च पूर्वमुद्देश ऊति पूर्वमुत्सवा यत्सद्धर्मापश्चात्तां लक्षितवान् तेन ज्ञायते सद्धर्म-
 नाशयत् वेत्तां बोधयितुमेव तथोक्तानिति । नच कार्यकारणभावबोधनाय तथोक्तावानिति-
 शङ्क्यम् । यतो वासनास्कन्धे पूर्वं नाशकया ततः प्राकृतसर्वनाशबोधनोत्तरं सद्धासनां
 कर्माणि चोत्सवाऽथे सद्धर्मा उक्तास्ततोऽग्निमे भक्तिप्रवृत्तिरुच्यते इति स्कन्धकथाक्रमेणो-
 क्तनिश्चयादितिसद्धर्माः सर्वेषां ज्ञेया एवेत्यर्थः । एवं चात्र वक्तृत्वेनाश्रयो लक्ष्यस्तदुक्ताः
 सद्धर्मास्तल्लक्षणम् । तेषां दुर्वासनादाहः फलं जीवकृत्पार्यास्तने तेषां दग्धवासनतया
 स्थितिः सिद्धयतीति स्कन्धार्थे विचारितः ॥६॥७॥

अतः परं प्रकरणार्थे विचारयन्तस्त्रेदकं वदन्ति त्रिविधा इति पादो-
 नाभ्याम् । तथा च स्वरूपस्य वक्तुश्च विचारेण चत्तारि प्रकरणानीत्यर्थः ॥८॥९॥
 ननु सद्धर्मेषु मन्वन्तरशब्दप्रतिष्ठः कथमित्यपेक्षयामाहुः- मन्वादिभिर्निरिति । 'मन्वन्तरं
 मनु' इति द्वादशस्कन्धवाक्यान्मन्वन्तरशब्दो मन्वादिप्रवृत्तवति काले रूडो मन्वादि-
 प्रवर्त्तिते धर्मे योगरूढया प्रवर्त्तते । तत्र तद्विदस्य लुहः, तस्य फलमाहुः-तांश्चेदित्यादि ।
 तस्मिन्सस्मिन्मन्वन्तरे तस्य तस्य अपेक्षयावश्यकत्वात् तत्रेददानाहुः-तपस इत्याद्यष्टभिः ।
 तत्र स्वाध्यायभुवेऽन्तरे तपसोपनिषत्पाठो मनुना कृतः स्पष्टः । स्वारोचिषे भगवद्-

द्वितीये ब्रह्मचर्यञ्च सत्यवादस्तृतीयके ।
 वेदाभ्यासो धारणं च चतुर्थे परिकीर्त्तितम् ॥१२॥
 व्रतादिना भगवतः सेवा पञ्चम ईरिता ।
 सतां सुराणां महतां पष्ठे सेवा प्रकीर्त्तिता ॥१३॥

वतारेण विश्वना कृते ब्रह्मचर्ये स्पष्टम् । उत्तमेऽन्तरे सत्यसेनाख्यभगवदवतारकृते-
 नात्रुत्तरतदुःश्रीलभारणेन सत्यवादादमवर्त्तनं बोद्धव्यम् । तामसेऽन्तरे वैयुतिनामकपदैः
 प्रवर्त्तितो वेदाभ्यासः स्फुटः । पञ्चमो रैवतस्तत्र रामार्थनेन वैकुण्ठकल्पनकथनात् ।
 श्रीव्रतानां पञ्चमतृतीयस्कन्धयोः लक्षतुलसीदुर्लभणव्रतादिना भगवतः सेवा
 वैकुण्ठाख्यभगवदवतारमवर्त्तितैव बोध्या । पष्ठे चाश्रुपन्तरे अमृतमन्थनादिकथनात्सतां
 सुराणां महतां सेवा अजिताख्यभगवदवतारमवर्त्तितैव बोध्या । सप्तमे
 का० ४-७-निबन्धकठिनांशविषेचनम् ।

अष्टमस्कन्धार्थोक्तौ द्विपेत्यादि । भक्तिः प्रवर्त्तते इत्यन्तम्, ननु 'अत्र सर्गो
 विसर्गश्चे'ति लीलायुद्देशे मन्वन्तरस्य उत्पन्नन्तरमुद्दिष्टत्वेपि लक्षणकथने मन्वन्तरस्य उज्जेः
 पूर्वं 'मन्वन्तराणि सद्धर्म ऊतयः कर्मवासना' इति लक्षितत्वात् लक्षणस्य उद्देशादुक्तत्वात्
 लक्षणक्रमेणैव कुतो न स्कन्धयोः कथनम् । अथ उद्देशक्रमेणैव कथने लक्षणे वैपरीत्यं
 किमर्थमित्याशङ्क्यां उद्देशलक्षणस्कन्धकथनानां त्रयाणां तात्पर्यमाहुः-द्विपेत्यादि भक्तिः
 प्रवर्त्तते इत्यन्तेन । अत्र श्रीभागवते मीमांसावद् द्विधा पदार्थाः, मीमांसाया वेदनिर्णय-
 रूपत्वात्पुद्देशातिदेशमेवेन द्विधा निर्णयः, एवं श्रीभागवतस्य वेदफलरूपत्वादनुग्रहाश्रयमेवेन
 द्विधा फलं निरूप्यते, तत्र तत्तत्फलोपयोगिनो ये अधिकारवासनादयस्तपि पूर्वोत्तरपदयो-
 र्निरूप्यन्ते, यादृशोऽधिकारस्तादृशोऽनुग्रहः, यादृशी वासना तादृशो भगवत्प्रवेश व्याश्रयरूप
 इति ज्ञापनार्थमुत्तरे पदके वासना प्रथमं सद्धर्मात् पूर्वं निरूपिता, वासनाया भगवत्प्रवेशो
 सामान्यकारणत्वात्, सद्धर्माणां विशेषकारणत्वादिति, अथ भगवत्प्रवेशो दुष्टनिवृत्तिः प्रथम-
 मपेक्षिता, तत्र प्राकृती वासना दुष्टा देवदैत्यहितेच्छया जाता, देहादिवासना तथा न
 दुष्टा मुक्तिहेतुत्वात्, यथा क्षुधाहेतुकं देहादिरक्षार्थं भोजनमत्यन्तं न दुष्टम्, यथा
 स्वादुहेतुकं दुष्टम्, तथा मकृतिगणसम्बन्धिनी केवलभोगार्थं वासना दुष्टा, तस्याश्च नाशकाः
 सद्धर्मा एवेतिज्ञापनाय लक्षणे सद्धर्माः प्रथमं लक्षिताः, तेन सद्धर्मैः प्राकृतवासनायाः
 कर्मजाया नाशः लक्षणे पूर्वं निरूपित इति । अथ सद्धर्मैः प्राकृतवासनायां भक्तिर-
 वश्र्मभाविनी इति भक्तेरव्यवहितकारणत्वज्ञापनाय भक्तिस्कन्धात् पूर्वं सद्धर्मस्कन्धोऽत्र
 श्रीभागवते व्यासेन शुकेन वा उक्त इति न कोपि शङ्कालेशः । इति कठिनांशविषेचनम् ।

सप्तमे वैष्णवानां च व्रतानां करणं स्मृतम् ।
 एकादशी तत्र मुख्या व्रतानामुत्तमा यतः ॥११॥
 वैत्यसम्बन्धरहिता तथाऽष्टम्यादिकं हरेः ।
 पुष्टिमार्गप्रकारेण धर्मा अष्टम ईरिताः ॥१५॥
 यज्ञादिप्रचुरा धर्मा नवमे परिकीर्त्तिताः ।
 दशमे लोकरक्षार्था धर्मा लोकसुखप्रदाः ॥१६॥
 एकादशे स्मार्त्तधर्माः स्वनिष्ठान्ताः शुभाः स्मृताः ।
 रागाभावयुता धर्मा द्वादशे परिकीर्त्तिताः ॥१७॥
 उपास्यदेवतानां तु पोषकाश्च त्रयोदशे ।
 ज्ञाननिष्ठा भोगयुक्ताश्चतुर्दश उदाहृताः ॥१८॥

वैवस्वते एकादश्यादिव्रतकरणं पुराणान्तराज्ज्ञेयम् । अष्टमे सावर्णिमन्वन्तरे भगवद्वतारेण सार्वभौमेन बलये ऐन्द्रपदस्य दानात्पुष्टिमार्गप्रकारका धर्मा अवतार-प्रवर्त्तिता एव ॥११॥१२॥१३॥१४॥ नवमे ऋषभाख्यभगवद्वतारेणेन्द्रस्य राद्वत्रिलोकीभोगकथनाद्ब्रह्मस्य च यज्ञादिभिरेव भवनात्सेऽपि भगवत्प्रवर्त्तिता एव । दशमे दक्षसावर्णिमन्वन्तरे अमूर्त्तारुह्यो भगवद्वतारो 'येनाप्यायेत वै जग'दिति कथनाज्जगदाद्यापक इति लोकरक्षार्था लोकसुखप्रदा धर्मा अवतारप्रवर्त्तिता एव । एकादशे धर्मसावर्णिमन्वन्तरे मनोरात्मवक्षेण विशेषणाद्भगवद्वतारस्य धर्म-सेतुनामकस्य त्रिलोकीधारकत्वकथनाच्चोभाभ्यां प्रवर्त्तिता आत्मनिष्ठान्ताः स्मार्त्ता एव । धर्मशब्दस्य स्मार्त्तत्वे प्रायशः प्रयोगात् । 'सत्यं परं परं सत्यमि'त्यनुज्ञाके यज्ञदानादिभ्यः पृथक् धर्मा 'विश्वस्य' जगतः प्रतिष्ठे'त्यादिना धर्मस्योक्तत्वेन तथा निर्णयदिति । द्वादशादिषु त्रिषु मन्वन्तरेषु ये धर्मास्ते पुराणान्तरोक्ता बोद्धव्याः । एवमेतेषां स्वरूपकथनेन व्यवस्थाबोधनात्पूर्वस्कन्धोक्तानामानर्थक्यं वारितम् । तेषां सर्वमन्वन्तरसाधारणत्वादिति । तथा सत्यस्मिन्मन्वन्तरे एकादश्यादिब्रह्मदान्येव दुर्वासनानां निःशेषनाशकानि । तत्र स्मृतमित्यनेन पीराणत्वं बोधितम् । उच्यते च भगवत्प्रसादहेतुत्वात् महाद्वादशीनां प्रायश्चित्तरूपत्वात् । 'वैष्णवो वाय शैवो वा सौरीऽप्येतस्माचरे'दिति सर्वपापावश्यकत्वबोधनाच्च ज्ञेयम् । दैत्यसम्बन्ध-राहित्यं च । 'दशम्यामसुरा जाता एकादश्यां सुरास्तथा । यजु जन्मदिने येषां तत्तेषामेव वर्द्धन'मितिपात्रादिभ्यो ज्ञेयम् । अष्टम्यादिकमिति, 'जन्मा-

मन्वन्तरविभेदेन सहर्माः परिकीर्त्तिताः ।
 तत्तद्देशविभेदेन देशधर्मास्तथा पुनः ॥११॥
 महान्तोऽत्र त्रयो धर्मा आपत्सु हरिसंस्मृतिः ।
 सम्पत्सु सर्वदानानि निर्वाह्यवचनं तथा ॥२०॥
 हरिसंस्मरणे तत्र चत्वारः परिकीर्त्तिताः ।
 पुरुषार्थप्रसिद्ध्यर्थमध्याया इति निश्चयः ॥२१॥
 मन्वादीनां यथा धर्मः कृष्णस्मृत्यैव सिद्ध्यति ।
 तत्रापि धर्मवाधायां ह्येहाः स्यादिति निश्चयः ॥२२॥
 भगवद्धर्मरूपस्तु यदि धर्मेण वाध्यते ।
 तदा फलत्वतो हीना ह्यर्थकामौ तु साधयेत् ॥२३॥
 अनुवृत्तस्तु तत्रापि मोक्षं साधयेत् चिरात् ।
 अतो गजेन्द्रकथनं चतुर्भिर्विनिरूपितम् ॥२४॥

धृमी रामनवमी वामनद्वादशी नृसिंहचतुर्दशी चेतिसात्रे पातित्रयत्रातिनष्टपक्रम्ये-
 तेषामेव पञ्चानां कथनादिति । एवमेते कालधर्मा यथाव्यवस्थया सद्दर्शनात्तथा
 देशधर्मा अपि व्यवस्थया तथेत्याहुः- तत्तदित्यादि ॥१६॥१७॥१८॥१९॥

सर्वमन्वन्तरसाधारणानसद्दर्शनाहुः महान्त इत्यादि । एतेषां महत्त्वं च
 सर्वमन्वन्तरेष्ववश्यकत्वात्सर्वसद्दर्शसहायत्वाच्च ज्ञेयम् । अयमपरः प्रकरणविभागस्तामस-
 प्रकरणं तेषामुच्येन साद्धर्मैवभिरेतदध्यायाधीनाहुः-हरिसंस्मरण इत्यादि ॥२०॥२१॥

प्रथमे यथा धर्मसिद्धिस्तदाहः-मन्वादीनामिति । धर्मस्तपोरूपः
 कृष्णस्मृत्या उपनिषद्दर्शानुत्थानरूपया यथा भगवत्कृतेन प्रतिबन्धनिवारणेन
 मन्वादीनां सिद्धस्तथा सिद्धयतोत्यर्थः । मूले यद्यपि मनोरेवोक्तस्तथापि प्रति-
 बन्धकानां निवृत्तौ तदितरेषामपि सिद्ध एवेतिबोधनायादिपदम् । एवं प्रथमे हरि-
 स्मरणेन धर्मसिद्धिद्युक्त्वा तत्रैव गजेन्द्रकथोपश्लेषताःपर्येमाहुः-तत्रापीत्यादि । तथा
 च स्मरणेन सद्दर्शनाधनेऽपि यदि स्मार्त्तादिधर्मो बाधते तदा ह्येहाः स्यादिति
 बोधनार्थं तदुपश्लेष इत्यर्थः ॥२२॥२३॥ अनुवृत्त इति । अनुवृत्तमानो हरिस्मरणरूपो
 धर्मः । अत इति ल्यङ्लोपे पञ्चमी । भगवद्धर्मत्वकहरिस्मरणस्यैव धर्मान्तरेण

अगस्त्यो ब्राह्मणः शैवः स एव ब्राह्मणः स्मृतः ।
 तस्याविरोधी यो धर्मः स शीघ्रं फलदो मतः ॥२५॥
 भक्तावेव हरिस्तुष्टः कालादीनत्र वारयेत् ।
 धर्मयुक्तास्तथा चाऽन्यान्नान्यथा तु कथञ्चन ॥२६॥
 गजेन्द्रस्यार्थसिद्धयर्थं वृक्षादीनां च वर्णनम् ।
 काममुक्त्वा तस्य चान्ते क्लेशः कामस्तथा यतः ॥२७॥
 स्तोत्रं प्रवृत्तिजनकं स कामो मुख्य ईरितः ।

वापेऽप्येवं फलसाधनतामनुसन्धायेत्यर्थः । ननु 'यानास्थाय नरो राज' इति योगेश्वर-
 वाक्येन 'सखलेदि'त्यनेन विलम्बाभावस्योक्तत्वादिन्द्रयुग्मस्य कथं विलम्ब इत्यत आहुः-
 अगस्त्य इत्यादि । तथा च चतुर्थस्कन्धे नन्दिशापेन शिवश्लेषे फलविलम्बस्योक्तत्वाद्-
 गस्त्यस्य शैवत्वेन 'यो यच्छुद्धः स एव स' इति तेन रूपेण शिवद्वेषसम्भवात्तथेत्यर्थः ।
 वस्तुतस्तु 'आसक्तौ भगवानेव शापं दापयति क्वचित् । अहङ्कारेऽथवा लोके तन्मार्ग-
 स्थापनाय ही' इति पुष्टिप्रवाहमर्थादोक्तरीत्या धर्ममर्यादास्थापनार्थं भगवद्दापित
 एवायं शाप इति भावः ॥२४॥२५॥ नन्वेवं भक्तोपेसा नोचितेत्यत आहुः-अक्तावेति ।
 इन्द्रयुग्मशरीरे तस्य भगवत्पूजापरत्वमेव न तु भक्तत्वम् । 'इन्द्रयुग्म इति ख्यातो
 विष्णुव्रतपरायण' इत्यादिना सद्गमपरत्वस्यैवोक्तत्वात् । सा च पूजा सर्वपिञ्जारहितेति
 गजेन्द्रजन्मनि भक्तिमुत्पादितवती, 'भक्तियोगं स लभते एवं चः पूजयेत सा' इति
 वाक्यात् । ततो जातायां भक्तावेव हरिस्तुष्टः 'भक्त्या तुतोप भगवान् गजपूपाये'ति
 गजदशायामेव तस्या उक्तत्वात् । कालादीनत्रास्मिन् जन्मनि वारयेत् । तथा कालादि-
 वद्धर्मयुक्तानन्यानगस्त्यादिभ्योऽधिकानपि वारयेत् । यथाऽम्बरीषरक्षणाय दुर्वासो वारित
 इति भक्तौ वक्ष्यते । अन्यथा केवलसद्गमैर्येवसितत्वे तु कथञ्चन महाधर्षपरत्वेऽपि
 न वारयेदिति नात्र भक्तोपेक्षेत्यर्थः ॥२६॥

एवं शापतात्पर्यमुक्त्वा द्वितीयाध्यायतात्पर्यमाहुः-गजेन्द्रस्येति ।
 ननु तृतीये कामो वाच्य इति कुतस्तत्र स्तोत्रकथनम् । किञ्च, भक्तिरत्र प्रेमात्मिका
 विवक्षिता, सा चान्तरोरिति तथा प्रसादे स्तोत्रस्य कुत्रोपयोग इत्यत आहुः-स्तोत्रमि-
 त्यादि, प्रपद्ये अन्तु इत्यादीनां प्रयोगाणां दर्शनात्तस्य प्रपत्ताव्युपयोग इत्यर्थः । नन्वत्र

मोक्षस्तु कृष्ण एवात्र प्रीतः सर्वात्मना मतः ॥२८॥
 तवा भक्ताश्च ये पूर्वं प्राकृता अपि वै श्रुताः ।
 ते मोक्षदाः समस्तानां जाता वै हरिवाक्यतः ॥२९॥
 इत्यापस्तु हरेः स्मृत्या यत्फलं परिकीर्तितम् ।
 ततस्तु दशभिः प्रोक्तं सर्वेभ्यो दानमीप्सितम् ॥३०॥
 गुणास्तु नवधा प्रोक्ता निर्गुणो दशमः स्मृतः ।
 दानं तु त्रिविधं प्रोक्तं हेतुरूपफलैः पृथक् ॥३१॥
 हेतवश्च त्रयः प्रोक्ता भगवान् सात्त्विकः पुरा ।
 ततो देवासुराश्चैव राजसाः परिकीर्तिताः ॥३२॥
 शिवश्च तामसः प्रोक्तस्त्रिभिर्दोषै निवारिते ।
 दानं सिद्धयति सर्वेभ्यस्ततो हेतुं पुरोक्तवान् ॥३३॥
 कृष्णेन प्रेरिता देवाः प्रेरयन्ति यदा मनः ।

चतुर्भिरध्यायैश्वरारोऽर्था क्तव्या इति पञ्चमायाः प्रपद्येः कथमत्रोक्तिरित्यत आहुः-
 सकामो मुख्य इति । मपत्तिमुत्वेन स मुख्यकाम एवोक्तो गजेन्द्रस्य मुख्यतया
 रसितृकामनाया एव सत्त्वादिति कामत्वादत्रोक्तिरित्यर्थः । चतुर्थस्यार्थमाहुः-मोक्ष
 इत्यादि, (श्लो. १७) 'ये तां मां च सरथेद'मित्यादिभगवत्पूजायतात्पर्यमाहुः-
 तदेत्यादि ॥२७॥२८॥२९॥ एवं साद्धर्मेनैवभिः प्रथमं प्रकरणं विचारितम् ॥
 अतः परमेकपञ्चाशाङ्गिद्वितीयं प्रकरणं विचारयन्ति-तत इत्यादि ।
 अध्यायान् विभजन्ते-गुणा इत्यादि । ननु गुणानां तथात्वे दानस्य कुतस्ता-
 वद्भिः कथनमत आहुः-दानमित्यादि । तथा च तस्य विद्यासु प्रत्येकं त्रेणुष्य-
 सम्बन्धात्तावद्भिः कथनमित्यर्थः । एतेनात्रावान्तराणि प्रकरणानीति बोधितम् ।
 आद्ये त्रिविधं व्युत्पादयन्ति हेतव इत्यादि । पुरेति प्रथमाध्याये ॥३०॥३१॥३२॥
 ननु त्रयः कुतः कथं च हेतव इत्याकाङ्क्षायां त्रयाणां हेतुप्रकारं प्रथमतस्तत्कथन-
 हेतुं चाहुः-त्रिभिरित्यादि । नन्वेक एवेश्वरस्तस्मिन् सुरकार्ये सुरेश्वरः, विहर्षु
 कामस्तानाह समुद्रोन्मथनादिभि' इति भगवत एव तद्विहारेच्छाकथनात्कल्याणाह-
 पयोग इत्यत आहुः-कृष्णेनेत्यादि । स इति जीवः । तथा च भगवानवान्तरकार्ये
 १ तत्फलं ।

लोभं च नाशयेद्दक्षस्तदा दाता स जायते ॥३४॥
 अमृतादधिकं लोके न देयमिह विद्यते ।
 मृत्युना व्याप्तलोके हि मरणं तस्मिन्निवारयेत् ॥३५॥
 तत्स्वरूपपरिज्ञानं जिज्ञासायां च जायते ।
 सा च क्लेशोदये सम्यक् तदर्थं क्लेशसङ्घाता ॥३६॥
 ज्ञापको हरिरेवात्र स चेद्द्विकुण्ठवत्कचित् ।
 स्थानं कृत्वा यदा तिष्ठेत्तदैवार्थः प्रसिद्धयति ॥३७॥
 इति वैकुण्ठनिर्माणकथनार्थं तु पञ्चमः ।
 मन्वन्तरो ज्ञानरूपः प्रथमं स निरूपितः ॥३८॥
 वैराग्यरूपः षष्ठस्तु स क्लेशात्मा पुरा भवेत् ।
 तत्रैव गुरुसम्बन्धो ब्रह्मस्थानगतिस्ततः ॥३९॥
 तदर्थं वेद चेद्ब्रह्मा भगवान् किं करिष्यति ।
 अतो भगवतो जग्मुः स्थानं सर्वे दिवोकसः ॥४०॥
 क्रिययैव स दृश्यो हि तेन स्तोत्रमुदिरितम् ।
 स्तुत्या प्रसादपर्यन्तं हरिः सात्त्विक ईरितः ॥४१॥

कुर्वन्नापि मूलप्रकारं सूचयन्नेव करोतीतिज्ञानेन उपयोग इत्यर्थः । ननु सम्पत्सु सर्वदानानां वक्तव्यत्वेन प्रथमममृतप्रसङ्ग एव कृत इत्यपेक्षायां 'जीवाभयदानस्य कलां नाहंन्ति षोडशी'भित्तिवाक्यात्सर्वाणि दानान्भयभयान्तानि । 'अभयं चामृतादि'-त्यादि बोधयितुं तत्प्रसङ्ग इत्याहुः-अमृतादित्यादि ॥३४॥३५॥

एवं प्रकरणार्थं विचार्य प्रथमाध्यायार्थं विचारयन्तोऽमृतस्य मोक्षाध्यात्मकत्वबोधनाय तद्गर्भानतिदेष्टुमेवं कथेत्याशयेनाहुः-तत्स्वरूपेत्यादि । जिज्ञासायामिति विचारः । पञ्चम इति मन्वन्तरविशेषणम् । प्रथममिति वैराग्यरूप्यात् षष्ठात्युच्यते, षष्ठस्य वैराग्यरूपत्वे गम्यमाहुः सक्लेशात्मा पुरा भवेदिति, तत्रैव गुरुसम्बन्ध इति च । तदर्थमिति अमृतजनकमर्थम् । तथा चैवं परोक्षवादेन मोक्षपर्यन्तं दानं महाप्रथमं इति बोधयितुं ज्ञानमदो हरिः प्रथमाध्याये उक्तस्तस्य सात्त्विकत्वं चैवं देयस्वरूपविचारादुपायप्रकारविचाराच्च ज्ञातव्यमित्यर्थः । तेन 'स्वच्छन्दगतिरीश्वर' इत्यन्तो द्वितीयाध्यायोऽपि प्रथमस्यैव शेष इतिबोधितम् ॥३६॥३७॥३८॥३९॥४०॥४१॥ एवं षड्भिः प्रथमाध्यायार्थं उक्तः ।

राजसा देवदैत्याश्च मेलनं कपटेन हि ।
 राजसं कर्म तच्चापि क्लेशात्मकमुदीरितम् ॥४२॥
 हेतुः स मध्यमः प्रोक्तो नितरां क्लेशदः परः ।
 तामसः स तु विज्ञेयः क्रियादौ तामसी मता ॥४३॥
 कालकूटं शुद्धतमः पानं तस्य तु सात्त्विकम् ।
 एवं त्रेधा विभागस्तु सर्वत्र ज्ञायतां स्वतः ॥४४॥
 एवं त्रिभिर्हेतुकथा दानार्थमिह रूपिता ।
 साधकः साधकानीर्थं प्रतिबन्धनिवारकः ॥४५॥
 सद्धर्मकार्ये सर्वत्र हरिर्वै साधको मतः ।
 देवाः साधनवर्गस्तु वाधकाभाव ईश्वरः ॥४६॥

(अ. ६-७) अत एव 'अथ तस्मै भगवते नमस्कृत्य पितामह (अ. ६. श्लो. २७)' इत्यादिना अर्थान्तरोपक्रमः सूच्यत इत्याशयेन द्वितीयाध्यायार्थमाहुः-राजसा इत्यादि । राजसत्त्वे हेतुः मेलनं कपटेन हीति । हिहीतो । तदिति मन्दरानयनरूपं देवादिसाध्यम् । स इति मन्दरानयनरूपः । तथा च मध्यमत्वमपि राजसत्त्वे हेतुमित्यर्थः । एवं संपादेन द्वितीयार्थ उक्तः । तृतीयात्यर्थमाहुः नितरां क्लेशदस्तस्य तथात्वे हेतुः तामस इति तामसत्त्वे हेतुः । तत्रादौ गिरेरयोगमनरूपा तामसीक्रिया मध्ये कालकूटं च, तस्य पानं तु सात्त्विकं तेन तदर्थस्य शिवस्यापि ब्रह्मविद्योपदेशद्वारं सात्त्विकक्रिया-हेतुत्वमित्यर्थः । एवं हेतुविभागद्वयप्राय एतस्य सर्वसाधारणत्वाय सद्धर्मन्तरे-ऽप्यतिदिशन्ति-एवं त्रेष्विति ॥४२॥४३॥४४॥ एतदेव स्पष्टीकुर्वन्ति-एवमित्यादि । एवं प्रकारेण त्रिभिर्ध्यायैर्हेतुकथा इहामृतप्रसङ्गे तु दानार्थं निरूपिता तथापि सद्धर्मस्कन्धे निरूपितत्वात्साधक इत्यादिनोक्तो विभागः सर्वेण सद्धर्मकार्ये वर्चते इत्यर्थः । तत्रापि न सामान्यरूपेण त्रितयज्ञानं सद्धर्मसाधकं किन्तु तत्तद्वेषोत्साहुः-हरिर्वा इत्यादि ॥४६॥ ननु षष्ठी चित्रकेतुशापप्रयोजकतया नाशकत्वेन शिवः सिद्धः, ऊतौ च हिरण्यकशिपुवरादायकत्वेन ब्रह्मेति कथं सर्वत्र तथात्वमित्याकाङ्क्षायां चतुर्थस्कन्धे 'अहं ब्रह्मा च सर्वं जगतः कारणं परम् । आत्मेभ्य उपद्रष्टा स्वयं ह्यविशेषण'

विष्णुर्ब्रह्मा महेशश्च सर्वत्रैवं हि कारणम् ।
 एकमेकतराभावे न कार्यं जनयेत्कश्चित् ॥४७॥
 बाधकं द्विविधं प्रोक्तं साधकासाधनक्षमा ।
 मध्ये बाधकसम्बन्धस्तत्राद्ये हरिरीश्वरः ॥४८॥
 साधकत्वं यतस्तस्य द्वितीये तु महेश्वरः ।
 उभयोस्तोत्रमत्रोक्तं मतान्तरविभेदतः ॥४९॥
 मूलाक्षुरस्वभावत्वात्कालकूटं हरेः पुरा ।
 अकृतैव तु कार्यं हि प्रजानु समुपागतम् ॥५०॥
 उत्पत्तिः प्रथमं तस्य दोषाभावाय केवलम् ।

इति दक्षं प्रति भगवद्वाक्यात्कार्यमात्रं प्रति त्रयाणां कारणत्वेन तत्रापि त्रयाणां कारणत्वमनुसन्धेयमित्याशयेनाहुः—विष्णुर्ब्रह्मेत्यादि । उत्पत्त्यादीनां त्रयाणां परस्पर-
 अपेक्षत्वाच्चत्रापि त्रिभ्य एव कार्यसिद्धिरित्येवानुसन्धेयमित्यर्थः ॥४७॥

तृतीयेऽध्याये प्रतिबन्धनिवारकत्वेन हेतुत्वं विवक्षितमतः प्रतिबन्धं
 स्फुटीकुर्वन्ति—बाधकमित्यादि । तत्राद्ये हरिरीश्वर इति । तयोर्बाधकयोराद्ये
 निर्वर्तनीये हरिर्भगवान् ईश्वरः कूर्मवपुषा गिर्युद्धरणेन देवादि-
 बलवीर्यरणादिना च निर्वर्तनसमर्थः । तत्र हेतुः साधकत्वं स्थितिसाधकत्वं
 यतस्तस्य हरेरेवेति । स्फुटमन्यत । ननु प्रथमे सर्वसमकालादिना भगवत्स्तुतिरत्र
 तु तथा शिवस्तुतिरितिद्वयोस्तथात्मकेस्मिन् कल्पे कथं सङ्गच्छेतेत्यत
 आहुः—उभयोरित्यादि । केदारिवरूपाशुपतमते शिवस्य तथात्वेन सिद्धसा-
 च्छेपबोधकं मतमादाय तथा स्तुतिरिति मुखेन सङ्गतिरित्यर्थः ॥४८॥४९॥ ननु
 कालकूटस्य कथमेवं सामर्थ्यमित्याकाङ्क्षामाहुः मूलाक्षुर इत्यादि । पुरा
 पूर्वकल्पे हरेः सकाशादुत्पन्नो मूलाक्षुर आदिदैत्यो मधुकैटभान्तरस्तत्समष्टिर्वा
 कालकूटम् । तत्र गमकं हि यतो हेतोः कार्यं प्रजानासुरूपमकृत्वा स्थभाबत्त्वात्
 हन्तृत्वभावत्वात् प्रजासु हननायोपागतमिति । तथा च कल्पान्तरे यथा कर्णमलादिभ्य
 उत्पत्तिस्तथात्र समुद्रादिति तेन तथा सामर्थ्यमित्यर्थः ॥५०॥

एतदुत्पत्तेः प्राथम्ये हेतुमाहुः—उत्पत्तिरित्यादि । अन्यथा ततः पूर्वमुत्पन्नाः
 सदोषा एव स्युरतस्तथेत्यर्थः । नन्वेवं सति पूर्ववत्कृतो न नाशित एवं पानं च

महादेवोदरे सर्वे मुक्ता एव वसन्ति हि ॥५१॥
 अतोऽयं सर्वदोषाःमा कालकूटाभिधासुरः ।
 मुच्यतामिति यत्नेन महादेवेन भक्षितः ॥५२॥
 अग्नेर्मुखावपगतो दोषयुक्तो महान् यतः ।
 आसनेन निरुद्धस्तु कण्ठ एव व्यवस्थितः ॥५३॥
 स दोषख्यापनार्थाय कण्ठो नीलो बभूव ह ।
 महाप्रलयसिद्ध्यर्थं तत्रैव स्थापितो महान् ॥५४॥
 अत एव हरिः प्रीतो भवानी चान्वमोदत ।
 ततस्त्रिभिरिहाध्यायैर्दानरूपं निरूपयते ॥५५॥
 देयोत्पत्तिर्दानकर्म जीर्णवान्तं च तत्फलम् ।
 क्रमणैतच्चयं प्रोक्तमध्यायत्रितयं हि ॥५६॥
 सच्चिदानन्दरूपं हि ब्रह्म पूर्वांक्तमुत्तमम् ।

इतः कारितमित्यत आहुः—महादेव इत्यादिचतुर्भिः । हरेरिति रूपान्तरमित्येषः ।
 सन्तीति वासनावशेनोत्पन्नाः सन्ति । अत इति युक्तसमाजसंसर्गात् । अग्नेरिति
 वाडवात् । शेषं स्फुटम् । एवं सपादद्वाद्वाशमिस्तीर्यार्थ उक्तः ॥५१॥५२॥५३॥
 ५४॥५५॥तेन पञ्चविंशतिभिराद्यामवान्तरप्रकरणं विचारितम् ।

अतः परमूनविंशतिभिर्द्वितीयमध्यायान्तरं रूपप्रकरणं विचारयन्तस्तद्-
 ध्यायत्रयार्थमाहुः—देयेत्यादि । अत्र जीर्णवान्तमिति राहुशिरोहरणादिवाक्यानामर्थः
 शिरोऽमरलस्रचित्तशून्यजीर्णस्य पिबतो नम्रमुखत्वेन शेषस्य मुखत्वात् इति वाग्तस्य
 च भगवत्कायैलादिति । ननु देयोत्पत्तिः प्रथमाध्यायार्थे इत्यमृतोत्पत्तिमात्रं वक्तव्यं
 कामधेन्वाद्युत्पत्तिकथायाः किं प्रयोजनमत आहुः—सदित्यादिद्विधाभ्याम् । हि
 यतो हेतोः पूर्वांक्तं जगत्कारणभूतं ब्रह्म सच्चिदानन्दं किञ्चोत्तमम् 'एष
 शेषवानन्दयातो'तिश्रुतेरेतरयैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ती'ति श्रुतेश्च ।
 ब्रह्मैवानन्द्यायकं तदंश एव सर्वैवानन्द इति । अतो हेतोः सदंशानां देशानां
 सर्वप्रकारकानन्दसिद्ध्यर्थं येन्वादीनां रत्नानामिह लोके समुद्रमः प्राकृत्यम् । हि

सवंशानां सर्वसिद्धयै धेन्वादीनामिहोद्गमः ॥५७॥
 सदानन्दस्तादृशो हि मुख्यानन्दो रमा स्मृता ।
 अमृतं तु चिदानन्दः स जीवार्थं हि युज्यते ॥५८॥
 सर्वेष्टं यद्भवेच्छोके विभागं नैव गच्छति ।
 तत्स्वेच्छयैव यद्गामी स भुङ्क्ते नापरः कश्चित् ॥५९॥
 स्वयम्बरस्ततः प्रोक्ता लक्ष्म्यास्तस्यास्तथा मतिः ।
 ब्रह्मानन्दस्वरूपा हि महद्ब्रह्मेति शब्दिता ॥६०॥
 भोक्ता तस्य हरेर्नान्यो दोषयोगात्तत्र चाऽन्यथा ।
 आधिदैविकमेवा हि मध्यमं त्वमृतं मतम् ॥६१॥
 समुद्राञ्जितयं जातं तेन दाता स रूप्यते ।
 हरणान्तामृतोत्पत्तिः स्वातन्त्र्यार्थं निरूपिता ॥६२॥
 अन्यथा न भवेज्ज्ञानं गृहभोजनपाकवत् ।

यतो हेतोः सदानन्दः सद्धर्मरूप आनन्दस्तादृशो बहिः पदार्थसम्बन्धाभिव्यङ्ग्यः ।
 स्फुटमग्रे ॥५६॥५७॥५८॥ तथा च त्रितयानन्ददानबोधनाय तदुत्पत्तिकथेत्यर्थः ।
 लक्ष्मीस्वयम्बरकयातात्यर्थमाहुः—सर्वेष्टमित्यादि । तथा मतिरिति । प्रोक्तेति
 विपरिणामेनानुपगतौ लक्ष्म्यास्तथा बुद्धो हेतुं वक्तुं तत्स्वरूपमाहुः—ब्रह्मेत्यादि । तथा
 च ब्रह्मस्वरूपत्वात्तथा बुद्धिरित्यर्थः । भगवतो भोक्तृत्वे उपपत्तिमाहुः—भोक्तेत्यादि ।
 अन्यो जीवो चस्त्वर्थः, दोषयोगादन्यथा अक्षरानन्दादपकृष्टः । तथा च 'अक्षर-
 त्परतः पर' इति श्रुतेः । 'अक्षरादपि चोक्तम्' इति वाक्याच्च तत् उच्यते एव
 तदोक्तेति ज्ञापयितुं तत्स्वयम्बरकथेत्यर्थः । अमृतार्थं मुख्यवृत्त्या ब्रह्मानन्दमेव
 वक्तौति ज्ञापनाय समुद्रोत्पत्त्यानां त्रिविधानां स्वरूपं वदन्तः समुद्रस्य दातृत्वे
 प्रयोजकमाहुः—आधिदैविकेत्यादि । अत्रोभयोः स्वरूपकथनेन धेन्वादीना-
 माधिभौतिकत्वं स्फुटीकृतम् । ननु देवोत्पत्तिरध्यायार्थं इति तत्पर्यन्तं यन्निरूपितं
 तत्तदुपोद्गततया तत्सङ्गतमिति युक्तम्, हरणकथा तु तदसङ्गतैति सा कुत उच्यते
 इत्यत आहुः—हरणेत्यादि । स्वातन्त्र्यार्थमिति दातुः स्वातन्त्र्यार्थम् । गृहे भोजन-
 पाकचदिति । स्वगृहे भोजनार्थं वा पाकक्रिया तत्र परिवेषुर्गृहं न दातृत्वं तद्व-

पितृतो हि यथोत्पत्तिस्तथा ज्ञापयितुं पुनः ॥६३॥
 धन्वन्तरिस्वरूपेण घटहस्तो बभूव ह ।
 मातृतस्तु यथोत्पत्तिस्तथा ज्ञापयितुं पुनः ॥६४॥
 मायारूपेण भगवान् घटहस्तः पुनर्वर्भौ ।
 एवं रूपहयेनेशोऽमृतमुत्पाद्य दुर्लभम् ॥६५॥
 सत्यान्नरूपानखिलान् पाययामास गोपतिः ।
 सर्वेणाऽपि कृतं दानं हरिणैव कृतं भवेत् ॥६६॥
 इति दर्शयितुं कृष्णः स्वयं दाता बभूव ह ।
 अपुत्रस्तु समुद्रो हि जामाता तु हरिः पुनः ॥६७॥
 अतः श्वशुरकृत्यं हि स्वयं चक्रे तथाविधः ।
 वैश्येभ्यो वारुणी दत्ता सा वृक्षास्त्रेदिनिर्गता ॥६८॥
 अमृतस्यैव धाराऽभूद्यथाणत्रं हि दीयते ।

दित्यर्थः । नन्वग्रे स्त्रीरूपेण दाने तेनैव रूपेणामृतं कृतो न समुद्रादा-
 नीतवानित्याकाङ्क्षायामाहुः—पितृतु इत्यादित्रयम् । पुनरित्यनेन धन्वन्तरैव
 तथात्वं स्मारितम् । 'धान्वन्तरं द्वादशम'मित्यत्र प्रथमस्कन्धे तथा सिद्धत्वात् ।
 गोपतिरिति स्वर्गपतिः । एवं स्त्रास्त्रेदेशानिः प्रथमाध्यायार्थो विचारितः ॥
 ५९॥६०॥६१॥६२॥६३॥६४॥६५॥६६॥६७॥६८॥

(अ० ९) अतः परं द्वितीयाध्यायार्थो विचारणीयः । स च दानकर्मात्मक
 इति तस्य येन केनापि सिद्धौ भगवत एव दातृत्वं कुत उच्यते इत्यपेक्षायामाहुः—
 सर्वेणेत्यादिद्वाराभ्याम् । तथाविध इति पुत्रीरूपः । अस्मिन् कल्पे चन्द्रो न
 समुद्रपुत्र इति बोध्यम् । पातुषु प्रवेशेनामृतमयत्वाभावाच्च । तथा चैतच्छापनार्थं 'दाता
 दापयिता हरि'रिति शास्त्रार्थज्ञापनार्थं बोध्यत इत्यर्थः । नन्वेवं सति पुनर्वैषम्यापात
 इत्यत आहुः—द्वैत्येभ्य इत्यादि । तथा चात्रापि पात्रतस्य वासनाजन्यत्वात्तत्रापि
 न वैषम्यमित्यर्थः ॥६६॥६७॥६८॥

स्वर्भानुरेकस्तत्रयो ज्ञापनार्थं तु पायितः ॥६१॥

मारितोऽन्यानिवेशाय सूर्यचन्द्रौ हि कालगौ ।

सूचयामासतुर्यस्मादतो ग्रहणभागिनौ ॥७०॥

मुख्यत्वज्ञापनार्थाय ग्रहणं तेन रूप्यते ।

सुखरूपं फलं कृष्णात्सतामिति निरूपितम् ॥७१॥

अक्षयं त्वमृतं यस्मादतः पीतं पुनर्मुखात् ।

उद्धृत्य स्वस्य भोगार्थं कर्त्तव्यमिति निश्चयात् ॥७२॥

मथने तु यथायत्ता आह्वेऽपि तथा सुराः ।

ननु यथैवं तदा स्वर्भानुः इतः पायितो मारितश्चेत्यत आहुः-स्वर्भानु-
रित्यादि, अन्यानिवेशायेति पुनरन्यस्य पङ्कानुप्रवेशनार्थम् । तथा चाभूत्-
गुणज्ञापनाय पायितोऽभ्येषामयोग्यानां प्रवेशाभावाय मारित इति नैतेनापि
वैभ्यमित्यर्थः । सूचनग्रहणयोः प्रयोजकं वदन्तस्तत्कथनतात्पर्यमाहुः-सूर्यचन्द्रावि-
त्यादि । तथा च 'योऽसौ तपस्त्रुदेती'त्यादिश्रुतेः सूर्यस्य कालचक्रगामित्वेन
चायुर्ग्राहकत्वाच्चन्द्रस्यापि तथात्वेन तथासात्ताभ्यां सूचनादेव दैत्यवैरुख्यत्वस्य
सर्वैवानपनोद्यस्य ज्ञापनाय च ग्रहणमुच्यते । तेन 'भगवानसतः कालेन प्रतिबन्धनाति
सतामेव सुखरूपं फलं ददातीति' मुख्यत इति द्वितीयाध्याये आध्यात्मिकामृतदान-
प्रकारतः सिद्धम् । तेनापिद्विकामृतदाने कः प्रकारः सिद्धयति तमाहुः-अक्षय-
मित्यादि । इदं क्षयिष्यमृतमर्त्ततायदेव तु पुनर्यन्मुख्यममृतं एतावदरे स्वल्पमृतस्य-
मित्यादिश्रुतिसिद्धं तद्यस्यादसमयतस्तत्पीतं पुनः शुकादिवन्मुखादुद्धृत्य 'तदहं
तेऽभिधास्यामि महापीरुषिको भवाने'तस्य द्वितीयाध्यायान् उक्त्या रीत्या
निश्चयात् । ल्यब्लोपे पञ्चमी, निश्चयं कृत्वा स्वभोगार्थं कर्त्तव्यमिति गूढं निरूपित-
मित्यर्थः ॥६९॥७०॥७१॥७२॥ एवं सार्व्वः बहुभिर्द्वितीयाध्यायो विचारितः ॥

मृतीयाध्यायं विचारयन्ति-मथन इत्यादि । 'हरिः पुरस्ताज्जग्रह' इति वाक्यान्मथने यथेन्द्रादयो देवायसास्तथा आह्वेऽपि वयं पीतामृता इत्यहङ्कारेण सम्रद्धा जाताः । तदुक्तं 'पीतया मुषयैषिता' इति । न तु भगवदुपकार-

अमृतं तु कृतघ्नत्वशङ्कया नोपकारकृतं ॥७३॥

ततः स्वयं हरिर्गत्वा जघानासुरपुङ्गवान् ।

ततः कृतघ्नताशङ्कया निवृत्तेत्यमृतं पुनः ॥७४॥

स्वकार्यं कृतवद्येन स्वयं युयुधिरेऽमराः ।

दानस्य फलमेतद्धि सर्वं स्वर्गादिकं यतः ॥७५॥

वलिस्तु हत एवाऽसीन्निवृत्ताश्च तथापराः ।

वस्तुतः फलमेतावच्छङ्काभावाय रूप्यते ॥७६॥

महादेवस्य संमोहो ह्यन्यथा तं समाश्रिताः ।

पुनर्दुःखप्रकर्त्तारो वैद्याः स्युः सर्वथाऽचिरात् ॥७७॥

तस्मिन्मन्वन्तरे जाते यदि दैत्याः पुनः सुरान् ।

मनुसन्धितवन्तस्तदा अमृतं चिदानन्दरूपलक्षितनमिति तेषु कृतप्रत्वं शङ्कितवत् ।
तथा शङ्कया अजीर्यमाणं नोपकारकृज्जातम् । ततो देवानां जाते पराजयेऽ
हङ्कारनिवृत्त्या भगवन्तं ध्यातवन्तः । तदुक्तं-ध्यातः प्रादुरभूर्दिति । ततो भगवता
दैत्यहनने कृते तदाऽहङ्कारनिवृत्त्यभगमेनामृतस्थापि सा आशाङ्का निवृत्तेति
अमृतं पुनः स्वकार्यं कृतवद्येन तेजितवन्त इति पुरःस्फुलिकम् । तथा चैतया
कथया विद्योपदेशकानां विचारयित्वाणां स्वाहङ्कारे श्रीभागवतादिरूपा
विद्याऽपि नोपकरोतीति सर्वथा प्रतिक्षणं 'भगवन्कृतमेवोपदेशकैर्विचार-
यितृभिश्चिन्तनीयमिति सूच्यत इत्यर्थः । एवं त्रिभिस्तृतीयाध्यायार्थं
विचार्य विद्यातिभी रूपप्रकर्णार्थो निर्णीतः । अत्रापि देयोत्यतिः सात्त्विकी
देवानां मुख्यरूपतया सात्त्विकत्वात् । दानकर्म राजसं कापट्यमिश्रणात् । जीर्णता
हननागता तामसीति स्फुटमेव ॥७३॥७४॥७५॥

अतः परं तृतीयं फलप्रकरणं विचारयन्तोऽत्र तामसो राजसः
सात्त्विक इत्येवं गुणक्रम इति बोधयितुमाहुः-बलिरित्यादि । अपरा इति
तामस्यः क्रियाः । एतावदिति जोर्णताकार्यपूर्व्वन्तम् । एवं मुख्यामृतफलमपि
कैवल्यान्तमित्यर्थः ॥७६॥ द्वितीयस्याहुः-महादेवस्येतिब्राह्म्याय । अत्र
मेहनं राजसं मुख्यफलमपि विरुद्धशैवादिवादिनिराकरणपर्यन्तं बोधनीयमिति

बाधिरन्नामृतस्याऽस्य पानं स्याद् व्यर्थमेव हि ॥७८॥
मन्वन्तराणि सर्वाणि ततः प्रोक्तान्यनुक्रमात् ।
आवेशिनस्तु ते सर्वे देवा मन्वन्तरेषु हि ॥७९॥
पद्भिः सम्पद्यते धर्म इति सर्वकृतं पृथक् ।
निरूप्य हरिणा सर्वं सिद्धयतीति निरूप्यते ॥८०॥
एवं दशभिरध्यायैः सर्वदानं निरूपितम् ।

(अथ प्रकरणं तृतीयम् अ. १५-२३)

स्वोक्तनिर्वाहधर्मं तु नवभिः प्रोच्यते गुणैः ॥८१॥
कथञ्चित्सम्पदि प्रोक्तं नाऽन्यथा कार्यमापदि ।
अशक्यं सर्वथा नास्ति यदि चित्तं तथा भवेत् ॥८२॥
बलिरत्र तथा धर्मप्रवर्तक उदीर्यते ।

तेनोपाख्यानेन बोधितम् ॥७७॥७८॥ तृतीयस्याहुः-मन्वन्तराणीति । तेन मुख्यफलमाशेन ब्रह्मभावान्तं बोधितम् । सात्त्विकत्वं तु मुख्यजनकत्वादेव स्फुटम् । एवं चतुर्भिस्तृतीयमवान्तरप्रकरणं विचारितम् । तेन सार्द्धाष्टचत्वारिंशद्भिर्गुणप्रकरणं सिद्धम् । गुणातीते त्वेक एवाध्यायः (अ. १४) इति तस्यार्थमाहुः-षड्भिरित्यादि । तथा च हरिणा सर्वसिद्धैरेव निरूपयणाद् गुणातीतत्वम् । ज्ञानं चानुयुगं ब्रूत इत्यादिभिर्ज्ञानादिदानकथनाद्दानप्रकरणेऽन्तर्भाव इत्यर्थः ॥७९॥८०॥ उपसंहरन्ति-एवं दशभिरित्यादि । एवमेकपञ्चाशद्भिर्द्वितीयं महाप्रकरणं विचारितम् ।

(अ. १५-२३) अतः परं तृतीयं स्वोक्तनिर्वाहप्रकरणं सार्द्धं षोडशभिर्विचारयन्ति स्वोक्तेत्यादि ॥८१॥ ननु कथं कथं इवापि दानमेव प्रतिपाद्यत इत्येतत्कथने को विशेष इत्यत आहुः-कथञ्चिदित्यादि । पूर्वप्रकरणे सम्पदि दानं कथञ्चित्कर्तव्यमन्यथाऽशक्यत्वे आपदि न कार्यमित्येवोक्तम् । अत्र तु यदि चित्तं तथा भवेद्दानानुकूलं भवेद् तदा अशक्यं नास्तीति विशेषं ज्ञापयितुं तथा धर्मप्रवर्तको बलिरीर्यत इत्येष विशेष इत्यर्थः ॥८२॥ नन्वेवं सत्यत्रापि दानमतिपादानादूर्ध्वसत्यध्यायात्मकमेव प्रकरणं वक्तव्यं न प्रकरणभेद इति शङ्कायापर्येयं

दातुरेकेन दानस्य सामर्थ्यमिह रूप्यते ॥८३॥
याचनार्थं भगवतः प्रसङ्गस्त्रिभिरुच्यते ।
ततो याचनमेकेन दानं चान्येन रूप्यते ॥८४॥
अन्यथाकरणाद्बन्ध एकेन प्रतिपादितः ।
यथार्थकरणाद्मुक्तो वरान् लेभे सुदुर्लभान् ॥८५॥
अभीप्सितार्थसिद्ध्यर्थं स्थापनं चाऽपरिण हि ।
एवं नवभिरध्यायैः फलसाधनसंयुतम् ॥८६॥
सत्यवाक्यं हि सद्धर्मरूपमत्र निरूपितम् ।
राजसो राजसैर्युक्तः कर्ता राजस उच्यते ॥८७॥
व्रतं तु तामसं प्रोक्तं सत्त्वयुक्तं द्वितीयके ।
प्रसादः सात्त्विकः प्रोक्तो रजोयुक्तस्तृतीयके ॥८८॥
अवतारस्तथा प्रोक्तस्तमसाच्छलभावतः ।

वक्तुं दानस्य साधनत्वेन प्रवेशान्न प्रकरणसमित्याशयेनाध्यायार्थानाहुः-दातुरित्यादिभिश्चतुर्भिः । फलेत्यादि । फलं भगवत्प्रसादः साधनं दानं तदुभयसंयुतं सत्यवाक्यं हि यतो हेतोः सद्धर्मरूपमत्र निरूपितम् । अतः प्रतिपाद्यभेदात्प्रकरणभेदे इत्यर्थः । अस्यापि गुणैर्नवविधसङ्घट्टं परन्तु न पूर्ववदिति ज्ञापनाय प्रकारं विवृण्वन्ति-राजस इत्यादि । राजसैरिति भृगुभिर्द्वैत्ययुग्मैश्च ॥८३॥८४॥ ८५॥८६॥८७॥ व्रतमिति पुंसनवत्रयम् । तस्य तामसत्वं मोहमयुक्त्या करणात्सात्त्विकत्वं मुख्यजनकत्वात् । एवं प्रसादस्य सात्त्विकत्वं मुख्यत्वात्, राजसत्वं फलाकाङ्क्षाप्रयुक्तत्वात् । तथा प्रोक्त इति राजसः प्रोक्तः । तत्र हेतुः, छलभावत इति । ईश्वरभावं तिरोभाष्य याचकत्वप्रत्यायनेन छलभावत् । तमसेति मोहकत्वात्तमसा युक्त इत्यर्थः । याचनं राजसं प्रोक्तमिति । छलभावत इति पदमिहापि सम्बद्धमेतम् । तथा च उन्विशेऽध्याये भगवता कृतं तद् छलभावेन कृतत्वाद्वाजसमित्यर्थः । चञ्चनमिति शुद्धवचनं तामसमित्यर्थः । एतस्य चरणस्याग्नेऽपि सम्बन्धः । तथा च विशेषेऽध्याये उच्यमानं बलिवचनमाग्रहपूर्वकत्वात्तामसं सङ्घट्ट-

याचनं राजसं प्रोक्तं वचनं तामसं मतम् ॥८१॥
 सत्त्वेन रजसा युक्तं षडध्याया इमे मताः ।
 दानं तु सात्त्विकं प्रोक्तं प्रतिबन्धस्तु तामसः ॥१०॥
 कीर्त्तिसाहससंयुक्तं सराजसमिहोच्यते ।
 अन्यथाकरणाद् दुःखं यथावत् करणात्सुखम् ॥११॥
 पूर्वार्धस्याऽपि संसद्धिरुपपत्तिकले त्रिधा ।
 विप्रकर्महरीणां हि प्रसादः करणं त्रिधा ॥१२॥
 अज्ञानज्ञानदाने हि बन्धनं फलमेतयोः ।
 त्रिभिर्दानमिह प्रोक्तं मुख्यं दानं फले मतम् ॥१३॥

तत्सात्त्वेन गुर्वज्ञानाद्रजसा च प्रयुक्तमित्यर्थः ॥८१॥ अध्यायान्तरेष्वपि गुणसाङ्गयैस्तात्कुत्र क इत्यनिश्चयत्तन्निवृत्त्यर्थमाहुः—षडध्याया इम मता इति । सुक्ष्मविचारे ते य एवार्था मुख्यतया सम्मता इत्यर्थः । विंशो दानस्यैकविंशो बन्धनस्य चोक्तत्वात्सर्वरूपमाहुः—दानं स्थित्यादि । कीर्त्तिसाहसाभ्यां संयुक्तं दानमिहाध्याये प्रकरणे वा सराजसं सात्त्विकमुच्यते । तु पुनरेकविंशो प्रतिबन्धः प्रतिकूलतया बलिनियग्रहस्तामस इतियोजना । एवं गुणविभागं प्रदर्शयान्तर-प्रकरणानि त्रिभेदेषुध्यायार्थानाहुः—अन्ययेत्यादि । अत्रैकैकचरणोक्तः । क्रमेणैक-विंशोद्वित्रयस्यार्थः । तेनैवषुपपत्तिरध्यायार्थः । फलं तृतीयप्रकरणाथः । प्रथमप्रकरणा-ध्यायार्थमाहुर्विंशेत्यादि । द्विप्रा भृगवः कर्मादितिविषयोव्रतं हरिभगवान् तेषां प्रसादः पञ्चदशाद्वित्रयस्यार्थः । सद्धर्मप्रयोजकत्वात्त्रिधाकरणम्, तेन हेतुः प्रकरणा-यस्तद्विधाध्यायार्थः इत्यर्थः ॥९०॥११॥१२॥

द्वितीयस्याहुः—अज्ञानेत्यादि । अज्ञानेन दानं 'यद्यद्वदो वाञ्छसी'ति सार्द्धश्लोकोक्तमष्टादशोऽर्थः । ज्ञानेन विप्रदमिता भूदयेति ज्ञानेन दानमित्युक्तः 'सहस्रान्नाहै'त्यनेनोक्तमूनविंशोऽर्थः । हि निश्चयेन दानं 'एवं शप्तः स गुरुणे'ति श्लोकोक्तं विंशोऽर्थः । वस्तुतस्तत्त्वाध्यायद्वयेन ज्ञानदानमेवोच्यते इति छे एव दाने । एतयोर्द्विविधदानयोः फलं बन्धनं विंशे उच्यते इति सफलं दानं द्वितीयप्रकरणार्थ-स्तत्त्वकारादिरध्यायार्थ इत्यर्थः । नन्वत्र तृतीये फलस्यैव मुख्यत्वात्कथं त्रिभिर्दान-मित्यत आहुः—मुख्यमित्यादि । 'पदं तृतीयं दुरु शीर्णि मे निज'मित्यनेनोक्तं

हेतुर्दानं फलं चेति त्रिभिस्त्रिभिर्निहोच्यते ।
 विभज्य दानं पूर्वोक्तमसर्वस्वं च तत्पुनः ॥९४॥
 एकस्मै सर्वदानं च ततः श्रेष्ठं तृतीयके ।
 अयमेव हि सद्धर्मो यथाऽयं बलिना कृतः ॥९५॥
 निर्वाहस्तस्य हरिणा तेन भक्तैः पुरोदितः ।
 लक्ष्मीदानं यथा तत्तु मध्यमं परिकीर्त्तितम् ॥९६॥
 शरणागतिरापत्सु ततोऽपि प्रथमं मतम् ।
 एवं सद्धर्मनिर्धारो हरये यदि सर्वदा ॥९७॥
 सर्वथा शरणं गत्वा श्रेष्ठं तस्मै निवेद्य च ।
 तदीयेभ्यो यथाकामं दत्त्वा तस्येच्छया पुनः ॥९८॥
 कृष्णस्यैव तु कृष्णाय दद्यात्स्वं स्वात्मना सह ।
 तृतीयस्यायमर्थस्तु यस्मै कस्मै यदा हरिः ॥९९॥

मुख्यमात्मनिवेदनरूपं फले फलप्रकरणे मतमतस्त्रिभिस्त्रिभ्यर्थः ॥९३॥ सिद्धमाहुः—हेतुरित्यादि । प्रकरणक्रमतात्पर्यं वक्तुं प्रकरणद्वयोक्तयोर्दानयोस्तात्पर्यमाहुः—विभज्येत्यादि ॥९४॥ द्वितीयस्य मुख्यत्वेऽन्यदपि हेतुद्वयमाहुः—अथमित्यादि ॥९५॥ तथा च भगवन्निराहितत्वेन भक्तिजनकत्वेन चायं मुख्य इत्यर्थः । अन्ययोस्तारतम्ये हेतुमाहुः— लक्ष्मीत्यादि । तथा च प्रथमस्य स्वार्थेत्वाद् द्वितीयस्य परार्थत्वेन तत् उत्कर्षः । द्वितीये च दाता सद्धर्मो भगवान्स्तु प्रतिनिधिरिति भागेवोक्तम् । तृतीयसन्दर्भतात्पर्यमाहुः—एषमित्यादि । एवं साद्धैः षोडशभिस्तृतीयं प्रकरणं विचारितम् ॥९६॥९७॥

अतः परं साद्धैः सप्तभिस्तृतीयं व्यवतृप्रकरणं विचारयन्ति—तत्र तृतीयस्य वक्तृप्रकरणत्वात्प्रकरि च ज्ञानार्थेव प्रयोजकत्वात्तत्र तद्बोधयितुं प्रकरणत्रयार्थमनुवदन्ति—सर्वेत्यादि । अत्राद्यचरण आद्यप्रकरणार्थेस्तत्प्रकरणत्रयेण द्वितीयार्थः । अन्तिमे त्रिभिः पादैस्तृतीयस्य । ततः पादानाभ्यां त्रिभिर्धैःसिद्धं निष्कृष्टमनूच्यते । तज्ज्ञातृत्वे मत्स्यावतार आहुः—एतदित्यादि । तेन मत्स्यपुराण-स्यैतच्छेषत्वं बोधितम् । ज्ञाने गमकमाहुः—सप्तमस्येत्यादि । अत्रैतत्स्कन्धे प्रकरण

आत्मानं वा विभजेत्तत्थाऽस्त्विति ।

अभिमानं परित्यज्य तत्तथेत्यनुमोदयेत् ॥१००॥

शत्रुभ्यः स्वस्य यद्दानं तदा सत्त्वं हि सर्वथा ।

एतन्नयं हरिर्मत्स्यः स्वयं वेद न चापरः ॥१०१॥

सप्तमस्य मनोरथं यतोऽयं स्वयमागतः ।

अस्मिन्मन्वन्तरे येन सहस्रांशानां दहेत् ॥१०२॥

नान्यथेति प्रसिद्धयर्थमत्र मत्स्यनिरूपणम् ।

मत्स्यादन्वो धर्मसूक्ष्मं न वेदेति विनिश्चयः ॥१०३॥

वेदोद्धारो यतस्तेन कृतो नान्येन केनचित् ।

एवं गुरुकर्मणोः सहस्रं यः समाचरेत् ॥१०४॥

दुर्वासनाः समस्ता हि दहेदिति विनिश्चयः ॥१०५॥

इति श्रीबृहद्भद्राक्षितविरचिते श्रीभागवततत्त्वार्थनिबन्धे

अष्टमस्कन्धविवरणे दशमं प्रकरणम् ।

त्रयोचरं मत्स्यावतारप्रसङ्गोक्तिप्रयोजनमाहुः- अस्मिन्नित्यादि । ननु धर्मवस्तुं कूर्मवराहावतारयोरेष्यस्तीति को विशेषो मत्स्यावतार इत्यन आहुः- मत्स्यादित्यादि । एवं सर्वे स्कन्धार्थे निरूप्य स्वानुपदिशन्ति- एषमित्यादि । एवं चात्र स्कन्धत्रये मथमेनानुष्टुपीततया स्थितिर्द्वितीयेन तच्चद्वासनावचया स्थितिरुत्तीयेन निःशेषदृष्ट- वासनारहिततया स्थितिरिति त्रिविधस्थित्यर्थं त्रिविधलीलाबोधनात्, 'येन जातानि जीवन्ती'ति श्रुतौ त्रिविधं जीवनमभिप्रेतमिति बोधितम्, सर्वपेदेतिहाससार- लाच्छ्रीभागवतस्येति ॥९८॥९९॥१००॥१०१॥१०२॥१०३॥१०४॥१०५॥

इति श्रीमत्प्रभुचरणैः पुरुषोत्तमस्य

दर्शिता अष्टमस्कन्धनिबन्ध-

योजना सम्पूर्णा ॥

॥ अष्टमस्कन्धः समाप्तः ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

अथ तत्त्वाधीर्षापनिबन्धे श्रीभागवतार्थप्रकरणे

नवमस्कन्धविवरणम् ।

चतुर्विंशतिभिः प्रोक्तः सहस्रं वासनाक्षये ।

तथा चेत्क्रियमाणस्य कृष्णे चेद्वासना शुभा ॥१॥

जीवस्वभावतो जाता तदा भक्तिर्न चेतरेत् ।

चतुर्विंशतिभिः प्रोक्ता नवमे भक्तिरुत्तमा ॥२॥

श्रीबालकृष्णाय नमः ।

अथ नवमस्कन्धनिबन्धस्य योजना ।

अथ नवमस्कन्धार्थं निबन्धतोऽत्र कार्यकारणभावरूपा पूर्वेण सङ्गतिरिति बोधनाय साद्धेन पूर्वस्कन्धाथेमनुवदन्ति- चतुर्विंशतिभिः प्रोक्त इत्यादि । प्रोक्त इति दुर्वासनाक्षयार्थमुक्तः । 'स सर्वथा शरणं गत्वे'त्यादिनोक्तरीत्या चेत् क्रियेते तदा चेद्भगवत्कृपाविक्रमत्रानुग्रहस्य सहकारितात् । तदा भगवत्प्रियिणी शुभा वासना भवति 'कृष्ण एवास्सत्प्रभुरिति, सापि चेद्'वेष्णवत्सं हि सहजमिति, पुष्टिप्रबाह्मण्योदोक्तरीत्या जीवस्वभावं प्राप्य जाता तदा भक्तिर्भवति । बीज- स्वभाव इति पाठोऽप्ययमेवार्थः । जीव-भावस्य बीजत्वादिति न चेतरेत् । च पुनः, इतराधिकं घुक्तिर्वा न, यदि न कृपाधिक्यं तदा सामान्यकृपया मोक्षपर्यन्तं भवतीत्यर्थः । एतज्ज्ञापनार्थं द्वितीयं चेत्यदकथनम् ॥१॥ एवमत्र कार्यकारण- भावरूपा सङ्गतिर्बोधिता ।

अथ प्रस्तुतस्कन्धार्थं वदन्तः सामान्यलक्षणाद्विशेषबोधनपूर्वकमाहुः- चतुरित्यादि । 'वंशानुचरितं तेषां वृत्तं वंशधराश्रय' इति ब्राह्मणे (अ. ७) महापुराणानां

ईशस्याऽनुकथारूपा यया स्यात्पुरुषो हरेः ।
 सर्वप्रकृतिभावेन यदि कृष्णं स सेवते ॥३॥
 लौकिकेन समस्तेन तल्लीलामनुसृत्य हि ।
 तदा लौकिकभावेषु कृष्णस्याऽनुप्रवेशतः ॥१॥
 न निबन्धो मानसः स्याद्वितीशानुकथाऽधिका ।
 चतुर्विंशतिभिः प्रोक्ता सद्धर्माच्च विशिष्यते ॥५॥

सप्तमं लक्षणम् । द्वितीयस्कन्धे तु 'अवतारानुचरितं हरेरस्यानुवर्तिनाम् । पुंसामोश-
 कथाः शोक्ता नानारूपानोपहृदिता' इतीशानुकथारूपं लक्षणं लक्षितम् । तदर्थस्तु
 ईशस्य हरेरिति विशेषणाद्दुःखदूरीकरणं सुखमापणं चाभिप्रेतम् । तत्र दुःखस्य
 नवधाऽणभेदजलाचक्षिभारणे यदनुवर्तिनो गुणैर्नवविधाः, ज्ञानेनैकविधाः । चरित्रं
 ज्ञानकर्मभक्तिभिक्षिधा । एवं दुःखनिवारणे त्रयोदश । सुखमापणे दशेन्द्रियसुखदला-
 दनुवर्तिनो दशधा एकश्च भगवानित्येकादशेति चतुर्विंशतिपेति । तथा सत्यस्य
 वैश्ववंशपरवृत्तेऽपि तद्वंशवर्तीणैरहरिष्टत्वं तदनुवर्तिष्टत्वं च विशेषः, स चोक्त-
 लक्षणकोचमभक्तिरूप इत्यर्थः ॥२॥

एवं चाचत्रोच्यते वंश्यानुचरितविशेषस्तच्चनाद् द्वितीयस्कन्धेऽक्तलक्षणेऽति-
 व्याप्तिदोषेऽपि परिहृतः । कपिलादिमत्स्यान्तचरित्रेष्ववतारानुचरितत्वेऽपि राज-
 वंशवृत्तरूपविशेषणाभावात् पृथुग्रहादभियत्रताद्विचरित्रेषु विवक्षितभक्तिरूपत्वा-
 भावाच्चेति । तदेतन्मनसिकृत्य भक्तिप्रकारं विवृण्वन्त ईशानुकथाया आधिक्यमाहुः-
 सर्वेत्यादि सपादाभ्यां द्वाभ्याम् । सजीवो यदि तल्लीलामनुसृत्यास्मत्पञ्चगैवं कृतमत-
 स्तदनुवर्तिभिः सेवकैरस्माभिरपि तथैव कर्तव्यमित्यनुसन्धाय हि निश्चयपूर्वकं लौकिके
 पशुपुत्रादिना समस्तेन सहितः सर्वप्रकृतिभावेन सर्वोपादानकारणत्वेन कृष्णं
 सेवते तदोक्तरीत्या मानसो निबन्धो बलालम्बवर्चनरूपो न स्यादिति हेतुरीशानु-
 कथा रूपा भक्तिः पूर्वोक्तानां चरित्रेभ्यः पूर्वोक्तलक्षणेभ्यश्चाधिका । तथा च
 तेभ्यो भेदस्यात्र स्फुटत्वात्तदलक्षणेऽतिव्याप्तिरास इत्यर्थः । ननु निबन्धाभावो
 बलिकृते सद्धर्मोऽप्यस्तीति तत्रातिव्याप्तिदुर्विरत्यत आहुः-सद्धर्मादित्यादि ।

ईशानुसारिणी यस्माज्जन्मावध्यखिलाक्रिया ।
 हरिः स्वयं तानादाय स्वकीयान् कर्तुमत्र हि ॥६॥
 ज्ञानाज्ञानविभेदेन तज्ज्ञापयितुमत्र ह ।
 अवतीर्णः सूर्यसोमवंशयोरुभयोस्तथा ॥७॥
 द्वादशात्मा पूर्णगुणः पुराणः पुरुषो यतः ।
 अतो द्वादशभिः प्रोक्तो वंशः पूर्वस्तथापरः ॥८॥
 चन्द्रवंशकथां प्राह जघन्यत्वनिवृत्तये ।
 जीवरूपेण सूर्यस्य ततो वंशनिरूपणम् ॥९॥
 अतोऽध्यायाः समाः प्रोक्ता उभयोर्द्वादशैव हि ।
 भक्तिर्नानाविधा तत्र कृष्णलीलानुसारतः ॥१०॥

विभेदेनेत्यन्तेन सार्द्धेन । हि यतो हेतोरत्रास्यां लीलायां तान् जीवान्
 स्वकीयान् कर्तुमादाय तिष्ठति न तु ऋषभादिवृज्जहातीति सा तथा । तथा च
 सद्धर्मं जन्मारभ्याखिलाक्रियायां भगवदनुसारिताभावात् तत्राप्यतिव्याप्तिरित्यर्थः
 ॥१॥१॥५॥६॥ एतदेव स्फुटीकुर्वन्ति-तज्ज्ञापयितुमित्यादि । हेति प्रसिद्धौ ।
 अत्रास्यां लीलायां तत्सूरीकरणं ज्ञापयितुमुभयोः सोमसूर्यवंशयोस्तथा
 उद्धारकत्वेनावतीर्णः । तथा च 'य उत्तराननयत्कोसलान् दिवमि'ति । यत एतद्विद्वन्व्यत
 इतिवाच्यतात्सर्वाद्धारकमवतारचरित्रं नेतरमेति न कुवाप्यतिव्याप्तिरित्यर्थः ॥७॥८॥
 एवमत्र सप्तभिः स्कन्धार्थो निर्णीतः ।

अतः प्रकरणार्थं विचारयन्ति-द्वादशात्ममेति । ननु द्वादशस्कन्धयाषु
 भगवन्निरूपणं न स्फुटमिति भगवतो द्वादशात्मत्वं न प्रकरणाध्यायसङ्ख्यानियामक-
 मित्याशङ्क्याहुः-चन्द्रेत्यादि तथा च वंशबीजभूतस्य सूर्यस्य द्वादशात्मत्वात्तद्वंशनिरूपणे
 द्वादशसङ्ख्या आवश्यकी । ततो जघन्यत्वनिवृत्त्यर्थं सा सङ्ख्या चन्द्रवंशेऽप्याव-
 श्यकीत्यतस्तथेत्यर्थः । नन्वत्र वंशचरित्रे भगवदवतारचरित्रे च वक्तव्ये भक्तिर्मध्ये कुत
 उच्यत इत्याकाङ्क्षायां सार्द्धेन तदावन्तलवोधनायाहुः-भक्तिरित्यादि । अत्रेति
 नवमस्कन्धे । तुरितरव्यवच्छेदार्थः । सर्वेषामिति सिद्धयतीति शेषः । तथा च
 च त्रिष्ववस्थाभेदेन द्विविधफलार्थं मध्ये व्यापारत्वेन भक्तिः स्नेहरूपा आश्रय-

सर्वेषां तु फलं मोक्षो जीवतां हरिणा सह ।
 लीलया परमं सौख्यं ततो भक्तिरिहोच्यते ॥११॥
 यदा तु भगवान् साक्षादवतीर्णो रमापतिः ।
 प्रमेयबलमासाद्य तदा मुक्ता भवन्ति हि ॥१२॥
 अग्ने तर्कीर्त्तिसङ्कीर्त्या ततः पूर्वं तु ये नृपाः ।
 मर्यादापुष्टिभेदेन वंशजाः सूर्यसोमयोः ॥१३॥
 तत्र सूर्यप्रसूता हि गुणैर्नवविधा मताः ।
 यथा यथा शुद्धभक्तास्तथा दोषवियोगतः ॥१४॥
 महानुभावा जायन्ते इति तेषां कथोच्यते ।
 मोक्षे तुल्येऽपि सर्वेषामनुभावोऽधिकः स्मृतः ॥१५॥

कोऽस्य उच्यते इत्यर्थः ॥१॥१०॥ नन्वीशानुकया द्विविधा, अवतारचरितरूपा तदनुवर्तिचरितरूपा च । तत्र द्विविधयोः कथमेको व्यापारः ? किञ्चात्रमुक्त्य-
 धिकारिणः कालत्रयस्था उच्यन्ते इत्यनवतारकालीनानां कथं व्यापारसम्पत्तिरित्यत
 आहुः-यदेत्यादिद्वयम् । तत्कीर्त्तिसङ्कीर्त्येति । भगवद्गुणानां भगवद्गीयुणानां
 च कीर्त्तनेन । मर्यादापुष्टिभेदेनेति । सूर्यवंशे मर्यादा सोमवंशे पुष्ट्येत्यर्थः । भक्ता
 भवन्तीति योजना । तथा च सहकायेन्तरप्रवेक्षासर्वोपपत्तिर्यर्थः । एवं च 'यतो वे'ति
 श्रुतौ 'यत्प्रत्यक्षमित्तविशती'ति प्रत्यक्षविश्वं यच्छावितं तन्मोक्षसौख्याभ्यां समर्थितं
 ज्ञेयम्, 'न कर्मबन्धनं जन्म वैष्णवानां च विश्वेति । विष्णोरनुचरत्वं हि मोक्षमाहुर्मनीषिण'
 इति पाशवाक्यात् ॥११॥१२॥१३॥ नन्ववतारचरित्रेणैव भक्त्युत्पत्तेर्मौसाद्यात्मकार्य-
 सिद्धौ किं तदनुवर्तिकथयेत्यत आहुः-तत्रेत्यादिद्वयम् । तथा चावतारपूर्वकालेऽपि
 मातानां या मर्यादा पुष्ट्या वा जाता भक्तिः सापि सानुभावेति तेषामपि कीर्त्ति-
 श्रवणेन भक्त्युत्पत्त्याऽन्यस्य कार्यं सेत्स्यति भक्तिश्च हृदा भविष्यतीत्येतदर्थं
 तदुक्तिरित्यर्थः ॥१४॥१५॥ एवं प्रकरणार्थोऽष्टमिनिर्णीतः ।

तत्रसूर्यवंशप्रकरणं सार्द्धचतुर्नवतिभिर्वैकल्प्यम् । तस्मिन् पूर्वं नवाध्याय्या

वैराग्यज्ञानसहिता आद्याः शास्त्रोत्तमा मताः ।
 द्वितीया वेदनिष्ठेभ्योऽप्यधिका लोकतोऽपि च ॥१६॥
 लोकोद्धारप्रयत्नास्तु तृतीयाः सर्वमोचकाः ।
 सुद्युम्नकविशर्यातिप्रमुखाः प्रथमा मताः ॥१७॥
 नाभागश्चास्वरीपश्च शशादाद्याश्च मध्यमाः ।
 हरिश्चन्द्रश्च सगरो भगीरथमुखाः परे ॥१८॥
 स्त्रीपुम्भावं गतस्त्वाद्यः सर्वकामनिवृत्तये ।
 ब्रह्मणा स्त्रीत्वमापन्नो विष्णुना पुरुषोऽभवत् ॥१९॥
 उभयं तु महादेवाद्विरक्तोऽभूद्धिभिस्तथा ।
 वंशद्वयस्य जनको मूलभूतस्तनुर्हरैः ॥२०॥

कमेणा दुःखदूरीकर्तृणामोशानुवर्तिनां वधा, ततो ब्राह्मणमोक्षक्या । ततो ब्राह्म्यां
 ज्ञाननिष्ठेशानुवर्तिकथेति तासु पूर्वमूनपष्टिभिर्नवाध्याय्यीं विचारयन्तोऽनुवर्तिनां
 नवविधत्वं साधयितुं पूर्वं त्रैविध्यमाहुः स्त्रिभिः-वैराग्येत्यादिभिः । शास्त्रोत्तमा
 इति शास्त्ररीत्योचमाः शास्त्रोत्तमममेऽप्यनुवर्तते । सविशेषाधिक इत्यनुभावाधि-
 वयादाधिक्यम् । पूर्वैकस्य विधायां त्रिविधानं गणयन्ति-सुद्युम्नेत्यादिसाद्धेन । तथा
 चैवमुदाहृतास्तैत्यर्थः ॥१६॥१७॥१८॥ एवमाद्येऽवान्तरप्रकरणार्थो निर्णीतः ।

(अ. १) अतः परं मोक्षात्मकं फलं पुष्ट्या वदन्तः प्रथमाध्यायार्थ-
 माहुः-स्त्रीत्यादिसाद्ध्यायम् । अत्र ब्रह्मणेत्यादिना पूर्वं मर्यादांश्च उक्तः, अग्ने
 पुष्ट्यशः । अत्र कार्यं ब्रह्मादिरित्यपि सूचितम् । वंशद्वयस्य जनक इत्यनेनामध्यायो
 मुख्यतः सोमवंश एव सञ्चन्धे प्राप्स्यते, एतदीयसूर्यवंशस्यातिप्रसिद्धपयावात् पुं-
 रवस एवातिप्रसिद्धतादिति । मूले द्वितीयसुद्युधिण्यां च यदेकादशविधत्वं सोमवंशस्य
 त्रयोदशविधत्वं सूर्यवंशस्योक्तं यन्नात्रोभयोर्द्वादशाध्याया इत्युक्तं तदुभयमपि
 समर्थितम्, उपक्रमविचारेण पूर्वानुपसंहारविचारेणैतरेति । अन्रोपसंहारस्याऽप्य-
 सन्नातविरोधत्वात्प्रोपक्रमेण वाच्य इति साम्यात्सर्वमेवात्र मुख्यम् । 'तनुर्हरैः'त्यनेन
 जीवदशायामेकस्यैव मातापितृभावाद्दने साद्युक्त्या च तथात्मिति बोधितम् । एवमग्रेऽपि
 फलं बोध्यम् । अस्य तामसकलान्वेशः प्रमादाबहुल्यादोष्यः ॥२०॥ एवं
 साद्ध्याभ्यां प्रथमाध्यायो विचारितः ।

नानाभावत्वमापन्नस्तेनाऽऽद्यः स उदीर्यते ।
 पृषधश्च कविश्चैव करूषो धृष्ट एव च ॥२१॥
 नृगश्चैव नरिष्यन्तो विष्टायाश्च ततः परे ।
 मरुतः सप्तमः प्रोक्तो भगवान् सत्परूपधृक् ॥२२॥
 कर्मणा शापतो हीनो ज्ञानात्मा मुक्तिमेयिवान् ।
 कविवैराग्यरूपस्तु करूषः कीर्तिरूपधृक् ॥२३॥
 धृष्टो वीर्यस्वरूपस्तु ब्राह्मणा अभवन् यतः ।
 नृगः श्रीः स्त्रीकथा चान्ते नरिष्यन्तस्तथेश्वरः ॥२४॥
 मरुत्तस्तु हरिर्धर्मात्तस्मादेते तु राजसाः ।
 शर्यातिः सात्विकः प्रोक्तः स्वतो धर्मप्रवर्त्तकः ॥२५॥
 यज्ञप्रवर्त्तकानां च सर्वकामप्रपूरकः ।
 ब्रह्माद्यनुग्रहयुतो भगवद्भावसंयुतः ॥२६॥
 वेदवयज्ञकर्त्ता च त्रिविधाः प्रथमा मताः ।

(अ. २) द्वितीयं विचारयन्ति-पृषध इत्यादि । अत्र करूपस्य कीर्ति-
 रूपत्वं तत्कालीनानां 'ब्रह्मण्या धर्मवत्सला' इति विशेषणाञ्छेयम् । स्त्रीकथेति ओषधी-
 कथा । चकारेण दानानुमितश्रीबाहुत्वं सङ्गृहीतं श्लेषम् । नरिष्यन्तस्त्वैश्वर्यरूपत्वं
 तत्कालेऽग्निप्राकट्यात् । मरुतोदृष्टवशे चक्रवर्तीति धर्मिरूपः । एतेषां राजसत्वं
 क्रियापरत्वात् । लोके तथा भक्तिभसिद्धयभावाच्च । एतेषां मर्यादाऽनुग्रहः पुष्टिकायै-
 विदोषाभावान्मुक्तिशारम्भे पृषधकर्मोपुक्तिरूपनाद्बोधात् । एवं द्वितीयो विचारितः
 ॥२१॥२२॥२३॥२४॥

(अ. ३) तृतीयं विचारयन्ति-शर्यातिरित्यादिद्विभ्याम् । भगवद्भाव-
 संयुत इति । अन्यथा तत्काले भगवतो बलवैषय विवाहो न स्यादिति ।
 वेदवयज्ञकर्त्तेति । लुप्तस्याश्विनग्रहस्य प्रवर्त्तने प्रयोजकत्वाञ्छेयम् । एवं तृतीयो
 विचारितः, प्रथमकक्षा च पूर्णा साक्षाष्टभिर्विचारिता ।

भक्तिश्चेत्स्वानुभावं हि न प्रकाशयते यदा ॥२७॥
 तदा धर्मत्वमापन्ना न भक्तिर्व प्रपद्यते ।
 देवप्रसादयुक्तत्वं देवत्वं देवपोषणम् ॥२८॥
 उत्तरोत्तरमुत्कृष्टं तरन्तदेवं निरूपितम् ।
 मन्त्रद्रष्टा शम्भुसप्तमस्तस्याऽपि परितोषकृत ॥२९॥
 मध्यमे प्रथमः प्रोक्तो द्वितीयो भगवत्समः ।
 अक्षरादुत्तमः कृष्णः स एवाक्षरवीर्यनुत् ॥३०॥
 स एव ब्रह्मज्ञापस्य निराकर्त्ता न चापरः ।
 कालात्मा सेवितस्तेन व्रतेन न ततः परः ॥३१॥
 अतो व्रतेन सेवार्थं तथा चक्रे हरिः परः ।
 अज्ञानाभाव एवैको विष्णुव्रतमुदीर्यते ॥३२॥
 एकादशी ततः पुण्या व्रतानामुत्तमोत्तमा ।
 उभयात्मकमव्यभक्षस्तेनासौ मध्यमो मतः ॥३३॥

(अ. ४) द्वितीयो कक्षां साक्षाद्वाविशतिनिर्भविचारयन्ति-तत्र प्रथमेऽ-
 ध्याये नाभागम्बरीपो । द्वितीयेऽम्बरीपः । तृतीये तद्वेश इक्षाकुर्वशो मान्धातुतः
 सौभद्रिश्चोक्तः । तेषां मध्यमकक्षत्वं तत्रापि त्रैविध्यं तद्देहं च द्वाभ्यां स्फुटीकुर्वन्ति-
 भक्तिरित्यादि । स्वानुभावमिति । भविष्यत्सर्वजनमोचनरूपं स्वानुभवम्, तथा च
 भक्तधर्मरूपत्वान्मध्यमत्वम्, देवैत्यादिनेकस्वरूपाच्च त्रैविध्यमित्यर्थः ॥२५॥२६॥
 ॥२७॥२८॥ त्रैविध्यं विवृण्वन्ति-मन्त्रेत्यादिभिः । प्रोक्त इति नाभागः प्रोक्तः ।
 अयमेव तैत्तिरीयादिश्रुतौ नाभानेदिष्टनाम्ना व्यपदिश्यते । द्वितीय इति
 अम्बरीपः । तस्य देवत्वं व्युत्पादयन्ति-भगवत्सम इत्यादि । तर्हि मध्यमत्वं कुत
 इत्यत आहुः-कालात्मेत्यादिसाक्षाद्भिः । कालातीत ईश्वररूपः । तथा चक्र
 इति कालात्मकं सुदर्शनं रसकं चक्रे । उभयात्मकमिति । 'आपो वा अशित-
 मनश्चिते चेति श्रुतेरज्ञानज्ञानात्मकम् । तेनेति उभयकरणेन ॥२९॥३०॥ मध्यमत्वेऽ-

ब्रह्मशापः कायिकस्तु तस्मात्प्रतिहतोऽभवत् ।
 तेषां वाचनिको मुख्यो यो न प्रतिहतः क्वचित् ॥३४॥
 ईश्वराज्ञावशात्ते तु वाचिकं हि प्रयुञ्जते ।
 सर्पेण मारणं लोके न तथा व्यथते क्वचित् ॥३५॥
 यथा दंशस्तथा विप्रा एकोऽपि यदि सम्मतः ।
 न समर्थस्तथा वाचि ब्राह्मणोऽप्यः कथञ्चन ॥३६॥
 मानसो दोषभावस्तु ब्राह्मणे न भवेत्क्वचित् ।
 ब्राह्मणत्वं तदा न स्वाज्जगन्मित्रं यतः स्मृतः ॥३७॥
 वागेका सर्वविप्राणां काय एव विभिद्यते ।
 बहूनां सम्मतिर्मुख्या तत्राऽपीति विनिश्चयः ॥३८॥
 शिवस्य त्रीणि रूपाणि दुर्वासास्वाधिभौतिकः ।
 चक्रमाध्यात्मिकं प्रोक्तमधिदैवस्तु तद्वशे ॥३९॥
 ब्राह्मणोक्तस्य करणाज्ञ ब्रह्मामोचयन्मुनिम् ।
 ब्रह्मण्योऽपि हरिस्तस्य व्रतार्थं न व्यमोचयत् ॥४०॥

वशनात्पासिकदोषस्यापि सम्भवात्कथं शापप्रतिघात इत्यत आहुः- ब्रह्मशाप इत्यादि साद्धैचतुष्टयम् । कथञ्चनेति न समर्थ इत्युच्यते । अन्यासामर्थ्यं हेतुः मानस इत्यादि । एकैति भगवदाज्ञारूपा । तथा च शापस्य जटोरुक्तिजन्यत्वेन कायिकत्वात् । तस्य च भगवदनाज्ञत्वेन निर्वैलत्वात् । तेषां मानसदोषाभावाच्च प्रतिघात इत्यर्थः । ननु तथापि पासिकदोषः कुतो नाभूदित्यत आहुः- बहूनामित्यादि । तथा चानेनेत्यर्थः ॥३४॥३५॥३६॥३७॥३८॥ ननु तथापि दुर्वासाः शङ्करावतार इति चक्रेण कथं तस्योपद्रव इत्यत आहुः- शिबस्येत्यादि । तद्वश इति भगवद्वशे । तथा च न्यूनतात्सारापराधत्वाच्चोपद्रव इत्यर्थः । त्रिभिर्दैवैरसृष्टे हेतुमाहुर्ब्राह्मणोक्तेत्यादि । तस्य व्रतार्थमिति अम्बरीषस्याम्भसणव्रतनिवृत्तये । (अम्भसणव्रतस्य ब्राह्मणश्लेशदायकत्वात्) । अर्थशब्दो निवृत्तौ ॥३९॥४०॥

सेवायास्तु प्रशंसा तु मुनेर्गर्वापनुत्तये ।
 अन्यथा मोचने तस्य भक्तानां का क्षतिर्भवेत् ॥४१॥
 वैषम्यं चेद्भगवति न शुद्धाः स्युस्तदा तथा ।
 परीक्षार्थं च भक्तानां गर्वं न स्यात्तथा भजिः ॥४२॥
 त्रिलोक्यां ब्राह्मणाः श्रेष्ठा भक्तानां न प्रयोजकाः ।
 ब्रह्मभावानु भक्तिर्हि विशिष्टेत्यत्र निर्णयः ॥४३॥
 सुदर्शनपुरस्कारः काल एव तथा भवेत् ।
 भक्तौ न भगवान् मृग्यः सेवकश्च भवेद् ध्रुवम् ॥४४॥
 सुदर्शनेन तु कृतः सेवाधर्मो न चान्यथा ।

ननु सेवाधर्मसंनतं कृत इत्यत आहुः- सेवाया इत्यादि पूर्वस्तुः पुनरर्थः । द्वितीयः कैमर्ष्यशङ्कानिवृत्त्यर्थः । ब्रह्मवैवर्ते दुर्वाससः स्वसुरेण गालवेन तव गव्यंसेतो भविष्यतीति दुर्वाससः शप्तत्वात् । ननु भगवद्वाक्येषु भक्तानामुपरि कृपैव प्रतीयात इत्येतद्वशे वैषम्यमेव कुतो नाद्रियत इत्यत आहुः- वैषम्यमित्यादि । तदा विषमस्याभिभक्तत्वे भक्तः शुद्धा न स्युः । तथा च तेषु तदभावाद्भगवति न तदित्यर्थः । अमोचने हेतुन्तरं समुच्चिन्वन्ति-तथेत्यादि । किं परीक्षणीयमित्यत आहुः- गर्वं इत्यादि । न प्रयोजका इति न श्रेष्ठप्रयोजकाः । स्वोत्कर्षाभिमानेन भक्तश्रेष्ठ्यासहिष्णव इत्यर्थः । ब्रह्मभावादिति ब्राह्मण्यात् । अत्र निर्णयः । तथा चैकं भगवतः कार्यमिति न्यायादेतत्सर्वबोधनायामोचनं सेवाधर्मस्य चेत्यर्थः ॥४१॥४२॥४३॥४४ एवं प्रथमाध्यायार्थं उक्तः ।

(अ०५) द्वितीयस्याहुः- सुदर्शनेत्यादि । सुदर्शनस्य यः पुरस्कारः । स सुदर्शनस्य 'यदा विशुद्धस्त्वमनञ्जनेने'तिवाक्येन भगवच्छेष्टाधीनताद्भगवच्छेष्टात्मके काल एव तथा भवेत् पर्यवसितो भवेत् । भक्तौ स्वानुभावानुभावेन प्रत्यक्षकल्पत्वात्क-
 चित्त्वत्यसत्त्वाच्च न मृग्यः, च पुनः सेवक एव ध्रुवं मृग्यः । तु पुनः सुदर्शनेन यत्कृत्यादाहादिकं कृतं स सेवारूपः स्वस्य धर्मः कृतः । न चान्यथा न त्वम्ब-
 रोपसपातेन । 'प्राग्दिष्टं भूत्यरसाया'मिति वाचयात् । यत्सत्त्वैवकरणं भक्तौ वाच-
 कमतो स्वस्य भक्तिगर्वेप्रणाशबोधनाय सुदर्शनस्तोत्रम् । तथा चैतच्चतुष्टयबोधनाय द्वितीयाध्याय इत्यर्थः । (भगवतोऽमृग्यत्वं सेवकस्यैव मृग्यत्वं सुदर्शने सेवाधर्म-

स्तोत्रं गर्वप्रणाशाय भक्ता तद्वाधकं यतः ॥४५॥

मतान्तरकथा त्वत्र वाक्शाप इति केचन ।

तदा निरोधलीलायां प्रवेश इति निश्चयः ॥४६॥

वरदानं वाचनिकं भगवत्कार्यमेव तत् ।

शशादस्य कथा त्वत्र निरपेक्षत्वबोधने ॥४७॥

हरेर्निवेदनं चात्र तेन राज्ये व्यवस्थितिः ।

भक्तिश्च कर्मतः श्रेष्ठा यथा ब्राह्मणभावतः ॥४८॥

एव न तु वैषम्यमम्बरीषे ब्राह्मणभक्तिर्गर्वाभायेति चट्टयमित्यर्थः) सेवामर्शसाया गर्वापनोदार्थत्वे स्वार्थे ताल्येराहियाद्गीर्णो वक्तव्या, सा त्वनुपपन्ना, गौपीदेवतां तत्सिद्ध्यादीनामत्राशक्यवचनत्वात् । तथा सति स्वार्थे ताल्यर्थे तस्याः सिद्धयः । वैषम्यपरिहारस्तु दुर्वासोवासनाकृतोपेक्षया आत्मस्रष्टया वा उपपत्स्यते । अतोऽनया भक्तोपरि कृपेव सिद्धयति । तथा सति वैषम्येऽन्तमम्बरीषोपेक्षा । तस्यानश्नन्नेऽशक्यं युज्यत इत्याकाङ्क्षायामाहुः-मतान्तरकथा त्वच्चेति । तुः शब्दानिरासे । अत्रास्मिन्देशे मतान्तरकथा उक्तयुक्त्या निश्चयेति शेषः । अतस्तावतोऽशक्यं भक्तमाहात्म्यबोधनार्थत्वं 'त्रिलोकीं वृत्तामर्से'ति वदम्बरीषस्य तथाकरणेऽप्युपेक्षाभावस्य शक्यवचनत्वात् दोष इत्यर्थः । अत्र पूर्वार्थायेन 'अस्पृशद्ब्रह्मशापोऽपीत्यत्र शापपदात्तस्य च वाचनिक एवापकारविशेषे प्रयोगदर्शनात्केचनान् वाक्शापमप्यङ्गीकुर्येति । तन्मूलतमनुवदन्तस्त्वत्र विशेषमाहुः-वागित्यादि । तदेति दुरत्ययब्रह्मदण्डरूपवाक्शापमर्तियति । तथा च निरोधेऽनुक्तत्वात्तत्र तथाङ्गीकर्तुं शक्यमिति कायिक एवाङ्गीकार्ये इत्यर्थः ॥४५॥४६॥ एवं चाग्निमा बंशकथाऽप्येतस्यैव दोष इति सार्द्धेऽत्रिभिर्द्वितीयाध्यायो विचारितः ।

(अ. ६) तृतीयं विचारयन्ति त्रिभिः-शशादेत्यादि । निरपेक्षत्वबोधन इति । तद्देशानां संसारनिरपेक्षत्वबोधनार्थम् । अ नुनः अत्र इत्याहुर्वशे हरेर्निवेदनं क्रियाकलापादेशेवति निवेदनमम्बरीषचरित्रे । 'एवं सदा कर्मकलापमात्मन' इति वाक्योक्तमप्यनुवचते । एतेषां भक्तिरपि कर्मत उक्तुः । यथाऽम्बरीषस्य ब्राह्मण्या-दुत्कृष्टा एतद्बोधनाय शशादकथेत्यर्थः ॥४७॥४८॥ नन्वेतादृशत्वं तस्य मूले स्फुटं

तस्य सर्वोत्तमत्वाय ककुत्स्थस्तुत ईरितः ।

पुन्धुमारोदिवंशस्य कर्ता विप्रे प्रतिष्ठितः ॥४९॥

एवं त्रयो मध्यमा हि भक्तिमार्गे निरूपिताः ।

धैर्ययुक्तो हरिश्चन्द्र उत्तमे प्रथमो मतः ॥५०॥

तस्य भक्तिप्रशंसार्थं पितृश्रण्डालतोऽप्यते ।

नैरपेक्ष्यं च तस्यापि दोषः प्राक्तन एव सः ॥५१॥

भक्त्यैव तादृशो जातः पुत्रद्वारा विमोचितः ।

सत्यव्रत इति ख्यातस्त्रिंशद्वुरिति विश्रुतः ॥५२॥

विश्वामित्रः पुष्टिकर्ता नान्यथा तं भजेत्कवित् ।

अतिसाहसकर्त्ता हरिश्चन्द्रो निरूप्यते ॥५३॥

न भवतीति कथमवगन्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाहुः-तस्येत्यादि । विप्रे प्रतिष्ठित इति तस्य बंशे विप्रे सौभरी प्रतिष्ठां प्राप्त इति । शशादो वा जापकेन सम्बद्धं तद्वर्गे प्रत्यतिष्ठदिति । तथा चारम्भे तस्य निरपेक्षत्वबोधनादत्रै वैभविष्यत्वबोधनात्सत्य विप्रे प्रतिष्ठाबोधनाच्च स सर्वभ्य उत्तम इत्यर्थः ॥४९॥५०॥ एवं त्रिभिस्त्वृती-यार्थयुक्तत्वा मध्यप्रकरणं सार्द्धेऽत्रिंशद्विंशतिभिर्विचारितम् ।

(अ. ७) अतः परं तृतीयं सार्द्धेऽत्रयोर्विंशतिभिर्विचारयन्ति त्रै-त्यादि । उत्तम इति तृतीये सर्वमोचकप्रकरणे । अत्र तस्य प्राथम्यकथनेनेतः पूर्वेषां द्वितीये व्याख्यातप्रकरणे निवेशः सूचितः । तथा सति तस्यान्त उक्तस्यैतत्त्व-दुष्पाण्डालता कथं युज्यत इत्याकाङ्क्षायां तदुपवस्थां सार्द्धाभ्यामाहुः-तस्येत्यादि । तथा च तस्या अन्यार्थत्वान्न दोषावहत्वं वास्तवदोषस्य तस्मिन्प्रभावात् । तथा सति हरिश्चन्द्रस्य तत् उल्लिखितं स्यादित्यतः सोऽप्युत्तम इत्यर्थः । गमकान्तरमाहुः-नैरपेक्ष्यं च तस्यापीति । सशरीरस्वर्गगमनेच्छया सूचितमैहिकनैरपेक्ष्यमथेतस्यैव गमकमित्यर्थः ॥५१॥ तर्हि कथमेवं भाव इत्यतः आहुः-दोष इत्यादि । अजाभि-लादेरिव पूर्ववासनाजन्यो दोषो न तस्यैव निवृत्त्यर्थेऽस्तुतो जात इत्यर्थः । उभयभाषि गमकमाहुः-सत्येत्यादि । मूले विश्रुतत्वस्योभयत्रान्वयाद् द्विधा ख्यातिरेव तद्भक्तित्वार्थः । सत्यव्रतत्वख्यातौ गमकं न स्पष्टमिति तत्रेण तं स्फुटीकुर्वन्ति-विश्वामित्रेत्यादि । हरिश्चन्द्रस्य प्राथम्यं कृत इत्यपेक्षायामाहुः-अतीत्यादि । अतिसाहसक्युत्वं मार्कण्डेय-

लोकापवादशान्त्यर्थं पुत्रार्थं तस्य चोद्यमः ।
 ऋणत्रयनिवृत्तिर्हि ततः कार्यं न चापरम् ॥५४॥
 इति दर्शयितुं तेन यज इत्याह नान्यथा ।
 ततः सिद्धस्य दानं हि तस्मै युक्तं हि सर्वथा ॥५५॥
 अनेन सर्वे विषया हरिवृत्ता हरौ परे ।
 निवेशनीया भक्तानामित्यर्थो विनिरूप्यते ॥५६॥
 वरुणो वैत्यराजो हि क्रूरं कर्म तथाविधम् ।
 तथापि भक्तपुत्रस्वान्न मारणमुपागतः ॥५७॥
 तेनाऽपि यो गृहीतोऽत्र सोऽपि कृष्णेन मोक्षितः ।
 अभक्तहृदयं क्रूरमिति ज्ञापयितुं तथा ॥५८॥

पुराणादीं प्रसिद्धम् । धर्मपरीक्षकचण्डालदासत्त्वदशायां मृतककर्षणग्रहणार्थं पुत्र-
 मपि यो द्रष्टुं न इत्थवान् स्वामिकार्यकर्तृवृत्तयेति । नन्वेतादृशस्य कथं पुत्रार्थं
 पुरुषमेघोद्यम इत्यत आहुः—लोकैत्यादि । पितृस्तादृशत्वात्तत्रियन्धकरूपपवाद-
 शान्त्यर्थमित्यर्थः । ननु वरुणोत्तपुनिबन्धनस्य किं प्रयोजनमत आहुः—
 ऋणेत्यादि । न चापरमिति न लोककृषम् ॥५२॥५३॥५४॥ नान्यथेति
 कामनावाक्ये 'यदि बीरो महाराजे'तिकथनेनार्जुनार्जुनदिव्यवस्थाद्यु रीत्यावायेन
 तदवस्थाद्यु यामस्याप्राप्तावसरत्वादिति । तत इति वरुणात् । तथा चापमर्थः,
 'न कर्मणा न प्रजयेति । तद्वैक आहुः 'ऋषयः कावषेयाः
 किं प्रजया करिष्याम' इत्यादिश्रुत्या 'पुत्रेण लोकाज्रयति पीत्रिणा-
 नन्त्यमश्नुत' इत्यादिस्मृतिवापि प्राप्तेऽपि साधकाजनिवृत्तकाशान्यापेन तदवाया-
 ज्यवस्था आवश्यकीति भगवता यत्र ते दीयन्ते तत्र तथा, यत्र न दीयन्ते (तत्र तथा
 न दीयन्ते) तत्र ते न लोकप्रयोजका इति नेष्टव्याः । यदि निर्बन्धेन सम्पादितास्तदा
 तेषाम्भक्तितिरिक्तं फलं नेति न स्याप्या इति दर्शयितुं तदुपनिबन्धनमित्यर्थः ।
 एतेन सिद्धं तात्पर्यमाहुः—अनेनेत्यादि । ननु युक्तमेतत्कथोपनिबन्धनं तथापि देवस्य
 वरुणस्य कथमेवं क्रूरकर्मणि निर्बन्ध इत्यत आहुः—वरुण इत्यादि । निर्बन्धवा-
 नितिशेषः । एतेन सन्नोऽधिकारश्च सत्त्वाऽन्यानामप्याग्रजनक इति । ततः
 सावधानैर्भाष्यमिति बोध्यत इत्यर्थः ॥५९॥५६॥५७॥५८॥ विश्वामित्रेण शूनः-

अर्जागर्त्तकथा प्रोक्ता विश्वामित्रस्तु पुष्टिगः ।
 यजनं दोषानिर्हृत्यै विसर्गं स विचारितः ॥५९॥
 ऋत्विजस्तु ततः पुष्टाः सर्व एव निरूपिताः ।
 सगरस्तु ततः श्रेष्ठः सागरो यस्मृतैः कृतः ॥६०॥
 स्थिरकार्यस्य कर्ता यः स श्रेष्ठोऽत्र निरूप्यते ।
 पुत्रापरार्घो गरता योगभ्रष्टजनेस्तथा ॥६१॥
 असमञ्जस इत्युक्तो वंशकर्ता पितुः सुखे ।
 कर्मज्ञानादिकं तत्र प्रक्रियाया विरोधतः ॥६२॥

शेफमोचनस्य तात्पर्यमाहुः विश्वामित्रस्तु पुष्टिग इति । एतदज्ञापयितुं विश्वा-
 मित्रान्मोचनं तथा चोपलक्षणविषयाऽन्यदपि तत्कृतमेवं ज्ञातव्यमित्यर्थः । दोषनि-
 र्हृत्वा इति सत्यमहादोषनिवारणाय । विसर्गं स विचारित इति प्रमादा-
 दङ्गकर्मकमित्यनेन विचारितः । तथा चाज्ञप्रमादेन यथा वेनो दृष्टोभूत्तथा
 रोहितो दुष्येतेति तन्निवृत्त्यर्थं याम इत्यर्थः ॥५९॥ उक्तोपष्टम्भाय यामनिवृत्तकानां
 स्वरूपमाहुः—ऋत्विज इत्यादि । पुष्टा इति भगवदनुश्रीतवादितरानुशाहकाः ।
 तथा च किञ्चिदपचारेऽपि ततः पूजितित्यर्थः । एवं दशभिः प्रथमाध्यायविचारे
 शूनःशेफमोचकत्वं हरिश्चन्द्रस्योत्समकक्षानिवेशाय विचारितम् ॥

(अ. ८) अतः परं त्रिभिर्द्वितीयाध्यायं विचारयन्तो हरिश्चन्द्राःस-
 गरोत्कर्षमाहुः—सगर इत्यादि ॥६०॥ स्मृतैः सागरकरणे हरिश्चन्द्राक्यमुत्कर्षमित्यत
 आहुः—स्थिरायादि । पूर्वं दैत्यानामर्गणे वसतामुपद्रवेण देवप्रार्थनया सद्योऽगस्त्येन पीताः ।
 ततः शुष्कोभावे ब्रीहान्तरेऽश्वत्थानां गमनादिभिर्मर्षादाभ्रकोऽन्यत्र पुत्राणे प्रतिपादितः
 स जायमानः सागरकरणेन वारित इति विश्वकालस्याधिकार्यकर्तृत्वेन पूर्वसमादधिक
 इत्यर्थः । गरतेति कालकूटविषयस्य दैत्यत्वं पूर्वस्कन्धे प्रतिपादितमिति तदंशभूतगरसाहि-
 त्येन सगरस्योत्पत्तेस्तस्याऽयं भाव इत्यर्थः । द्वितीयमुत्कर्षमाहुः—योगेत्यादि ॥६१॥
 सुख इति सुखार्थम् । तथा च 'शुचीनां श्रीमतां गेह' इति गीतावाक्यासा-
 दृशजनमनाऽप्येतस्योत्कर्ष इत्यर्थः । ननु चक्रवर्तिचर्यादिना मरुत्तस्थेवास्यापि श्रेष्ठं
 कृतोऽत्र नाम्नीक्रियत इत्यत आहुः—कर्मैत्यादि । अस्मिन् प्रकरणे परोपकृत्यैवात्कर्षो
 विवक्षितत्वाचयेत्यर्थः ॥६२॥ एवं द्वितीयो विचारितः ।

न मुख्यं भवितुं युक्तं महत्त्वख्यापकं परम् ।
 अंशुमांश्च दिलीपश्च बीजशुद्धयै निरूपितौ ॥६३॥
 भगीरथस्त्वत्र मुख्यो भागीरथ्याः प्रवर्तकः ।
 भागीरथ्याः स्वरूपं तु प्रथमे टीकयोदितम् ॥६४॥
 तादृशार्थप्रवृत्तिर्हि भक्तेः कार्यमिहोत्तमम् ।
 मर्यादाभक्तिमार्गस्य काश्चा गङ्गा परा मता ॥६५॥
 ग्राहिका शक्तिरस्यां हि तेन पापस्य सङ्ग्रहः ।
 भक्तेभ्य एव तद्दानं तेन पूर्वं निवारितम् ॥६६॥

(अ. ९) अतः परं सादृक्कादशाभिरुहीयाध्यायं विचारयन्ति
 अंशुमानित्यादि । बीजशुद्धया इत्यनेनयोर्भगीरथयोस्त्वसूचनेन स्वरूपं द्वितीया-
 ध्यायोक्तवदिति ज्ञापितम् । प्रथम इति प्रथमस्कन्धे । 'या वै लसच्छ्रीतुलसीविमिश्रे'ति
 श्लोके ॥६३॥६४॥ तादृशार्थप्रवृत्तिरिति भगवत्परणरेणुविमिश्रजलात्मकसकललो-
 कपावनार्थं गृह्यति । इहेति भगीरथे । ननु 'या वै लसदित्यादी गङ्गायाः सर्वपावनत्वस्य
 द्युपसिद्धत्वात् । किञ्च 'अहं न भुवं यास्ये नरा मय्यामृजन्त्यधम् । सृजामि तदथं
 कुत्र राजस्तत्र विचिन्त्यता'मिति पापसंसर्गबोधधनवाच्यं कृत इत्यत आहुः—ग्राहि-
 क्त्यादि, जले द्रव्यग्राहिकाशक्तिः मयसंसिद्धा, तथा सत्याध्यात्मिकाधिदेवि-
 क्रयोर्गुणकर्मग्राहकत्वमभिमित्य गङ्गाया तयोक्तमित्यादि । ननु तथापि भगीरथोक्तौ
 वैपरीत्येन कथमुत्तरमित्याकाङ्क्षायामाहुः—भक्तेभ्य इत्यादि । अयमर्थः, गङ्गाया
 हि स्वजलस्योपचीयमानतया भूभेदकत्वं राज्ञोऽनिरूप्यं पूर्वमुक्तम् । ततः स्वस्मिन्
 सकृच्चरणसम्बन्धात्परपापहरणसामर्थ्यं पुनस्तत्सम्बन्धाभावात्तस्य पापस्यानिर्गमे मम
 शक्तिकौश्लयमिति स्वानिष्टमुक्तम् । तत्र शक्तिकौश्लये राज्ञोऽपि नेष्टसिद्धिरिति स
 दोषः प्रबल इति तत्परिहारश्च चरणस्य साक्षात्सम्बन्धाभावेऽपि सर्वदा तत्सम्बन्धेनाना-
 यासादेव भावीत्यभिप्रेत्य 'हरन्त्यथं तेऽङ्गसङ्गा'दिति कथनाचेतु भक्तेषु तद्वात्ता सृजेति
 तस्या हितार्थं पूर्वं तद्विचारितम् । एवं तदानुकूल्ये जाते पश्चाद्धरेः कपिलाख्य-
 स्यात्ता गङ्गाम्बोर्हन्तीत्यव्यभिचरितविषयां ज्ञात्वा तत्रोपायार्थं चिन्तनीयमनुसन्धाय
 'धारयिष्यति ते वेग'मित्यनेन भूभेदनं निवारितमिति योजना । तथा च
 दोषशुद्धुभाविचारेण वैपरीत्यमित्यर्थः ॥६६॥६६॥

पश्चाज्ज्ञात्वा हरेराज्ञां सतामिच्छा प्रवर्तिता ।
 मूलभूतो जीवराशेस्ततः सर्वार्थमेव हि ॥६७॥

ननु शिवाभिमायमशिक्षाय कथमेवं 'गजोक्तवानित्यत्र आहुः—सतामित्यादि ।
 स शिवो भगवादाज्ञानुमितयेच्छया प्रवर्तिता धारयिष्यति । किञ्च जीवराशेर्ब्रह्म-
 भूतस्ततः सर्वार्थं च धारयिष्यतीति तत्स्वरूपं ज्ञात्वा स्वभावनिश्चयेन तयोक्तवानित्यर्थः ।
 जीवराशिमूलभूतत्वं च 'यस्मिन्नोतमिदं प्रोते विश्वं शाटीव तन्तुष्वित्येतप्रोतत्वक-
 यनाज्ज्ञेयम् । अत्र गमकमाहुः—सर्वार्थमेव ह्यित्यादि । हि यतो हेतोर्भूले 'सर्व-
 लोकहितः शिवः । दधारावहितो गङ्गा'मित्युक्तम्, येन हेतुना सर्वं सागरा विमोचिताः ।
 अतः सर्वहितार्थमेव धारणमित्यर्थः ॥६७॥

का. ६६-६७ निबन्धकठिनांशविषयेचनम् ।

(का. ६६) नवमस्कन्धे नवमाध्याये भूभेदभ्य एव तद्दानमित्यादि पूर्वश्लोके गङ्गाया
 जलरूपत्वात् ग्राहिका शक्तिरिति न तु दाहिका, तेन अन्येषां पापं स्वयं सङ्गृह्णाति तान् निःपापान्
 कर्तुमिति निरूपितम्, इदं च गङ्गाया अनिष्टं भगीरथेन पूर्वं निवारितं 'साधवो न्यासिनः'
 इति श्लोकेन तन्निबन्धे विवृतं भक्तेभ्य एव तद्दानमित्यनेन, भक्तास्तस्यै स्वास्त्यन्ति तदा
 भक्तेभ्यो हेतुभूतेभ्यस्तव पापलण्डनं भविष्यतीति, भूभेदकत्वं तस्य यत् तद् राज्ञः अनिष्टं,
 तत् तु कपिलाख्यस्य हरेराज्ञां ज्ञात्वा भगीरथेन पश्चात् निवारितमित्यर्थः, ज्ञात्वा हरेराज्ञा-
 मितिपदत्रयं अग्रिमश्लोकेपि सम्बन्धते, तथा च शिवोपि हरेराज्ञां ज्ञात्वा गङ्गां धारयामास
 पदत्रयः सम्बन्धते, तत्र मूले भगीरथेन शिवस्य विशेषणयुक्तं गङ्गाधारणे हेतुभूतसरीरिण-
 मास्तेति, आत्मत्वात् हितकारीति धारयिष्यतीत्यभिप्रेत्य तद्विशेषणं निबन्धे विवृतं सता-
 मिच्छाप्रवर्तिता इत्यनेन, यद्यपि साधारणेन सर्वलोकहितकरत्वाद्यपि सतां तु इच्छया प्रवर्तते,
 असतामपि स्वेच्छया हितं करोति न तु तेषामिच्छया प्रवर्तते अस्तां विरुद्धेच्छावत्त्वात्,
 सतां तु अविरुद्धेच्छावत्त्वात् तेषामिच्छया तद्विज्ञाते प्रवर्तते इत्यर्थः, इयं व्यवस्था अन्येषु
 कार्येषु, गङ्गाधारणकार्येषु तु स्वस्यापि हितमस्तीत्यभिप्रायेण भगीरथेन उत्तरार्धमुक्तं 'यस्मिन्नोत'
 मित्यादि, तन् निबन्धे विवृतं मूलभूतो जीवराशेरित्यादिपदत्रयेण, जीवराशेर्ब्रह्मण्डस्य
 मूलभूतः, अतः भगवच्चरणजलरूपां पवित्रां गङ्गां सर्वार्थमेव स्वार्थं परार्थं च धारयामासेत्यर्थः,
 येन सर्वं विमोचिता इति स्वयमपि दोषान् मुक्तः 'शिवः शिवोऽयु'दितिवाक्यात्, अन्येपि
 विमोचिताः दोषराहित्येन यथाधिकारं स्वार्थं भगवत्सर्वं च प्रापिता इत्यर्थः, तदेतत् सर्वं शुके-
 नाप्यनुदितं, 'तथेति राजामिहितमि'त्यनेन सतामिच्छा प्रवर्तितत्वं, 'सर्वलोकहितः अवहित'
 इत्यनेन अन्येषां हितकर्तृत्वरूपं सर्वार्थत्वं, 'हेः पादपूतजला'मित्यनेन स्वहितकर्तृत्वं चेति ।

धारयामास तां गङ्गां येन सर्वं विमोचिताः ।
 अन्यथा वेहसम्बन्धेनाऽऽत्मगामि भवेऽजलम् ॥६८॥
 अविद्यां जीवसम्बन्धं कथमेव विमोचयेत् ॥
 विद्यया चेत्तिवावयेन गङ्गाऽविद्याविमोचिका ॥६९॥
 देहभावे दृढे तु स्याद्भक्तानां कृष्णदासता ।
 सायुज्यमन्यथा तस्मिन् गङ्गातीरे न संशयः ॥७०॥
 दैत्यानामूर्ध्वगमनं विचित्रं कार्यमुच्यते ।
 अतः सर्वगतिः प्रोक्ता नैतावदिह कारणम् ॥७१॥
 सौदासस्य कथा त्वत्र भक्तिमुख्यत्वसिद्धये ।

नतु धारणवाक्ये अवधानकथनस्य किं प्रयोजनमत आहुः-अन्यथेत्यादि ।
 तथा च यद्यनवहितो भवेत्, जलं देहसम्बन्धि भवेत्, तेन च नात्मगामिशिवैकहितं
 जलं भवेत् । ततस्तस्य शिवनिर्मलित्वे तज्जलं जीवसम्बन्धामविद्यां कथमेव मोचयेत् ।
 तथा च यथा बहूनामुपयोगार्थं किञ्चिन्मद्दृष्टत् शिरसि धृत्वा सावधानतया आनीयते न
 तु तत्सर्वं भुज्यते तथा धारणार्थमवधानकथनमित्यर्थः । इयानेव भागीरथ्यां गोदा-
 बरीतो भेदः । गोदाबरी शिवनिर्मात्यतामापन्ना, पुनर्बराहतीर्थं बराह-
 सम्बन्धेन मुक्तदोषाऽभूत् । भागीरथी तु निर्मात्यभात्रमनापश्येवेति । इदं च
 गोदामाहात्म्यादवगन्तव्यम् ॥६८॥ आहितपदेन सिद्धमर्थमाहुः-चिद्यथेत्यादि ।
 तथा च शिवसम्बन्धसत्त्वेऽपि भोग्यत्वेनासम्बन्धाद्यथा विद्या शिवदत्ता पवित्रत्वा-
 न्मोचिका, तथा गङ्गाऽपीत्येत्तदवधानायावहितपदमित्यर्थः । अधिकारिभेदेन गङ्गायाः
 फलद्वयमाहुः-देहेत्यादि ॥६९॥७०॥ अनु. यदर्थं गङ्गा भागीरथेनाऽऽनीता तेषां
 तु 'दिवं जम्बु'रितिवाक्ये स्वर्गमनमात्रं फलमुच्यत इति कथं पूर्वोक्तफलदत्वमित्यत
 आहुः-दैत्यानामित्यादि । नैतावदिह कारणमिति । इह गङ्गार्था कारणं भावधानो
 निर्देशः, कारणत्वमेतावन्न किन्तूक्तसर्वमेव तत्कार्यमिति तत्कारणत्वमपि । 'न
 ह्येतत्परमाश्रयमिति वाक्याभ्यामत्र तथैव बोधनादित्यर्थः ॥७१॥

एवमुक्त्यर्थो भागीरथ्यकथायां विचारितः । अत्रे क्लृप्तापवादखट्-
 बाङ्गयोः कथायां तद्भाषात्तयोः किं प्रयोजनमत आहुः-सौदासस्येत्यादि ।
 तथा च ज्ञानयुक्तभक्तिमुख्यत्वज्ञापनाय सौदासकथा तदुभयं खट्वाङ्गे फलितमिति ज्ञापनाय

स्त्रीप्राधान्यं भक्तियोगो ज्ञानयुक्तत्वसिद्धये ॥७२॥
 ब्रह्मवीजादंशकथा खट्वाङ्गे हि द्वयं स्थितम् ।
 क्षणारकृष्णस्मृतौ तस्य मुक्तिरुक्ताऽनपायिनी ॥७३॥
 परमा भक्तिमार्गस्य काष्ठेयमिति निश्चयः ।
 ईशानुरूपभक्तानां कथयं विनिरूपिता ॥७४॥
 ईशस्य चेत्कथा न स्यात्तदनुवं न वै भवेत् ।
 तत् ईशकथां प्राह द्वाभ्यां ज्ञानेन संयुताम् ॥७५॥
 क्रियाशक्तिर्भक्तिनिष्ठा ज्ञानं चेति त्रिभिः क्रमात् ।
 जनकाज्ञानरूपा हि भक्तिरूपा तथोन्नतिः ॥७६॥
 क्रियारूपं चरित्रं हि तदादौ मुनिरूपितम् ।
 मध्यन्दिने हरेर्जन्म सूर्यवंशे तदा रविः ॥७७॥
 अत्यन्तं तपतीत्यस्य न्स्मिन् तेज उपादेव ।
 यावन्तो धर्मसचिवास्ततो नाशमुपागताः ॥७८॥
 नवम्यां भगवज्जन्म नवग्रहबलाय हि ।
 पुण्ये षड्गणसंयुक्तश्चतुर्मूर्त्तिर्हीरवर्भौ ॥७९॥

खट्वाङ्गकथेत्यर्थः ॥७२॥७३॥७४॥ एवं सार्द्धकादशभिस्तीयाध्यायो
 विचारितः । तेनैकोनर्षाष्टमिर्नैवाध्यायार्थोऽथ ईशानुबलिकथा विचारिता ।
 (अ. १०) अतः परमष्टाविंशतिभिरीशकथां विचारयन्ति-ईशास्ये-
 त्यादि । एतेनेशानुकथेशकथयोर्निर्वाहनिर्वाहकभावः सङ्गतिरित्युक्तम् । ज्ञानेन संयुत-
 मिति तदग्रिमाध्यायस्यार्थः ॥७५॥ अध्यायार्थानाहुः-क्रियेत्यादि । एतदेव विविच्य
 दशैवन्ति जनक इत्यादि । जनका वंशजनकाः कुशादयः । उन्नतिर्विशुद्धिः । आदाचिति
 प्रथमं द्वाभ्याम्, तत्र पूर्वं प्रमाणान्तरोक्तानां जन्मसमयतिथिनक्षत्राणां तात्पर्यमाहुः-
 मध्यन्दिनेतिसाद्वर्ष्याम्, अत्येति रवेः । तत इति तेजसः सकाशात् ।
 पुण्य इति 'सिंहो यथा सर्वैश्चतुष्पदानां तथैव पुण्यो बलवानुद्भवा'मिति ज्योति-
 र्वाक्ये तस्य बलवत्तेरितिस्मिन्नित्यर्थः । अगस्त्यसंहितायां यद्यपि पुनर्वसो जन्मोक्तं
 तथापि तत्कल्पान्तराभिप्रायं ज्ञेयम् । भविष्योत्तर एकादश्यां वामनावतारवदिति
 ॥७६॥७७॥७८॥

योगिनां ध्यानविषयः सोऽवतारो न चाऽपरः ।
 इति दर्शयितुं पूर्वं नत्वा चरितमुक्तवान् ॥८०॥
 योगिनां रक्षकं रूपं तद्वैवेति तथा वचः ।
 मोहकं बहुलं तत्र तेन वीर्यप्रकाशकम् ॥८१॥
 भक्त्यर्थं संहितायां हि तदेव विनिरूपितम् ।
 ताडकाया वधो नोक्तः स्त्रीत्वान्नास्त्यत्र पौरुषम् ॥८२॥
 मारीचरूपस्तत्रैव विश्रामित्राध्वरे हतः ।
 रूपान्तरेण पश्चान्नु कारणार्थं तथाऽऽकृतिः ॥८३॥
 घनुःसञ्जीकृतौ तुल्यो हरेण न ततोधिकः ।
 अतो बभञ्ज सीतायै जितः कन्यां हरो ददौ ॥८४॥
 विवाहादिसुखं लोके क्षत्रियाणां विशेषतः ।
 अतः क्षत्रियभावाय सीतार्थं भार्गवैर्मुधुः ॥८५॥
 अवतारेण युद्धं हि मोहनाथं विनिश्चयः ।

नमनपूर्वकं चरित्रकथनस्य तात्पर्यमाहुः—योगिनामित्यादि । 'रमन्ते योगिनो यस्मिन्क्षित्यानन्दे विदात्मनि । इति' रामपदेनासी परं ब्रह्माभिधीयते' इति श्रुतेस्तत्पर्यर्थः । तथा वच इति 'अवतार' इति योगिरक्षणवचः । चरित्रस्वरूपमाहुः—मोहकमित्यादि ॥८०॥८१॥८२॥ ननु 'मारीचाया निशाचरा' श्लो. ५ हता इत्युक्त्वा पुनः 'मारीचमाशु विशिलेने'ति पुनर्हेननं यदुक्तं तत्कथं युज्यते तस्यैवाभावादित्यत आहुः—रूपान्तरेत्यादि । पश्चाद्रूपान्तरेण हरिणरूपेण तथाकृतिः, आश्रमतो भगवदपकषेण-कारणार्थं सीताविभोगरूपमोहकलीलोत्पादनार्थम् । तथा च सेव (एवं) तत्करणमपि मायिकमित्यर्थः ॥८३॥८४॥ ननु भार्गवो रामो हरिश्चिष्यो हरें जिते जितप्राय एवेति किं तन्मूषलील्येत्याकाङ्क्षायामाहुः—विवाहादित्यादि । तथा च गांधर्वो राक्षसश्च विवाहः क्षत्रियाणां गृहकृष्टौ । तत्रैकपत्नीव्रतस्य भगवतो विवाहे जनकदानेन जाते गान्धर्वाभावेनोत्कर्षो न जात इति तदुत्कर्षार्थं राक्षसत्वाय मूष इत्यर्थः ॥८५॥ ननु भृगुवैश्यावतारत्वात्सीत्यमेवोचितं न तु मूष इत्यत आहुः अवतारेणेत्यादि । मोह-

लोके प्राकृतभावश्चेत्तच्छौर्यं स्नेहबोधकम् ॥८६॥
 देहशुद्धत्वसिद्धयर्थमुभयोः कलहः परः ।
 अथवा रघुनाथो हि पुरुषोत्तम उच्यते ॥८७॥
 गुणावतारसम्मत्यै विश्रामित्रात्तथा शिवात् ।
 भार्गवादपि यत्तेजः स्वस्मिन्नेव निरूपितम् ॥८८॥
 वनवासादिलीला तु कार्यार्थं मोहनाय हि ।
 सीताया हरणं नास्ति नर्येण सान्तिकं कृता ॥८९॥
 तेनैव निर्मिता माया तामग्नौ विनिवेश्य तु ।
 हत्वा रावणमत्युग्रं स्वां गृहीत्वा पुरं ययौ ॥९०॥
 सेतुबन्धनमत्रैकं चरितं परमं मतम् ।

नार्थमिति स्वस्यावतारतागोपनार्थम् । ननु लोके प्राकृतभावस्याधुनापि प्रकटनादेव मोहनसिद्धेर्न तु मये इति युद्धस्य तादर्थ्यं न शक्यवचनमित्यत आहुः—लोक इत्यादि । स्नेहबोधकमिति । स्नेहेन स्वरूपगुतिनिवारणेनावतारसंज्ञापनफलकमित्यर्थः ॥८६॥ ननु स्नेहार्थत्वे वाग्वादो न सङ्गच्छत इत्यत आहुः—देवेत्यादि । एवं द्वितीय-स्कन्धानुसारेणावतारत्वमङ्गीकृत्योक्तम् । अत्युत्तुसारेणाहुः—अथवेत्यादि यत्तेजः स्वस्मिन्नेव निरूपितमिति, यत्तेजोऽधिकं निरूपितं तत्पुरुषोत्तमत्वे गुणावतार-सम्मत्यै स्वस्मिन् श्रीरघुनाथ एव निरूपितम् । तथा च तेन सर्वसामञ्जस्यमिति ॥८७॥८८॥ ननु पुरुषोत्तमत्वे वनवाससीताहरणादिलीलानामसङ्गतिरित्यत आहुः कार्यार्थमिति । अहत्याशक्यार्थयुद्धात्सेतुबन्धनसोवधादिकार्यार्थम् । कथं मोहनायेप्येसायां तथासमुपाययन्ति—सीताया इत्यादि । नर्येणेति गार्हपत्येन । नराणां हितो नर्यः, 'नर्यं प्रजां मे गोपाये'ति गार्हपत्यस्तुतेर्वेदभाष्ये तथा व्याख्या-नात् । अन्तिकं कृतेति स्वनिकटे स्थापिता ॥८९॥ तेनेति गार्हपत्येन, इदं सर्वं ब्रह्मैवमेतं प्रकृतिखण्डे उक्तम् । अग्निरुवाच—'त्यस्यं मयि विन्यस्य छायां रक्षान्तिके-ऽधुना । दास्यामि सीतां तुभ्यं च परीसासमये पुनः । देवैः प्रस्थापितोऽहं च न विदोऽहं हुताशनः । रामस्तद्वचनं श्रुत्वा न प्रकाश्य च लक्ष्मणम् । स्वीचकार च स्वच्छन्दहृदयेन विदूषता, वन्दियोगेन सीताया मायासीतां चकार ह । तदुत्पत्युण-सर्वाङ्गी ददौ रामाय नराद् । सीतां गृहीत्वा प्रययौ गोप्यं वचतुं निषिध्य वेत्यादि ॥९०॥

दोषाभावाय नारीणां लङ्कास्थानाग्निरूप्यते ॥९१॥

भाषा तु लौकिकी त्वन्या तथा स्यात्कृतार्थता ।

इति दर्शयितुं रामचरितं तादृशं जगौ ॥९२॥

वैदिकं चापि सुमहदश्वमेधादिकं तथा ।

सहस्रं च शतं चैवमश्वमेधांश्चकार ह ॥९३॥

लौकिकं भावमापन्नो लौकिकानां विमोक्षणे ।

सर्ववेदसयज्ञेन राम एवेष्टवान् भुवि ॥९४॥

ज्ञानाधिकारिविप्रेम्यो ज्ञानं चैवाऽतुलं वदौ ।

ऊतिन्यायेन भगवान् सीतां निःसारयन् क्वचित् ॥९५॥

लौकिकीं स्थापयन् भाषां लोकवार्तामथाऽष्टणोत् ।

भक्तिमार्गप्रभुर्भूहिं लौकिकं चंद्रकाशयेत् ॥९६॥

सेतुवन्धनप्रयोजनमाहुः—दोषाभावायेत्यादि । यदि भगवान् सेतुं न वन्धीयात्तदाऽन्यत्र रावणमारणे तासां भगवद्दर्शनाभावेन माहात्म्याज्ञानेन च दोषो नापेयादतस्तदर्थं तथैवः ॥९१॥ लौकिकरीतिकाव्यचरितकथनतात्पर्यमाहुः—‘आयेत्यादि । तथा च यथा ‘गोप्यः कामाद्भयात्कंस’ इत्याद्युक्त्वाऽग्रे ‘तस्मात्केनाऽप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशये’ इति कृताथैत्यायोक्तम्, तथा चात्रापि लौकिकवैदिकरीतिकं चरित्रं नानाजगत्कृतार्थैत्यायोक्तमित्यर्थः ॥९२॥९३॥ विमोक्षण इति । विशेषेण मोक्षणार्थम् । सर्ववेदसयज्ञेनेति सर्वस्वद्रसिणेन । ननु सन्तु सर्वा लीलास्तथापि निरपराधसीतानिःसारणप्रयोजनलोकवार्ताश्रवणलीला किमर्थ्यत आहुः—ऊतिन्यायेनेति । देवीरूपाया रमाया अर्धं मत्स्यपुराणे ‘लक्ष्मीनारायणं त्यक्त्ये’त्यनेनोक्तम् । पाप्मे पातालखण्डे रामाश्वमेधे शुक्रमियुनं सीतया निरुद्धं बाल्ये, तयोः शुकी वृता, तदा शुक्रः शम्भवान् ‘स्वं भर्त्रां वियोऽप्यस’ इति स एव शुको वृतः पुनर्धावको भूत्वोत्पन्नस्तादृशीं वार्ताश्रुक्तवानित्युक्तम् । तत्खचितवसाना निवारणीयेति तदर्थं सा लीला । तथा चैवं भक्तकेशदायकतया प्रतीयमानाऽपि सा परिणामसुखदत्त्वेन गृहेति न दोषलेत्र इत्यर्थः । एवं लक्ष्मणत्यागलीलाऽपि ज्ञातव्या ॥९४॥९५॥ कपिसङ्ख्यादिलीलातात्पर्यमाहुः—‘भक्तिमार्गप्रभुरित्यादि ।

तदेव लौकिकैर्भक्तिः कर्तुं शक्या न चान्यथा ।

इति निश्चित्य रामो हि स्थानभक्तौ निरूपितम् ॥९७॥

चतुर्मूर्त्तेश्चरित्रं हि वंशश्चापि निरूप्यते ।

वंशोऽपि चरितं तस्य तेनाध्यायत्रयं मतम् ॥९८॥

भक्तिमार्गे स्वामिधर्मः सुकृतज्ञत्वलक्षणः ।

रघुनाथे स नाऽन्यत्र तेनेशोऽत्र निरूपितः ॥९९॥

लौकिकोऽत्र गुणः शुद्धो गृहीतो न तु दोषयुक् ।

अतो भ्रातृकथाप्रभो भ्रातृसौख्यत्वमुत्तरम् ॥१००॥

गृहे स्थितस्य राज्ञो हि सन्मानं न तु लौकिके ।

अतो लोकस्य सम्मानमन्ते प्राह विशेषतः ॥१०१॥

भरतलक्ष्मणशत्रुघ्नचरित्राणां श्रोतव्यत्वाद्गृहः चतुर्मूर्त्तेश्चरित्रं हीति । हिर्हीतो । तेन तदपि श्रीरामचरित्रत्वेनैव श्रोतव्यमित्यर्थः ।

(अ. १२) ननु भगवच्चरित्रमत्र द्वाभ्यामुक्तं तृतीये वंश्या वंशश्लोक

इति तस्येशानुक्रयात्मेव न लीशकथात्वमित्यत आहुः—वंशोऽपीत्यादि । तथा च सर्गो लीला तथा वंशोऽपीति तस्यापि चरितस्तात्पर्येत्यर्थः । नन्वीशानुक्रयान्ता लक्षणम-‘वतारानुचरितं’ तद्यस्मिन्कस्मिन्वतारचरित्रे निरूपिते सिद्धं भवतीति रामचरित्रमेव कुत उक्तमित्य आहुः—‘भक्तिमार्गे’ इत्यादि । अन्यत्रेति अवतारे । ईश इति पुरुषोत्तमः ॥९६॥९७॥९८॥९९॥ ननु राज्ञा कथं स भगवान् राम इति प्रश्नः किमभिप्रेत्य कृत इत्याकाङ्क्षायामाहुः—लौकिक इत्यादि । अत्र श्रीरघुनाथे लौकिको गुणो राजवत्क्षणः शुद्ध एकरसः सर्वसाधारणो गृहीतः, न तु दोषयुक् कादाचित्कः, अतो यदि पूर्णः प्रादुर्भूतः स्यात् सर्वानेवाविशेषेण रज्येत सर्वं चाविशेषेण रक्ताः स्युः । आतरोऽपि दायादा न भिद्येरन्निति ज्ञातुं प्रभस्तत्र प्रकृतिः सौख्यं स्यादपि न तु भ्रातृसौख्यं सति तस्मिन्नन्यदनुक्तसिद्धमेवेति ज्ञापयितुं भ्रातृसौख्यत्वमुत्तरं, सौख्यपदं मुख एव शक्तम्, मियतापदं प्रेम्णीव । तेन भ्रातृसुखभावस्तत्रोत्तरम् । सुख्यत्वमिति पाठे तु तेषामेव सुख्यत्वमिति तदेव प्रजानामपि सौख्य उत्तरम् । तथा च लौकिकधर्मविचारेणाऽपि पुरुषोत्तमत्वनिर्द्वारार्थं प्रश्न उत्तरं चेत्यर्थः ॥१००॥ प्रजानां भगवत्स्युत्तरागमस्यात् । यत्कथं तच्चात्पर्यमाहुः—‘गृह’ इत्यादि । तथा चैवमपि ईशत्वस्यैव ज्ञापकमित्यर्थः । ननु स्वधं भगवान् यत्र प्रादुर्भवति तत्र सेवार्थं देवाः प्रादुर्भवन्ति यथा श्रीकृष्णावतारे १ वंशत्या ।

कुदाप्रभृतिभूषालास्त्रिंशद्भाष्यास्तदन्वये ।
 एकाधिका देवगणास्ततो जाता इतीरितम् ॥१०२॥
 तत्रोक्ता योगनिष्ठा हि बोधनात्करणादपि ।
 ज्ञानशक्तिस्तु सीता हि जनकान्वय सम्भवा ॥१०३॥
 ज्ञानशक्तिर्हेर्वक्तुं जनकान्वय उच्यते ।
 ज्ञानमिश्रा तु या भक्तिः सा मुख्येति निरूप्यते ॥१०४॥
 निमोः कथा ततः प्रोक्ता ज्ञानवैराग्यसंयुता ।
 गुरुवाक्यातिरेकेण यज्ञः सिद्धयति नैव हि ॥१०५॥
 अतः शापप्रसङ्गे हि ज्ञानित्वात्तस्य चोच्यते ।
 भक्तेः प्रकरणाथत्वाद्दसिष्ठोऽपि विमुच्यते ॥१०६॥
 तथा निमिर्द्वौ शापं भक्तौ सर्वमबाधकम् ।
 अतो गतिनिमोः श्रेष्ठा न वशिष्ठस्य कर्हिचित् ॥१०७॥
 भक्तिमार्गस्य मुख्यत्वाद्देश्यापुत्रो न दुष्यति ।

यदुष्वित्याकाङ्क्षायामाहुः—कुदाप्रभृतीत्यादि। (अ. १२) तृतीयाध्याये ज्ञानमुच्यत इति यदुक्तं तस्मिन्मयनि-तत्रोक्ता इत्यादि। ननु वंशानां ज्ञानवाचस्प्यं कुव इत्यपेक्षायामाहुः—ज्ञानेत्यादि ॥१०१॥१०२॥१०३॥

(अ. १३) अतः परं त्रयोदशध्यायतात्पर्यमाहुः—ज्ञानधार्मिकं हरेरि-
 त्यादि। तत्र पूर्वं निमित्तकथाया विशेषतः कवनस्य तात्पर्यमाहुः—ज्ञानमिश्रेत्यादि।
 निरूपण इति निरूपणार्थम्। ज्ञानवैराग्यसंयुतत्वं दर्शयन्ति—शुर्वित्यादि। तथा चासिद्धिं
 ज्ञानापि यज्ञकरणोक्त्या तस्य वैश्वामित्रेण यज्ञकरणं नतासक्त्येति वैराग्यं दृषितम्।
 ज्ञानित्वं प्रसिद्धमेव एकादशस्कन्धे योगीन्द्रसम्भादे तस्य भक्तत्वमपि स्फुटम्।
 अतो ज्ञानमिश्रभक्तिनिरूपणार्थं ज्ञानवैराग्यसंयुता तत्कथोच्यत इति युक्तमित्यर्थः
 ॥१०४॥१०५॥ नन्वीदृशत्ये निमोःसिष्ठः किमिति ज्ञप्तवानित्यत आहुः भक्तेरि-
 त्यादि। तथा च भक्तत्वमनुसन्धायैव ज्ञप्तवानित्यर्थः। वसिष्ठमोहे भक्तेः कर्मापेक्षया
 बलत्वे च फलं गमकमाहुः—अतो गतिरित्यादि। ननु यदि वसिष्ठस्यैवं निकर्ष-
 स्तदा तत्कले कथं व्यासावतारः। कर्मापेक्षया च यदि भक्तेरेव प्रबलत्वं तदा
 भक्तानामुच्छृङ्खलत्वापत्तिरेत्यत आहुः—भक्तिमार्गस्येत्यादि। वेदयापुत्र इति

भगवद्दर्शने दोषो निमेश्चापि भविष्यति ॥१०८॥
 ज्ञानस्य च व्यवच्छेदस्तस्माद्ब्राह्मण उत्तमः ।
 लौकिकाः कर्मनिष्ठाश्च पश्चादीशानुगाः स्मृताः ॥१०९॥
 ज्ञाननिष्ठास्त्वग्रतो हि तस्मादेवं निरूपिताः ।
 पुष्टिमार्गस्थितान् भक्तान् वक्तुं सोमान्वयो मतः ॥११०॥
 जन्मना कर्मणा शुद्धा यदि भक्ता भवन्ति हि ।
 सानुभावास्तदा पुष्टाः सेवका मुरवैरिणः ॥१११॥
 सोमो ज्ञानांशसम्भूतो ह्यत्रिनेत्रसमुद्भवः ।

उर्वशीपुत्रः। तथा च वसिष्ठोऽपि भक्तिमार्गीय एवेति न तस्यापि निकर्षः। किन्त्व-
 ज्ञानेन भक्त्येवाहृतिमात्रं सकृदपकृष्टं न तु तदग्रे कश्चित्प्रतिबन्धः। भक्त्या निमोःस्वम-
 गतावप्यज्ञानेन ब्राह्मणद्वेषात्त्रिमैरपि लोकलौचनवास्तव्यतया निमेषप्रयोजकत्वेनान्ने
 भगवद्दर्शनं इत्यादिनाक्तो दोषो भविष्यतीति भर्कने भक्ता द्वेषव्या नाप्युच्छृङ्खलैर्भा-
 ष्यमेतद्वोधनायैव ज्ञानवैराग्ययतो शापकथोक्ता न तु सा भक्तिपुरस्कृता तस्माद्ब्राह्मणो
 ब्रह्मज्ञो वसिष्ठ उत्तम एवेति न पूर्वोक्तो दोष इत्यर्थः ॥१०६॥१०७॥१०८॥
 तदंशेषु व्ययस्यामाहुः—लौकिका इत्यादि। पश्चादिति निमोःनन्तरं इत्यस्योमान्ताः।
 अग्रत इति अवतारोत्तरं सीरध्वजमारभ्य कृतिपर्यन्ताः। एवं निरूपिता
 इति यत्सपेण कर्मणाऽवतारात्पूर्वं योगरूपेण कर्मणा च ततः परे, ज्ञाननिष्ठा
 ब्रह्ममुक्ता ईशानुवर्तिनः सूर्यवंशे इक्ष्वाकुमारभ्य कृत्यन्ता उक्ता इत्यर्थः ॥१०९॥
 एवं साहचर्यतुल्यवृत्तिभिः सूर्यवंशानिरूपिका त्रयोदशध्यायी विहृता,
 तनेकं महाप्रकरणं सम्पूर्णम्।

अतः परं साहससवष्टिभिर्द्वितीयं महाप्रकरणं विचारयन्ति-
 पुष्टिमार्गत्यादि। अत्र पुष्टिः पूर्णा बाष्ठा। 'पुष्टिः स्वार्था परार्था तु भक्तिः सा
 नवमे मते'ति षष्ठस्कन्धनिबन्धे कथनात्। ननु पूर्णभक्तौ तुल्यायां मोक्षरूपे फले
 लीलया परमसौख्ये च सर्वेषां तुल्ये मयादाभक्त्यः पुष्टिभक्त्यु को वा विशेष इत्यत
 आहुः जन्मनेत्यादि ॥११०॥१११॥ लक्षणभातं विशेषमुक्तबोदाहरन्ति सोम इत्यादि-
 द्वाध्याय। एतदंशे सोमस्य प्राथम्ये हेतुमाहुः—सोम इति। 'सोमोऽप्युद्भवणोऽग्ने'ति
 वाक्यात्, स ब्रह्मणोऽग्ने इति सृष्टिकर्तृत्वाद्देशे प्रथम इति न, किन्तु भाविज्ञानं तस्यास्तीत्यतः

पुष्टिमार्गस्थितो यस्मात्प्रथमं विषमोऽभवत् ॥११२॥
 कलङ्कभावस्तेनासीद्वस्तुतो यज्ञरूपधृक् ।
 तस्माद् बुधादयो भक्ताः सानुभावाः प्रकीर्त्तिताः ॥११३॥
 अत्रापि नवधा भक्ता द्वाभ्यां भार्गव उच्यते ।
 दोषं बलात्तु भक्तानां यो नाशयति सर्वथा ॥११४॥
 सोमवंशोद्भवायाश्च पुत्रो रामस्तु भार्गवः ।
 मन्त्रैरपि क्षत्रियाणां मन्त्रिताश्च चरोरभूत् ॥११५॥
 विपरीता गतिः पुष्टौ तत एकः पुरोच्यते ।

स तथेत्याहुः—ज्ञानांशेत्यादि । अन्यथा 'तस्माद् इत्योऽभवत्' तिचतुर्थस्कन्धोक्ता-
 द्विलक्षणं तस्य जन्म न वदेदित्यर्थः । ननु ज्ञानांशत्वे कथं तस्य कलङ्कितमित्यत
 आहुः—प्रथममित्यादि । विषम इति 'प्रजापतेस्त्वैर्क्लिंशद्बुद्धितर आसन्नित्यु'पाख्याने
 तस्य रोहिण्यां मीत्या, सोमस्य वैराज्ञ इत्युपाख्याने अमावास्यायां पौर्णमास्यां
 चाभीत्या वैषम्यनिरूपणात्स तथा । तथा च स तस्यागन्तुको दोषो न तु वास्तव
 इत्यर्थः । वास्तवं रूपमाहुः—यज्ञेत्यादि । अनुभावस्तनुपदममे वाच्यः ॥११२॥
 ॥११३॥ अत्रैकाध्यायस्य पूर्व सुधुम्मसक्त्रेणोक्तत्वादेकादशाध्यायस्यामवान्तरप्रकरणानि
 विभजन्ते—अत्रापीत्यादि । तथा च चत्वारि प्रकरणानीत्यर्थः । तत्र भार्गवोऽन्ते
 सत्रियह्ननरूपातिरिक्तकार्यातिरिक्तकार्यादर्शनात्किं तत्रेशचरित्रस्य येन प्रकरणभेदो,
 ब्राह्मणत्वेन च वंश्यत्वाभावाच्चरित्रस्य सामान्यलक्षणानां कान्तत्वेन कथं च स्कन्धार्थं
 निवेश इत्याकाङ्क्षायामाहुः—दोषं बलादित्यादि । तुदर्थं पूर्वैकस्मिन् ॥११४॥
 ननु मातृविचारेण लक्षणे समन्वेतव्ये मियत्रतनुतायामुभयैस्तस्यां जातार्यां देवभान्यां
 जातानां यदुभयभूतीनामपि तदर्थस्यैवं स्यादिति नेदमतिव्याप्त्यादिनिवारकमित्याकाङ्क्षा-
 यामाहुः—मन्त्रैरपीत्यादि । तथा च ब्राह्मणसत्रियत्वादीनां देवतास्य द्वितीय-
 स्कन्धस्तुकोधिन्यास्तुपदादितत्त्वाद्वा मन्त्रितचक्षुरा सत्रियलनिवेशे पुत्रिका-
 पुत्रन्यायेन 'अथ तर्हि भवेत्पौत्र' इतिवाक्याद् गाथिपुत्रार्थकसत्रियसस्यात्र प्राप्तौ
 मत्वेन तदर्थस्यैव दोषपरिहार इत्यर्थः ॥११५॥ एवं करणे हेतुमाहुः—विपरितेत्यादि,
 एकोऽध्याय ईशानुक्त्याबोधकः पुरोच्यते मध्ये द्वाभ्यां हरेः
 अत्रे च प्रकरणमनुसन्धायाष्टावध्याया वक्तव्याः,

अष्टौ चाद्ये तु वक्तव्या मध्ये द्वाभ्यां हरेः कथा ॥११६॥
 अत्राऽऽविष्टो हरिश्चक्रे वंशं सरसमुत्तमम् ।
 लक्ष्मीनारायणोत्पन्नो बुधोऽत्र विनिरूपितः ॥११७॥
 अन्यथा सर्वदेवानां सम्मतिर्न भवेदिह ।
 शुक्राचार्यस्य च तथा शिवस्याऽपि विशेषतः ॥११८॥
 स्वर्कायायां रसो नैव नापि तस्याः स्वभर्तरि ।
 अतो रसमयं द्रव्यं ताराचन्द्रमसौ कृतम् ॥११९॥
 सर्वेषां सम्मतिं ज्ञात्वा गुरुर्बाले स्पृहायुतः ।

नैवमन्यत्र । तस्मान्मर्यादाविपरीत्यापानमेवैवङ्करणे हेतुरित्यर्थः ॥११६॥ (अ. १४) एकम-
 वान्तरप्रकरणानि विभज्य वंशोत्कर्षं भक्तसमहातुभावत्वाभ्यां वक्तुं तत्र बीजमाहुः—
 अत्रेत्यादि । अत्र विनिरूपित इति साम्ग्ये मूलत्वेन निरूपितः । ननु ताराग्रहस्य
 दर्पमूलकलात्कथं तत्र लक्ष्मीनारायणावेवा इतिशङ्कायां ताराग्रहस्य तथात्वेऽपि तारा-
 चन्द्रमसौस्तदाविष्टत्वे गमकमाहुः—अन्यथेत्यादि । यदि तयोस्तदाविष्टत्वं न
 स्यात्तदा स यज्ञे देवगुरुणा याचित इति लिङ्गाद् यज्ञ एव तद्ग्रहणेन यज्ञसचिदानां
 तत्कारयितुः शुक्राचार्यस्य मेघपतिमिति पावित्र्यपतित्वेन श्रावितस्य शिवस्य
 च सम्मतिर्न स्यात् । न च सम्मतो मानाभावः शङ्क्यः, यज्ञनिष्पत्तेरेव गानत्वात् ।
 न च देवेषु पापाभावात्सम्मतिरिति वाच्यम् । 'देवेष्वपि पापसम्भवस्य विश्वरूपादि-
 हत्यायां श्रुतिसिद्धत्वात् । 'न ह वै देवानां पापं गच्छती' त्यादिश्रुतिस्तु विराटवयव-
 भूतदेवपरंति तस्या एतदविषयत्वात् । अन्यथा तस्याऽत्रलिना ब्रह्महत्यापापशुद्धादित्यादि-
 श्रुतिवाधापत्तेः । अतोत्र भगवद्वंश एवास्थेयः । एवञ्च मास्त्योक्तमन्यदपि समर्थितं
 भवति ॥११८॥ ननु पुष्टार्थे करणे किं बीजमित्याकाङ्क्षयां बीजशैवयोर्देवाभाव-
 पूर्वैकतारस्येन वंशस्य तथात्करणं बीजमितिवोधयितुं दोषाभावमुपपाद्य सारस्य-
 माहुः—स्वर्कायायामित्यादि । एवं चन्द्रस्यानुभावभक्ती उक्ते । ननु सारस्यस्य
 दोषाभावपूर्वैकत्वं नोक्तयुक्तिभिः शक्यवचनम्, अत्रे तारकामयसङ्गमादिकथनत्वात् ।
 सम्मतौ च तदसम्भवादितिशङ्कायां गर्भाधानपर्यन्तमेवावेशेन तावत्पर्यन्तमेव सम्मतिर्न
 त्रेऽपीत्याशयेन सम्मतेस्तावदन्तये गमकमाहुः सर्वेषामित्यादि । तथा च
 गुल्फपूषाऽन्यथानुपपत्त्या सम्मतिः सङ्ग्रामाथन्यथानुपपत्त्या च तावत्पर्यन्तैति न सङ्का-

अतः पूर्वोक्तिभिः साकं विरोधो न भवेद् ध्रुवम् ॥१२०॥
 भक्तिर्न ब्रह्मणे पुष्टा तेन राजसुतो बुधः ।
 बुद्ध्या चात्यन्तसम्पन्नो निर्व्यलीकस्ततो मतः ॥१२१॥
 मातरं च तथा प्राह तस्माज्जातः पुरुरवाः ।
 तस्य वेदोद्गमत्वाय ब्रह्मावेशो निरूपितः ॥१२२॥
 विष्णुर्बुधस्ततो जातो ब्रह्मात्मा हि पुरुरवाः ।
 नारायणाद्भक्तिशक्तिरुर्वशी विनिरूपिता ॥१२३॥
 मित्रश्च वरुणश्चैव भोगस्थानाधिदैविकौ ।
 तयोरासक्तहृदया भक्तिभोगपरा भवेत् ॥१२४॥
 देवानां परमा भक्तिः परं भोगविवर्धिनी ।

मायुक्तिविरोध इत्यर्थः ॥११९॥१२०॥ ननु चन्द्रस्याग्निरोत्यमत्वेन विपराजलेन च तत्सुतस्य बुधस्य कथं क्षत्रवंशोत्पादकमित्यत आहुः भक्तिरित्यादि । चन्द्रे हस्ति द्रव्यम्, उत्कृष्टाभिव्राह्मण्यम् । 'राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेते'ति क्षत्रिय-
 कर्षुकयागकरणेन भुवनत्रयजयेन च क्षत्रियत्वम् । तत्र ताराग्रहणे दर्पस्य हेतुत्वेन कथनादर्पस्य चैकादशे क्षत्रप्रकृतिषु गणनाक्षत्रभावापन्नस्यैवेदोर्निषेकत्वम् । किञ्चायं भक्तिस्वरूपः, पूर्णानुग्रहरूपाऽत्र भक्तिर्वैकल्या, सा च न ब्राह्मणे पञ्चाशिविद्यायाः क्षत्रिय एव छान्दोग्ये श्रावणात् । तेन हेतुना बुधो राजभावोपगृह्यस्वैव सुत इति तादृशवंशोत्पादक इत्यर्थः । बुधस्यानुभावभक्ती आहुः-बुद्ध्या चेत्यादिपादत्रयेण, पुरुरवसस्ते आहुः-तस्मादित्यादिभिः सप्तदैर्दशाभिः, वेदोद्गमत्वाय वेदानामुद्गमः पुरुरवस पवासीत्, 'त्रयी त्रेतायुस्वे तृपैत्यनेनोक्तो यस्मादसौ वेदोद्गमस्तादृशलाय । ब्रह्मावेश इति चतुर्थीसावेशः ॥१२१॥१२२॥ क्षेत्रोत्कर्षार्थोर्विशुत्कर्षमाहुः-नारायणादिति । उत्पन्नैति शेषः । भक्तिशक्तिरिति । भगवत्सेवायाऽनुग्रहरूपा शक्तिः । नन्वेता-
 दृशत्वे तस्याः कथं ज्ञापभागितमित्यत आहुः-मित्रश्रेत्यादिभिः सौदंशतुर्भिः । मित्रो युद्धस्याधिदैविक इन्द्रियदेवताषु प्रसिद्धः । वरुणस्तु रसनदेवोऽपि रेतसा शिश्रमापस्त्वितिकपिलवाक्यादर्पा पतित्वेन 'वरुणस्य स्फुम्भनमसी'ति शुचिका-
 स्नानीयमन्त्रप्रकाशयत्वेन च शिश्राधिदैविकः । 'दृषणां च मित्रा'विति वाक्ये विराहदृष्टयत्वेन वा भोगस्थानाधिदैविकौ । परमा भक्तिरिति वामनपुराणे

अतो वै सा प्रशस्ता हि मानुषेषु ततः परा ॥१२५॥
 अतो यत्र भवेद्भोगो भक्त्या सा न परा मता ।
 शुद्धां वक्तुं तयोः शापो जात इत्यभिधीयते ॥१२६॥
 सकृत्प्रवृत्ता देवत्वरक्षायै नाऽप्यथा क्वचित् ।
 रसाधिक्यात्पुनस्ताभ्यां प्रार्थिता नाऽभ्यनन्दत ॥१२७॥
 अतः शप्ता नरत्वाय ताभ्यां भोगनिवृत्तये ।
 ऐश्वर्यादिगुणान् प्राप्तुं गर्भषट्कमधारयत् ॥१२८॥
 भोगार्थं न प्रवृत्ता सा ततो निष्ठुरभाषिणी ।
 गर्भमात्रं त्वभिप्रेतं तेन द्वयमुवाच ह ॥१२९॥
 भोगाभावाय नैर्दुर्ग्यं गर्भाय ज्ञानसंस्थितिम् ।
 तस्याः मासक्तहृदयो मुक्तिमेष्यत्यसंशयम् ॥१३०॥
 अतो मुक्तिप्रक्रियायां तन्मुक्तिर्विनिरूप्यते ।
 भक्तिसामर्थ्यसिद्धयर्थं वेदोद्गम इहोच्यते ॥१३१॥

देवत्वभावे गणितत्वात् । परंति भगवत्कृपाजन्यत्वेन स्वाभाविक्याः सकाशादल्लुष्टा । शुद्धाभिति भोगाशक्तिनिवारिकाय । देवत्वरक्षाया इति स्वाभाविकं स्वरिपन् यदेवत्वं तदक्षर्यम् । नरत्वायेति नरलोकतापदस्यायः । तथा च सा स्वजाति-
 स्वभावादिकं पित्रलावदवगत्य तयोः स्वभावं चावगत्य सकृत्पट्टणा, नतु कामादिना, ताभ्यां तत्स्वभावं लौकिकवदवगत्य तस्यां रसाधिक्यात्सा भोगार्थं प्रार्थिताऽपि विरक्तलाभ पुनरङ्गीकृतवती तदा ताभ्यां स्वस्य भोगे तथा निवारिते तद्भोगनिवृत्तये नरत्वाय शोषेति तस्याः ज्ञापभागितमिन्द्रियुद्भवत् न तु दोगादिति तदुत्कर्षो न तेन क्षीण इत्यर्थः । नन्वेवं स्वतो विरक्तत्वे ज्ञापेनोपोद्भित्ते कथं पुनर्भोग इत्यत आहुः-एद्वचयंत्यादि ॥१२३॥१२४॥१२५॥१२६॥१२७॥१२८॥१२९॥

ज्ञानसंस्थितिमिति । 'मित्रो वै घृता'मिति श्रुतेस्तस्य प्रकाशकत्वेन ज्ञानस्यापक्वत्वात्तस्य भक्ष्यत्वकथनेन ज्ञानस्य सम्पकृ स्थितिषु । नन्विदं द्रव्यं क्रमेण वेद्यासाहेवलाक्षापि सम्भवतीति न वैराग्यगमकमित्यत आहुः-तस्यामित्यादि । तथा चैकादशे तदासक्तस्य पुरुरवसो युक्तियोधनादत्र च तयाऽस्मै वैराग्योपदेशाच्च सा वैराग्यवत्येवेति तस्या उत्कर्षां निर्वाच इत्यर्थः ॥१३०॥१३१॥ एवं तद्भुक्तान्तकथनेन

एवं पुरुरवा भक्तः प्रथमं मुनिरूपितः ।
 गाधिपर्यन्तमेतस्य वंशो रामप्रसिद्धये ॥१३२॥
 तद्वंशोत्पत्तिकथया भक्तत्वं सिद्धमेव हि ।
 पुष्टिमार्गं यदोर्वंशो ब्राह्मणानां च यातकः ॥१३३॥
 भक्तिमार्गं तथा पुष्टिर्न युकेति हरेर्मतम् ।
 दैत्येषु तादृशी पुष्टिर्न देवेष्विति निर्णयः ॥१३४॥
 देवांशास्तत्र वक्तव्या दोषनाशार्थमीश्वरः ।
 अर्जुनं तस्य पुत्रांश्च तत्सङ्गावितरानपि ॥१३५॥
 मुख्यगौणप्रभेदेन द्वयं हन्ति महाबलः ।
 भक्तानां गर्वनाशाय दैत्यानां निघनाय च ॥१३६॥
 गुणरूपावतरणपर्यन्तं हन्ति बाहुजान् ।
 विभ्रे मन्त्रा हविर्धेनौ यज्ञात्मा भार्गवो हरिः ॥१३७॥

पुरुरवसोऽपि भक्तत्वं निगमयन्ति एवं पुरुरवा इत्यादि । परिणामे वैराग्यान्मुक्तिरूप-
 फलस्याग्ने कथनाच्च स तथेत्यर्थः ॥

(अ. १५) एवं पुरुरवसोऽनुभावभक्ती प्रथमाध्याये निरूप्याग्ने ईश्वर्यां वक्तुं द्विती-
 याध्याये तद्वंशे तथात्वं बोधयन्ति गाधिर्त्यादि ॥१३२॥ ननु पुरुरवःपुत्रस्य विजयस्य
 वंशो यथा रामप्रसिद्धयेऽनुभावभक्तियुक्त उत्कलतायाग्ने कृष्णावतारार्थं यदुर्वंशोऽपि
 तादृशो वक्तव्यस्तथा सति भगवतोऽपरागमस्ततः कथं युज्यते भगवता तद्व्यननं चेत्या-
 काङ्क्षायामाहुः—पुष्टिमार्गं इत्यादिकाविकात्रयम् । पुष्टिमार्गं इति । पुष्टिः स्वार्था-
 नुग्रहः मार्गो भगवत्प्राप्त्युपायो यत्र तादृशः । भक्तिमार्गं परार्थानुग्रहरूपे तथा पुष्टिः
 सन्मार्गयातकोऽनुग्रहो न युक्त इति हरेर्मतम् । तत्र हेतुः—दैत्येष्वित्यत्यादि । तत्र
 यदुर्वंशे देवांशा वक्तव्या अतो दोषनाशार्थं तथा हन्तीत्यर्थः । हेतुपूर्वकं तस्योचरा-
 वधिमामाहुः—भक्तानामित्यादि । तथा चाग्नरो दोषो बाह्यसंसर्गश्च श्रीरघुनाथमाहु-
 र्भवावधिरिति तत्पर्यन्तं तन्नाशयित्वा भोगराहित्यं भक्तो हृदीकरोतीत्यर्थः ॥१३३॥
 ॥१३६॥ (अ. १६) मुख्यगौणप्रभेदेनोभयहनेने हेतुं स्फुटीकुर्वन्ति—विभ्रे इत्यादि ।

१ “यातकः” इतिपाठान्तरम्

हविर्नाशो पुरा हन्ता मन्त्रनाशो तत परम् ।
 क्षत्रियत्वाय युक्तोऽपि प्रार्थनाद्ब्राह्मणोऽभवत् ॥१३८॥
 उभयात्मा न युक्तो हि तेन वध्योऽभवद्विपोः ।
 रेणुका चाऽपि भार्याऽस्य भक्तिरूपाऽऽपिद्वैविकी ॥१३९॥
 उभयात्मकेन सन्तुष्टः पद्ममाली हरेः प्रियः ।
 गन्धर्वो नैव दोषाय द्वितीयः स पतिर्यतः ॥१४०॥
 भक्त्यर्थं पूर्वभावं सा कृष्णावेशं विबुध्य हि ।
 कर्मासक्तिं परित्यज्य कृष्णासक्ता बभूव ॥१४१॥
 दुष्टा चेद्भगवान् रामः कथं तस्यां भविष्यति ।
 द्विरूपत्वान्मुनेश्चापि क्षान्तिः क्रोधोऽपि जायते ॥१४२॥
 क्षान्त्या पुत्रोपदेशस्तु क्रोधो दारेषु संस्थितः ।
 क्रोधः क्षत्रियभावो हि तद्रूपो राम उच्यते ॥१४३॥
 अतो हता सपुत्रा हि माताऽपि पितृवाक्यतः ।
 तत क्रोधपरित्यागं वत्रे राम इति कश्चित् ॥१४४॥
 वधार्थो दोषजननं मुख्यार्थो मम सम्मतः ।

ननु यदृहे भगवज्जन्म तादृशस्य जन्मदग्नेः कथमेवं वध इत्याकाङ्क्षायामाहुः—क्षत्रिय-
 त्वायेत्यादि । ननु रेणुकाया मनोदोषस्य मूल उत्कलाच्च कथं भगवत्यादुर्भाव
 इत्याकाङ्क्षायामाहुः—रेणुका चेत्यादि । हरेः प्रिय इति ‘गान्धर्वाणां चित्ररथ’
 इति विभूतिष्ये पाठास्येत्यर्थः । द्वितीयः सपतिरिति ‘सोमः प्रथमो विविदे
 गन्धर्वो विविद उत्तर’ इति श्रुतेस्तथा ॥१३७॥१३८॥१३९॥१४०॥१४१॥

नन्वदुष्टत्वे मुनेः कुतः क्रोध इत्यत आहुः—द्विरूपत्वादित्यादि । तथा च
 स क्षत्रभावः कृत इति न विचारपूर्वक इत्यर्थः ॥१४२॥ ननु यथैवं निरपरघाता
 तदा रामः कथं हतवानित्यत आहुः—क्रोध इत्यादि, तथा च तत्रापि क्षत्रियभाव
 एव प्रयोजक इत्यर्थः । अत्रापि वरप्रार्थनमुक्तम्, ‘वत्रे हतानां रामोऽपि जीवितं
 चास्मृतिं वध’ इति । एतदग्रे क्रोधपरित्यागं वत्रे इति पुराणान्तरैस्ति तदनु-
 वदन्ति—तत इत्यादि । अत्र प्रतीनामित्यस्य ताडनाद्यपमानेनादोषां कुलेत्यर्थेमाहुस्त-
 द्दृश्य दूषयन्ति—वधार्थ इत्यादि । एवमर्थोक्तो मुख्यार्थेवाधः स्यात्, स च तदैव युक्तो

सोमवंशोऽवतीर्णस्य तथा न स्यात्पराक्रमः ॥१४५॥
 इति शङ्कां निराकर्तुं रावणस्य पराजयः ।
 अर्जुनं तादृशं योगैः सिद्धं रावणमोचकम् ॥१४६॥
 यो जिग्ये लीलयैवैकः क्षत्रियाणां विनाशकः ।
 तत्तुल्यः कोऽपरो लोक इति वक्तुं तपोच्यते ॥१४७॥
 षड्गुणैर्द्धर्मिणा चैव तामसाः प्रथमं हताः ।
 तथैव राजसाः पश्चात्सात्विकाश्च तथैव हि ॥१४८॥
 सगुणेषु विनष्टेषु सर्वभावेषु सर्वशः ।
 निर्गुणा भक्तिरूढा लोके ख्यातिं गमिष्यति ॥१४९॥
 तत उर्वरिता भक्ता इति ख्यापयितुं ध्रुवम् ।
 शूरसेनो महाभक्तो मधुरायां निरूप्यते ॥१५०॥
 तादृशाः सर्व एवाग्रे क्षत्रिया इति बोधितम् ।
 पूर्ववद्यज्ञसम्पत्ती रामस्याऽत्रापि वर्णयते ॥१५१॥

यद्यन्यस्य वा तात्पर्यस्य वाऽनुपपत्तिः स्यात्, प्रकृते तु नश्वरभावत्वेन योग्यतयाऽन्यया-
 नुपपत्त्यभावात् । 'ब्रमे हतानां रामोऽपि जीवितं चास्मृतिं वध' इति जीवितवधा-
 स्मरणवरप्रार्थनलिङ्गेन तात्पर्याऽनुपपत्तेरप्यभावाच्च न मुख्यार्थो वाचितुं शक्य इति
 मम मुख्यार्थैः सम्मतस्तथा सति वधस्थायिः प्रयोजनमदोषजननं निर्दोष्टसम्पादनम्,
 तथा चार्जुनरीत्यार्थसिद्धौ फले लक्षणा न युक्त्यर्थः । ननु क्षत्रियकुलनाशहेतुधृत्तदोषे
 पृष्टे अर्जुनपराक्रमवर्णनस्य कुत्रोपयोग इत्याकाङ्क्षायामाहुः-सोमेत्यादिसाद्द्वयम् ।
 अर्थस्तु प्रकटः । तथा चार्जुनदर्पकथनमात्रं न प्रयोजनमपि तु रामवीर्यप्रकटनमित्यर्थः ॥
 १४३॥ १४४॥ १४५॥ १४६॥ १४७॥

ननु सङ्कल्पेनाऽपि पितृवधनिर्देशे त्रिःसप्तकुलो वधकरणस्य किं
 प्रयोजनमत आहुः-षड्गुणैरित्यादिद्वयम् । तथा च षड्गुणसहितधर्मिकार्यबोधिका
 सप्तसङ्ख्या, वध्यानां त्रिविध्यबोधिका त्रिसङ्ख्या । तथा च पूर्वं तामसतामसेषु
 तद्दुश्चरुत्पथ्यमानास्तामसराजसा इत्येवं क्रमेण षड्गुणो भगवांस्त्वाहितवाभिति
 ज्ञानं प्रयोजनम् । ततस्तेषु सदीपेषु नष्टेषु निर्गुणभक्तिख्यापनं च प्रयोजनमित्यर्थः ।
 एतदेव फलेन निगमयन्ति-तत इत्यादिसाद्देन । सर्ववेदसकरपरात्पर्यमाहुः-
 पूर्ववदित्यादि, अत्रापि च सोमवंशोऽपि ॥१४८॥ १४९॥ १५०॥ १५१॥

सर्वदानं भक्तिमार्गं बोधयन् पृथिवीं ददौ ।
 भारात्मकाः क्षत्रिया हि तद्भाश उपसंहृतिः ॥१५२॥
 विश्वामित्रः परावृत्ता रामस्येत्युच्यते कथा ।
 पुत्राणां च परित्यागः शुनःशोफस्य सङ्ग्रहः ॥१५३॥
 ब्राह्मणस्य प्रतिष्ठार्थं विश्वामित्रे निरूपितम् ।
 गोघ्राणां बहुधावृत्तिरतोऽस्माद्दिनिरूपिता ॥१५४॥

'एवं भूषु विद्यात्मा भगवान् हरिरीश्वरः । अवतीर्य परं भारं द्रुवोऽर्जुन बहुशो
 वृषा' निति (श्लो. २७) वाक्यविचारेण क्षत्रियहननस्य प्रयोजनान्तरमाहुः-भारेत्यादि,
 उपसंहृतिरिति । भारस्येत्यिशेषः । विष्णुधर्मान्तरं एवं कथाऽस्ति । भूमिस्ता-
 वत्स्थावरजङ्गमयोरुभयाप्यतिभवेनोभयभारान्नान्ना ब्रह्माणं तदभावाय विज्ञापितवती
 तदैवान्तरिपि मरुत्स्थान्यस्य वा कस्यचिद्द्वेषेऽत्यन्तमिष्टोऽजीर्णनिष्ठत्वे विज्ञा-
 पितवान् । तदा ब्रह्मावधार्य एकेनेव कार्यद्वयं साधयिष्यन् तं प्रत्यर्जुनं प्रार्थ्यं
 तच्छरेषु प्रविश्य वनेषु धर्म्याणेषु तवाजीर्णं नष्टक्यतीत्युक्तवान्, ततोऽस्मिन्सं प्रार्थिते-
 नार्जुनेन रथमाख्या शरेषु मुच्यमानेषु देवयोगाद्भ्रसिष्टवने शराः पेतुस्तदा तद्बने
 दक्षमाने वसिष्ठोऽर्जुनं ब्रह्माप तव बाहुच्छेदो भविष्यतीति । तदुचरं कतिपयाहस्तु
 तस्य जयदग्निहविर्धान्यभिलाषो देवैरुत्पादितस्तेनैवं सर्वैश्चत्रनाशनमधृदिति । अत
 इदं प्रासङ्गिकं देवादिकार्यम्, मुख्यं तु भक्तलेशानिष्टिनिर्गुणभक्तिस्थापनमिति पूर्वोक्त-
 मेव स्कन्धार्थोपयुक्तत्वादित्यर्थः ॥१५२॥ एवमीशानुकथयोर्मध्ये ईशकथा
 निरूपिता ॥

अतः परमोशानुकथारूपे वंश्यानुचरिते क्षत्रियाणां वक्तव्ये
 विश्वामित्रब्राह्मण्यादिकथा कुत उक्तेत्याकाङ्क्षायामाहुः-विश्वामित्र
 इत्यादि, परावृत्ताविति वधात्परावृत्तौ, हेतुरिति शेषः, तेन तत्कथोच्यत इत्यर्थः ।
 एतेन राजधर्मेषु युधिष्ठिरं प्रति भगवता यद्विश्वामित्रपीत्रेण परावसुनाम्ना 'वृथात्वं कल्पसे
 रामे'त्यादिना ययातिपत्नने यज्ञकृतां क्षत्रियाणां प्रदर्शनेन पुनः शत्रवधार्थं शङ्खग्रहणमुक्तं
 तत्कल्पान्तरिपिमिति ज्ञापितम् । नन्वस्त्वेवं तत्कथा-तथापि कथान्तरं तदीयं त्यक्त्वा
 पुत्रत्यागकथैव कुत उक्तेत्यत आहुः-पुत्राणांमत्यादिसाद्देन । अत इति ब्राह्म-
 ण्यप्रतिष्ठातः । तथा च विश्वामित्रकथाया एव शेषः । यथा पूर्वाध्यायस्था सत्यव-
 लन्ता कथा, तेन मध्ये ब्राह्मणीशक्येति पूर्वोक्तं समर्थितम् ॥१५३॥ १५४॥

भक्ता अत्रापि द्विविधा वैदिका भोगतत्पराः ।
 पुरूरवा अलर्कश्च रजिश्च प्रथमा मताः ॥१५५॥
 धन्वन्तरेरत्र जन्म दोषाभावाय पूर्ववत् ।
 नहुषश्च ययातिश्च पुरुश्चाऽप्यत्र मध्यमाः ॥१५६॥
 वीर्याधिक्याच्च नहुषः पूर्वस्माद्धि विशिष्यते ।
 पुष्टिभक्तपदे स्थित्वा दोषयोगाच्च मध्यमः ॥१५७॥
 ययातेर्मानसं शुद्धं प्रमाणं सर्ववस्तुषु ।
 ब्राह्मणानां च जामाता वयोव्यत्यासतस्तथा ॥१५८॥
 मध्यमानां मध्यमस्य बन्धमोक्षौ निरूपितौ ।
 तेन सर्वत्र ये भक्तास्तादृशा इति बुद्ध्यताम् ॥१५९॥
 शुक्राचार्यः पुष्टिकर्ता मर्यादायां समन्ततः ।

अतः परं पुनरीशानुक्तामेव यदन्तोऽवान्तरप्रकरणानि वि-
 भजन्ते-भक्ता अत्रापित्यादि । अत्रेति प्राथमिक्यां विधायां सोमवंशे वा ।
 पूर्ववदिति भार्गवराजवत् । तेन येषामोद्देशमात्रं कृतं तेऽप्युक्तसमानकक्षा एव
 भक्तौ बोध्या इति धन्वन्तरेवतारोक्त्या ज्ञापितम् । एवमेवेन सप्तदशाध्यायेनेतः
 पूर्वं चतुर्दशेन चेति द्वाभ्यां प्रथमकक्षोक्तेत्यध्यायद्वयात्मकमार्थं प्रकरणम् ।
 द्वितीयमाहुः--नहुष इत्यादिचतुर्दशभिः ॥१५५॥१५६॥ एतेषु किमाधिक्यं येन
 मध्यमकक्षलमित्याकाङ्क्षायां क्रमेण त्रिष्वपि तदुपपादयन्ति-वीर्याधिक्यादित्यादि ।
 नहुषे वीर्यं विद्यातपोयोगबलानां चतुर्णां श्रावणं, 'तावत्रिणाकं नहुषः शशास विद्या-
 तपोयोगबलानुभाव' इतिपुष्टकनधवाक्यात् । केवलबलात्मकवीर्यग्रहणे रजेरपि
 मध्यमकक्षलापातात् । तर्ह्येतन्मत्वं कुतो नेत्यत आहुः--पुष्टीत्यादि । नहुषस्य परम-
 वेक्षणवत्वं ब्रह्मवैवर्ते स्फुटम् ॥१५७॥

ययातेस्तयात्सुपपादयन्ति-ययातेरित्यादि । तथा च चत्वार एते धर्माः
 पूर्वकक्षास्थेभ्योऽधिका इत्यतस्तस्य मध्यमत्वमित्यर्थः । तर्ह्येतन्मत्वं कुतो नेत्यत
 आहुः--मध्यमानामित्यादि, य इति तुर्वैसुप्रभृतयः । तथा च पूर्वं बद्धावस्था-
 लाभोक्तकक्षायां निवेश इत्यर्थः ॥१५८॥१५९॥ ननु मोक्षस्वन्ततः सर्वपापै

ययातिर्द्विविधः प्रोक्तस्तद्वाक्यं तन्न मन्यते ॥१६०॥
 कामो वा कामधर्मो वा हेतुर्नाऽत्र कथञ्चन ।
 कृष्णेच्छा दिष्टमत्रेति पौरवान्वयशुद्धये ॥१६१॥
 बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधौ भक्तिमार्गयौ ।
 मर्यादायां तु त्रिविधौ तेषु पूरुर्महात्मनः ॥१६२॥
 राज्यस्यानर्पणाद्वाक्यं पितुराग्रहसंयुतम् ।
 तथाऽपि मातृसम्बन्धे वयोदानानु मध्यमः ॥१६३॥
 बोधनीयः परं युक्त्या ब्राह्मणः प्रार्थ्यते परम् ।

भक्तलाभोति सोऽत्र नाधिक्यप्रयोजकतया शक्यवचन इत्याकाङ्क्षायां तदर्थं
 हेतुस्तरमाहुः द्वाभ्यां--शुक्लेत्यादि । द्विविध इति पुष्टौ मर्यादायां च सम्मतः । अत्र
 सर्वत्र पुष्टिपदेन भगवत्कार्यायांनुग्रहरूपा भक्तिर्बोध्या । तदिति उल्लापश्चम्यन्त-
 मध्ययप । ननु शुक्राचार्यैवाक्यानङ्गीकारे कामो वा कामधर्मो वा प्रयोजको । तत्रापि
 लौकिकतैव द्वितीये मर्यादिकतैवेति कथं द्वैविध्यमित्याकाङ्क्षायामाहुः--कामो वेत्यादि
 कर्ता सकामागमनं धर्मः, कामसहितो धर्मः कामधर्मः । कथञ्चनेति । 'धर्मो चावेत्ये'-
 त्यनेनोक्तोऽपि । तथा च मूले 'दिष्टमेवावगच्छते'ति कथनेन गमने तदुभयहेतुकत्वस्य
 निवारणात्तदुभयमपि शुक्रवाक्यानङ्गीकारे हेतुर्न, किन्तु दिष्टं हेतुः, दिष्टं च देवम् ।
 तत्रात्र पूर्वान्वयजननविषया भगवदिच्छैवेति तत्र भारमिषेषान्न ययातेः पुष्टसहानि-
 रस्तस्येत्यर्थः ॥१६०॥१६१॥ ननु पञ्चस्वपि ययातिपुत्रेषु प्रुरोरेव पित्राज्ञानुवर्तिता-
 त्तस्योत्तमत्वं युक्तं वयसो न गुणाधिकमिति मूले तयोक्तेश्च तदुभयभावावाद्यदोश्च मध्यम-
 त्वमित्यत आहुः--बाह्येत्यादित्रयम् । ननु ययातेरेवं गुणकत्वे कथं भोगासक्तिः
 किमर्थं चैतत्कथोपक्षेप इत्यत आहुः ययातिरित्यादि । तत्र गमकमाहुः--भोगा-
 इत्यादि । प्रतिबन्धनिवृत्तये इति । 'विरस्य वै संन्यसत' इतिवाक्यात्स्वरूपेण
 देवकृतप्रतिबन्धनिवृत्तये, यत्पुत्रिव्यामित्यादेस्तास्त्यर्थमाहुः यदित्यादि । तथा चायमप्येक
 आसङ्ग्यागप्रकार इति बोधनायोपक्षेप इत्यर्थः ॥१६२॥१६३॥ प्रासङ्गिक्यपि सद्भारता
 भक्तानां शुक्तिमेव जनयतीतिज्ञापनाय देवयानीमुक्तिरुक्तेत्याशयेनाहुः--बोधेत्यादि ।

भक्तसङ्गानु नहुषो मोक्षं प्राप्स्यति निश्चितम् ॥१६४॥
 ययातिर्वासनाशान्त्यै कामसम्पूरणाय च ।
 अन्यतारुण्यमादाय भोगान् भुङ्क्तेऽविचार्य हि ॥१६५॥
 भोगा दोषात्मका नित्यमिति वक्तुमजाकथा ।
 भार्यायाः कामशान्त्यर्थं प्रतिबन्धनिवृत्तये ॥१६६॥
 वैराग्यं जनयन् प्राह वस्तुतत्त्वं च बोधयन् ।
 यत्पृथिव्यां ब्रीहियवमित्यादिवचनं हृदि ॥१६७॥
 स्वार्थं प्राह स्वविज्ञानदाढर्यं सम्यक् प्रबोधयन् ।
 बाधाभावाय भर्त्रैव बोधिताऽपि व्यमुच्यत ॥१६८॥
 ययातेः कार्यसंसिद्धिर्बोधनाय निरूपिता ।
 पुरोमुक्तिस्तु सिद्धेव वंशशुद्ध्या निरूप्यते ॥१६९॥
 वैष्णवा ब्राह्मणाश्चैव जायन्ते यत्र सर्वदा ।

(तृतीयमन्त्रपरमकरणम्)

भरतो रन्तिदेवश्च यदुश्वाऽप्युत्तमास्त्रयः ॥१७०॥
 सामर्थ्यधैर्यभक्तीनां येषु काष्ठा पुरा स्थिता ।
 उत्तरावधिराजानः पूर्वधर्मसभा इह ॥१७१॥
 तेन सर्वे नवस्वेव प्रविशन्ति नरोत्तमाः ।

सिद्धमाहुः—ययातेरित्यादि । बोधनायेति अत्रोक्तानामनुकानां चैवं मुक्तिबोधनाय ।
 ननु प्रस्युक्तिः कृतो नोक्तेत्यतो गमकपूर्वकम् आहुः—पुरोरित्यादि ॥१६८॥१६९॥
 एवं चतुर्दशभिद्वितीयं प्रकरणं विचारितम् ।

(अ. २१) तृतीयं विचारयन्ति-साक्षंः सप्तभिः—भरत इत्यादि । ननु-
 चरावधिस्था राजानो येषु बाच्या एतत्प्रकरणे तेषामेव तजुल्यसामर्थ्याभावात्-
 त्यकरणमप्यद्वय वक्तव्यमित्यत आहुः—उत्तरावधीत्यादि । नन्वत्र समाप्ती वजादयः
 कृतो नोक्ता भगवानेव कुत उक्त इत्यत आहुः—भक्त्यन्त इत्यादि । भक्त्या हि

भक्त्यन्ते भगवान् साक्षादाविरासीदित्तिर्यते ॥१७२॥
 भक्तिवद्रूपसम्पत्त्या सर्वान् मोचयितुं क्षमः ।
 उपाख्यानानि सर्वाणि तत्तद्भक्तेषु राजसु ॥१७३॥
 बोधनिर्हरणार्थानि वैदर्भादीनुवाच ह ।
 रूपे चरित्रसम्बन्धस्तथा तच्छ्रवणादिकम् ॥१७४॥

अहन्ताममतानाक्षरूपा प्रलयलीलाऽत्र निरूप्यते, सा चाच्युतात्मानुभवावस्थानान्ता ।
 तत्र स्वयमेव वेदाविभूतस्तदा रूपेण तं करिष्यतीति फलसम्पत्तिज्ञापनाय तेऽत्र
 नोक्ता, अग्रिमवशस्य चरित्रत्वाभावात् । युक्त्यर्थमेव तत्र प्राकट्यकथनात् । अतो
 भगवानेवान्ते उक्त इत्यर्थः । नन्वीशानुक्तयासुपाख्यानोपबृंहणस्य किं प्रयोजनमत
 आहुः—उपाख्यानानीत्यादि ॥१७०॥१७१॥१७२॥१७३॥

तर्हि भगवच्चरित्रं गुणायानार्थमवश्यं वक्तव्यमित्यत आहुः—रूपेत्यादि ।

का.-१७२ निबन्धकठिनांशविवेचनम् ।

अत्रे चतुर्विंशत्तथायार्थोक्तौ 'तेन सर्वे नवस्वेव प्रविशन्ति नरोत्तमा' एतावदन्तेन
 त्रयोविंशत्तथायार्थो उक्तः । अतः परं चतुर्विंशत्तथायार्थमाहुः 'भक्त्यन्ते भगवानि'त्यादि
 यावत्समाप्ति, तथा च भक्तिफलरूपस्य साक्षाद् भगवतः प्राकट्यं चतुर्विंशत्तथायार्थं इत्युक्तम्,
 ननु अत्रापि विदर्भादिबहुवेदान्तानां निरूपणदर्शनात् कथं भगवत्याहुर्बोध एवाध्यायार्थस्य आहुः
 उपाख्यानानीत्यादि, रूपे इत्यन्तम्, त्रयोविंशत्तथायार्थन्तं ये भक्ता उक्तास्ते राजान उक्तास्तेषु
 राजत्वप्रयुक्तं दोषं सम्भान्य तत्तदुपाख्यायैः सानुभावत्वसूचनात् स दोषो निवार्यते,
 एवं सति ते सर्वे निर्दोषा इत्युक्तम्, अत्राध्याये तु गुणवन्तो भगवत्समा भगवद्वतारार्थं
 उपलक्षणविषया उच्यन्ते तेन ज्यामघपर्यन्तं निर्दोषपरमभक्तिमद्भक्तकथा येषां भयादप्युक्तं
 वचनं असम्भावितमपि देवपितृसम्भतं सत्यमर्षिभक्तिमत्केरतुमात्रो ज्ञापितः, विदर्भैस्तु स्वजन्मनः
 पूर्वं जातायाः स्वार्थमेव स्त्रितायाः भोक्ता, यथा भगवान् कृष्णः स्वप्राहुर्भावात् पूर्वं ज्ञातानां
 स्वार्थमेव स्त्रितानां गोपिकादीनां भोकेतिज्ञापनार्थं विदर्भान् रूपकाध्याये शुक्र उवाचेतिपद-
 सन्बन्धः, रूपे इति पदमग्रेपि सम्बद्धयते । तथा च रूपे चरित्रसम्बन्धो वचैते, परं रूपे प्राहुर्भूते
 दर्शनस्यैवेनेसेवादिर्कं यथा उपयुक्तं तथा चरित्रश्रवणादिकं नोपयुक्तम् इति निमित्त्य चरित्र-
 सम्बन्धं रूपसम्पत्तिं सङ्क्षेपेण शुक्र आहैत्यर्थः । इति कठिनांशविवेचनम् ।

नोपयुक्तं विनिश्चित्य सङ्क्षेपेणाऽऽह तं बुधः ।
 अग्रे विस्तारकथनं निरोधार्थं भविष्यति ॥१७५॥
 वस्तुतः सकला भक्तिः पुष्टावेवोपयुज्यते ।
 पुष्टौ रूपं पराकाष्ठा तेनान्ते रूपवर्णनम् ॥१७६॥
 क्रियाशक्तिर्ज्ञानशक्तिलौकिकं वैदिकं तथा ।
 मनःसङ्गप्रसिद्धयर्थं सङ्क्षेपेण ह्ययं जगौ ॥१७७॥

इति श्रीवल्हभवीक्षितविरचिते श्रीभागवततत्त्वटीपनिबन्धे
 नवमस्कन्धविवरणे दशमं प्रकरणम् ।

तामिति रूपलाप । तर्क्षप्रिमस्कन्धे किमिति तत्कथनमत आहुः--अग्रे इत्यादि ।
 तथा चाहन्तादितो मोक्तव्यानां तावदेवापेक्षितमित्यतोऽत्र न विस्तारितम् । निरो-
 द्धव्यानां तु तदपेक्षितमतस्तत्र तथेत्यर्थः । ननु ये निरोद्धव्या अवतारकालीनास्ते-
 ऽप्यत्रोक्ता इति मोक्तव्यार्थमेव रूपवर्णनमित्युक्तमित्यरुच्या सिद्धान्तमाहुः--वस्तुत
 इत्यादि । पुष्टाविति जीवार्थेऽनुग्रहे । नन्वेवं सति सङ्क्षेपेणापि चरित्रं कृत
 उच्यत इत्यत आहुः--क्रियेत्यादि । तथा च राजाधिकारपरासार्थं तदित्यर्थः ।
 एवं प्रकरणं ह्यतीयं विचारितम् ॥

इति श्रीमत्पञ्चरत्नैः पुरुषोत्तमस्य
 दशैता नवमस्कन्धनिबन्ध-
 योजना सम्पूर्णा ॥



श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

अथ तत्त्वार्थदीपनिबन्धे श्रीभागवतार्थप्रकरणे
दशमस्कन्धविवरणम् ।

चतुर्विंशतिधा भिन्ना भक्तिरुक्ताऽतिदुर्लभा ।
 सप्ताशीतिरथाध्याया निरोधे दशमे मताः ॥११॥
 नवत्यध्यायसन्दर्भो जातः कृत्रिमभावतः ।

श्रीबालकृष्णाय नमः ।

अथ दशमस्कन्धनिबन्धस्य योजना ।

अथ दशमस्कन्धार्थं निबन्धन्तो विशेषबोधनाय व्यापाररूपं तदर्थ-
 मनुवदन्तः पूर्वस्कन्धे यथासङ्ख्या सतात्पर्या, तथात्रापीत्याशयेनाध्यायसङ्ख्याकथन-
 पूर्वकं दशमार्थमाहुः--चतुर्विंशतीत्यादि । यद्यपि पूर्वस्कन्धे भगवदवतारस्य तदनु-
 वर्तिनां चानुचरितमर्थस्तथापि प्रलयलीलासाक्षात्फलोपहितस्यैव तस्यार्थता । फले
 चाहन्तादिप्रलयरूपं न परार्थानुग्रहरूपमर्कं विनेति, सा च भगवदधीनेत्यतिदुर्लभा ।
 अतः सेव तन्मुखेनोक्ता । अत्र चार्थो निरोधः स च संस्थाविशेषरूपः, संस्था च
 'नैमित्तिकः प्राकृतिको नित्य आत्यन्तिको लयः, संस्येति कविभिः प्रोक्तञ्चतुर्दाऽस्य
 स्वभावतः' इति द्वादशस्कन्धे लक्षिता । तदर्थस्तु निमित्तादिस्वभावजन्यञ्चतुर्विधः
 प्रलयः संस्येति । अत्र तु निमित्तादिजनकभगवद्धोल्लाजन्यः संयातप्रलयरूपो
 विशेषो निरोधत्वेन विवक्षित इति दशमे तस्मिन्वक्तव्येऽथ भिन्नप्रकरणेणाध्यायाः
 सप्ताशीतिर्मता देहशक्तयो द्वासप्ततिनादीरुपा भगवतः शक्तयश्चादयो द्वादशैवं
 चतुरशीतिः, शयनं जाग्रदादिभेदेन त्रिभेदेन सप्ताशीतिर्विचारिता इत्यर्थः ॥१॥
 नन्वत्र सन्दर्भो नवतीनां दृश्यत इति कथं सप्ताशीतिरित्यत
 आहुः--नयतीत्यादि । तथा च त्रयः कृत्रिमा इति तेऽत्र न सङ्गृह्यन्त इति तथेत्यर्थः ।

केषाञ्चिदत्र सन्वेहः स्कन्धार्थे प्रकटो महान् ॥२॥
 तन्निवृत्त्यर्थमधुना सर्वनिर्णयपूर्वकम् ।
 दशमार्थः प्रकरणाध्यायार्थश्च विचार्यते ॥३॥
 नवलक्षणलक्ष्यो हि कृष्णस्तस्य निरूपणात् ।
 आश्रयः क्रमभावित्वाञ्चिरोधो वेति संशयः ॥४॥
 लीलानिर्धारको धर्मः क्रममात्रं तु दुर्लभम् ।
 यथाकथञ्चिच्छ्रवणं सफलत्वाय कल्पते ॥५॥
 निरोधः प्रलयो लोके प्रसिद्धः प्रकृते न सः ।
 प्रतीतो द्वादशे चैव महत्वाच्छुद्धलीलया ॥६॥
 सहितो ह्याश्रयः स्कन्धे प्रतिपाद्य इतीति चेत् ।
 न हि सापेक्षरूपस्य प्रथमं मुनिरूपणम् ॥७॥
 नवलक्षणसापेक्षो ह्याश्रयो रूप्यते कथम् ।

ते च सुबोधिन्यां स्फुटाः । अत्र दशमस्कन्धार्थः श्रीभरमते आश्रयो, बोधदेवमते
 दुष्टभृशुकूपलयस्तदुभयं न व्याससम्मतमिति दूषणीयं तेनाहुः-केषाञ्चिदित्यादि-
 सार्द्धम् ॥२॥३॥४॥ श्रीभरमतेन सन्वेहे तन्मते बाहुः-लीलेत्यादिसादेवयेण ।
 अत्र सन्वेहस्तु स्फुटः । पूर्वपक्षे तु यथा हान्निहोत्रं जुहोति यवार्गुं पचतीत्यग्नि-
 होत्रहोमः पूर्वमुक्तोऽपि नाद्रियते, आर्धकमाच्छान्दस्य क्रमे दुर्बलत्वात्, तथात्रापि
 लीला येन निरुद्धयिते स एवार्थः । न च क्रमत्यागे श्रवणफलाभावः शङ्क्यः । ऊत्तिम-
 न्वन्तरयोरिवाऽत्रापि वैपरीत्ये दोषाभावस्य शक्यवचनत्वात् । न च विरोधाङ्गीकारे
 किं बाधकमिति शङ्क्यम्, लोकप्रसिद्धतदर्थप्रतीतेरेव बाधकत्वात् । इतिर्वैती ।
 अतो हेतोर्द्वादशार्थो निरोधो, दशमार्थः शुद्धलीलया गुणातीतया सहितो धर्मो
 आश्रय इति चेदित्यर्थः । एतद्ब्रूपयन्ति-न ह्रीत्यादिचतुर्भिः ॥५॥६॥७॥

कथं सापेक्षत्वावगम इत्यत आहुः-नवेत्यादि । ननु यथा स्वरूपलक्षणैना-
 वगते ब्रह्मणि ततः कार्यलक्षणं पश्चादग्निमपपाठके श्राव्यते, यथा च लोके समवायि-
 कारणत्वेनावगते द्रव्ये गुणाश्रयस्तुच्यते तथाऽत्रापि सप्तभिन्नति भगवत्यग्रे द्वयं

अग्रे लीलाहयकथा फलसिद्धौ मृषा भवेत् ॥८॥
 पूर्वोत्तरस्कन्धयोश्च नश्येत्कारणकार्यता ।
 अर्थस्त्वेकादशेऽप्यस्ति क्रमश्च स्वीकृतो भवेत् ॥९॥
 चरित्रं दशमे मुख्यं रूपं पूर्वत्र वर्णितम् ।
 निरोधार्थं तथा भक्तिसिद्धयर्थं च हरिर्बभौ ॥१०॥
 आश्रयो यादृशो ह्यत्र तदर्थं न बभूव ह ।
 आश्रयो यादृशो ह्यत्र स वाच्यो द्वादशे स्फुटः ॥११॥
 भूमारस्य निरोधो वा तत्कर्तुर्वा न सन्मतः ।
 आद्यन्तयोरिहाभावावमुक्तावप्यनुवृत्तितः ॥१२॥

परिचायनार्थमुच्यत इति चेतत्राहुः-अग्र इत्यादि । तथा च येषं स्वाद्यथासः
 सप्तैव लक्षणानि वेदेत्, पश्चात्तदुक्तौ बीजाभावात् । न च राजमश्रुकृतः प्रतिबन्ध
 एव बीजमितिवाच्यम् । यत्रवेशात् स्त्रीभावस्तदुत्तरत्राभिधास्य इत्यादिलिङ्गेन
 ग्रन्थानुक्रमस्य पूर्वमेव कृतत्वावगमात् ॥८॥ अथ श्रुताविवात्रापि न दोष इति
 चेन्नेत्याहुः-पूर्वेत्यादि । मध्य आश्रयेण विच्छेदेऽग्रे हेतुहेतुमद्भावगमकस्याभावात्स
 नश्येदतोऽत्र श्रोतन्यायो न वक्तुं शक्य इत्यर्थः । नन्वर्थात्तदुक्तौ भगवानत्र प्रतीयत
 इति तस्य का गतिरित्यत आहुः-अर्थस्तिवत्यादि । तथा चाश्रयस्यार्थेत्वाङ्गीकारे-
 ऽतिव्याप्तिसाधेयः स्कन्धैव्यापत्तिर्वा स्यादतस्तन्मतेमसङ्गतमित्यर्थः । तन्मतमपराकृत्य
 सिद्धान्त उपपत्तिमाहुः क्रम इत्यादि । चकाराङ्गीला सङ्गते । तदाहुः--चरित्र-
 भित्यादि । मुख्यमिति । तथा च यथा आलोको धर्मैर्विच्छन्न एव धर्मिप्रभिति-
 जनवस्तया प्रलयलीलाप्यावरणं भजन्ती भगवत्यमिति जनयतीति नवमादित्रयैऽपि
 *रूपसम्बन्ध इति न तस्य मुख्यत्वं किन्तु चरित्रस्यैवेत्यर्थः । चकारान्मुक्तिसिद्धयर्थेऽत्र
 ॥९॥१०॥ ननु द्वादशे प्रलय एव स्फुटो नाश्रय इति सोऽनिरूपित एव
 तिष्ठेदित्यत आहुः-आश्रय इत्यादि ॥

एवं श्रीधरीयं मते निरस्य बोधदेवीयं निरस्यन्ति-भूमारस्ये-
 त्यादि । तत्कर्तुरिति दुष्टभृशुकूपसमूहस्य । असमन्तत्वे हेतुमाहुः आदि इत्यादि ।
 आद्यन्तयोरितिप्रकरणयोः । नन्वाद्यस्योपाद्वातत्वेन तत्र तदभावेऽप्यदोषात् ।
 अन्ते च हृकवपस्य सत्त्वात्त्र दोष इति चेतत्राहुः-मुक्तावित्यादि । तथा च हृकस्य
 * त्रिष्वपि रूपसम्बन्धः । परं नवमे रूपं मुख्यम्, दशमे चरित्रमेकादशे ज्ञानमिति विवेकः ।

लक्षणस्याप्रवेशश्च लीलाधिक्यं तथा भवेत् ।
 तदर्थं जन्मकथनं पृथास्तोत्रविरोधि हि ॥१३॥
 पूर्वोत्तरस्कन्धयोश्च नश्येत्कारणकार्यता ।
 निरोधोस्यानुशयनं प्रपञ्चे क्रीडनं हरेः ॥१४॥
 शक्तिभिर्दुर्विभाव्याभिः कृष्णस्येति हि लक्षणम् ।
 निरोधो यौगिकश्चात्र रोधनात्मा सतां मतः ॥१५॥
 भक्ताः पूर्वत्र निर्दिष्टास्ते रोद्धव्या विमुक्तये ।
 कृष्णे निरुद्धकरणाद्भक्ता मुक्ता भवन्ति हि ॥१६॥
 भक्तेश्च शुद्धयतासिद्धये प्रपञ्चाद्विनवारणम् ।

भूभारकर्तृत्वप्रवेशेनाव्याप्तिपरिहारस्यासङ्गतत्वेऽपि तुल्यत्वं दुर्जनन्यायेन तदङ्गीकारे-
 ऽप्यग्रिमस्कन्धेऽतिव्याप्तिस्तु दुर्वरित्यर्थः ॥१२॥

ननु दुष्टभूभङ्गनिरोधस्य विवक्षितत्वेन नातिव्याप्तिरित्यत आहुः लक्षणेत्यादि ।
 निरोधस्य लक्षणं हि शक्तिशयनानन्तरशयनात्मकं तच्च न दुष्टभूभङ्गनिरोधोत्तरं दृश्यत इति
 मूलोकलक्षणासम्भवः । किञ्च, 'अत्र सर्गो विसर्ग' इत्यत्र दशलीलाः प्रकान्ताः
 प्रत्येकं लक्षितायातो लक्षिता एवात्राभिप्रेतास्तास्वलक्षिताया अस्पास्तत्र (अ)प्रवेशे
 लीलाधिक्यं भवेत्, तत उक्तवाक्यविरोधेऽर्थेऽर्थः । किञ्च, 'तथा परमईसानां
 मुनीनाममलात्मनाम् । भक्तियोगिभित्तानार्थे'मित्यत्र प्रथमस्कन्धे पृथास्तोत्रेऽवतार-
 प्रयोजनमुक्तम् । भूभारहरणार्थं जन्मकथने तद्दिरोधः । किञ्च, द्वितीयस्कन्धविद्युती
 नवानां लीलानिरूपकाणां स्कन्धानां कार्यकारणभाव उपपादितस्तेष्वत्र पूर्वस्कन्धे
 भक्तिरुक्ता, अत्र च निरोध इत्यादिनोक्तरीतिको यौगिक एव निरोधो ग्राह्यः, रू-
 द्धस्योक्तलक्षणरहितत्वात् । अतोऽपि न पूर्वोक्तो निरोधः शक्यवचनः । किञ्च, अग्रिमे
 द्वितीयेऽप्यत्र निरोधस्तथा च भक्ता एव मोचनीया इति सन्दर्शनेन मूक्यर्थमत्र
 भक्ता एव निरोद्धव्या इत्यायाति, ते च भगवति निरुद्धकरणा एव मुच्यन्ते कृष्ण-
 निरोधश्च भक्तेः शुद्धया, सा चेतरसङ्गराहित्येन, तत्र प्रपञ्चविस्मृतौ तस्माद्देवतोरत्र
 प्रपञ्चाद्विरुद्धमेवात्र निरूपणम्, चिन्निवारणमिति वा पाठः । तथा भगवत्यासक्तिरपि
 कारणनिरोधार्थमेवेत्यत्र न संशयः । सर्वत्रैव स्कन्धे तन्निरूपणस्यैव दर्शनात् । तस्मात्
 भूभारस्य तत्कर्तृत्वां निरोधो वात्र विवक्षित इत्यर्थः ॥१३॥१४॥ सिद्धान्तमाहुर्द्विभ्यां

आसक्तिरात्मनि तथा निरोधार्थं न संशयः ॥१७॥
 प्रपञ्चविस्मृतिस्तस्मात् कृष्णासक्तिश्च वर्णयते ।
 'शय्यासनाटनालाप'श्लोके फलितमरिरीतम् ॥१८॥
 रूपान्तरं तु नटवत्स्वीकृत्य त्रिविधान्निजान् ।
 प्रपञ्चाभावकरणादुज्जहरेति निश्चयः ॥१९॥
 समुदायो जन्मवाची क्रीडायुक्तस्य वै हरेः ।
 प्रपञ्चविस्मृतिसक्तिर्भक्तानां चापि योगतः ॥२०॥

प्रपञ्चेत्यादिभ्याम् । तथा चायमर्थः । अत्र भगवत्क्रीडनं कारणम्, तेन कृष्णासक्तिस्तथा
 प्रपञ्चविस्मृतिरिति द्वयं वा विशिष्टं वा व्यापारः, स एव 'शय्यासनाटनालापक्रीडा-
 सनाशनादिषु, न विदुः सन्तमात्मानं कृष्णयः कृष्णचेतस' इत्यन्ते निगम्यते ।
 तदुत्तरं प्रपञ्चाभावः फलं, स च 'तीर्थं चक्रं नृपोन'मित्यनेन निगम्यते, एवं तत्त-
 न्यकरणेऽपि ज्ञातव्यम् । अत्र भक्तानां त्रैगुण्यव्याप्तत्वात्तत्त्वभावपरावर्त्तने तेषां
 क्लेशात्त्वस्य च श्रमवाहुल्याच्च क्लिष्टकर्मता स्यादिति तदभाववाय मायया नटवद्गणान्-
 तस्य मानुषभावस्य स्वीकरणम् । तेन तेषां प्रपञ्चविलयात्तत उद्धारः इत्येवं प्रकारेण
 भक्तप्रपञ्चप्रलय एव स्कन्धार्थ इति निश्चय इत्यर्थः । नन्वेतस्यापि निरोधस्य
 स्कन्धार्थत्वे प्रथमे प्रकरणेऽव्याप्तिर्द्वारा क्रीडायास्तस्मिन्शभा-
 नादित्याकाङ्क्षायामाहुः—समुदाय इत्यादि । तथाऽपि क्रीडाविशेषत्वाच्चत्रापि शक्ति-
 साक्षाच्च समुदायशक्त्या तस्यापि ग्रहणाकाङ्क्ष्याप्तिरित्यर्थः । ननु कारणस्य स्कन्धार्थः
 समुदायशक्त्या फलरूपः प्रकरणाद्यनुगृहीतया तया लभ्यते, परं व्यापारलाभोऽत्र
 कथमित्याकाङ्क्षायामाहुः—प्रपञ्चेत्यादि ॥१८॥१९॥२०॥ एवं साबौनवि-
 शतिभिः स्कन्धार्थो निर्णीतः ।

का. २० निबन्धकठिनानांशविवेचनम् ।

दशमस्कन्धार्थनिर्णये समुदायो जन्मवाचीत्यादि, पूर्वकारिकायां नटवद्
 रूपान्तरं जन्मापरपर्यायं स्वीकृत्य त्रिविधानां भक्तानां प्रपञ्च निवार्य निरोधात्मकमुद्धारं
 करोतीति निश्चितो दशमस्कन्धार्थ उक्तः, तथा सत्यवतारसामयिकानामेव निरोधो भविष्यति
 नानवतारसामयिकानां तदानां रूपान्तरस्वीकरणत्वेन जन्मभावादित्याकाङ्क्षायामाहुः समुदायो
 जन्मवाचीत्येकेन, भगवान् हि सर्वभक्तसम्बन्धिनीः सर्वाः लीलाः कुर्वन् सदा विराजते,
 न तु तस्य स्वाभाविकं जन्मास्ति, नापि लीलानां कादाचित्कस्वमितिद्धान्तात् सर्वक्री-
 डायुक्तस्य हरेः सर्वलोकदर्शनाय समुदाय एकीभावे बहिर्यः सोवतारसमये जन्मोच्यते,

प्रक्रियापञ्चकं ह्यत्र जन्मार्थं प्रथमा मता ।
 तामसानां तु भक्तानमुद्धृत्यै तु ततः परा ॥२१॥
 राजसानां तृतीया तु चतुर्थी सार्विकी मता ।
 अन्तर्याम्यधिदैवादिन्यायेनात्रापि वै हरेः ॥२२॥
 भगस्य व्यपदेशः स्यादतस्तस्य निवृत्तये ।
 भगस्य सहजत्वाय पञ्चमी प्रक्रिया मता ॥२३॥
 चतुर्भिश्च तथा तत्त्वैस्तत्त्वैर्वैशतिभिस्तथा ।
 एकाधिकैस्तथा षड्भिरध्यायैः क्रमशो मताः ॥२४॥
 चतुर्भिर्हिर्जातस्तेनाध्यायचतुष्टयम् ।
 प्रथमे वासुदेवोऽभूद्वसुदेवहृदि स्थितः ॥२५॥
 मृत्युवारणसामर्थ्यमन्यथा न भवेत् क्वचित् ।

अतः परं त्रिभिः प्रकरणाथै विभजन्तस्तदर्थमप्याहुः-प्रक्रिये-
 त्यादि । प्रथमप्रकरणेऽध्यायविभागक्रमेण तेषामर्थं सार्द्धैः पञ्चदशभि-
 राहुः-चतुरित्यादि । ननु जन्म तृतीय एव दृश्यत इति कथं चतुर्भिर्जन्म्यावगन्तुं
 शक्यमित्यत उपपादयन्ति-प्रथम इत्यादि । 'यत्सत्सगुणं स्वच्छम्,' 'सत्त्वं विशुद्धं
 वसुदेवशब्दित'मित्यादिषु शुद्धस्य चित्तस्य सत्तस्य च वासुदेवाविर्भावस्थानलक्षणानु-
 धृदीत्युक्तम् । स्थितोऽभूदिति अवतारैः । अवतारोऽत्र मूलस्थानादागमनम्, न
 तल्लौकिकतजसः सङ्क्रमणमात्रमिति कार्यतः स्फुटीभवित्यति । स्थितौ गमकमाहुः-
 स्तित्वित्यादि ।

तादृशे आसक्त्या तदानीन्तनानां यथा प्रपञ्चविस्फोटोद्धारः, एवमनवतारसमये यस्य
 भक्तस्य निरोधशक्तिरिषितस्तदुदये तस्यैव दर्शनार्थं सर्वक्रीडायुक्तस्य हरेः समुद्रायो जन्म
 वक्तव्यम्, ततो हृदि प्रादुर्भूतरूपस्यैव सर्वलीलायुतस्य यदा निरन्तरचिन्तनध्यानादिना
 योगारूढत्वम्, तदा तस्य रूपस्य समुद्रायो भक्तेन सहैकीभवनं, स एव प्रपञ्चविस्फुटि-
 पूर्वकभगवदासक्तिरूपो निरोध उच्यते, तथा च निरुक्तसायामनेकैकविषयवह्लतो दर्शने
 च बाह्याभ्यन्तरकृतशैव विशेषवतारानवतारशक्त्या नामोपि कश्चिदिति । तृतीयस्कन्धो
 शङ्कालेशः, एवं सति भगवतोऽन्यलीलावन् जन्माप्येका लीला, सापि निलीयेति जन्माष्ट्यां
 तदभिनयः सूपपन्न एवेतिशेषम् । इति निबन्धकठिनानुश्रविवेचनम् ।

सङ्कर्षणो द्वितीये तु स्फुटो वैत्यवधाय हि ॥२६॥
 तथा तृतीये प्रद्युम्नश्चतुर्थो तुर्य उच्यते ।
 न निबद्धो यतः कैश्चिदतः सर्वे विमोचिताः ॥२७॥
 धर्मरक्षार्थहेतुत्तयै धर्मवाधश्च वर्णयते ।
 वसुदेवादेवकीतो मथुरातश्च गोकुलात् ॥२८॥
 प्रादुर्भूतश्चतुर्भूतिर्भगवान्नाऽत्र संज्ञयः ।
 रूपान्तरस्वीकरणमध्यायत्रितयेन हि ॥२९॥
 नटभावश्चतुर्थेन हेतुरायै निरूपितः ।
 त्रिविधानां त्रिधा दुःखं हेतुर्जन्मनि वै हरेः ॥३०॥

कश्चिदिति । बुद्धौ क्रियायां च, तथा च फलोपहिताबुद्धिः क्रिया च तदवगमिके-
 त्यर्थः । तथेति वंशरूपकार्यार्थम् ॥२१॥२२॥२३॥२४॥२५॥२६॥२७॥

विमोचनं रूपान्तराणां च सम्भवतीत्यैकान्तिकं तद्वमकमाहुः-धर्मेत्यादि ।
 तथा चैतद्दर्शनाश्रिमोचनमपि तत्कार्यत्वेन ज्ञातव्यमित्यर्थः । नन्वेवं ततस्तत्र
 चतुर्णां भवनतः प्राकटयन्, तथापि बहिः प्राकटयं तु रूपद्वयेनैव दृश्यत इति
 चतुर्भूतिरंको हरिर्बहिः प्रकट इति कथमापातीत्याकाङ्क्षायानाहुः-वसुदेवादित्यादि ।
 यो हृदि स्थितोऽभूत्स एव गर्भसङ्कर्षणोत्तरं कल्पयोगोलकन्यायेन
 श्रीवसुदेवध्यातदेवक्यां तत आविष्टस्तयोरेको बलभद्रो वभूवेतिवाक्यात्कृष्णकेसो
 देवकीतः छष्टिहेतुषु सवेतत्त्वेषु यः पविष्टः सः प्रद्युम्नो मथुरातो यः कैश्चिदपि न
 निरुद्धः स गोकुलात्, एवं मकारेण चतुर्भूतिर्विः स सर्वत एकीभूय प्रादुर्भूतः स
 भगवानेव, 'वसुदेवस्यै साक्षाद् भगवान् पुरुषः पर' इतिवाक्यात्संशयो नेत्यर्थः ।
 एतेषु पुरुषोत्तमस्तु प्रकट एव, न तु तस्य जन्मेति सूचितम् । अत एव 'शिश्रन्त्यो
 जन्मुज्जयु'रित्येव भक्तानामजातज्ञानं वक्ष्यते ननुचिन्त्याम् । तृतीयस्कन्धो
 च 'कृष्णद्युमणी'त्येव 'स्वसान्तरूपे'त्येव च श्रीमद्बुद्धैरपि तथैवोक्तम् ॥२८॥

एवं सार्द्धं चतुर्भिराद्येऽध्यायचतुष्टयस्य तात्पर्यमुक्तं तस्मिन्भवान्तर-
 प्रकरणाद्वयं पादोनेनाहुः-रूपान्तरेत्यादि । आद्याः अध्यायार्थमाहुः सपादिक्रिभिः-हेतु-
 रित्यादि । त्रिविधानामिति । सात्त्विकादिभेदेन त्रिविधानाप । तद्गतमिति । यत्कनि-

भूमिर्माता तथा चाऽन्ये दुःखभाजो हरेः प्रियाः ।
 कंसादेः कालतोऽज्ञानात्रिधा दुःखं तु तद्गतम् ॥३१॥
 कालजं प्रभुसम्बन्धात्कंसजं हेतुवारणात् ।
 वाक्यैरज्ञानसम्भूतं शक्यं तन्नितयं हरेः ॥३२॥
 प्रथेन सहिताः पूर्वं चतस्रः प्रक्रिया मताः ।
 उद्यमश्च तथा प्रोक्तः सामग्रीबल उच्यते ॥३३॥
 मायाशक्तिः स्वविहारे रूपं स्वस्य तृतीयकम् ।
 सम्मतिः सर्वदेवानां चतुर्थ्यापि निरूपिता ॥३४॥
 रूपसामर्थ्यबोधाय कंसज्ञानादिरुच्यते ।
 चतुर्धा स्वीकृतिश्चापि काले मूलस्वरूपतः ॥३५॥

ष्टम् । ननु भूम्युद्यमदर्शनाद्बुद्धुःखमेवावतारहेतुत्वेन वक्तव्यं न तन्बुद्धुःखमपि तथात्वेन वक्तुं युक्तं गमकाभावादित्यत आहुः--कालजमित्यादि । कालो द्वापरकलिसन्धिरूप-
 स्तज्जमितं भूमिदुःखं प्रभुसम्बन्धात् 'पुरैव पुंसावधृतो धराज्वर' इत्यनेनावतारहेतुतया
 गम्यते, कंसजं मातृदुःखं हेतुवारणात् । 'अस्मास्ता' मित्याकाशवाणीसिद्धो योऽष्टमगर्भ-
 रूपो हेतुस्तस्य न चास्यास्त इत्यनेन वारणाद्हेतुतया गम्यते । अज्ञानसम्भूतं कंस-
 योःक्यजमितमन्येषां दुःखं वाक्यैर्निरदोकेजितमिति तदपि हेतुतया गम्यते । एतेषां
 हेतुतावच्छेदकं रूपमाहुः--शक्यमिति निवर्तितुं शक्यम् । तथा च तन्निष्ठस्यै-
 मवतार इति त्रयाणां निवर्त्यत्वेन हेतुता पूर्वार्थाधार्यः । यथा दुःखस्यावतारहेतुता
 तथा प्रथस्य कथनहेतुतेतिचतुःप्रकरणबोधितो हेतुरेव प्रथमाध्यायार्थ इत्यर्थः ॥
 ॥२९॥३०॥३१॥३२॥

द्वितीयस्यार्थसुखमं पूर्ववद् द्वि-अध्यामाहुः--उद्यम इत्यादि, तथेति चतुर्धा ।
 स्वविहार इति सामग्रीत्यनुषज्यते । रूपमित्यादि 'ततो जगन्महलमच्युतांश'-
 मित्यनेनोक्तं स्वरूपं व्यूहात्मकतृतीयकं विहारकरणभूतम् । चतुर्थीति । भय-
 निवारकतया तथेति चतुर्धा सोऽपोत्यर्थः ॥३३॥ कंसज्ञानादिकं रूपस्यैव शेष इति
 न तेन प्रक्रियाधिक्यमित्याशयेनाहुः--रूपेत्यादि ॥

अतः परं साद्वेन रूपान्तरस्वीकरणं तृतीये चतुर्धाच्यत इत्याहुः--
 चतुर्धा स्वीकृतिरित्यादि । काले मूलस्वरूपत इति । रूपान्तरत्वज्ञानस्य रूप-

वसुदेवस्य सम्मत्या द्वितीयाऽपि निरूपिता ।
 देवक्याश्च तृतीयाऽपि चतुर्धा वाक्यनिर्गमैः ॥३६॥
 चतुर्धा नटभावोऽपि देवक्या मायया तथा ।
 पुनः कंसभयेनाऽपि वसुदेवेन च स्थितिः ॥३७॥
 कर्मणो हेतुसिद्धयर्थं शोपोऽत्र विनिरूप्यते ।
 अन्यथा नटलीलैव कंसाद्बुखं निवारयेत् ॥३८॥
 तावदेवाऽत्र नाढ्यं हि यावल्लीलां न बांधते ।
 अतो नाढ्यस्य सङ्कोचो नाढ्याध्याये निरूपितः ॥३९॥
 एवं चतुर्भिरध्यायैर्नटवत्प्राकृतोऽभवत् ।

ज्ञानसापेक्षतया पूर्ववदकल्पयामिति काले अथ सर्वेगुणेत्याद्युक्ते निरीये मूल-
 स्वरूपेण सा दृश्यत इत्यर्थः । देवक्याश्चेति सम्मत्यैःपुनःपङ्कः । एवं तिसृभिर्मूलरूपं
 निर्धार्य चतुर्थ्यां सोच्यत इत्यर्थः ॥३४॥३५॥३६॥

साद्वेन स्त्रिभिश्चतुर्धाध्यायार्थमाहुः--चतुर्धा नटेत्यादि । ननु मायोक्ति-
 पर्यन्तमेव नटभावो दृश्यते न त्वेऽपीति कथं तस्य चाहुर्विच्यमित्यत आहुः--
 पुनरित्यादि । पलायने पुत्रापसारणज्ञानाद् शूदे स्थितो च तदज्ञानाद्बुद्धुदेवेन कृता
 स्थितिरपि तृतीयो नटभाव इत्यर्थः । 'तस्यां रात्र्यां व्यतीतायामि'त्यादिनोक्तं चतुर्थं
 तमाहुः--कर्मण इत्यादि । यदि कंसो नैवं कुर्यात्तदा वसुदेवाद्यपराधस्य ताभ्यां क्षमापि-
 तत्वान्न शीघ्रं वश्यो भवेदतस्तत्कर्मणो वधप्रयो जकलसिद्धयर्थं तदाहुः--अन्यथेत्यादि ।
 तथा च 'अनयो नयसङ्काश' इतिषद् ब्रह्महिंसादेर्हितत्वभानं शेषश्चतुर्धा भगवत्कृतो
 नटभावो निरूप्यत इतोहाऽपि तत्त्वार इति तथेत्यर्थः । नन्वेवं करणस्य किं प्रयो-
 जनमत आहुः--तावदित्यादि । तथा च भगवान् हि नानालीलाकरणाद्यर्थं प्रवक्तो
 न तु नाढ्याथम् । अत एव प्रकारेण तत्सङ्कोचनमेव प्रयोजनमित्यर्थः ॥३७॥३८॥
 ॥३९॥ सिद्धं प्रकरणार्थमाहुः--एवमित्यादि । एवं साद्वेनः पञ्चदशभिः
 प्रथमप्रकरणं विचारितम् ।

इतिजन्मप्रकरणम् ।

अतस्तामसभक्तानामष्टाविंशतिभिः क्रमात् ॥४०॥
 मानमेयैः साधनैश्च फलैश्चापि पृथक् पृथक् ।
 भगवान् सप्तधा लीलां कुर्वन्नुद्धारकः परः ॥४१॥
 पुरुषोत्तमरूपेण यच्चकार तदुच्यते ।
 तत्र प्रमाणभावेन सप्ताध्यायी निरूप्यते ॥४२॥
 भगवच्चरिते यस्मात्प्रमाणमिह मृग्यते ।
 अज्ञानमन्यथाज्ञानं प्रमाणं भक्तिहेतुकम् ॥४३॥
 पुरुषाणामत्र निष्ठा स्त्रीणां मेये ततः परे ।
 साधनं सकलानां च फलं स्त्रीषु प्रतिष्ठितम् ॥४४॥

अतः परं ब्राह्मसतिभिर्द्वितीयं तामसप्रकरणं विचारयन्तास्त-
 स्याष्टाविंशत्याध्यायात्मकस्यावान्तराणि चत्वारि प्रकरणानि सप्तसप्ता-
 ध्यायात्मकानीति सार्द्धनाहुः--अत इत्यादि अतः परम् ॥४१॥ अत्रत्या
 लीला न व्युद्धारूपेणैति बोधनायाहुः--पुरुषोत्तमरूपेणैति । तथा च शकृत्भावं
 नदवत्कृत्वा तथा लीलां कुर्वन् तामसभक्तोद्धारकः परः पुरुषोत्तमः स्वेन रूपेण
 यत्कृतवांस्तदत्र प्रकरण उच्यते इत्यर्थः । एतेनास्य प्रकरणस्योपजीवकत्वं पूर्वेण सह
 सङ्गतिरित्यप्युक्तम् । एतेनेयं न बाधुदेवलीलेति बोधितम् ।

अष्टाद्यप्रकरणार्थमाहुः--तत्रेत्यादि । कथमस्य प्रमाणप्रकरणत्व-
 मित्याकाङ्क्षायामाहुः--भगवदित्यादि । तथाऽत्र भगवच्चरित्रे प्रत्यध्यायं प्रमाणान्ते-
 षणस्यैव दर्शनादस्य प्रमाणप्रकरणत्वमित्यर्थः । ननु भगवता क्रियमाणस्य तस्य
 चरित्रस्य तत्र तत्र स्थितैवगम्भयमानत्वात् कस्य प्रमाणस्य सामोर्णं येनास्य प्रकरणस्य
 तदाख्येत्याकाङ्क्षायामाहुः--अज्ञानमित्यादि । प्रमाणमिति । भाषे व्युद् । तथा च
 भक्तिमयोर्जितं यदज्ञानमन्यथाज्ञानं च तदेवावाचितत्वात्प्रमाणं तदत्र तैस्तेस्तेषां तेषां
 भक्तानां चात्रान्विष्यत इति तदाख्येत्यर्थः ॥४२॥४३॥ ननु तामसप्रकरणे तामसानां
 भक्तानां भगवदासकिविशिष्टा प्रपञ्चविरसूतित्वेक्तव्या । तत्रावान्तरविभागास्य किं
 प्रयो मनमत आहुः--पुरुषाणामित्यादि । निष्ठेति विवक्षिता आसक्तिः, मेये फले
 च स्त्रियो भिक्षुविधाः । तथा च निरोध्यमेदात्मकरणमेद इति निरोध्यस्वरूपादिवोधनं
 प्रयोजनमित्यर्थः ॥४४॥

अन्यथापि गतः कृष्ण उत्सवान् कुरुतेऽखिलान् ।
 अत ऐश्वर्यभावोऽत्र प्रथमे विनिरूपितः ॥४५॥
 पूतनामारणं वीर्यं यशस्तु शकटादिनुत् ।
 शकटं तामसं प्रोक्तं तृणावर्त्तस्तु राजसः ॥४६॥
 लालनं पुत्रभावेन सात्त्विकं मोहनं तथा ।
 श्रीस्तु लीला नामयुक्ता ज्ञानं वन्धनबोधनम् ॥४७॥
 यमलार्जुनयोर्मुक्तिर्वैराग्यं भगवान् परः ।
 समाध्यायास्तु यत्रैव तत्रैवं बुध्यतां क्रमः ॥४८॥
 अमेये मेयबुद्धिर्हि प्रमाणमिति केचन ।
 अष्टावत्र प्रमाणानि द्वयमेकत्र रूपितम् ॥४९॥

एवमवान्तरप्रकरणप्रयोजनमुक्त्वाऽध्यायार्थप्रयोजनकथनमुखेन सप्त-
 विधत्वं लीलानां स्फुटीकुर्वन्ति--अन्ययेत्यादि । शकटादिनुदित्यादि-
 पदेन तृणावर्त्तः । एकस्मिन्नध्याये लीलाचतुष्टयकथनं चतुर्विधानां
 निरोधयेत्याशयेनाहुः--शकटमित्यादि । अत्र तामसत्वं गुरुत्वात् । राजसत्वं
 चलत्वात् सात्त्विकत्वं ज्ञानपूर्वकत्वाद् बोध्यम् । सात्त्विकानामशास्त्रनिष्ठशास्त्र-
 निष्ठमेदेन द्वैध्यावद्दे लीले सात्त्विक्योः । यशस्तु आधारीत्कथायाकः सर्वैनालहादको
 विसर्पिगुणः सम्यक्त्वेन रूपेण वर्णनयोग्यं गुणक्रियादिपीष्कस्य वैति
 प्रथमस्तुबोधिर्न्या स्थितम् । तदत्र लीलाचतुष्टयेऽपि सिद्ध्यतीति चतस्रोऽपि
 तथेत्यर्थः । तथापदेन गरिमलीलापि सङ्गृह्यते तेन पञ्चाऽपि तथा । नामयुक्तेति ।
 नामकरणलीला तद्विमा रिङ्गणादिलीला च । एतासां श्रीलं सर्वापश्चिचारकत्वाद्
 बोध्यम्, तच्च गगोर्को स्फुटम् । वन्धनबोधनमिति । वन्धनं बोधनं यस्य
 ब्रह्मत्वज्ञानस्य तत्तथा ॥४५॥४७॥

पर इति अष्टिमाध्यायोक्तः । स्वान्त्येण लीलाकरणाचयेत्यर्थः । एवं
 क्रममश्रिमेष्वन्यदिशन्ति--ससेत्यादि । अत्र प्रमाणप्रकरणत्वं कैश्चिदन्याह्निक्रियते
 तदुच्यते--अमेय इत्यादि । अत्र यद्यप्यरुचिबीजं कण्ठतो नोक्तं तथाऽप्येतस्या
 बुद्धेः प्रकरणान्तरेपि दर्शनादतिव्याप्तिरेव तत्त्वेन बोद्धव्या । नन्वस्मिन् प्रकरणे
 अज्ञानान्यथाज्ञानरूपप्रमाणज्ञानान्त्येपणात्प्रमाणाख्याह्निकृता सा कथं निश्चयेत्या-
 काङ्क्षायां प्रमातृविचारेण निश्चयेत्याशयेन तानाहुः--अष्टावित्यादि । प्रमाणशब्दोऽ-

प्रथमो वसुदेवो हि द्वितीयो नन्द उच्यते ।
 बालास्त्रियस्तृतीया हि चतुर्थी गर्ग उच्यते ॥५०॥
 यज्ञोदा पञ्चमी प्रोक्ता षष्ठरूपाविहाऽर्जुनौ ।
 उपनन्दस्तु निर्दिष्टः सप्तमो धर्मिवोधकः ॥५१॥
 देहादोषधर्मं कृष्णो वारयामास चित्रधा ।
 आद्येन भगवन्मार्गं बाधकानि बहूनि हि ॥५२॥
 द्वितीये तदभावो हि कृष्णेनैव भवेदिति ।
 साधकः सकलार्थानां तृतीये विनिरूपितः ॥५३॥
 भक्तिप्रदश्चतुर्थे हि भक्तिवश्यस्ततः परः ।

बाधितज्ञाने वर्तेते बाधयोग्यव्यतिरिक्ते च, तत्सम्बन्धी यः प्रमाता प्रमाविषयः प्रमाकरणं च तत्सर्वं प्रमाणशब्देनोच्यते इति द्वितीयस्कन्धे 'अत्र प्रमाणं भगवान् परमेष्ठी यथात्मभूति'त्यस्य सुबोधिन्यां स्थितम् । तेनाऽत्र प्रमाणशब्देन ज्ञानं प्राक्ष्यम् । तत्कर्ममित्याकाङ्क्षयामाहुः--द्वयमेकत्र रूपितमिति । भगवद्दलीलारूपमज्ञानमन्यथाज्ञानं चेति द्वयमेकत्रैकस्मिन्नध्याये उक्तम् । तत्र एकस्य प्रमाणस्याधिक्याचान्यथाज्ञानव्यतिरिक्तं ॥४८॥४९॥। तद्दर्शयन्ति--प्रथमं इत्यादिना । अत्र प्रमातेत्यप्याहृत्य योजना, स हि स्वागमनविषयकाज्ञानं स्वपुत्रे भगवति श्रीनन्दस्यात्मपुत्रत्वेन ज्ञानमेव च तद्वाच्यैर्विचारितवानानस्तदेवान्निव्यते । एवं द्वितीये श्रीनन्दोऽपि 'नन्दः स्वपुत्रमादाये'त्यत्रोक्तं स्वपुत्रत्वमेव प्रमितवानिति तदेवाविचारितप्रमाणत्वेनाविष्यते । एवं तृतीयेऽपि शकटभङ्गस्य बालाः प्रमातारस्तृणावतैर्भङ्गस्य स्त्रियः । तत्रान्येषां 'न ते श्रद्धयि' इति 'हिंस्रः स्वपापेन निर्दिहसित' इति हेतुज्ञानेन तत्र प्रमाणस्यान्वेषणम् । चतुर्थेऽपि गर्गः प्रमाता श्रीनन्दनिष्ठे अज्ञानान्यथाज्ञाने एव प्रमितवानिति तपोरेवान्वेषणम् । तथा पञ्चमे श्रीयज्ञोदाऽपि स्वपुत्रत्वमेव प्रमितवती । षष्ठे यमलार्जुनावपि नलकूपराधवस्थायां बद्धोत्तरवल्गमेवाम्प्रजन्यती नन्दपुत्रत्वमेव प्रमितवन्नाविति ज्ञायते । सप्तम उपनन्दस्वसावन्यतमो वापीति वदन् लीकित्वालस्यैव प्रमाता स्फुट एवेतिप्रमातृविचारणं तन्निश्चय इत्यर्थः ॥५०॥५१॥। सप्तथा लीलाकरणस्य प्रयोजनमाहुः--देशोत्यादिसाद्वैदिकिभिः । तथा च स्वरूपधर्मादिज्ञानामेतदुक्तं धर्मवच्च-

सर्वाद्धारप्रयत्नस्तु सर्वेषां सर्वदोषानुत् ॥५४॥
 ततोऽपि परमानन्ददायी सप्तम ईर्यते ।
 प्रपञ्चविस्मृतिः सर्वा तदासक्तिः स्फुटैव हि ॥५५॥
 प्रमाणबलमासाद्य सर्वेषां गोकुले ह्यभूत् ।

(अथ तामसप्रमेयप्रकरणम्)

प्रमेये बालरूपेऽपि प्रमाणादाखिलं स्थितम् ॥५६॥
 उत्सवेन भयेनापि कौतुकेन विशेषतः ।
 गर्गवाक्यैर्मुग्धभावैरत्याश्चर्यनिरूपणैः ॥५७॥
 यमलार्जुनभङ्गेन वकघातादिभिस्तथा ।
 सर्वव्यसननिर्मुक्त्या ऽऽगासक्तमभून्मनः ॥५८॥
 अतः प्रमेयसम्पत्त्या कृष्णासक्तिर्हि वर्णयते ।
 सर्वतस्त्वधिकः स्नेहः पूर्वत्र विनिरूपितः ॥५९॥
 आसक्तिस्तु द्वितीये हि तृतीये व्यसनं मतम् ।
 फलप्राप्तिश्चतुर्थे हि सिद्धो रोधश्चतुर्विधः ॥६०॥

ज्ञानं तच्चलीलाकरणप्रयोजनमित्यर्थः । अवतारकालीनेषु सप्तविधोलासिद्धं फलव्यापारभूतं कार्यमाहुः--प्रपञ्चेत्यादि ॥५२॥५५॥ एवं चतुर्दशभिः प्रमाणप्रकरणं विचारितम् । तत्र प्रायेण प्रत्यव्यायं पुरुषाणामेव भूयो व्यापारकथा दृश्यते इति तेषामेव निष्ठा सिद्धा ॥

अतः परं मातृचरणप्रभृतीनां तां बोधयितुं साद्वैदिक्योदशभिः--प्रमेयप्रकरणं विचारयन्तः पूर्वं विभिरारह्यां साधयन्ति--प्रमेय इत्यादि । प्रमाणात् त्यन्लोपे पञ्चमी । अज्ञानसहिताभ्याज्ञानरूपं नन्दस्तुसज्ञानं प्राप्य अखिले तच्चलीलाकर्तृत्वं स्थितं निर्णीतम् । उत्सवादिसहकृतेन तेन निर्णयेन सर्वेषां मनस्तथाऽभूत् । अतः प्रमाणकार्यानन्तरं प्रमेयसम्पत्त्या सप्तम्यर्थं तृतीया, बालरूपपूर्णतायां योग्ण्डावस्थाकृता कृष्णासक्तिर्हि यतो हेतोर्वर्णयते । अतः प्रमेयसम्पत्त्यनन्तरं भाविकृष्णासक्तिबोधकत्वात्ममेत्येत्याख्येत्यर्थः ॥५६॥५८॥ नन्वासक्तिः पूर्वप्रकरणेऽपि सिद्धैवेति किं पुनर्निरूपणेनेत्याकाङ्क्षायां सर्वेषामवान्मप्रकरणानां तात्पर्यमाहुः--सर्वत इत्यादिसाद्वैदिकं । तथा च फलवर्धनतावस्थाबोधनार्थं चत्वारि प्रकरणानीत्यर्थः ।

आसक्तिः सप्तधा त्वत्र रूपसौन्दर्यभावतः ।
 क्रियायाऽभीष्टदानेन स्त्रीगोवाला वशीकृताः ॥६३॥
 क्षणं चाऽदर्शने तस्य मृतिः पर्व द्वितीयकम् ।
 माहात्म्यज्ञानसिद्धयर्थं मरणान्मोचनं ततः ॥६२॥
 एवं त्रिभिर्दृढासक्तिरध्यायैर्विनिरूपिता ।
 साधारण्येन सर्वेषां विशेषेण विभागशः ॥६३॥
 बालानां च गवां चैव सर्वेषामेव गोकुले ।
 भोग्यस्त्रीणां क्रमेणैव दृढासक्तिर्निरूपिता ॥६४॥
 रूपस्याऽनुभवः स्त्रीषु तेनाऽद्वै गोपिकामनः ।
 वचनं चान्तिमे प्रोक्तं कायिकस्तु ततः परम् ॥६५॥
 बलभद्रस्य बोधाय भगवद्वचनानि हि ।

तर्षत्र कुतः सप्ताध्यायीत्यत आहुः आसक्तिरित्यादि । पूर्वोक्तरीत्यैश्वर्यादिभावेन लीलाकरणादासक्तिः सप्तधा तेन सप्ताध्याया इत्यर्थः । येन प्रकारेणाश्वैश्वर्यादि-भावस्तान् पदार्थान् स्फुटीकुर्वन्ति-रूपेत्यादि । स च 'तं गोरजच्छ्रितिते'ति श्लोकस्य स्फुटः । 'क्रियाकालीयदमने' अभीष्टदानं कृष्णं हृदा'दित्यादिस्लोकपद-कोक्तम् । एतैस्त्रिभिः स्त्रीगोवालाः साधारण्येनाध्यायत्रये वशीकृता उक्ता इत्यर्थः ॥६२॥६३॥ क्रियाध्याये भक्तदेशोकेस्तारपर्यमाहुः-क्षणं चेत्यादि । तथा च पूर्णासक्तिज्ञापनार्थं तत्रिरूपणमित्यर्थः । ननु तथाऽप्यभीष्टदाना-ऽध्याये दावात्रिकयनस्य किं प्रयोजनमत आहुः-माहात्म्येत्यादि । तदभाव आसक्तिर्येनिकत्वं न स्यादतस्तस्यास्तथात्याया तत्कथनमित्यर्थः । पञ्चदशादित्तुष्टयाय-माहुः-विशेषेणेत्यादि ॥६२॥६४॥ ननु रूपसौन्दर्यस्य सर्वेदहणेचरत्तात्पर्यं मुख्यतया स्त्रीवशीकारफलमवगन्तुं शक्यमित्यपेक्षायामाहुः-रूपस्येत्यादि । आदौ द्वादशे 'पीला मुकुन्दे'तिपद्येन, अन्तिमेऽष्टादशे वेणुगीतेन प्रोक्तमिति अनुभव-बोधकं प्रोक्तम् । तथा च ताभ्यामवगन्तुं शक्यमित्यर्थः । नन्वेवं द्वाभ्यामेव प्रकरणलीलाभ्यां पूर्णासक्तौ सिद्धायामभिम्यस्य किं प्रयोजनमत आहुः-कायिकस्तु ततः परमिति । तथा चोत्तेकरूपातिपूर्णत्वबोधनाय तदुक्तिरित्यर्थः । प्रथमे भगवता यद्बलभद्रस्य भगवत्वं बोधितं यत्रापि धेनुकथनस्तत्कृतस्तस्याश्च कः प्रसङ्ग इत्यत आहुः-बलभद्रस्येत्यादि । तथा च तस्य भगवदाविष्टत्वबोधनं प्रयोजनम् ।

स्वधर्माः सकला एव बलभद्रे निरूपिताः ॥६६॥
 लोकानां च प्रतीत्यर्थं तेन धेनुकमारणम् ।
 आसक्तेस्तु परीक्षा हि कालीयदमने मता ॥६७॥
 स्नेहमात्राच्च चैतावर्तिकं तु जीवनदानतः ।
 युक्तासक्तिरिति प्रोक्तं दावागनेमोचनं महत् ॥६८॥
 ततः कृष्णप्रसादेन कालदुःखनिवारणम् ।
 बालकानां समस्तानां क्रीडया वाधनाद्रिपोः ॥६९॥
 गवां दावागिनमोक्षेण सर्वेषां कालजैरुगैः ।
 गोपीनां वेणुनादेन दृढासक्तिः स्थिराऽभवत् ॥७०॥

(अथ तामससाधनप्रकरणम्)

अतः परं कायिकेन कृष्णे व्यसनमीर्यते ।

दैहिकान् सकलान् भावान् निजान् व्रीडां च दैहिकीम् ॥७१॥

तेन तद्यत्रिमपि मूलचरित्रमेवेति ज्ञापनाय तदुक्तिरित्यर्थः । ननु त्रयोदश ईश्व-दारुणक्रियायाश्चतुर्दशे च तादृश्या निरूपणस्य किं प्रयोजनमत आहुः-आसक्तिर-त्यादि । स्नेहमात्रादिति । स्वविषयकास्नेहमात्राद्भगवतो ज्ञापयितुं समन्तैत्यर्थः । युक्तेति जीविततरि युक्ता । प्रोक्तमिति ज्ञापयितुं प्रोक्तम् ॥६५॥६८॥

पञ्चदशे प्रलम्बवृत्तस्य श्रीभावादिभूतत्वबोधनायाहुः-तत्र इत्यादि । सर्वेषा-मिति । वर्षाशरहत्युष्णवर्षेणेत तत्कालवैसाहस्याभाववोधनात्सर्वेषामाध्यात्मिककालज-दुःखनिवारणं बोधितमित्यर्थः । अत्र कालस्यैव प्राधान्येन स्वस्य तदस्थलाद्धैताम्यभावः । पूर्वत्र दवाप्रियानस्य ज्ञानपूर्वकत्वात्ज्ञानभावः । ततः पूर्वमारोहणादिक्रीडयां परिरुद्धस्य श्रीमयुक्तलाच्छ्रीभावः । अष्टादशे तु 'रसो वै स' इति श्रुतिनिरूपित-ब्रह्मतस्य स्फुटीकरणाद्धिमावोऽपि स्फुट एवेति सादृश्यबोधदशभिः प्रमेय-प्रकरणं विचारितम् ॥६९॥७०॥

अतः परं चतुर्विंशतिभिः साधनप्रकरणं विचारयन्तः प्रकरण-समाख्याबीजमाहुः अतः परमित्यर्द्धेन । व्यसने नाम तद्विना स्यादुपशक्तिः । तथा च तद्विषयकायिकन्यापारस्याय निरूपणादस्य साधनास्येत्यर्थः । तत्र व्युत्पा-दयन्तः मयमाध्यायस्यार्थमाहुस्त्रिभिः । दैहिकानित्यादि । तदेव हीति ।

परित्यज्य हरिप्राप्त्यै यदेव स्यात्तदेव हि ।
 वैदिकं लौकिकं चापि तत्कर्त्ता व्यसनी मतः ॥७२॥
 अतः कुमारिकाः पूर्वं व्रतं चक्रुरित्येते ।
 ततो लौकिकभावं हि परित्यज्य तदाज्ञया ॥७३॥
 यथोक्तमखिलं चक्रुस्तत ईशोऽनुवृत्तप्यत ।
 सम्बन्धिनानां मत्सरादिदोषाभावाय बोधनम् ॥७४॥
 प्रशंसा सर्ववृक्षाणां ततः सिद्धास्तु बालकाः ।
 सर्वदोषान् परित्यज्य क्षुज्जये शक्तिवर्जिताः ॥७५॥
 हरिं विज्ञापयामासुर्व्यसनाज्ञान्यागमिनः ।
 भोगद्वयं हरेरेव स्त्रीबालानां निरूपितम् ॥७६॥
 लौकिकास्तु समाख्यातास्तत्रैव न हरेस्तथा ।

हि यतो हेतोः कायिकत्वेन तदेवात्र विवक्षितमित्यर्थः । अत्र हरिप्राप्त्या इति फलनिर्देशो व्यसनान्तरनिरासार्थः । नन्वेवं सति तत्र गोपानां किमिति नयनं वृक्षाणाञ्च स्तुतिरित्यत आहु-सम्बन्धिनामित्यादि । बोधनमिति । *नर्मादिलीलाज्ञापनम् । तथा चैतदग्रिमाऽध्याये बालकानां व्यसनित्वं वक्तव्यमिति तेषामधिकारसम्पत्तिबोधनाय यच्छेषत्वेन नयनं प्रशंसा चेत्यर्थः । प्राकरणिकज्ञोपयोगी अध्यायार्थं उक्तः । स्वतन्त्रमर्थमाहुः-भोगेत्यादि । हरेरिति पञ्चमी । तथा च व्यसनिनामैहिकस्यापि भगवद्भीनतज्ञापनं तस्यार्थं इत्यर्थः ॥७२॥७६॥

ननु व्यसनिभोगस्य भगवद्भीनत्वे निरूपणोपेयं यज्ञपत्नीकृतान्नाहरणमात्रं वक्तव्यं तदासक्तिकथायाः सन्निकथायाश्च किं प्रयोजनयत आहुः-लौकिका इत्यादि । व्यसनित्वं ह्यत्र हरिप्रीत्यर्थकलौकिकवैदिकान्यतरकर्तृत्व-

* सहनीता बालका 'अथ गोपै'रित्यनेन मिलिताश्च भिन्नाः । तत्र सहनीतानान्दु पूतनोदरनिवेशनेन क्षारेण मलनिवृत्तिवत् शोधनम्, तच्च चरणारविन्दसम्बन्धेन मृत्तिकादानेन च, अतस्तेषां परमशुद्धत्वज्ञापनार्थं सहनयनमन्तरङ्गलीलायाम्, 'तदिमे विदु'रित्यनेन प्रशंसा, अतः सहनीतानां तु दोषाभावस्य पूर्वमेव सिद्धत्वात् नर्मादिलीलाज्ञापनम्, अन्येषां दण्डवृक्षप्रशंसाल्याजेन व्रजस्थपदार्थजातस्य भगवदर्थत्वबोधनम्, तेनैव दोषनिवृत्त्या शुद्धत्वमितिविवेकः ।

वैदिकेऽपीहि विप्राणां तद्भार्याणां निरूप्यते ॥७७॥
 तामसाः सर्व एवाऽत्र गोकुलस्था न केवलम् ।
 इति दर्शयितुं विप्राः सन्निधोऽपि निरूपिताः ॥७८॥
 एकप्रकारा एते हि तेनैकात्र विमोचिता ।
 साधनप्रक्रिया त्वेषा तेन ताः स्वग्रहं गताः ॥७९॥
 तद्भर्तारोऽपि नाऽऽयाताः सम्बन्धेनैव बोधिताः ।
 गोपिकानां प्रसङ्गेन यतस्ता विनिरूपिताः ॥८०॥
 अतस्तासां फले चैताः फलं प्राप्स्यन्ति निश्चितम् ।
 निर्दुष्टैर्भोजनं कार्यं निर्दुष्टान्नस्य नाऽऽयथा ॥८१॥
 भक्त्या हृतानां भक्तानां वृक्षाणां चेति निश्चयः ।
 व्रतं वृत्तिपरिज्ञानं दानं माहात्म्यबोधनम् ॥८२॥
 दाभ्यां चतुष्टयं प्रोक्तं तदीयान्यविभेदतः ।
 द्विविधं कर्म लोके हि वैदिकं हेतुसम्भवम् ॥८३॥
 आद्ये श्रद्धापरित्यागः पूर्वेण विनिरूपितः ।

लक्षणं विवक्षितम्, तेन ते द्विविधास्तत्र लौकिकानां व्यसनिता कुमारीव्रतकथाया समाख्याता । तत्रैवाध्याये न हरेस्तथा, न हरः सम्बन्धिनी विषयता वैदिकेपि समाख्याता इति तत्त्वयानावश्यकत्वाद्देतोर्विप्राणां तद्भार्याणां च सा निरूप्यते इति योजना ॥७७॥ ननु सन्निधो विमलात्सालिकाः कर्मिलाद्राजसा वेति तेषां कथमत्र कथनमित्याकाङ्क्षायामाहुः-तामसा इत्यादि । अत एव सन्निधिरपि 'मूढा न विप्रह' इति मूढत्वं स्वविशेषणमुक्तमतो नात्र संशय इत्यर्थः । बोधिता इति भोक्तव्यत्वेन बोधिताः । बालशुद्धित्वः प्रकारान्तरेणापि सम्भवात् किमित्यर्थं प्रकारो भगवता कृत इत्याकाङ्क्षायामाहुः-निर्दुष्टैरित्यादि । 'एकं भगवतः कार्यमितिन्यायेना-न्यदपि प्रयोजनमाहुः-व्रतमित्यादि । अत्रापि वरदानमीश्वरधर्म इत्यैश्वर्येण लीला प्रथमे द्वितीये च माहात्म्यबोधनादिना वीर्येण बोध्या ॥७८॥८२॥

अतः परं चतुरध्यायात्मकमेकं प्रकरणमिति बोधयन्तस्तदर्थ-माहुः-द्विविधमित्यादि । वैदिकमिति वेदोक्तकामयमुक्तम् । हेतुसम्भवमिति । लौकिकरीतिकतादृशकामहेतुकम् । पूर्वमेति सत्यन्यायेन । द्वितीये तु फलोपधाय-

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां हेतुकः सफलो मतः ॥८४॥
 तन्निराकरणं कार्यं तेनाध्यायचतुष्टयम् ।
 हेतूनाऽऽदौ निराकृत्या यत्सत्तद्धि ह्यकारयत् ॥८५॥
 देवता तत्र नियता तेन साऽपि निवारिता ।
 गोवर्धनस्य धृत्येव निस्तम्भा साऽभवद्यतः ॥८६॥
 शङ्खादोषोऽपि गोपानां निराकार्यस्तु कर्मणे ।
 हविर्मन्त्रेज्यरूपाणां सम्मत्यर्थं तुरीयकम् ॥८७॥
 एवं पूर्वं परित्यज्य हर्युक्तं कार्यमीरितम् ।
 अवैष्णवानां पूर्वेषां व्रतानां त्याजनं न हि ॥८८॥
 वैष्णवान्यपि कार्याणि त्यक्तव्यानीति बोधने ।
 नन्दस्यैकादशी प्रोक्ता साधनं पञ्चधा स्थितम् ॥८९॥
 एतावदेव कर्त्तव्यं तेन यद्वाञ्छते हृदि ।
 हेतुवाद इवाऽत्रापि फलं कृष्णः प्रयच्छति ॥९०॥

कयपि सर्वथा न कार्यमिति सम्यग्बोधयितुं चतुर्ध्यायीत्याहुः-अन्वयेत्यादि ।
 प्रथमाध्यायार्थमाहुः-हेतुनित्यादि । हि यतो हेतोः हि निश्चयेनादी हेतुन दृष्टिहेतु
 मेधेन्द्रपरम्परामर्शान् 'कर्मणा जायते जन्तु' रित्यादिना निराकृत्य यत्सिद्धं सत् तद्
 अकारयत् । तेन कर्मविशेषकारणेन तत्र कर्मणि फले च नियता देवतापि इन्द्ररूपा
 निराकृता । तत्र गमको द्वितीयाध्यायार्थं इत्याहुः-गोवर्धनस्येत्यादि । तृतीया-
 ध्यायार्थमाहुः-शङ्खादोष इत्यादि । यदि भगवति समर्थैर्लनिश्चयो न स्यात्तदा
 पुनर्वैषान्तरं तत्करणे इन्द्रकोपादिशङ्काया तत्प्रतिबन्धः स्यादतः कर्मणे गिरियागार्थं
 शङ्खादोषो निराकार्यस्तथा च तन्निवारणं तदर्थं इत्यर्थः । चतुर्थेत्याहुः-हृदिरित्यादि ।
 हविः कामगवी, तस्य तदाधारत्वात् । एवं मन्त्राः सुरपैयः । इज्यो देवसारूप्य
 इन्द्रः । गिरियागे तेषां सम्मत्यर्थं तुरीयकं तदुक्तमभिषेचनमर्थे इत्यर्थः ॥८९॥८९॥
 प्रकरणसिद्धमर्थमाहुः-एवमित्यादि । अत्रापि गिरियागकारणं यथाः-
 कार्यम् । गोवर्धनोद्धारणं श्रीकार्यमाप्तिवारकत्वात् । शङ्खानिवारणं ज्ञानकार्यं स्फुटमेव,
 मदत्याजनं वैराग्यकार्यं इत्यपि स्फुटमेव, सप्तमार्थमाहुः-अवैष्णवानामित्यादि
 प्रोक्तैत्यन्वयः । न हीति किन्तु इति शेषः ॥८८॥ बोधन इति बोधनार्थम् ।
 नवस्मिन् प्रकरणे साधनानि निरूप्याणि तत्र वैकुण्ठनयनात्मकफलनिरूपणस्य

इति वैकुण्ठनयनं स्थापितं वाञ्छितं न हि ।
 अवान्तरं फलमिदं विश्वासार्थं निरूपितम् ॥९१॥
 कृष्णवाक्यं सदा कार्यं मायामोहं निवार्य हि ।
 वृक्षवत्तु स्थितिः कार्या शुद्धात्नेन च वर्त्तयेत् ॥९२॥
 इच्छां विज्ञाय दातव्यं माहात्म्यज्ञानपूर्वकम् ।
 यागादयोऽपि त्यक्तव्या तद्विच्छा चेद् व्रतानि च ॥९३॥
 मध्ये स्वेष्टस्य पूर्त्यैव तद्विच्छामवगत्य च ।
 तत्परत्वेन सततं स्थेयं साधनसङ्ग्रहः ॥९४॥
 (अथ तामसफलप्रकरणम्)

अतः परं सप्तभिर्वै फलं कृष्णो निरूपयते ।
 षड्गुणैः सहितः पूर्वमैश्वर्यं त्रिविधं मतम् ॥९५॥

किं प्रयोजनमित्यत आहुः-साधनमित्यादि । नयनमित्यन्तम् । नन्वेवं सति तत्
 उद्धारणं कृत इत्याकाङ्क्षायामाहुः-स्थापितमित्यादि । स्थापितमिति भावे क्तः ।
 स्थापनमित्यर्थः । पाठो वा । तथा च भवनानन्दे दित्सित इदमवान्तरफलत्वेन विचारि-
 तमतस्तेषां न तत्र स्थापनमित्यर्थः ॥८९॥९१॥ एतस्यास्य धर्मिलीलाखं
 स्फुटमेव । पञ्चधा साधनं स्थितमिति यदुक्तं तद्विद्वन्तः प्रकरणमेतदुपसंहरन्ति
 कृष्णेत्यादितिभिः । अत्र साधनचतुष्टयं चतुर्भिर्द्वैः पञ्चमं मध्य इत्यादिपादो-
 नेनेति बोध्यम् ॥९२॥९४॥ एवं चतुर्विंशतिभिः साधनप्रकरणं विचारितम् ।

अतः परं साङ्ख्यसदृशभिः फलप्रकरणे विचारयन्ति-अन्तः परमि-
 त्यादि । प्रकरणसमाख्यावीजमाहुः-फलमित्यादि । तथा च पूर्वोक्तसाधनपञ्चककरण-
 रूपआसक्त्युद्देका नन्तरमाप्यषड्गुणयुतपूर्वभगवद्रूपफलनिरूपणादस्य फलप्रकरणेत्या-
 ख्येत्यर्थः । अश्वेश्यादीनां पूर्वोक्तः क्रमो नेतिप्रकारोऽपि विलक्षण इति बोधयितुं प्रथमतः
 प्रथमाध्यायार्थमाहुः-पूर्वमित्यादि ॥९५॥

‘ध्वनिनाऽऽह्वय’वाक्येन प्रेषयत्येष निश्चितम् ।
 फले वाक्यं न कर्तव्यं दोषश्चेद्धारयिष्यति ॥१६॥
 इति तासामगमनं गर्वेऽन्तर्भाव ईर्यते ।
 अयमेव हरेर्मार्गः सर्वोत्कृष्टो हि बुध्यताम् ॥१७॥
 सम्बन्धमात्रे सञ्ज्ञाते बहिर्वान्तरथापि वा ।
 कायेन मनसा वापि वचसा वापि सर्वथा ॥१८॥
 रमयत्येव हि निजान् सर्वथा नैव मुञ्चति ।
 अन्तर्धानकथा प्रोक्ता वाक्यं चाऽपि निरूपितम् ॥१९॥
 अध्यायद्वितयेनैव सकृद्भोगं निवारयन् ।
 आविर्भावं करोत्येष तथा वाक्यानि तुष्टये ॥१००॥
 रमते च रमातोऽपि विशेषेण रतिप्रदः ।
 परोक्षोऽपि रतिं चक्रे तेन वीर्यमुदीरितम् ॥१०१॥
 यशस्तु वचनैः स्पष्टं श्रीश्चाविर्भावतः स्फुटा ।
 चतुष्टयं निरूप्याग्ने धर्मा कृष्णो निरूपितः १०२॥

त्रैविध्यं स्पष्टयन्ति-ध्वनिनेत्यादि । ऐश्वर्यं हि स्वातन्त्र्यम् । अत्र कर्तुमकर्तुं च सामर्थ्यमर्द्धोक्तम् । ततः पादोनेनान्यथाकर्तुं सामर्थ्यं तुरीयपादेन द्रुतमेवेत्यग्रिमसहितेन समुदितं त्रयम्, क्रमेणैव त्रयं वा । द्वितीय-तृतीययोरर्थमाहुः-हरेरित्यादि । बुध्यतामित्यन्तोऽध्यायद्वयार्थः । तत्र हेतुमाहुः-सम्बन्धेत्यादिसाद्धेन । तथा च इतिबोधयितुमन्यायद्वयेन द्वयमेव निरूपितमित्यर्थः । चतुर्थार्थमाहुः-सकृदित्यादि । तुष्टय इति वदतीतिशेषः ॥१६॥१००॥
 पञ्चमार्थमाहुः-रमन् इत्यर्द्धेन । प्रयोजकविभागं स्पष्टयन्ति-परोक्ष इत्यादि । क्रमं भिदन्तः पञ्चमार्थमाहुः-चतुष्टयमित्यादिसाद्धेन । एवमिति क्रमं मित्ता ।

* ध्वनिना आह्वानं कर्तुं समर्थः, ग्रहगमनबोधकवाक्यैरग्रहगमनमकर्तुं समर्थः, प्रबलान्यपि स्ववाक्यानि दुर्बलानि कर्तुं दुर्बलान्यपि जीववाक्यानि प्रबलानि कर्तुमेवमन्यथाकर्तुं समर्थः । भगवद्वाक्यानाञ्जीकारे जातं दोषं रमणहेतुत्वेन गुणरूपं कर्तुं समर्थश्च । असम्भावितं गर्वं कर्तुं सम्भावितं सर्वभावप्रपञ्चं अकर्तुं, जातमपि बहिःप्राकट्यं बाह्यमणं च अन्तर्भूतं कर्तुं समर्थं इति च त्रयमित्यर्थः ।

भोगे मध्ये महत्सौख्यं तस्मादेवं निरूपितम् ।
 स्वरूपेण रतिः प्रोक्ता न धर्मै रसरूपतः ॥१०३॥
 ततो वैराग्यभावेन फलदाता निरूप्यते ।
 कौतुकेनाऽपि पूर्वेषां करणं न सुखाय हि ॥१०४॥
 अतः कौतुकरीत्याऽपि गताः सर्वे हरान्तिके ।
 कालेनाऽऽग्रस्तमूर्धानः कृष्णेनैव विमोचिताः ॥१०५॥
 अतस्तत्कर्म हरिसात्कृत्वा ब्रजमुपाययुः ।
 तमसि त्रितयं प्रोक्तं हरिस्तत्राधिदैविकः ॥१०६॥
 स तु तूष्णीं भवत्यत्र कालस्त्वाध्यात्मिको मतः ।
 हरभूत्यास्तु भूतानि स्त्रीणां हर्त्ता ततो निशि ॥१०७॥
 शङ्खचूड इति प्रोक्तस्तं च हत्वा विमोचिताः ।
 सुदर्शिनो यथा जीवस्तथा सत्त्ववरो मणिः ॥१०८॥
 कर्म स्वस्मिन् प्रतिष्ठाप्य रामे रत्नं न्यरूपयत् ।
 एवं कालादिसम्बन्धात्तमसान् स्वान् न्यवारयत् ॥१०९॥
 पूर्वसिद्धपरित्यागो वैराग्यं कालदोषतः ।
 ज्ञानं तु गुणगानं हि परोक्षे तत्प्रतिष्ठितम् ॥११०॥

पष्ठार्थमाहुः साद्धेः पङ्क्तिः-तत इत्यादिभिः । वैराग्येण फलदात्वं व्युत्पादयन्ति कौतुकेत्यादिसाद्धेन । पूर्वेषामित्यवैषण्यवर्त्मनाम् । मुद्धेपदं मुख्यबोधकम् । विमोचनेन सिद्धं फलान्तरमाहुः-अतस्तत्कर्मैत्यर्द्धेन । एतेन कदाचिदैवगत्या मौख्यार्थदिना कृतमपन्यदैवतं कर्म, ‘यत्करोपि यद् आसीत्’त्याज्ञां ह्यनुसन्धाय भगवदपेक्षं कर्तव्यमित्युक्तम् ॥१०१॥१०५॥ द्वितीयफलदानमप्यापि वैराग्यहेतुकत्वं व्युत्पादयन्ति तमस्तीत्यादिब्रह्मण्यम् । काल इति शिवारिक्त्वरूपः । सत्त्ववरो इति । सत्त्ववृत्तिषु श्रेष्ठः ॥१०६॥ ॥१०९॥ वैराग्यस्वरूपं सहेतुकमाहुः-पूर्वत्यादि, पूर्वसिद्धपरित्याग इति भगवत्स्वरूप-

प्रत्यक्षे भजनं श्रेष्ठमेवं चेद्रोधनं स्थिरम् ।
पुरुषाणां तथा स्त्रीणां रात्रौ च दिवसे तथा ॥१११॥
ज्ञानं भक्तिश्च सततं चक्रवत्परिवर्तते ।

(अथ राजसप्रकरणम्)

अतः परं राजसानां प्रक्रिया पूर्वसङ्ख्यया ॥११२॥
अष्टाविंशतिभिः प्रोक्तास्तथाऽध्यायैश्चतुर्विधैः ।
यादवा राजसाः प्रोक्तास्तेषां पूर्वस्थितस्य हि ॥११३॥
त्याजनं सर्वथा कार्यं देशादेः षड्विधस्य च ।
तत्राऽऽद्यौ दुःखकर्त्तारो मारणीया गुणैरिह ॥११४॥
ततः कालविमुक्तिर्हि देशद्रव्यैस्ततोऽपि हि ।
ख्यात्या पूर्वाणि नामानि कर्माण्यपि पुरा यथा ॥११५॥
त्याजितानि समस्तानां तथा ख्यातिं ददौ हरिः ।

परित्यागः । एतस्य यावदन्याश्रयस्तावदिति न्यायेन भगवदुपेक्षाहेतुत्वाद्द्विराग्यत्वमित्यर्थः ।
सप्तमार्थमाहुः—ज्ञानमिति पादेन । प्रकरणे यत्सिद्धं तदाहुः—परोक्ष इत्यादि ।
तामसप्रकरणेषु यद्भारप्रकारमाहुः—ज्ञानं भक्तिश्चेत्यादि ॥११३॥ एवं द्विसप्त-
तिभिस्तामसप्रकरणं विचारितम् ।

॥ तामसप्रकरणं समाप्तम् ॥

अतः परं सार्द्धद्विनवत्यधिकशतेन राजसप्रकरणं पूर्वचदेव
चतुःप्रकरणया विचारयन्ति—अतः परमित्यादि । पूर्वं सङ्ख्य-
येति सप्तसङ्ख्यया ॥११०॥११२॥

तत्र के राजसाः कथं तेषामुद्धारणमित्येषायां तत्प्रकारमाहुस्त्रिभिः—यादवा
इत्यादि । सार्धथा कारयेमिति । रजसो विशेषकत्वेन तन्निरुचये तथा कार्येण । सप्ता-
ध्याय्याः प्रयोजनमाहुः—तन्त्रेत्यादि । दुःखकर्त्तारोऽरिष्टाद्यास्तदर्थं षट् । तत्सद्वदनन्तरं
कालविमुक्तिर्हि निश्चयेन देशद्रव्यैः देशां हारकादिः द्रव्याणि अनुलेपनादीनि तैः ।
ततोऽपि धर्मिणाऽपि । अत्र गमकमाहुः हि यतो हेतोः ख्यात्या लोकप्रसिद्धया
तथा तेनैव ज्ञायत इत्यर्थः ॥११३॥११५॥ अध्यायचातुर्विध्यं स्फुटीकर्तुं प्राथमिकानां
सप्तानां प्रमाणप्रकरणत्वाय पूर्ववत्प्रमाणवदन्तः प्रकरणसमाख्यां तत्कृतनिरिधं च विश-

(अथ राजसप्रमाणम्)

प्रमाणं नारदः प्रोक्तस्तथाऽङ्कुरो द्वितीयकः ॥११६॥
नन्दस्तृतीयः क्षता तु चतुर्थो गोपिकास्तथा ।
हर्षाविष्टो हरिश्चैव कुब्जा चाऽत्र मताः पुरा ॥११७॥
एते प्रमाणभूता हि राजसे सगुणो हरिः ।
एतैः सिद्धो राजसानां स्नेहः सर्वोत्तमः स्थितः ॥११८॥
नारदो देवगुह्यस्य कर्त्ता भयविवर्धनः ।
येन स्नेहः समुत्पन्नस्तथाऽङ्कुरस्तु पोषकः ॥११९॥
सन्देहजननाशितं कृष्णार्थं तरलं यतः ।
स्नेहे द्वितीयमेतद्धि पर्व लोकेऽपि बुध्यताम् ॥१२०॥

दीकुर्वन्ति—प्रमाणमित्यादिसार्द्धाभ्याम् । प्रथमे नारदः कंसस्य भगवति देवकीपुत्र-
त्वमितिमुत्पादितवान् । द्वितीयोऽङ्कुरः श्रीनन्दे वसुदेवमुत्तलं ज्ञापितवान् । यद्यप्यत्र
न मत्पत्यार्यं प्रमाणकथा, तथापि द्वितीये नारदस्य, तृतीयेऽङ्कुरस्य प्रसङ्गे बभूव
इति तद्द्वारा प्रकरणे निवेशस्तयोः । श्रीनन्दः क्षता च व्रजे, गोपिकाः स्वयमे,
हर्षाविष्टो हरिव्यह्ररूपोऽङ्कुरे, (यादेषु ज्ञातितादिसम्बन्धबोधनेन स्वस्मिन् वसुदेव-
पुत्रत्वं) पुरुषोत्तमत्वं ख्यापितवान्, कुब्जा च मधुरास्त्रीषु एवमेतेष्वध्यायेषु
प्रमातृसम्बन्धेन तत्त्वमेतोत्पत्ते राजसे प्रकरणे एते प्रमाणभूताः । हि यतो हेतोः
सगुणो हरिर्बोमुदेवस्तेः प्रकरणं सिद्धोऽनं सगुणहरिः प्रमाजनकत्वात्प्रमाणप्रकरणेति
समाख्या । यत्र राजसानां यादवानां सर्वोत्तमः स्नेहो निर्णीत इति प्रकरणस्य
निरोधोपयोगित्वमित्यर्थः ॥११६॥११८॥ नन्वेतेन कथं स्नेहनिर्णय इत्यतस्त-
त्प्रकारमाहुः—नारद इत्यादिसार्द्धैः षड्भिः । येनेति भयवद्वेनेन । (अ. ३) 'माभूज्यं
भोजपतेभ्युपुर्षो'रिति ब्रह्मवाक्यत्रिस्तरणान्मातापित्रोः स्नेहः सम्भयजनकतयोत्पत्त्यर्थं
तथा च नारदस्य तथोत्पादकतया स्नेहनिर्णायकत्वम् । एवमङ्कुरस्याऽपि 'सिद्धय-
सिद्धयोः सारं कुर्यादिति (अ. ३३) कंसावद्यमाजने सन्देहोत्पादानादिह भगवदागमे
भविष्यतीति चित्तं तयोस्तरलमभूदिति तदपि तथा । एतस्य तथात्वे लोकप्रसिद्धि
प्रमाणयन्ति—स्नेह इत्यादि ॥११९॥१२०॥ ननु श्रीनन्दवाक्यस्य कथं स्नेहोपयोग

नन्दस्तु पूर्वभावस्य निन्दां चक्रे विनिश्चिताम् ।
 तेन मिश्रपरित्यागान्निर्दोषस्य भविष्यति ॥१२१॥
 उत्कण्ठा परमा क्षत्रा गोपिकाभिश्च जायते ।
 पुरुषाणां तथा स्त्रीणामविष्टेनाभयं महत् ॥१२२॥
 ततः सन्देहगमनात्स्थिरः स्नेहो भविष्यति ।
 कृष्णेन पुरुषैर्योगः स्नेहवृद्धिः प्रदायकः ॥१२३॥
 तथैव कुब्जया स्त्रीणामेवं स्नेहो निरूपितः ।
 प्रमाणबलमासाद्य तथाऽऽसक्तिः प्रमेयके ॥१२४॥

इत्यत आहुः नन्दस्त्वित्यादि । तेनेत्यादि । श्रीनन्दवाक्यतः कंसीयस्वभावनिश्चयेन मिश्रपरित्यागात्कंसाश्रयमिश्रस्नेहपरित्यागान्निर्दोषस्य कंससम्बन्धरहितस्याक्रूरस्य चित्तं मधुरागमनोत्तरं तरलं भविष्यतीति 'नाहं भवद्भ्यां रहितः' (अ. ३८) इत्यादिभिस्तद्वाक्यैरवसीयत इति तस्यापि दूरतस्तन्निर्णायकत्वम् । पुरुषाणां तथा स्त्रीणामिति । गोकुलस्थानामिति शेषः । एतेषां तामसलपरित्यागे राजसलमग्रे वक्तव्यमतो न प्रकरणविरोधः । आविष्टेन भयं महद्दित्यादि । व्यूहात्मकेन त्यागभयं कथं पुनर्नैः प्रतिपास्यत इति वाक्योक्तं महद्दुत्यादितम् । तत उत्तरं कालं प्राप्य श्रीमद्ब्रह्मनिर्दोषस्यैस्त्यागसन्देहगमनात्स्थिरः स्नेहो भविष्यतीत्यादिष्वपि दूरतस्तन्निर्णायकत्वम् । (यद्वा वपुदेवादिषु स्वनिमित्तस्य कंसाहुः स्वस्य कथनेन स्वस्मिन्सामर्थ्यं बोधयित्वाऽसमर्थं स्वशुद्धं कंसः कथं न मारयिष्यतीत्याकारकं महद्भयमङ्गरे व्यूहात्मकेनोत्पादितम् । तदनन्तरं ब्रह्महृदं वैकुण्ठे दर्शिते स्वस्मिन् पुरुषोत्तमत्वे ज्ञापिते पूर्वसन्देहगमनात्स्थिरः--स्नेहो भविष्यति । अत एवाग्रेऽक्रूरस्य माहात्म्यज्ञानस्नेहो-भयव्यापकानि 'नाहं भवद्भ्यां रहितः' इत्यादीनि वाक्यानि ।) पुरुषैरिति वाक्यकमुदामादिभिः ॥१२१॥१२३॥

एवं चापूर्वसम्बन्धभाजां भगवति स्नेहः पूर्वसम्बन्धानां त्वासक्तिरिति द्वयीविधा प्रमाणप्रकरणे निरूपितेत्याहुः प्रमाणेत्यादि । ननु राजसेषु निरोद्धव्येषु तद्दुःखदातृणां इतनं तदेष एव कर्तव्यम्, न तु वृत्ते, तस्य तामसनिरोधस्थानत्वात् । अत्र वधे च ब्रजस्थानामेव दुःखनिवृत्त्या तदन्तं पूर्वप्रकरणं

* नास्तीदं () चिन्हान्तर्गतं मूले ।

अरिष्टो राजसानां हि गोकुले निधनं गतः ।
 वासनालेशमात्रेण तत्र स्थास्यति सर्वदा ॥१२५॥
 इतोऽपि चेद्धरिर्गच्छेन्नृत्वा सर्वस्य तामसम् ।
 राजसास्ते भविष्यन्ति गोकुलस्था न संशयः ॥१२६॥
 उभये च ततस्त्वग्रे सात्विका निर्गुणास्ततः ।
 त्रयःऽपि सम्भविष्यन्ति मुक्तौ तेषां निरूपणम् ॥१२७॥
 देवगुह्यस्य कर्त्ता हि नारदो देवसम्मतः ।
 भगवत्सम्मतस्त्वत्र नास्तीत्येवेति मे मतिः ॥१२८॥
 यतः प्रबोधयत्येनं प्रशुभ्यन्त्वान्न दुष्यति ।
 पूर्व भावस्तु न ज्ञातः स्वाधिकारस्तु मध्यमः ॥१२९॥
 पूर्वकुद्धा देववाणी पुत्रत्वाय यतो हरिः ।

वक्तव्यम्, तत अक्रूरोऽपि च 'तां रात्रिमिति पञ्चत्रिंशोऽध्यायमारभ्य राजसप्रकरणं युक्तमित्याकाङ्क्षायामाहुः अरिष्ट इत्यादित्रयम् । राजसानामिति प्रलम्बवक्तव्यत्रयद्वयकदनकनैषु गणितसाम्राजसानां दुःखकर्त्तृति शेषः । हिंसेतो । तामसमिति । अवज्ञादिजनकं मौढ्यम् । तथा च यत एवमतो हेतोर्गोकुलस्था राजसा भविष्यन्तीति ज्ञापनाय तस्यात्र वधः । पूर्वभावत्यागप्रयोजनं मुक्तिलीलाप्रवेशः, तज्ज्ञापिका च तत्र ज्ञानोऽध्याये 'अथैतत्परमं गुह्यं' इत्यादिना तेषां प्रयाणामपि निरूपणम् । अतो न प्रकरणविरोधादितोष इत्यर्थः । ननु नारदस्य भगवत्कृतत्वाद्भक्तमथर्वकत्वं न युज्यत इत्याकाङ्क्षायामाहुः--देवगुह्यस्येत्यादि । देवानां स्वकेशनिवृत्तिः श्रीप्रभिरिति कलिप्रियेण नारदेन तत्कारयितुं तं प्रेषितवन्त इति तेन तथेत्यर्थः ॥१२५॥१२७॥

ननु तर्हि भगवत्सम्मतिरपि भविष्यतीति ज्ञायायामाहुः--भगवदित्यादि । इत्येवेति निश्चितमिति शेषः । तत्र नान्यस्य सम्मतिरित्याहुः--इति मे मतिः । अभ्युपगमे बीजमाहुः--यत इत्यादि । प्रबोधयतीति । अग्रिमाऽध्याये 'कृष्ण कृष्णाममेयात्म' इत्यादिना यतः प्रबोधयत्यतो ज्ञायते नात्र भगवत्सम्मतिरिति । तेन देवभरणदेव तथाकरणमित्यर्थः । ननु भगवत्वं जानतः प्रबोधनं न युक्तमत आहुः--प्रशुभ्येत्यादि । ननु कथमज्ञानमत आहुः--स्वाधिकारित्यादि । नन्वस्त्वैतदेवं तथापि यद्गुह्यं पूर्णस्य भगवतः प्राकट्यं तयोरेवं केशो न युक्त इत्यत आहुः--पूर्वभि-

प्रार्थितो वसुदेवाभ्यां ततो गमनयाञ्जया ॥१३०॥
 अध्यात्मा नारदः क्रुद्ध उभाभ्यां बन्धनं तयोः ।
 मायया प्रथमे मुक्तिः कृष्णेनाऽप्रे भविष्यति ॥१३१॥
 मायावशात्तदा याञ्जा कृष्णार्थं गमनं मतम् ।
 अधिकाराज्ञाऽपराधो नारदस्य भविष्यति ॥१३२॥
 तथाऽपि प्रीयते नैव हरिरित्येव मे मतिः ।
 कंसादयो राजसा हि बुद्ध्या कार्यस्य साधकाः ॥१३३॥
 तामसं केशिनं तेन प्रेषयामास राजसः ।
 मथुरायां तामसस्य वधो युक्तो न च क्वचित् ॥१३४॥
 अतो गोकुलमासाद्य सोऽपि नष्टो विमुक्तये ।
 ज्ञाने तु बाधकः केशी तेनाक्रुरादयस्तथा ॥१३५॥

त्यादिसाद्धम् । वसुदेवाभ्यामिति । 'पुमान् स्त्रियेत्येकत्रेषः । बन्धनमिति ।
 वारह्व्यं बन्धनम् । तथा चापराधादेव तथा भाव इत्यर्थः । न वैव सति नाभ्यादीनाम-
 पराधः शक्यः । तत्र पूर्णप्राकट्यस्यानभिहितत्वेन तदभावादिति फलबलादवसीयते
 ॥१२८॥१३१॥ ननु प्रथमं मायया कृतो मुक्तिरित्यत आहुः* माया-
 वशादित्यादि । नन्वेवं सति तथैव कंसः कुतो न मारित इत्यत आहुः-कृष्णार्थ-
 मित्यादि । स्वयं कंसमारणस्य भगवता विचारितत्वात्तदर्थं तस्यास्ततो गमनमित्यर्थः ।
 नन्वस्त्वैवं तथापि भगवदभिप्रेतकरणात्तदस्यापि श्रेय उचित इत्यत आहुः-अधिकार-
 रादिति । तथा च भगवत्प्रीयभाव एव तत्र केशो न सपिको हरीतकीरूपत्वादित्यर्थः ।
 प्रीत्यभावस्त्वननुमोदनाद् बोद्धव्यः । एवं प्रथमार्थ उक्तः । अत्रैश्वर्यकार्यत्वं
 स्वातन्त्र्यादिषु स्फुटम् ।

द्वितीयार्थं विचारयन्ति-कंसादय इत्यादि । हि यतो हेतोर्बुद्ध्या
 कार्यस्य साधका न तु मौढ्यादतो राजसा इत्यर्थः । केशिनस्तामसत्वे गमकमाहुः-
 ज्ञाने इत्यादि ॥१३२॥१३५॥

* ननु मायाकृष्णान्यां क्रमेण बन्धान्मोचने को हेतुरित्यत आहुर्मायावशादित्यादि ।
 'न बन्धापेवर्तौ मे मोहितौ आत्मनायया' इति भगवद्वाक्यात् पूर्वमार्थानायां मायया हेतुत्वान्
 मायया पूर्वं मोचनम् । कृष्णस्य प्राणाधिकमित्यत्वात् तस्मिन् कंसमये शक्तिरे स्वस्था-
 नादन्यत्र गमनमार्थानायाः कृष्णात्त्वाद् द्वितीयवारं बन्धनात् कृष्णेन मोचनमित्यर्थः ।

तथा भक्तावरिष्टोऽपि तावुभौ गोकुले हतौ ।
 अन्यथा गोकुलस्थानां जीवनं न भवेत्क्षणम् ॥१३६॥
 ज्ञानभक्तिप्रसिद्ध्यर्थमक्रूरागमनं पुनः ।
 गोकुले बाधको व्योमो लीलायां कर्मणि स्थितः ॥१३७॥
 परोक्षेऽपि हरेः सिद्धयै लीलायाः सोऽपि वै हतः ।
 द्वाभ्यां त्रयोऽत्र निहताः परोक्षेण त्रयोऽत्र हि ॥१३८॥
 मार्गाः पुष्टा भविष्यन्ति तेन राजसता स्थिता ।
 सात्त्विकोऽप्युभयैर्दोषैरकूरः कंससङ्गतः ॥१३९॥
 उभयोस्तु ततो नाशे भक्त्या कृष्णान्तिकं गतः ।
 सिद्धान्तस्य परिज्ञानादासुराणां तथाऽभवत् ॥१४०॥
 भगवच्छास्त्रविज्ञानात्सन्दिग्धं स उवाच ह ।

ज्ञानबाधकत्वे गमकमाहुः अत इत्यादि । उभयोर्गोकुले हनने हेतुमाहुः-तथैत्येकेन ।
 तथा च जीवनार्थं ज्ञानभक्त्योरपेक्षितत्वात्तत्रस्थानां तत्प्रतिबन्धनिवृत्त्यर्थं तत्र तौ
 हतावित्यर्थः । एतेन पूर्वोक्ताऽप्यनुमतौ, तेषां राजसत्वबन्धने प्रकारभ्रोक्तः ।
 नन्वस्त्वैवं लीलान्तस्था गोकुलोयोगस्तथाऽप्यक्रूरागमनत्र किमर्थमुक्तम्, तस्यैव
 तत्प्रतिकूलत्वादित्यत आहुः-ज्ञानभक्तीत्यादि । प्रसिद्ध्यर्थमिति विरुद्धे जाते
 ज्ञानभक्त्योर्वा प्रकृष्टा सिद्धिस्तदर्थम् । तथा च तदपि तेषामुत्कर्षायेव न
 तु निकर्षायेत्यर्थः । व्योमभवस्याप्येतदर्थत्वं यदन्तोऽध्यायद्वयोक्तलीलाया उपयोगो
 द्वाभ्यां स्फुटीकुर्वन्ति गोकुल इत्यादि । हरेः सिद्धयै लीलाया इति । हरेर्लीलाः
 सिद्धया इति योजना । द्वाभ्यामिति ऐश्वर्यवीर्याभ्याम् । तथा च परोक्षेण
 मार्गत्रयोपपन्नद्वारा राजसत्वनिर्णयार्थमत्रैतत्कथनमित्यर्थः ॥१३६॥१३८॥ एवं
 द्वितीयाध्यायो विचारितः । अत्र कीर्त्यकार्यं स्फुटमेव ।

तृतीयाध्यायं विचारयन्ति-सात्त्विक इत्यादि । नन्वक्रूरस्य
 भक्तत्वात्कथं कंसानुरोधितमित्यत आहुः-उभयैर्दोषैरिति । राजसतामसैस्ते ।
 तत इति भगवद्विषयकैर्नोरथैः । ननु तथापि भगवदानयनार्थोऽनुरोधस्तु सर्वथा
 अयुक्त इत्यत आहुः-सिद्धान्तस्येति आकाशवाण्युक्तम् । अत्राग्निश्लोके
 बन्धमाणस्य वा । तथेति आकारणात्मकनियोगकर्त्ता ॥१३९॥१४०॥ भगवच्छा-
 स्त्रविज्ञानादिति । भगवदिच्छा ज्ञानुभयशक्या भगवान् स्वतन्त्र इति भगवच्छास्त्रं

यथाकश्चिद्दुष्टस्य परित्यागे तु सात्विकः ॥१४१॥
 भक्तः सन् भगवत्पार्श्वं याति कृष्णश्च तुष्यति ।
 मार्गत्रये ततः प्रोक्ता तस्य निष्ठा विशेषतः ॥१४२॥
 कृष्णमाहात्म्यविज्ञानं भक्तिमार्गोपयोगि हि ।
 स्वरूपबोधो ज्ञानार्थः कामना कर्मणि स्थिता ॥१४३॥
 त्रिभिस्त्रयोऽपि सन्तुष्टा नन्दरामौ तथा हरिः ।
 हरेर्निर्गमनं तस्मान्न युक्तमिति वै शुक्रः ॥१४४॥
 गोपिकावाक्यरीत्यैव भगवद्गमनं जगौ ।
 प्रतिबन्धादरिष्टादेर्न गोपीकायिकोद्यमः ॥१४५॥
 वाक्येनैव च सन्तुष्टा वाचि तास्तु प्रतिष्ठिताः ।
 अक्रूरे त्रितयं जातं वैकुण्ठे स्थापनाय हि ॥१४६॥

तस्य विज्ञानात् । एतत्कथोपनिबन्धनसिद्धं सिद्धान्तमाहुः—यथाकश्चिदित्यादि । अत्र
 ज्ञापकमाहुः—मार्गेत्यादि । निष्ठायाः फलमाहुः—कृष्णेत्यादिसाद्धेन । अत्र श्रीनन्दस्य
 'यो नन्दः परमानन्द' इति श्रुतेस्तत्प्रसादोऽपि मुक्त्युपयोगी ॥१४१॥१४३॥
 एवं तुनीयाध्यायो विचारितः । अत्रापि माहात्म्यज्ञानादिकं यज्ञःकार्यम् ।
 चतुर्थाध्यायं विचारयन्तः एवमाधोपयदित्यन्तः पूर्वाध्यायप्रयोगे
 इत्याशयेनाहुः—हरेरित्यादि । दुष्टत्रयवधेन ब्रजस्थानं राजसत्सम्पत्तौ तस्माद्
 श्रद्धादेरेर्निर्गमनं न युक्तम् । वं निश्चयेन, तत्र स्थित्वाऽत्रत्यनिरोधवदत्र स्थित्वा तत्रत्य-
 निरोधस्यापि कर्तुं शक्यत्वाद्वाजसत्स्य जातत्वेन तीत्यखिति ज्ञापयितुं
 तथा गमनं जगौ । तथा च ब्रजस्थानां भावोत्कर्षस्यैव बोधनायैव गमन-
 मित्यर्थः । तदधिमस्कन्धे भगवतेव 'गमेण साद्धेमि'त्यादिना वक्तव्यम् । नन्वेवं
 सति कुतो भगवान्वा कायेन निवारित इत्याकाङ्क्षायामाहुः प्रतीत्यादि ।
 वासनायाः प्रतिबन्धकत्वं सप्तमे निर्णीतम्, तास्त्रियमागन्तुकौ तत्राप्यत्वा तथापि
 दुष्टेत्येतावत्प्रतिबन्धं कृतवन्तौ, अत एव वाक्यमात्रेण तोषोऽपि । न च तर्हि न्यूनत्वं
 शङ्क्यम्, तुः शङ्कानिरासे, ताः वाचि प्रतिष्ठिता रूपित्वादुपनिषद्पलाच्च भगवत्प्रवचन
 एव विश्वस्ता इति न न्यूनतेत्यर्थः । ननु त्रयाणां तोषेणाकृतस्य किं सिद्धमित्या-
 काङ्क्षायामाहुः—अक्रूर हीत्यादि । तत्र गमकमाहुर्हीत्यादि । ननु प्रसादस्यारादुप-

ब्रह्महृदे निमग्नस्य तथा दर्शनमीर्यते ।
 अन्यथा भगवत्सङ्गं न त्यजेच्च कथञ्चन ॥१४७॥
 माहात्म्यं ज्ञापितं त्वर्षात्तन स्तोत्रमुदीरितम् ।
 संस्कारमात्रतस्तास्मिन् स्नेहभक्तिः प्रतिष्ठिता ॥१४८॥
 व्यवहारो महद्भिः स्याद्यथा कृष्णे तथाऽभवत् ।
 कुब्जानिःशङ्कवचनैः स्वेच्छां पूरयते हरिः ॥१४९॥
 उभयोरन्तरा दण्डप्रसादौ सुनिरूपितौ ।
 श्रुतमाहात्म्ययुक्तानां सन्देहविनिवारकौ ॥१५०॥
 रजको दण्डनीयो हि पूर्वधाष्ट्यादिहाऽपि हि ।
 सीताया विप्रियं वक्ता रङ्गशोभार्थमुद्यतः ॥१५१॥
 अन्त्यजा वैद्यपक्षीया रजकस्तेषु चाऽऽदिमः ।

कारकत्वे किं गमकमत आहुः—अन्येत्यादि ॥१४७॥१४९॥ एवं चतुर्थाध्यायो
 विचारितः । अत्र श्रीकार्यं भक्तानां विरहोद्बोधः स्फुट एव ।

पञ्चमं विचारयन्त इदानीं तेषां फलानुपप्रायकत्वे भगवन्माहात्म्यज्ञानेन
 स्तोत्रकरणमपि न स्यादित्यत आहुः—माहात्म्यमित्यादि । नन्वेवं सति माहात्म्य-
 ज्ञापनार्थिकं किमर्थमित्यत आहुः—संस्कारेत्यादि । संस्कारमात्रतायां गमकमाहुः
 व्यवहार इत्यादि । तथा च पितृव्यस्त्राभिमानपरित्यागपूर्विका भगवति सन्नति-
 स्तद्भक्तिरित्यर्थः । अत्र द्वाभ्यां वासनाभ्यां सप्तनिर्वाहादक्रूरे जीवान्तरमप्येषपक्षो
 नाङ्गीकृत इति बोधितम् । एवं पञ्चमाध्यायो विचारितः । अत्र 'ज्ञानकार्यं
 स्फुटमेव ॥

अथ षष्ठं विचारयन्तोऽक्रूरस्य गृहं प्रति प्रेषणे वैराग्यकार्यत्वस्य स्फुट-
 सादृशमेवस्फुटसात्तेषु तथास्वं वक्तुमश्रिमाध्याये धर्मिकार्यं बोधयितुं तदर्थकथन-
 पूर्वकं तदाहुः—कुब्जेत्यादि । अश्रिमाध्याये उक्तैर्वैराग्यबोधकैः कुब्जानिःशङ्कवचनैः
 स्वेच्छां पुरान्धेषणविषयां पूरयतो हरेरक्रूरं प्रति वचनैः कुला उभयमध्यगाभ्यां
 सन्देशपतितत्वाद्भक्तानां भगवत्प्रज्ञानोत्पादनद्वारा वैराग्यसन्देहनिवारकाहुक्तावित्यर्थः
 ॥१४८॥१५०॥ ननु दण्डस्य कथं वैराग्यबोधकत्वमित्यतस्तदुपपादयन्ति—रजक
 इत्यादिसाद्धेन । इहापीति धाष्ट्यादिदित्यनुपपन्नः । धाष्ट्यैर्बन्धं स्फुटीकुर्वन्ति
 प्रातिलोभ्येन । सीताया इत्यादि । नन्वेतादृशो दौष्ट्ये भगवान् दातुः श्रेयः किमित्यु-

कर्ममार्गे फलं सर्वैः प्राप्यते तत्तथोक्तवान् ॥१५२॥
 वल्गदातुः फलं ते स्याद्वन्यथा तु वधः स्मृतः ।
 मालाकारः प्रियो लोके भक्तानां सुतरां प्रियः ॥१५३॥
 उभौ परीक्षितौ सम्यक् ततो वण्डादिकं कृतम् ।
 तयोर्मध्ये वेषकर्त्ता नटानां सुतरां प्रियः ॥१५४॥
 प्रसादः स्त्रिषु वक्तव्यस्ततस्तस्मिन् पुरोदितः ।
 धनुषो भजनं चैव रक्षकाणां वधस्तथा ॥१५५॥
 निग्रहोऽपि द्विधा जातस्तैः सर्वं प्रकटीकृतम् ।

(अथ राजसप्रमेयम्)

प्रमेयबलमासाद्य ततः सप्तभिरुच्यते ॥१५६॥
 आसक्तिर्यादवानां च दुष्टानां च वधस्तथा ।
 प्रमेये सप्त भक्ता हि तावन्तश्चाऽपि विद्विषः ॥१५७॥
 देवकी वसुदेवश्च सर्व एव च यादवाः ।
 आध्यात्मिकप्रकारेण हावेतो परिकीर्तितौ ॥१५८॥

क्त्वानित्यत आहुः कर्मत्यादि । ननु प्रसादस्य कथं वैराग्यकार्यत्वमित्यत आहुः
 मालाकार इत्यादि । तथा च परीक्षैवोभयत्रापि वैराग्यबोधधिकेत्यर्थः । नन्वेवं सति
 राजके किं परीक्षितं येन तस्मिन् प्रसादवाक्यानि वाच्ये केचित् आहुः तयोरित्यादि ।
 तयोरिति मालाकारवाचकयोः । तथा च नटप्रियत्वाद्वाच्ये प्रसादो न तु स्वतः ।
 कर्मिणाद्राजके तथावाक्यमिति सर्वं वैराग्यकार्यमेवेत्यर्थः । परं वष्ट्राध्यायो विचारितः ।
 सप्तमार्थमाहुः धनुष इत्यादि । द्विषन्ति स्यावरजङ्गमभेदेन द्विधा ।
 तैरित्यादि कुञ्जारूपकरणद्विविधनिग्रहैः । सर्वं नयुदेवपुत्रलज्जत्वादिदं प्रकटीकृतं
 यादवानां प्रतिविषयीकृतमित्यर्थः । एवमूनपञ्चाशद्भिः प्रमाणप्रकरणं
 विचारितम् ॥

अथ राजसप्रमेयम् ।

अतः परं प्रमेयप्रकरणं सार्द्धं त्रिधा द्विर्विचारयन्तः समाख्या-
 बीजमाहुः प्रमेयबलमित्यादि । तथा च प्रमेयभूतस्य भगवतो यद्गलं तद्रोधकत्वात्
 प्रमेयप्रकरणे तिस्रमाख्येत्यर्थः । सप्ताध्यायात्मकत्वे बीजमाहुः—प्रमेये सप्तैत्यादि
 ॥१५१॥१५७॥ उभयान् गणयन्ति—देवकीत्यादिभिर्द्विभिः ।

१ त्रिषु ।

अधिदेवो गुरु प्रोक्तः पुत्रदानात्स मोक्षितः ।
 नन्दः पत्नीयुतश्चैव गोपिकाः कुब्जया युताः ॥१५९॥
 अकूरः पाण्डवाश्चैव सप्तैते निःप्रपञ्चिताः ।
 गजः पञ्च तथा मल्लाः सप्तमः कंस उच्यते ॥१६०॥
 भ्रातरस्तत्प्रसङ्गेन हताः सप्तैव दोषतः ।
 एतावानेव रूपे हि स्नेहद्वेषविनिर्णयः ॥१६१॥
 जीवन्तो मुक्तिमायान्ति भक्ता द्विष्टा हताः पुनः ।
 रूपं सर्वविमोक्षाय स्नेहासक्तिनिवारकम् ॥१६२॥
 भयं यस्मात्तस्य वधः कारणं तत्पुरोदितम् ।
 अध्यायद्वितयेनैव बहिरन्तर्व्यवस्थया ॥१६३॥
 ततः कालस्य सर्वेषां भयहेतोर्निवारणम् ।
 तेनैव सिद्धं माहात्म्यमासक्तः स्याद्भयादपि ॥१६४॥

ननु कंसभ्रातरोऽष्टौ हता इति कः ज्ञेयत्व आहुः—भ्रातर इत्यादि । तथा च
 तेषां वधस्य प्रासङ्गिकत्वात् तेन वध्याधिक्यमित्यर्थः । नन्वत्र निरोद्धव्यत्वात् एव
 वक्तव्या द्वेषनिरूपणस्य किं प्रयोजनमत आहुः—एतावानित्यादि सपादश्लोकम् । तथा
 च रूपप्राकृत्यस्य सर्वमोक्षहेतुत्वात् प्रमेयबलमूनचनार्थं तन्निरूपणमित्यर्थः । नन्वेवं सति यत्र
 कश्चिद्वक्तव्या अत्रैव कृत उक्ताः ? किञ्च, साधनाभावे कथं विमोक्षोऽपीत्यत आहुः—
 स्नेहेत्यादि । पुरेति सप्तमे, 'गोप्यः कामाद्भयार्कंस' इत्यत्र । 'तदि'त्यस्याभियादौ न सह
 योजना । उदितपदमत्राप्यनुपपद्यते । तथा च स्नेहद्वेषार्थमत्र निरूपणमित्यर्थः ॥१५८॥
 १६३॥ नन्वत्र 'तत्र प्रवयसोऽप्यासन् युवान' इत्यादिनिरूपणस्य किं प्रयोजनमत
 आहुः—तत इत्यादि । तथा च माहात्म्यज्ञानपूर्वत्वं विना स्नेहस्य भक्तिर्वं न
 स्यादिति पूर्वाङ्गसम्पत्तिबोधनाय तन्निरूपणमित्यर्थः । ननु भयनिवृत्तेः स्नेहात्स्वैऽपि
 भयस्य तन्निरोधितादन्वयैव निरूपणं युक्तं नाशेत्यत आहुः—आसक्त इत्यादि ।
 आसक्तिर्भक्तानन्वयः, तत्रैव मोक्षं प्रति व्यापारः । तथा च सा यया स्नेहाच्छया
 भयादपि पेशस्कन्दे कीटे तथा दर्शनात् । अत्र स्कन्धे सैव प्रतिपाद्यते । अतो
 भयस्य स्नेहविरोधित्वेऽपि कथनमत्र नायुक्तमित्यर्थः ॥१६४॥

एवं त्रिभिरिहाऽध्यायैरासक्तौ साधनं जगौ ।
 स्निग्धानां सान्त्वनाभावे प्रतिबन्धो भवेद्विह ॥१६५॥
 अतश्चतुर्भिर्भूतानां त्रिविधानां च सान्त्वनम् ।
 कालजं सान्त्वने व्यर्थमतः सद्भिर्निवारितम् ॥१६६॥
 अज्ञाने सान्त्वनं युक्तं तेन द्वाभ्यां ब्रजे जगौ ।
 यशोदा वाऽथ नन्दो वा गोपिका वा यदा यदा ॥१६७॥
 कृष्णासक्तैकहृदयास्तदाऽऽविर्भावमोति हि ।
 बहिर्मुखदशायां तु न पश्यन्तीति दुःखिताः ॥१६८॥
 अतः प्रबोध एवाऽत्र कर्तव्यो न ततोऽधिकः ।
 लोकवचु व्यवस्थानं लोकधर्मविनाशनः ॥१६९॥
 नन्दादीनां न कर्तव्यः पिष्टेपथो न युज्यते ।
 प्रपञ्चपातने सक्तास्ते कृष्णस्य न सर्वथा ॥१७०॥

एवं चात्रावान्तरं प्रकरणद्वयमन्यत्सिद्धयतीत्याहुः-एवमित्यादि ।
 साद्धेन । इहेति आसक्तौ । त्रिविधानामिति तामराजससात्विकानाम् ।
 ननु माहात्म्यज्ञापनाय क्रियमाणस्य कालनिवारणस्य भयाध्याये किमिति निरूपण-
 मित्यपेक्षायामाहुः-कालजमित्यादि । सान्त्वने कृते कालजं दुःखं चेत्स्याच्चा सान्त्वनं
 व्यर्थमिति योजना । कालजे सान्त्वनमिति वा पाठः । नन्वासक्तिप्रतिबन्धाभावो
 हि सान्त्वनप्रयोजनम्, सा तु पूर्णा अनपनोथा चेत्सान्त्वनस्य किं प्रयोजन-
 मित्याकाङ्क्षायामाहुः-अज्ञान इत्यादि । जगाविति । भगवत्स्थित्यज्ञानं जगौ ।
 तथा च स्थित्यज्ञाने दोषारोपसम्भावच्छायावार्थं सान्त्वनं युक्तमित्यर्थः । ननु बहुधापि
 सान्त्वने कृते दोषारोपो न निवारयितुं शक्यः शब्दार्थपक्षयो लोके प्रत्यक्षस्य
 बलिष्ठत्वादित्याकाङ्क्षायां सान्त्वनस्य युक्तत्वं तत्कार्यनिरूपणद्वारा बोधयन्ति-
 यशोदा वेति द्वाभ्याम् । ततोऽधिक इति बहिः स्वानुभवः । तस्याकर्तृव्यत्वे
 हेतुमाहुः-लोकवदित्यारभ्य नेत्यन्तम् । अतो बहिः स्वानुभावरूपः पिष्टेपथो न
 युज्यत इत्यर्थः । अयुक्तत्वमुपपादयन्ति-प्रपञ्चेत्यादि । न सर्वथेति न प्रपञ्च-
 विस्मृतिपर्यन्तम् । तथा च बहिरनुभवे तावत्पर्यन्तत्वाभावात्तद्विश्रममुपावनं न युक्त-
 मित्यर्थः ॥१७०॥

अन्तर्मुखे त्वाविरासीत्ततो बोधनमुत्तमम् ।
 चौर्यादिकं यथापूर्वं प्रपञ्चस्मृतिज्ञानतये ॥१७१॥
 तथा बहिर्मुखत्वेऽपि दुःखं यच्छत्यबोधतः ।
 मथुरास्था नाऽप्युनाऽपि निःप्रपञ्चा न सर्वथा ॥१७२॥
 अतः प्रपञ्चधर्माणां सद्ग्रहस्तां विचार्य हि ।
 जीवाः स्वभावतो दुष्टा दोषभावं नयन्ति हि ॥१७३॥

नयेवं सति क्रूरत्वमाप्येत्यत आहुः-अन्तरित्यादिति । आविरासीदिति
 आविरास्ते । पक्षे प्राप्तमपि तन्निरस्यन्ति चौर्यादिकमित्यादि । तथा चात्र
 कापि दोषलेषाभावात्काऽपि लीला नायुक्तैत्यर्थः । ननु यथा ब्रजस्थानां
 प्रपञ्चनिवृत्त्यर्थं भगवता यत्नो भूयान् क्रियते, तथा मथुरास्थानामर्थं कुतो न
 क्रियते निरोद्धव्यत्वस्यात्रापि तुल्यत्वादित्याशङ्कयामाहुः-मथुरास्था इत्यादि । नायु-
 नापीति सम्यगासक्ता इति । तत्र गमक्य-निःप्रपञ्चेत्यादि । अतो हेतोः तामपूर्ण-
 सक्तिं विचार्यै प्रपञ्चधर्माणां पुनस्तादीनां सद्ग्रहः । स्वमिन् प्रत्यापन्नं भगवता हि
 निश्चयेन कार्यते इति शेषः । हि यतो हेतोः स्वभावतो दुष्टा जीवा दोषसत्त्वमेव
 का. १७३ निबन्धकठिनांशविबेचनम् ।

का. १७३ अग्रे चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायार्थोक्तौ जीवाः स्वभावतो दुष्टा इत्यादि
 स्फुट इत्यन्तम् । जीवाः स्वार्थपरायणाः, स्वार्थे सिद्धे सर्वपरित्यागेन तज्जनितदुःखमप्यनुभूय
 स्वार्थेषाकं नोपकुर्वन्ति, नापि स्मरन्तीति जीवगतो दोषः कृष्णसङ्गताभिर्गोपिकाभिः कृष्ण
 आरोप्यते, यथा वा ज्वरामिभूतरसनेन्द्रियेण सितायां कदुकुत्वारोपः । तादृशदोषामावाय पूर्व
 प्रपञ्चविस्मृतिः संयोगलीलाया कारिता, निरन्तरं भक्ताधीनतया स्थितो न स्वार्थमात्रपरायण इति
 भक्तैर्ज्ञातः, स्वरूपलीलारसनमिमानामन्यविस्मरणान् महारसत्वमपि भगवतो ज्ञातं, परं
 भगवतो रसात्मकस्य द्विदलरूपत्वेन यदा भगवान् द्वितीयं दलमनुभावयति तदा तस्य तीव्रत्वेन
 सोढुमशक्यत्वान् ज्ञापितेपि दोषाभावे दोषः पुनः प्रत्यतिष्ठते, स्मरणेन च दुःखं जायत इति
 स्मरणमेव न कर्तव्यमिति भक्तानां भाति, तत् सर्वमुपदेशेन निवार्यते, वस्तुतस्तु भगवानात्मा
 सर्वाश्रयः भक्तवश्यः सत्यवाक्, अतस्त्यक्त्वा नैव गच्छतीति बोधेन पूर्वदोषनिवृत्तिः, संयोग-
 लीलायां प्रकटरूपस्तु देहेन्द्रियादिगामी, विरहे निरन्तरं स्मृतस्तु मनोषर्षणेन मनोवृत्त्यात्मगामी
 भवतीति दूरस्थित्यभिप्रायज्ञापनेनापि पूर्वदोषनिवृत्तिः, एतदेवोक्तं जीवा स्वभावत इत्यादिभिः
 पश्चिः श्लोकैः । इति ।

सर्वमेव स्वसम्बन्धात्तथा कृष्णेऽपि सङ्गताः ।
 प्रपञ्चविस्मृतिः पूर्वं दोषाभावाय कारिता ॥१७४॥
 कृष्णविस्मरणं तत्र न युक्तमिति बोधनम् ।
 प्रबोधे दोषहानिः स्यादात्मत्वे सुतरामपि ॥१७५॥
 तदुद्धवेन गुरुणा बोधयामास केशवः ।
 य एव स्यादुपायोऽत्र स कर्त्तव्यो न चेतः ॥१७६॥
 अतो बोधनमत्रोक्तं न तु साक्षात्स्वयं गतः ।
 आगतः सर्वदैवाऽऽस्ते तेषां चाऽऽयति सत्पवाक् ॥१७७॥
 इदं च बोधनास्तिद्धे दोषोऽपि विनिवर्त्तते ।
 दोषश्चतुर्धा टीकायां विस्तरेण प्रपञ्चितः ॥१७८॥
 तत्क्षान्तिश्चाऽपि बोधेन तेन नात्रोच्यते स्फुटः ।
 कुब्जा तु राजसी नारी तथाऽक्रूरश्च यादवः ॥१७९॥
 उपलक्षणभावेन द्वावेतौ विनिरूपितौ ।

मापयन्ति । तत्प्रसिद्धं महाभारते राजधर्मेषु षडग्रसेनादिकर्तृकम् । तथाऽधुनापि
 ज्ञातव्यम् । तथा च पूर्णसंक्राजातत्वाभेदानां तत्प्रपञ्चाभावयत्नः किन्तु
 ब्रजस्थानामेवार्थे इत्यर्थः ॥१७९॥१७८॥ ननु ब्रजस्थानां भगवदासक्तिप्रपञ्चविस्मृतयोः
 पूर्णतया जातत्वे कार्यस्य पूर्त्तः पुनः प्रबोधनस्य किं प्रयोजनमत आहुः-प्रपञ्चेत्यादि-
 ब्रयम् । अत्रेति विप्रयोगदशायाम् । दोषहानिरिति । सात्त्विकभावप्रतिबन्धक-
 दोषहानिः । आत्मत्व इति ज्ञात इति शेषः । तदिति तस्माद् आत्मत्वं वा ।
 तथा च स्वाविस्मरणार्थं सात्त्विकभावप्रतिबन्धनित्यर्थं प्रबोधोपदेवनमित्यर्थः । ननु
 यथेदं बोधनेनाऽधुत्तया स्वतोऽपि स्यादिति स्वयमेव कृतो नागादित्यत आहुः-
 य एवेत्यादि । नन्वनागमेने एष्याम इति आयास्य इति वाक्यवाच्यप्रसङ्ग इत्यत आहुः-
 आगता इत्यादि । अयमित्यस्य पूर्वार्द्धेन सम्बन्धः । इत्थमित्तिपाठश्चेत्तदा उत्तरार्द्धे
 एव सम्बन्धः । ॥१७९॥१७८॥

एवं सार्द्धेर्द्वादशभिस्तामसानां सान्त्वनेन समर्थितम्, राजसाना-
 माहुः कुब्जेत्यादि । निरूपिताविति । एकस्मिन्नध्याये उक्तौ । सात्त्विकानामाहुः-
 १ स्ति । २ सदा ।

कुन्ती च पाण्डवाश्चैव सात्त्विकौ पूर्वबन्मतौ ॥१८०॥
 धृतराष्ट्रकृते दुःखे तस्यापि स्यात्तु बोधनम् ।
 स तु सात्त्विकवर्षो हि पुत्रस्नेहात्तथाऽकरोत् ॥१८१॥
 अतः प्रबोध उचितस्तस्यापि स्यान्न संशयः ।
 एवं चतुर्भिर्ध्यायैः सान्त्वनं विनिरूपितम् ॥१८२॥
 प्रमाणेऽपि प्रमेयेषु भगवान् सत्स्वरूपधृक् ।
 क्रमेणैवाऽत्र संयोज्यस्तेन नोक्तो विशेषतः ॥१८३॥
 अलौकिकेन भावेन यावद्भिर्भगवत्कृतः ।
 स पूर्वार्धो हरेः स्वस्य धर्मेस्तादृश उच्यते ॥१८४॥
 लोकधर्मं पुरस्कृत्य यज्ञकार यदूहहः ।
 अस्वभावादुत्तरार्द्धे कार्यं तत्तु प्रकीर्तितम् ॥१८५॥
 प्रमेयं च तथा चार्द्धं राजसप्रकीर्तितम् ।
 एवं प्रमेयबलतः कृष्णासक्ताऽभवन्मुदा ॥१८६॥

(अथ राजससाधनम्)

ततो व्यसनसिद्धयर्थं साधनान्याह सप्तभिः ।

कुन्तीत्यादि । पूर्वचदिति । निरोद्धव्यत्वात्सान्त्वनीयो ॥१७९॥१८०॥ ननु तत्सान्त्वने
 कौन्तेय धृतराष्ट्रज्ञानोपदेशः कुत उच्यत इत्यत आहुः-धृतेत्यादि । अयं चरणः
 पूर्वार्धेऽपि सम्बन्धते । तस्य दुःखहेतुताया वारणीयत्वात्तस्याप्युपदेश इत्यर्थः । ननु
 योगप्रताभावे कथं स इत्यत आहुः-स न्दित्येति । तथाऽकरोदिति । राजसभाषे-
 नाकरोत् । अत इति राजसभावस्य निरर्त्तनीयत्वात् । न संशय इति प्रथम
 स्कन्धे तन्मुक्तेरप्युक्तत्वात्तथेत्यर्थः । प्रकरणार्थं निर्णायोपसंहरन्ति एषमित्यादि ।
 नन्ववाध्यायार्थो विशेषतः कृतो नोक्त इत्यत आहुः-प्रमाणेऽपीत्यादि । अत्र पूर्वार्द्धेऽपि
 समाप्तं तत्र बीजमाहुः-अलौकिकेनेत्यादि । स्फुटमन्वत् ॥१८१॥१८६॥ एवं
 सार्द्धं त्रिंशद्भिः प्रमेयप्रकरणं विचारितम् । दशमस्कन्धस्य पूर्वार्द्धं समाप्तम् ॥

अधोत्तरार्द्धम् । अथ राजससाधनप्रकरणम् ।

अतः परं षड्भिः साधनप्रकरणं विचारयन्तः समाख्यां समर्थ-
 यन्ति ततो व्यसनेत्यादि, तथा च व्यसनसाधनबोधकत्वादिदं साधनप्रकरणमित्यर्थः ।

लौकिके व्यसने प्राप्ते तस्मिंश्च विनिराकृते ॥१८७॥
 व्यसनासक्तहृदयाः कृष्णव्यसनिनोऽभवन् ।
 जरासन्धश्च यवनः पुनर्ब्राह्मणसंयुतः ॥१८८॥
 शिवप्रसादपुष्टश्च जरासन्धो विशिष्यते ।
 राजसस्तामसश्चैव सात्विकश्च प्रकीर्तितः ॥१८९॥
 केवलः पौरुषापेक्षः स सप्तदशधोदितः ।
 प्रजापतिप्रसूतत्वात्तावद्द्वारं समागतः ॥१९०॥
 अष्टादशे इन्द्रभावमापन्नः सहजो महान् ।
 ततो व्यसनकर्ता हि तदैश्वर्येण वै हरिः ॥१९१॥
 विश्वकर्माणमाहूय मधुरासमभावतः ।
 द्वारकां निर्ममे तत्र योगवीर्यं चकार ह ॥१९२॥
 ततो व्यसननिर्मुक्ताः कृष्णव्यसनमागमन् ।
 एवमेकेन भूतानां व्यसनं विनिवर्तितम् ॥१९३॥
 आध्यात्मिकानां च तथा तदर्थं यवनो हतः ।

किं तस्मान्मिल्याकाङ्क्षायामाहुः-लौकिक इत्यादि । व्यसने दुःखे । व्यसनासक्तहृदया दुःखासक्तहृदयाः । कृष्णव्यसनिनः कृष्णकृतानाः । तथा च दुःखनिवारकभगवदेकतानत्वं साधनमित्यर्थः । व्यसनप्राप्तानाहुः-जरासन्ध इत्यादि । तथा च जरासन्धस्यावस्थामेदेन द्वैविध्यान्नयस्ते इत्यर्थः ॥१८७॥१८९॥
 नन्वेवं त्रैविध्यं न युक्तं, जरासुतस्याष्टादशवारं युद्धायामगमनादित्यत आहुः-केवल इत्यादि । प्रजापतिप्रसूतत्वादिति । जया कृते सन्धाने तस्यैव प्रयोजकत्वात्तथा । तथा च ब्रह्मभावापत्तिकृतव्यसनस्य प्रकारान्तरापन्नत्वेन तन्निवारणस्यापि तथा-साद्युक्तमेव त्रैविध्यमित्यर्थः । शेषमतिरोहितार्थम् । निष्कण्ठं प्रथमाध्यायार्थमाहुः-एवमेकेनेत्यादि ॥१९०॥१९३॥

द्वितीयाध्यायं विश्वायन्तः सर्वेषां द्वारकायां नयने मधुरायां कस्याप्य भावेन क्लेशस्थानावाधवनहननं किमर्थमित्याशङ्कं परिहरन्ति-आध्यात्मिकानामित्यादि । आध्यात्मिकानां च दुःखानां विद्यमानत्वाच्चिदित्यर्थं यवनोहतः । तेषां स्थान-

अयाऽपि मधुरायां हि तिष्ठन्त्याध्यात्मिकाः सदा ॥१९४॥
 दैविकाश्चापि तिष्ठन्ति त्रिभिस्तान् मोचयत्यसौ ।
 रुक्मिणीव्यसनं तत्र नियामकमिति स्थितिः ॥१९५॥
 त्रिभिस्तस्य निवृत्तिर्हि वाक् शरीरं मनस्तथा ।
 मानसं वाचिकं वाऽपि कायिकं वा निराकृतम् ॥१९६॥
 आध्यात्मिकेऽधिकं किञ्चिदैविकाभेदासिद्धये ।
 व्यसनी मुचुकुन्दोऽपि निद्रया तन्निवारितम् ॥१९७॥
 फलप्रकरणं नेतत्तेन स्तुत्याऽपि नोऽभवत् ।
 साधनं परमुद्दिष्टं वीर्याध्यायो यतो मतः ॥१९८॥

माहुः-अयापीत्यादि । त्रिभिरिति अध्यायत्रयोक्तचरित्रैः । तथा च श्रीरामस्यान्येषां च लोकाणां तत्र विद्यमानताया धननयनादिलिङ्गेनावगमात्तत्र क्लेशस्थितिः शक्यवचनेति तृतीयाध्याये मागधनिवृत्तिपर्यन्तं चरित्रमाधिदैविकदुःखनिवृत्त्यर्थमित्यर्थः । नन्वेवं सति तत्र श्रीरुक्मिण्यादिकायाः किं प्रयोजनमत आहुः-रुक्मिणीत्यादि । तत्रेति आध्यात्मिकादिदुःखे । तथा चैवं सर्वराजभिर्विरोधे यादवकुमाराणां वा बलभगवतोर्वा विवाहः कथं कुत्र भावीति चिन्तारूप आध्यात्मिकदुःखाकारस्तन्मूलभूतदैवानुकूल्यचिन्तारूपो दैविकाकार इति प्रतिभाति तेनात्र तत्कथेत्यर्थः ॥१९४॥१९५॥ ननु श्रीरुक्मिणीव्यसननिवृत्तिचिन्तितः कुत उच्यत इत्यत आहुः-त्रिभिरित्यादि । तथेति दुःखहेतुभूतम् । अत्र वागन्वेषां हेया । निवृत्तिविभागमाहुः-मानसमित्यादि । आध्यात्मिके यादवानां दुःखे दूरीकर्तव्ये तस्य रुक्मिणीव्यसननियमितत्वाद्वाङ्मणोक्तभगवद्वचनानुवादेन मानसं वाचिकं वा तद्दुःखं निराकृतम् । तदधिमाध्याये कायिकं यदात्र हरणात्कायिकं निराकृतमुच्यते तदाग्निमे र्वभ्यादि-जयाद्वाचिकं मानसं चेति हेयम् । एवं प्रसङ्गे समर्थेयत्वा प्रस्तुतमाहुः-आध्यात्मिक इत्यादि, अधिकं किञ्चित् मुचुकुन्दाय स्वरूपप्रदर्शितरूपं कार्यं प्रस्तुतव्यतिरिक्तम् । तस्य प्रयोजनमाहुः-दैविकेत्यादि । प्रदर्शयमानस्य स्वरूपस्याधिदैविकाभेदज्ञापनार्थमित्यर्थः । ननु यादवव्यसननिराकरणे प्रस्तुते मुचुकुन्दस्य कः प्रसङ्ग इत्यत आहुः-व्यसनीत्यादिसादृशत्वेणम् । तदिति व्यसनम् । नो-अचदिति मुक्तो नोऽभवत् । उद्दिष्टमिति उपदिष्टम् ॥१९६॥१९८॥ ननु मुचुकुन्दस्यानुवादे साधन-

बलेन मोचितः स्वास्थ्यं न प्राप्स्यति कथञ्चन ।
 अतः साधनमुद्दिष्टं प्रवृत्तयै मृगयाकथा ॥१९१॥
 प्रारब्धकर्म तद्वृत्तं तेन वा तन्न नाशितम् ।
 तत्तद्धर्मप्रधानत्वाल्लीलायास्तत्र तत्र हि ॥२००॥
 तेन वीर्यगुणाद् बुद्धः सामर्थ्यं प्राप्य साधने ।
 तेनाऽथोन् मुक्तिरेवास्मै तदा भवति सर्वथा ॥२०१॥
 यवनोऽपि प्रविष्टस्तं ततः सिद्धिमवाप्स्यति ।
 यवनैर्दूषिते स्थाने न नित्या मधुरास्थिता ॥२०२॥
 व्यसनं च ततस्तेषां वारितं यवनार्दनात् ।
 जरासन्धजयार्थाय यवनानां धनं हृतम् ॥२०३॥
 दुष्टद्रव्यात् तस्याऽपि बुद्धिनाशो भविष्यति ।

मानोपदेशात्कथं वीर्यचरित्रत्वं येनाध्यायस्य तदारूपेत्यत आहुः बलेनेत्यादि । बलेनेति बलात्कारेण प्रमेयबलेन वा । तथा च तस्य मुत्सार्थमिदानीमनुद्धारो न त्वसामर्थ्यदितो नास्य वीर्याध्यायत्वहानिरित्यर्थः । ननु येषेवं तदा 'क्षेत्रधर्मस्थितो जन्तुनि'त्यादिकं कृतं उक्तमित्याशङ्कामाहुः-प्रवृत्त्या इत्यादि । ननु तदपि भगवता निवर्चितुं शक्यत एवेति नेदृशचरमित्यतः पसान्तरमाहुः-प्रारब्धेत्यादि । प्रारब्धस्य नाशाभावधतुर्थ- (मर्यादा)स्फुट्ये उपपादित इति मर्यादानुरोधात्तत्त्वर्थः । नन्वेवमप्यत्र वीर्यलीलात्वे गमकं नोपलभ्यत इत्यत आहुः-तत्तदित्यादि । हिंनिश्चये । तेनेति भगवता । तेनेति हेतुना । तथा च प्रकरणाभावात्तत्र फलायुक्तिः । वस्तुतस्तु फलमपि तावन्महाकाल-सुप्तस्य श्रुतद्रुक्रोधादिदोषसम्भवं निवार्य साधनकरणसामर्थ्यप्रापणेनात्रे युक्तदानं सिद्धमिति तदेवात्र गमकमित्यर्थः । तेन कार्यान्तरस्यापि सिद्धिमाहुः यवन इत्यादि । तथा च मुमुक्षुन्दकभार्या वीर्यनिरूपणार्थत्वमेव प्रसङ्ग इत्यर्थः । एवं द्वितीयाध्यायो विचारितः ।

तृतीयाध्यायं विचारयन्ति-यवनैरित्यादि । नित्येति । सन्निहित-भगवत्का । 'सर्वेषामंशानां भगवत्यत्र समागमा'दिति सुबोधिर्न्यां स्थितत्वात् । तत इति सन्निधानाभावात् । धनहरणादिप्रयोजनमाहुः-जरासन्धेत्यादिसाद्धेन ।
 १ सामर्थ्यप्राप्यसाधने ।

प्रवर्षणगिरिस्थानां जीवानां च विनाशनात् ॥२०४॥
 अग्नेः सम्प्रार्थनात्कृष्णः प्रवर्षणमथारुहन् ।
 बलात्मा बलभद्रोऽयमतः सोऽपि निरूप्यते ॥२०५॥
 अतो विवाहस्तस्याऽपि लोकरीतिश्च सम्मता ।
 बलभार्या निराधस्था नेति भक्तौ निरूपिता ॥२०६॥
 अतस्तस्याः कथामन्यामतिदेशान्न चोक्तवान् ।
 विवाहो द्विविधो लोके धर्मार्थो भोगसाधकः ॥२०७॥
 आद्यो धर्म्यस्तु कर्त्तव्यः पश्चाद्भोगार्थसाधकः ।
 गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृतौ ॥२०८॥
 विधिश्च वैदिकश्चैव सह सर्वैः स्ववान्धवैः ।
 रुक्मिण्यां प्रथमायां तु विवाहत्रयमुक्तवान् ॥२०९॥
 गान्धर्वो ब्राह्मणद्वारा स्तोत्रं भावावबुद्धये ।
 प्रसङ्ग कन्याहरणं द्वितीये स्पष्टमेव हि ॥२१०॥
 तत्सिद्ध्यर्थं तथा चक्रे कालः सस्तेवको यतः ।
 उत्तरोत्तरभावस्य वृद्धयर्थं रुक्मिणीवचः ॥२११॥
 पर्वणारोहो बलसहभावश्चेत्यपि प्रासङ्गिकमेवेत्याहुः अग्नेरित्यादि ॥१९१॥२०५॥
 बलविवाहस्तु श्रुतप्राय इत्याहुः साङ्ख्य-अत इत्यादि । अत्राध्याये यशसः कार्यमिति ज्ञापयन्ति विवाह इत्यादित्रिभिः । स्तोत्रं भावबुद्धय इति । श्रीरुक्मिणीकृतं श्रुत्वा 'गुणानि'त्यादिनोक्तं स्तोत्रं स्वभावस्य भगवति बोधना-यत्यर्थः । तृतीयार्थ उक्तः ।

चतुर्थीध्यायार्थमाहुः प्रसङ्गेत्यादि । तत्सिद्ध्यर्थं हरणसिद्ध्यर्थम् । तथा चक्रे विवाहकालः । 'अहो धिगस्मयश' इत्युक्तं तद्विकारं चक्रे यतः समीचीनो मुख्यः सेवकः । तथा च भगवदिच्छामवगत्य तेषां धिकार्यत्वबुद्धि-जनकमहद्भारसुत्यादित्वानित्यर्थः । ननु 'नमस्ये ताम्बिकेऽभीष्टेण'मित्यादि प्रार्थनस्य किं प्रयोजनमत आहुः उतरोत्तरेत्यादि ॥२०६॥२११॥ एवं सर्वसम्मतमित्यन्तेन चतुर्थीध्यायो विचारितः । अत्र श्रियो नयनात् श्रीकार्यं स्फुटमेव ।

विवाहकालात्पूर्वेद्युर्हरणं सर्वसम्मतम् ।

समुद्रस्तु पिता तस्याः कालकूटोऽग्रजः स्मृतः ॥२१२॥

स दैत्यानां हिताकाङ्क्षी हराविष्टो बलोऽहनत् ।

जिघांसन्तं जिघांसीयात्ताऽपि न हरिः स्वयम् ॥२१३॥

जघान रुक्मिणं मूढं दैत्यानां बुद्धिनाशकम् ।

वधानुकल्पः स्वद्रोहे भक्तद्रोहे वधः स्मृतः ॥२१४॥

वधानुकल्परूपं हि मुण्डनं तच्चकार ह ।

सर्वात्मा भगवान् कृष्णो यो यच्छुद्धः स एव सः ॥२१५॥

यो यथा यं प्रपद्येत सोऽपि तन्मन्यते तथा ।

रुक्मिण्यर्थं समागत्य तथा रुक्मी चकार ह ॥२१६॥

अतः कृष्णं प्रार्थयित्वा रुक्मिणी तं व्योमचयत् ।

भगवद्व्यतिरिक्तानामन्यधर्मः प्रवर्तते ॥२१७॥

नटवत्कपटाद्वाऽपि ततः प्राह बलस्तथा ।

द्वारकायां तु नेतव्यः सुखं बध्वाऽल्पबन्धनैः ॥२१८॥

पञ्चमं विचारयन्तो बन्धुनां भीष्मकप्रभृतीनां भगवते द्वित्सायां केवलस्य रुक्मिणः कथं विरुद्धो यत्न इति शङ्कायामाहुः समुद्र इत्यादि । तर्हि भगवता कुतो न हतस्तादृशः हराविष्ट इत्यादिसाद्द्वैतम् । तर्हि श्रीरुक्मिण्या कुन्तस्तस्य मोचनमित्याकाङ्क्षायामाहुः—सर्वास्मेत्यादि । तथा च श्रीरुक्मिण्या भगवति श्रद्धावचनेन भगवद्रूपतात्त्विकार्थं रुक्मिणः मृष्टत्वेन श्रीरुक्मिण्या भगवद्रूपया तन्मोचनमित्यर्थः । ननु तथापि बलदेवेन भगवान् किमित्युपालम्ब इत्याशङ्कायामाहुः—अगचदित्यादि । अन्यधर्मो रजस्तमोयमो गुणक्षोभवशात् प्रवर्तते, भगवति तु मायया नटवद्विद्यया कपटाद्वा तदुभयमपि नोचितम् । शुद्धसत्त्वेऽवतीर्णत्वाद् गुणातीतत्वाद्वा । ततो हेतौ बलभद्र उपालम्बं प्राह यथा मूलाभक्षणं । तथा च भगवदाश्रयाबोधात्तया वचनमित्यर्थः । ननु भगवतः करुणत्वात्प्रायेनेन यथा वधाभिरुचित्तया बन्धनादेरपि प्रायेणया स्यादिति तदभावोऽपि कुतो न प्रार्थित इतिशङ्कायां बन्धनं श्रीरुक्मिण्या अभिमतम् । ननु तत्प्रकारकमिति बोधयितुं तदाश्रयमाहुः द्वारकायामित्यादि ॥२१२॥२१३॥२१४॥२१५॥२१६॥२१७॥२१८॥

१ मुलम् ।

ततो मया प्रबोधयश्च नाऽन्यथेत्यन्तरं श्रियः ।

तदभावाद्भैमनस्यं तद्रामेण निवारितम् ॥२१९॥

तथा चेत्कुरुते कृष्णस्तदा लोको विरुध्यते ।

अस्मान् वञ्चयितुं रुक्मी कृष्णपक्षोऽप्युपाह्वयत् ॥२२०॥

यावज्जीवं तदा दुःखी दैत्यो दैत्यविसम्मतः ।

ज्ञानाध्याये तथा युक्तं दैत्यानां मुण्डनं मतम् ॥२२१॥

अत एव पुनः स्थानं कुण्डिनं न विवेश ह ।

रुक्मिणीसहितः कृष्णः सर्वेषां सुखदोऽभवत् ॥२२२॥

एवं त्रिविधजीवानामुद्धर्त्ता व्यसनार्णवात् ।

ततः कृष्णव्यसनिनो जाताः साधनमीरितम् ॥२२३॥

कामेन व्यसनं लोके स स्वयं व्यसनं गतः ।

देहनाशात्सर्वनाशाद्भारहरणतोऽपि हि ॥२२४॥

व्यसनं तदेवदेहाज्जातं चेन्नैव नश्यति ।

यदा मुक्तिप्रदानार्थं वासुदेवः समुद्रतः ॥२२५॥

तदा माया च कामश्च तस्माद्देवार्थमुद्धतौ ।

मायया मोहितो जीवः कामैर्नानाविधोऽभवत् ॥२२६॥

कामोत्पत्तिर्यदा कृष्णात्तदा तद्व्यसनं हतम् ।

स्वस्थः स्मृत्या विरक्तश्च सर्वानेव प्रबाधते ॥२२७॥

भगवतः सर्वज्ञत्वेन तदाश्रयस्यापि ज्ञानात्तथैव कुतो न भगवता कृतमिति शङ्कायां भगवदाश्रयमाहुः—तथा चेदित्यादिसाद्देन । मुण्डनस्यान्यदप्याश्रयमाहुः ज्ञानाध्याय इत्यादि । अत एवेति दैत्यत्वादेव । अध्यायगतार्थेषुप्रसंहरन्ति रुक्मिणीत्यादिसाद्देन ॥२२०॥२२३॥ एवं पञ्चमाध्यायो विचारितः ।

षष्ठं विचारयन्ति—कामेनेत्यादिसाद्देनार्थः । सर्वनाशादिति धन्यादिपरिकरनाशात् । नैव नश्यतीति शम्बरस्य शिवप्रसादकत्वात् बलिष्ठत्वाच्चैव नश्यति । तस्मादिति त्यन्लोपे पञ्चमी, तन्निवृत्त्युपायमनुसन्धाय । उद्धर्त्ताविति अली-

कृष्णसम्बन्धिदेहेन रुद्धो वा न तथाविधः ।
 एवं षड्भिः समस्तानां व्यसनभाव ईरितः ॥२२८॥
 दुष्टव्यसनभावत्वात्ते कृष्णेऽपि तथा जयुः ।
 तेषां वा व्यसनं कृष्ण आधिदैविकमात्मनि ॥२२९॥
 पश्चात्तं नाशयामास धर्मध्यायेन सिद्धता ।
 फलसाधनयोरैक्यं वक्तुमेका कथोच्यते ॥२३०॥
 मणिश्च व्यसनं हन्ति लोके खयातस्ततोऽपि चेत् ।
 व्यसनानि विनश्येरंस्तदा नैकान्तिको हरिः ॥२३१॥
 इति तस्य निराकृत्यै ततो व्यसनमुच्यते ।
 तच्चाऽपि चेत्कृष्णवाक्यात्साद्ब्रूयते सर्वभावनः ॥२३२॥

किंकप्रकारेण कार्यं कुर्वाणावभूताम् । व्यसनस्पृत्या विरामे कमपि न चापेतेत्यरुच्या
 पक्षान्तरमाहुः कृष्णेत्यादि । तथा च भगवद्विचारितानेव न बाधत इत्यर्थः । अत्र
 विचारितभिन्नानां बाधनं वैराग्यकार्यं बोध्यम् । एवं षष्ठो विचारितः ।

षड्विधलीलया भौतिकाध्यात्मिकनिष्ठचित्स्तेत्याहुः एवमित्यादि ॥२२४॥
 ॥२२८॥ ननु समस्तव्यसननिवृत्तौ किं व्यसनं शिष्टं यदर्थं यत्न इत्याकाङ्क्षायां
 मायाकृतस्य तस्यावशिष्टत्वं बोधनस्तन्निष्ठस्युपायो धर्मिणा क्रियत इति सप्तमा-
 ध्यायार्थबोधनाय तद्विचारयन्ति-दुष्टेत्यादि । तथा जयुरिति मणिहर्तृत्वं जयुः ।
 तथा चेदं मायामोहकृतमाधिदैविकमित्यर्थः । नन्वेवं निरुद्धानां कथमीदृशो भावः
 सम्भवतीत्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः-तेषां वेत्यादि । तथा च लोकाः कथामनुभवा
 मणिहरणस्य भगवत्प्रयुक्तत्वं वदन्तीत्येतादा आधिदैविकं व्यसनमित्यर्थः । सिद्धतेति
 भगवद्व्यसनशालिलमित्यर्थः । नन्वत्र प्रकरणे श्रीरुक्मिणीविवाहो व्यसनान्प्रकसाधनो-
 पोद्घाततरोक्तः । तेन दुःखनिवृत्तौ सत्यां साधनं सम्पूर्णं सिद्धमेवेति तत्प्रकरणे
 सत्राजित्कन्यादानादिप्रकथनस्य किं प्रयोजनमत आहुः-फलेत्यादि । फलं विवाहस्तदेव
 दुःखनिवृत्तौ साधनमिति बोधनप्रयोजनमित्यर्थः । प्रयोजनान्तरमाहुः-मणिश्चेत्यादि ।
 कथोच्यत इत्यन्तम् । तच्चाऽपीति । मण्येऽसन्नाशकत्वमपि । भगवद्वचनाकारमाहुः-
 मणेर्यावदित्यादि । कथेति मणिकथा । ननु तथापि भगवतो मणिपाचनस्य को
 वाऽशय इत्याकाङ्क्षायामाहुः-सूर्येत्यादि । तथा इति अन्यभक्तवाद्धेतोः । एतस्य

तदा व्यसननाशाय कल्पते नाऽन्यथा तु तत् ।
 इति निश्चित्य भगवान् सत्राजितमुवाच ह ॥२३३॥
 मणेर्यावद्धनं प्राप्यं तद्राजा दास्यतीति हि ।
 अविश्वासं कृष्णवाक्ये कृत्वा तं नैव दत्तवान् ॥२३४॥
 ततः सर्वक्षयो जात इति वक्तुं कथोच्यते ।
 सूर्यभक्तस्तु सत्राजित्ततो लक्ष्मीं सरस्वतीम् ॥२३५॥
 मणिरूपां कन्यकां च द्वयं भोग्यं हरेः परम् ।
 तयोरन्यत्र सत्राजिद्विनियोगं हि वाञ्छति ॥२३६॥
 अक्लिष्टकर्मा भगवान् कन्यार्थं तत्तथाऽकरोत् ।
 यादवोऽप्यन्यभक्तवात्र निरुद्धः प्रसेनकः ॥२३७॥
 मणेरतिक्रमाच्चैव मायाभृत्येन मारितः ।
 सोऽपि वक्रेण संस्पर्शाद्गामभक्तेन मारितः ॥२३८॥
 भक्तवालकसौख्याय मणिश्रीस्तत्र तिष्ठति ।
 ततः सा कन्यका प्राप्ता केवलोऽभूमणिस्तदा ॥२३९॥
 तदुच्छिष्टं न शुद्धं हि कृपया तदुपानयत् ।
 कन्यार्थमेव गमनं कार्तीयहृदवयुनः ॥२४०॥
 राजसानां परीक्षार्थं बहुकालं न चाऽऽगतः ।

पदस्य तयोरित्यनेनान्वयः ॥२२९॥२३६॥ तर्हि प्रसेनस्य कथमेवं मरणमित्यत
 आहुः-यादवोऽपीत्यादि । अतिक्रमादिति । पूज्यस्य तस्याभरणत्वेन विनियोगात् ।
 मायाभृत्येनेति । देवीवाहनेन सिंहेन । तर्हि सिंहः कुतो मारित इत्याकाङ्क्षायां
 तत्राप्यतिक्रममेव हेतुमाहुः-सोऽपीत्यादि । केसरिणो हि चर्पनखाश्च पवित्रा न
 तु वक्रं तत्-शेनं मणेरुच्छिष्टीभावत्वात्तिक्रम इति तथेत्यर्थः ॥२३७॥२३८॥ ननु
 भगवत्वेवं तथापि दुर्गमःप्रमाज्जेनस्य जातलाद्भगवतो विलम्बेश्चस्य किं प्रयोजनमत
 आहुः-भक्त्यादि गमनमित्यन्तम् । उचानमभिममम् । तत् इति भगवद्भक्तो-
 चरम् । केवल इति निःश्रीकः ॥२४१॥ सत्त्वमिति साधुत्वम् । नन्वप्यपिचित्तौ

जाम्बवद्रोधसिद्धयर्थमात्मतत्त्वं विहाय हि ॥२४१॥
सप्तविंशतितत्त्वानि मुष्टिभिर्निहतानि वै ।
ततः स्वरूपनिष्ठस्तु भगवज्ज्ञानमेयिवान् ॥२४२॥
लक्ष्मीं च कन्यकां बुध्वा लीलार्थं चाऽऽगतिं तथा ।
सत्त्वं सम्पाद्य पूर्वं हि मणिं कन्यां ददौ ततः ॥२४३॥
उच्छिष्टत्वान्मणिं कृष्णः सत्राजिहत्तमप्युत ।
न शूद्रादात्मजां वाणीं युक्तां स्वां जगृहे मुदा ॥२४४॥
सर्वात्मनान्यद्दयं न शृङ्गाति हरिः स्वयम् ।
सर्वात्मना प्रपन्नं च नाशायैव कलिं यथा ॥२४५॥
उच्छिष्टं भंक्तभोग्यं हि फलं भक्ताय दास्यति ।
एवं सप्तभिरध्यायैर्व्यसनं सुनिरूपितम् ॥२४६॥

(अथ राजसफलप्रकरणम्)

अतः फलं सप्तभिर्वै राजसानां निरूपयते ।
अक्रूरो यादवानां हि मुख्यस्तस्य फलं पुरा ॥२४७॥
ततः पञ्च विवाहाश्च विद्यापर्वस्वरूपकाः ।
नायिकाः फलरूपा हि कृष्णसम्बन्धतो मताः ॥२४८॥

कन्यां कुतो भगवान् शृहीतवानित्याशङ्कयामाहुः-सर्वात्मनेत्यादि । तथा च
यद्यपि मूले नोक्तं तथापि मुदाप्रहणरूपात्कार्यात्थात्वमनुमीयत इत्यर्थः । तर्हि मणिं
कुतो न शृहीतवानित्यत आहुः-उच्छिष्टमित्यादि । अत्र चाध्याये धर्मिलीला
स्फुटैव ॥२४२॥२४६॥ एवं सप्तमाध्यायो विचारितः । एवं षष्टिभिः
साधनप्रकरणं विचार्योपसंहरन्ति-एवं सप्तभिरित्यादि ।

अथ राजसफल-प्रकरणम् ॥

अतः परमष्टपञ्चाशद्भिः फलप्रकरणं विचारयन्ति-अत इत्यादि ।
अत इति अतः परम् । एतेन फलनिरूपकत्वात् फलप्रकरणमित्यादिसमाख्याबीजमुक्तम् ।
तत्र किं फलमित्याकाङ्क्षायामत्र पूर्वप्रकरणकैकविधं फलं किन्तु नानाविध-
मिति बोधयितुं तत्तदध्यायोक्तं प्रकारमाहुः-अक्रूर इत्यादि । पुरेति प्रपमाध्याये ।

तत इति । द्वितीयाध्याये ॥२४७॥२४८॥ ननु भगवत्सम्बन्धस्य फलत्वं
पूर्वप्रकरणे सिद्धमिति तस्य तथात्वं युक्तम्, कथमेतासां तथात्वमित्यत आहुः-
१ ब्रह्मभोग्यं भक्तभोग्यम् ।

तासां फलं हरिः कृष्णतत्सम्बन्धात्तथेत्तरे ।
कृष्णं फलमुपासाद्य दुःखग्रामाद्विनिर्गताः ॥२४९॥
ततोऽग्रे षोडशकलवृत्तिरूपाः सहस्रशः ।
सम्बन्धेन हरिं प्राप्तास्तत्सम्बन्धात्तथेत्तरे ॥२५०॥
फलं चतुर्विधं तत्र कृष्णप्राप्तिः पुरा फलम् ।
स्वप्राप्तिः कृष्णदेवस्य द्वितीयं फलमुच्यते ॥२५१॥
अन्योन्याध्यायासवच्चैतत्फलद्वयमुवाहृतम् ।
ततो भगवदंशस्य पुत्रभावेन कार्यवत् ॥२५२॥
लोकवेदप्रकारेण पुत्रपौत्रादिकं फलम् ।
तेषां च सर्वभावेन देवगुह्यादिना तथा ॥२५३॥
कार्यसाधनमत्यर्थं चतुर्थं फलमुच्यते ।
यथा लोके सर्वभावो लौकिकेषु प्रजायते ॥२५४॥
तथा कृष्णे सर्वभावस्तेषां जात इतीर्यते ।

तासामित्यादि । कृष्णतत्सम्बन्धात्, कृष्णेनसह तासांसम्बन्धः कृष्णतत्सम्बन्ध-
स्तस्मात् । तथेति सम्बन्धिरूपेण । एवमधिकारियेनेन फलयेदो द्वितीया-
ध्याय उक्तः ।

द्वितीयाध्याय आहुः-ततोऽग्रे इत्यादि । षोडशकलवृत्तिरूपा इति
षोडशकलं मनश्छान्दोग्ये सिद्धम्, तद्दृष्टिः नानाप्रकारकः सङ्कल्पविकल्पस्वरूपाः ।
तत्रेति । तेषु चतुःप्रकारेषु फलेषु पूर्वं फलं तं प्रविष्टं 'स्त्रियो वीक्ष्ये'ति श्लोक-
द्वयेनोक्तम् । द्वितीयं 'अथो मुहूर्तं एकस्मिन्त्रितिश्लोकेनोक्तम् । एतदेव यथाधि-
कारमक्रूरे प्रथमं तथैव महिषीषु द्वयं बोध्यम् ॥२४९॥२५१॥ द्वितीये विशेषमाहुः-
अन्योन्येत्यादि । उदाहृतमिति तत्तदध्याये उक्तम् । अत्र च 'इति सर्वाः पृथक्
कृष्णे भावेन हृदयं दधु'रिति । 'शुभेपु तासामनपायी'त्यनेन चोक्तम् ।

चतुर्थाध्याय फलशेष इति पञ्चमस्यं तदाहुः-ततो भगवदित्यादि ।
पूर्वोक्तादप्यरूपात्फलद्वयादस्य वैलक्षण्यमाहुः-कार्यवदिति ॥२५२॥

षष्ठसप्तमाध्यायद्वयोक्तं फलमाहुः-तेषां चेत्यादि । नन्वस्य लौकि-
कत्वेन भगवत्सम्बन्धाभावात्कथं फलमित्याकाङ्क्षयामाहुः-यथा लोके इत्यादि ।

कृष्णोऽपि चेत्तथा कर्ता तदा स्वप्नो मनोरथः ॥२५५॥
 प्रपञ्चद्वैतवत्तत्र कृष्णाद्वैतं फलं मतम् ।
 अर्थधर्मौ धर्मकामौ काममोक्षौ निरूपितौ ॥२५६॥
 केवलाश्चान्यसंयुक्ताः पुरुषार्थाः फलं मतम् ।
 अक्रूरस्य फलं सिद्धमर्थो धर्मेण संयुतः ॥२५७॥
 तदर्थं तादृशीं लीलां लोकाञ्जिह्वां करोति हि ।
 स्वतस्तेषां कृतिश्रेत्स्यात्कृष्णस्तोषं कथं व्रजेत् ॥२५८॥
 दुर्योधनाविहन्तारो यथा वै पाण्डवाः प्रियाः ।

नन्वेवं सति फलत्वं दुर्घटं सर्वभावस्य साधनकोटिनिरिच्छतादित्यत आहुः—कृष्ण इत्यादि । यथा लौकिकाः सर्वभावविषयाः सन्तः स्वप्नादिप्रयोजका भवन्ति, तथा कृष्णो भगवानपि सर्वभावविषयः सन् तथा कर्त्ता स्वप्नादिकं प्रयोजयिता, तदा तेषां भगवद्विषयकः स्वप्नो मनोरथश्च, 'पिता मर्मैवं कर्ता' 'शसुरो मर्मैवं दाता लोलपिते'त्यादिरूपो भवेत् । ततश्च लौकिकसर्वभाववतां यथा प्रपञ्चद्वैतं तथा तेषां कृष्णाद्वैतं भवतीति हि सर्वभावस्य स्वरूपम् । एतदेव साधनाध्यायनृतीयपदादे 'स एवाऽधस्ता'दित्यादिछान्दोग्यश्रुतिमुपन्यस्य विचारितम् । तद्यद्यपि मुख्यफलाधिकारिणां साधनरूपं तथापि सायुज्याधिकारिणां तत्फलं मतं फलत्वेन सम्भवम् । तथा च साधनकोटिनिरिच्छत्वेऽपि अधिकारिभेदात् फलं नान्तरीयकत्वात् फलसम्पत्तिक्रमिन्त्यर्थः । प्रकान्तरेण फलचातुर्विध्यमाहुः—अर्थेत्यादि । द्वितीयां चातुर्विध्यविभागप्रकारमुदाहृत्य विशदीकुर्वन्ति—अक्रूरस्येत्यादि । तादृशीं दुर्घटशैलेनरूपाम् । लोकाञ्जिह्वाम् लोकविलक्षणाम् । ननु बीभत्सानुभवः प्रकान्तान्तरेणापि भवेदिति किमर्थमेवं करणमित्याकाङ्क्षायामाहुः स्वत इत्यादि । कृतिः सत्राजिद्वयकृतिः ॥२५३॥॥२५८॥ ननु तदर्थेन किं भगवत् इत्यत आहुः—दुर्योधनादीत्यादि । अयमर्थः । 'भगवान् हि मुख्यार्थमवतीर्णोऽन्यसम्बन्धस्य राहित्येन स्वमात्रैकतानत्वे तां ददात्तान्यसम्बन्धं च न सृष्टे, वध्यानां च हनेनेन तां ददाति । प्रकृते च दुर्योधनादय इव सत्राजिदादयोऽध्ययसम्बद्धा इति तदन्तारोऽपि अन्ते लभ्यन्ति न्यायेन वध्यमुक्तिप्रयोजकतया भगवदभिमतकरणात् प्रिया इति तदर्थं तथैत्यर्थः ॥२५९॥ ननु तर्हि पाण्डववत् सोऽपि कुनो न रक्षित इति १ पालयिता ।

सत्राजिद्वातकास्तद्वच्छतधन्वादयो मताः ॥२५९॥
 युद्धेन मारणं मुख्यं वने वा गुप्तभावनः ।
 न तु सुप्तस्य सर्वासां समक्षं मारणं मतम् ॥२६०॥
 शतधन्वा ततो वध्यो मुक्त्यर्थं मारितः स्वतः ।
 गुप्तलीला फले वाच्या तेनाज्ञानप्रकाशनम् ॥२६१॥
 विद्यया बोधनं चापि विलम्बश्च पलायने ।
 अक्रूरवत्सोऽपि तिष्ठेद्द्वितीयो वा तत्र वै भवेत् ॥२६२॥
 तदा वध्यो न चैव स्यात्परं पापेन दूषितः ।
 युद्धार्थं कृष्णदेवेन मित्रयोः प्रार्थना तथा ॥२६३॥
 कृत्वा ज्ञात्वाऽपि माहात्म्यं शरणं न स आगतः ।
 अलौकिकं फलं ह्येतन्मर्यादायां न युज्यते ॥२६४॥
 अतो हि बलदेवस्य नःऽन सम्मतिरुक्तमा ।
 अत्रैव बलदेवस्थं भिन्नमासीन्नियेशितम् ॥२६५॥
 भगवद्धर्मजातं हि ततः स मिथिलां गतः ।
 अरुचिश्च हरावासीदुन्यधर्मप्रवेशतः ॥२६६॥
 अतः परं तु रामेण नैकमस्यं क्वचित्कचित् ।
 लोकेऽपि फलमेतादृक् सेवकानां न रोचते ॥२६७॥
 अतस्तद्गोपनार्थाय मारयित्वाऽन्यथैव हि ।
 मण्यर्थं मारणं वक्तुं वृथा मारणमाह हि ॥२६८॥

चेत्तत्राहुः—युद्धेनेत्यादि । नन्वेवं सति भगवतः सर्वं विदितमेवेति विलापादिकं कुत इत्याकाङ्क्षायामाहुः—गुप्तेत्यादि । बोधनम् अक्रूरादिकवैकम्, विलम्बः शतधन्वकवैकः । तर्हि तदैव कुतो न मारित इत्यत आहुः—अक्रूरेत्यादि । ननु तर्हि युक्तेरेवं देयत्वात् श्रीरामस्य कुतो वैनस्यमित्यत आहुः अलौकिकमित्यादि ॥२६०॥॥२६४॥ नन्वेवं सत्यपि बलदेवो भगवन्तं विहाय किमिति मिथिलायां गत इत्यपेक्षायामाहुः—अत्रैवेत्यादि, निवेशितमिति । द्वादशाध्याये निवेशितम् । भगवद्वाक्यतात्पर्यमामाहुः—लोकेपीत्यादिसाद्धेन । एतेनेयमैश्वर्यलीलेति बोधितम् ॥२६५॥॥२६८॥ एवं

सोऽपि ज्ञात्वा व्यवसितं क्षोभशान्त्यै ततो गतः ।
 काडयादितिर्ये धर्मस्य सिद्धिरर्थेन साधिता ॥२६१॥
 पुनः स्वस्थानमायातौ मणिं चाऽवापतुः प्रभोः ।
 एवं यादववर्येषु फलमेतेन बोधितम् ॥२७०॥
 तथैव पाण्डवानां च फलं दातुं विनिर्गतः ।
 सान्त्वने तेऽपि निर्दिष्टास्ततो गर्वत्रयं ददौ ॥२७१॥
 आमुष्मिकं फलं सूर्यात्स हि वेदात्मको यतः ।
 तत्सम्मतिं ज्ञापयितुं कालिन्दीप्राप्तिरुच्यते ॥२७२॥
 तदर्थममनं ज्ञाननिवृत्तयै प्राप्य तां पुनः ।
 इन्द्रप्रस्थे स्थितः कालं तस्कार्याणां हि साधकः ॥२७३॥
 आत्मबोधस्वरूपेयं तेन व्यावर्तितोऽर्जुनः ।
 मित्रविन्दा तपोरूपा तेनानीता बलान्निजात् ॥२७४॥
 अन्तस्तापवहिस्तापौ भ्रातराविव बोधितौ ।
 स्वभागत्वाद्भुता तस्या वन्भूनां चाऽखिलार्थदः ॥२७५॥

प्रासङ्गिकं श्रेष्ठं निरूप्य श्रेष्ठिणं निरूपयन्ति-सोऽपीत्यादिब्रह्मभ्याम् ।
 सोऽपीति अकूरोऽपि । आयातायिति अकूरकृतवर्माणो आयातौ । तेनाकूरस्या-
 र्थवर्धयोः प्राप्तिरुक्ता । एवं साद्वैजयमोदशभिः प्रथमाध्यायो विचारितः ॥
 द्वितीयाध्यायं विचारयन्ति तथैवेत्यादिभिः । ननु यादवानां फले
 वक्तव्ये पाण्डवानां कः प्रसङ्ग इत्यत आहुः-सान्त्वन इत्यादि । गर्वत्रयमिति ।
 गर्वजनकं त्रयं विश्वकर्मकारिते नगरम्, अमियत्तं गाण्डीवादिकर्म, मयकृता सभा चेति ।
 एतेषां यथायथं धर्मार्थकामसाधकत्वात्फलप्रकरणत्वाच्च चर्गत्रयमिति पाठः प्रतिभाति ॥
 ॥२७०॥२७१॥ प्रस्तुतं फलं वक्तुं तेषां स्वरूपादिकमाहुः-आमुष्मिकमित्यादि,
 ज्ञापयितुमिति यादवानामामुष्मिके फले वैदिकीं सम्मतिं ज्ञापयितुम् ।
 आप्न्येति भिन्नं पदम् । कालमिति अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । यावता कालेन
 पाण्डवकार्यसिद्धिस्तावत्कालमित्यर्थः । एतेन तेषां फलस्य प्रासङ्गिकत्वं
 स्फुटीकृतम् । अन्यथा तत्रैव कालिन्दीमुद्गहेतुं । हिर्हेतौ । द्वितीयस्वरूपमाहुः-
 मित्रविन्देत्यादि ॥२७२॥२७३॥ तपोरूपत्वे गमकमाहुः अन्तरित्यादि ।
 स्वभागत्वादिति । 'भागस्ते पैतृशसेयो'ति श्रुत्युक्तभागत्वात् । तस्या इत्यादि ।

योगात्मिकां नाग्नजितीं सूर्यवंशासमुद्भवाम् ।
 व्यसनान्वयग्रतो जिता तां जग्राहाऽखिलर्द्धये ॥२७६॥
 सिद्धिरूपं पारिवर्हमतस्तत्र निरूपितम् ।
 व्यसनाविष्टचित्तानां तत्रेच्छा न तु लभ्यते ॥२७७॥
 इति दर्शयितुं पश्चाद्युद्धमाह नरेण हि ।
 नित्यानित्यविवेकारूपा भद्रा स्वयमुपागता ॥२७८॥
 भक्तिरूपा लक्ष्मणाऽपि बलाद् बुद्ध्या च सङ्गता ।
 तस्या विस्ताकथनं सात्त्विकानां फले जगौ ॥२७९॥
 सर्वार्थसाधनेयुक्तः स्वतोऽपि फलदायकः ।
 फलप्रकरणे प्रोक्तः कृष्णः सर्वहितप्रदः ॥२८०॥
 विषयाणामिन्द्रियाणामनन्तत्वं यदा भवेत् ।
 ज्ञानसाध्ये कर्मसाध्ये फले स्यान्निवृत्तिः पुरा ॥२८१॥
 इति ज्ञापयितुं कृष्णः सहस्राणि च षोडश ।

आनोरेव निषेधकत्वेनान्येषामनुकूलत्वात्तथैत्यर्थः । इदमपि तपोरूपत्वगमकम् । द्वितीय-
 स्वरूपमाहुः-योगेत्यादि । गमकमाहुः-सूर्येत्यादि । नवमे स्कन्धे तद्देश्यानां योगि-
 तस्य दर्शितत्वात्तदशजत्वेन तथैत्यर्थः । गमकान्तराण्याहुः-व्यसनानीत्यादि ।
 तज्जयस्य योगाङ्गत्वादित्येषकं गमकम् । अखिलर्द्धये इति । यादवानामिति शेषः ॥
 ॥२७५॥२७६॥ अत्रापि गमकमाहुः-सिद्धीत्यादि । चतुर्थस्वरूपमाहुः-नित्या-
 नित्येत्यादि । नित्यानित्यविवेकारूपा प्रसिद्धित्वेनो वैराग्याचन्द्रया । तत्र गमकं
 स्वयमुपागतेति । ज्ञानयोगतपसां सिद्धौ वैराग्यस्य स्वत एव प्राप्तिस्तथैत्यर्थः ॥
 ॥२७५॥२७८॥ पञ्चमस्वरूपमाहुः-अर्कित्यादि । गमकमाहुः-हीत्यादि । हिर्हेतौ ।
 बलं माहात्म्यज्ञापकम् । बुद्धिः स्नेहज्ञापिका । प्रमाणमाहुः-तस्या इत्यादि । तथा च
 विस्तारेण प्रकरणेन च तदुभयरूपतायाः फलभक्तिरूपास्फुटीभावादित्यर्थः । अत्र
 मरिचीणां काममोक्षयोर्धर्मैकामयोर्वै सिद्धि स्फुटीकुर्वन्ति-सर्वार्थेत्यादि । अत्र
 वीर्येलीला स्फुटैव ॥२७९॥२८०॥ एवं दशमिन्द्रितोयो विचारितः ॥

साद्वैष्टमिस्तुतौयं विचारयन्ति विषयाणामित्यादि । स्यादिति ।

१ गर्व । २ यथा ।

नराणां कं सुखं हत्वा देवांश्च परिभूय हि ॥२८२॥
 महिषीवृत्तिरूपास्ताः कालदोषनिवृत्तये ।
 उदाहयामास मुदा लोकत्रेदौ समर्थयन् ॥२८३॥
 अविद्याकार्यरूपो हि मुरो नरकरक्षकः ।
 तत्पुत्राः पीठसहिताः प्राकृताः खादिवन्मताः ॥२८४॥
 नरको भगवत्पुत्रश्रुतभूर्भूतैस्तपस्स्थितः ।
 तपसोऽन्ते तपस्विभ्यः फलदातुस्तु याचनात् ॥२८५॥
 भूम्यां जातो वरः प्राप्तो न वध्यः सकलैरपि ।
 नारायणास्त्रयुक्तश्चेत्परं पुत्राय तद्ददौ ॥२८६॥
 तेन वध्यो हरेर्जातस्तथैव मुखमैहिकम् ।
 देवाधीनं तथा पुत्रफलं तत्र निवारितम् ॥२८७॥
 देवाधीनत्वमेतेन विरक्तो भक्तिसंयुतः ।
 ऐहिकामुष्मिकफलं कृष्णात्प्राप्तोत्यसंशयम् ॥२८८॥

तदेति शेषः । उदाहयामासेति । स्वार्थेणिच, रामो राज्यमचीकरदितिवद् । मुदा कालदोषनिवृत्तये लोकत्रेदौ समर्थयन्मुदुवाहेत्यर्थः । एतेन यशोलीलेयमिति बोधितम् । खादिवदिति इन्द्रियादिवत् । वरः प्राप्त इति नेनेति शेषः । वराकारमाहुः-नेत्यादि चेदित्यन्तम् । वध्यत्वे प्रकारमाहुः-परमित्यादि । पुत्राय भगवदचाय । तथैवेति । अविद्याकार्येणाहन्तादिना रक्षितमिन्द्रियादियोगितं भूम्यां जातं भगवदाज्ञाविरुद्धकृतिसहितं यदैहिकं सुखं नराणां तद्भगवन्नायं देवाधीनमिति तणुष्यता । एतास्वन्यमपि विशेषमाहुः-तथेत्यादि । ताम् आशुत्रिकं फलं देवाधीनम्, तत्र हेतुः-निवारितमिति । अष्टावश्रेण धर्मसाक्षिवास्तिमित्यपि विशेष इत्यर्थः । स च न वधं साधिव साक्षात्परमिति सात्विकफलप्रकरणे स्फुटीभवत्पिति । एतेनैतासां धर्मकामौ केवलः कामो वा सिद्धः ॥२८१॥२८६॥ एतच्छ्रीलामयोजनमाहुः-देवेत्यादि । एतेनैतद्व्यतिरिक्तानां देवाधीनत्वं निवारितमिति सम्बन्धः । सिद्धमाहुः-विरक्त इत्यादि, तथेति । कृतवानिति शेषः । २८८३ । एवं सार्द्धा-ष्टमिस्तृतीयो विचारितः ।

यादवानां समस्तानामेवं दातुं हरिस्तथा ।
 परिहासविलासस्तु रुक्मिण्या यदिहोदितम् ॥२८९॥
 तद्वाचिकतिरोधानं गोपीनामिव कायिकम् ।
 अभिमानाविशेषाणां निवृत्तये मध्यमत्वतः ॥२९०॥
 अन्तिमे च तथाऽध्याये मानसं च प्रवक्ष्यति ।
 एवं त्रिधा तिरोभावो दोषाभावाय बोध्यते ॥२९१॥
 अत्यन्तं कोमला भक्ता न कृष्णरसभोजने ।
 समर्था इति दाढर्थाय तिरोधानं करोति हि ॥२९२॥
 अनेन सर्वभक्तानां सामर्थ्यं चाऽपि यच्छति ।
 फलभोगे फलं चाऽपि तथा दोषं निवारयन् ॥२९३॥
 पुत्रपौत्रादिसम्पत्तिः फलपूर्वमुदाहृतम् ।
 तत्र दोषसमुद्भावे दैत्येष्वेव नियोजयेत् ॥२९४॥
 इति दर्शयितुं रुक्मी हतो रामेण मङ्गले ।
 अधर्माद्वाहजं पापं तत्रैव निहतं यतः ॥२९५॥
 अतः पापं प्रतिहते सुखिनस्ते समागताः ।
 अतः परं सर्वभावेः कृष्णो भक्ताश्चासाधकः ॥२९६॥

चतुर्थं विचारयन्ति सार्द्धंश्रुतिभिः- परिहासेत्यादि । मध्यमत्वत इति मध्यमाधिकारितात् । भगवद्विषययोगस्येदसहिष्णुत्वं प्रथमाधिकारित्वम्, अधिकासहिष्णुत्वं मध्यमाधिकारित्वं मध्यमत्वम् । अत्यन्तासहिष्णुत्वं चोच्यते । अन्तिम इति स्कन्धसमाप्त्याध्याये । प्रवक्ष्यतीति 'स्त्रिय जजु'रित्यादिना कथयिष्यति । निवारयन्ति यच्छतीत्यनुषङ्गः । एतेनात्र फलानुकाशपि तच्छेष-निरूपकत्वेनास्याध्यायस्य फलप्रकरणान्तःपातिसमित्यर्थः । अत्र श्रीलीला स्फुटीव ॥२८८॥२९३॥

पञ्चमाध्यायं विचारयन्ति सार्द्धंभ्याम्-पुत्रेत्यादि । तत्रेत्यादि । पुत्रपौत्रादियु सम्बन्धादिवशेन दोषोत्पत्तौ तद्दोषफलं 'एष भगवान् द्विषन्तः पापकृत्या'मिति श्रुत्युक्त्यायेन दोषयोजनेऽपि दैत्येष्वेव योजयेदित्यर्थः । इयं च ज्ञानलीलेति ज्ञापनायाहुः-अधर्मेत्यादि ॥

इति दर्शयितुं प्रोक्तमूषाख्यानं महाद्भुतम् ।
 अध्यायद्वितयैव वैराग्येणाऽपि धर्मिणा ॥२१७॥
 तूष्णीं स्वधर्मान् संहृत्य ज्ञात्वाऽप्यास्ते सदा हरिः ।
 यदोत्कृष्टं भक्तकार्यं कुतश्चित्स्त्रिभुवेति हि ॥२१८॥
 इत्यूषाहरणं ज्ञात्वा रक्षकांश्च निवारयन् ।
 अनभिप्रेतकर्ता च नारदेन निवारितः ॥२१९॥
 एतदर्थं यतो लोके मुग्धभावस्थिरोऽभवत् ।
 महादेवादिभिर्युद्धं नाट्यमत्र न संशयः ॥३००॥
 महादेवांश्च एवाऽर्थो यतोऽयं हरिणा कृतः ।
 भक्तेषु पक्षपातो हि सर्वदेवेषु बोधितः ३०१॥
 तथाऽप्यशक्ता निखिला इति बाहूश्चक्रेत् ह ।
 भक्तप्रियेषु सर्वेषु ये केचिद्धिमताः कचित् ॥३०२॥
 यावता ते भविष्यन्ति सम्मतास्तत्करोति हि ।
 अनिरुद्धकथा प्रोक्ता यादवानां च सूचिका ॥३०३॥
 राजसानां फलं होतृफलं कृष्णानु निर्गुणम् ।
 एवं फलप्रकरणं राजसेषु निरूपितम् ॥३०४॥

पद्यसप्तमौ विचारयन्ति-अतः परमित्यादि । वैराग्यलीलत्वं स्फुटीकुर्वन्ति-
 तूष्णीमित्यादि । सदेत्यत्र यदेति यदेत्यत्र तदेति पाठः प्रतिपादि । धर्मिलीला
 शिवस्तुत्यादिभिः स्पष्टैव । इतीति । 'ज्ञापयितुमिति शेषः । निवारयन्निति । तूष्णी-
 मासेत्यनुपपन्नेन योजना । अशक्ता इति स्ववदचार्यरक्षणे अशक्ताः । एतेन कर्तव्येन
 यज्ञापिते तदाहुः-भक्तप्रियेद्विवत्यादि । अनिरुद्धकथोपसम्बन्धप्रयोजनमाहुः-
 अनिरुद्धेत्यादि । सूचिकेति । उल्लेखमूचिका । सिद्धमर्थमाहुः-राजसानामि-
 त्यादि । राजसानां विचारे फले हि निश्चयेन एतत्परिदृश्यमानं सर्वभावैः सर्वार्थसाधन-
 रूपम् । त एतावदेव फलत्वेनाविद्वन्नित्यर्थः । तर्हि तत्त्वविचारे किं फलमित्याकाङ्क्षा-
 यामाहुः-फलमित्यादि । निर्गुणं विश्रमायानिर्दृष्टिरूपमित्यर्थः । उपसंहरन्ति एव-
 मित्यादि । एवं सादृश्विनवत्यधिकशतैः राजसप्रकरणं विचारितम् ॥

॥ राजसप्रकरणं समाप्तम् ॥

१ सर्वदेव ।

(अथ सात्त्विकप्रकरणम्)

अतः परं सात्त्विकानां प्रक्रिया विनिरूप्यते ।
 नृगमोक्षादियज्ञान्ता वसुदेवस्य धीमतः ॥३०५॥
 प्रमाणानां बलं तत्र सात्त्विकानां न मृग्यते ।
 प्रक्रियात्रितयं तत्र प्रमेयादि निरूप्यते ॥३०६॥
 स्नेहस्तेषां पूर्वसिद्ध आसक्तिश्चापि वै दृढा ।
 व्यसनेनाऽभवन् शुद्धा राजसाः किन्तु दोषतः ॥३०७॥
 संस्कारमात्रात्पृथ्वा च सम्पत्त्या चोद्धृताः सदा ।
 अतो दोषनिवृत्तिर्हि सर्वेषामत्र वर्णयते ॥३०८॥
 नृगः पूर्वतनो भक्तः सात्त्विको धार्मिकस्तथा ।
 अतिदानेन दुःखं स प्राप्य कृष्णेन मोचितः ॥३०९॥
 आज्ञेच्छाऽभावतो दोषमभिमानानु केचन ।

अतोऽत्र त्रयोदशाधिकशतैः सात्त्विकप्रकरणं ससाध्यायैस्त्रिभि-
 रवान्तरप्रकरणैरुत्पद्यन्ति अतः परमित्यादिभिः । कुत एतस्य प्रकरणस्य न्यूनते-
 त्याकाङ्क्षायामाहुः प्रमाणानामित्यादि । सर्वे हि प्रमाणं ज्ञानरूपत्वाज्ञानजनक-
 लाच । अत्रोच्यमानान्तु तदुद्रिक्ता इति तेषां प्रमाणज्ञानस्य स्वाभाविकत्वेन तज्जनक-
 प्रमाणानां बलं तत्प्रक्रियायां न मृग्यते, ते हि भगवन्ते नन्दकुमारं वसुदेवपुत्रमोक्षार्-
 जानन्तीत्यतस्तथेत्यर्थः ॥३०५॥३०६॥ अनु भवत्वेवं तथाऽप्यस्मिन् प्रकरणे राजसा-
 स्तामसाश्च कुतो निरूप्यन्ते सङ्कीर्णत्वापादका इत्यत आहुः स्नेह इत्यादि । व्यसन
 इति व्यसनार्थम् । दोषत इत्यस्य विशेषणम् । संस्कारमात्रादिति । दोषस्तु
 राजःकृतो विशेषोऽत्र बोध्यः । तथा च तेषां निरूपणस्य दोषनिवारणार्थत्वेन
 प्राप्तिकलाच तेन रूपेण तेषां प्रकरणित्वम् । किन्तु निवृत्ते दोषे सात्त्विकत्वेनेति
 तथैव तामसानामपीति न साङ्ख्यप्रयोजकतयर्थः । तर्हि नृगाल्लुतः प्रकरणारम्भ
 इत्यत आहुः-नृग इत्यादि । प्राप्येति । स्थित इति शेषः । प्राप्त इति वा पाठः ।
 मोचित इति प्रमेयबलेन मोचितः । अनेन प्रमेयबलकरणकस्य दोषनिवार-
 णस्यात्र निरूपणादस्य प्रमेयप्रकरणेति समाख्या सेत्स्यतीति बोध्यम्
 ॥३०७॥३०९॥ नयेतादृशस्य धार्मिकस्य कुतो दोषोत्पत्तिर्येन मन्वन्तरप्रथम-
 युगोत्पन्नस्यागाविश्रद्धापरान्तं दुःखमित्याकाङ्क्षायामाहुः-आज्ञेत्यादि । आज्ञा चेच्छा

अत्यन्तमाग्रहो धर्मे विचारादेरभावतः ॥३१०॥
 दुःखभोगाय भवति कृष्णादन्यत्र सर्वथा ।
 भक्तियोगे तु भगवांस्तादृशं चापि मोचयेत् ॥३११॥
 तथा यथा न कुरुते तदर्थं तादृशं हरिः ।
 कृकलासं सर्ववध्यं सर्वक्षोभाञ्चकार ह ॥३१२॥
 यथैको ब्राह्मणः क्रुद्धस्तथैवैकत्र कर्मणि ।
 यावन्तो योगमापन्नास्तावतां क्रुद्धं तु तत् ॥३१३॥
 अतोऽन्यत्र व्यसनिनो धर्मादिषु यथायथम् ।
 दुःखभाजो भवन्त्येव तस्मात्कृष्णे तदाचरेत् ॥३१४॥
 असङ्ख्यातत्वकथने दृष्टान्तत्रयमीरितम् ।
 तामसादिविभेदेन गुणाश्चाऽपि त्रिधा मताः ॥३१५॥
 अतस्तामसधर्मेषु ध्रमस्तस्य फलिष्यति ।

अतोऽत्र धर्मनिर्धारे दोषाभावो गुणः स्मृतः ॥३१६॥

चाहोच्छे तयोर्भावतः । दोषमिति । प्राहुरिति शेषः । एतत्कपोनिबन्धनप्रयोजनमाहुः -
 अत्यन्तत्वादिषाद्धैः पञ्चभिः । न कुरुत इति । भगवदतिरिक्ते आग्रहं न कुरुते ।
 सर्ववध्यं सर्वक्षोभादिनि । तदुक्तं बृहदारण्यके सप्ताब्रह्मणे 'प्राणभृतः प्राणं
 न छिन्द्यादपि कृकलासस्ये' इति । अर्थस्तु अमावास्याया राज्ञी कस्यापि प्राणिनः प्राण-
 विच्छेदं न कुर्यात्, किं बहुना कृकलासस्यापि प्राणं न विच्छिन्यात् । स हि पापस्या
 दृष्टोऽप्यमङ्गल इति कृत्वा स्वभार्येणैव सर्वैः प्राणिभिर्हिंस्यते इति तद्व्याख्यायानात् ॥
 ॥३१०॥३१२॥ ननु तत्रैव सर्वक्षोभाभावात्कथं कृकलासत्वमित्यत आहुः - यथैक
 इत्यादि । ननु यदि तस्य नाभिमानस्तदा 'शावत्यः सिकता धूमैरित्यादिदृष्टान्तं कुत
 उक्तवानित्यत आहुः - असङ्ख्यातास्येत्यादि । त्रिधा मता इति । 'ब्रह्मण्यस्य वदान्यस्य
 तव दासस्ये'त्यनेनोक्ताः । अत इति त्रैविध्यकथनात् । यदि तस्य तेषु भ्रमो न
 स्यादास्यरूपमेकमेव गुणं वदेत् न तु त्रयम् । तेन सिद्धमाहुः - अतोऽत्रेत्यादिब्रा-
 ह्मण्यम् । दोषाभाव इति आग्रहाभावः । तथोदितमिति दोषजनकत्वेनोदितम्,
 अत्रैश्वर्यकार्यत्वं स्फुटम् ॥३१३॥३१६॥ एवं प्रथमध्यायो विचारितः ।

गुणस्तु दोष एव स्यादिति दानं तथोदितम् ।
 धर्ममार्गं ब्राह्मणानां क्षोभं नैव समाचरेत् ॥३१७॥
 मुख्ये तु सर्वभूतानां न किञ्चित्स्य नश्यति ।
 तथाऽर्थं बान्धवानां च कामे स्वात्मनि तत्तथा ॥३१८॥
 मोक्षे त्वीशस्य सततं चतुर्भिस्तन्निरूप्यते ॥
 यथा नृगस्य धर्मो न यमुनायास्तथा निजः ॥३१९॥
 स्वार्थः सिद्धस्तथा कामः पौण्ड्रकस्य तथा गतिः ।
 द्विविदस्याऽपि नो सिद्धस्तत्तन्मूलविरोधतः ॥३२०॥
 अनिरुद्धे द्वयोः कार्यं तेन कृष्णा बलस्तथा ।
 अन्तरान्तरभावेन भिन्नार्थाविनिवारको ॥३२१॥
 यमुनाकर्षणं कार्यं पश्चाज्जाताश्च गोपिकाः ।
 श्रुतपूर्वावलं दृष्ट्वा रेमिरं लौकिकास्तु ताः ॥३२२॥
 सात्विकास्तु परं सङ्गादापस्तासां च नाशयते ।

द्वितीयाध्यायं विचारयन्तश्चतुरध्यायीसिद्धं निषेध्यमर्थमाहुः -
 धर्मेत्यादि । सुरुष इति भगवद्दर्शनात् । उदाहरणं स्फुटीकुर्वन्ति यथेत्यादिसाद्धैः ।
 ब्राह्मणक्षोभेन नृगस्य धर्मासिद्धिः । बान्धवो यमस्तस्य क्षोभः श्रौते यमयोर्मसम्बादे,
 तेन यमुनाया निजः स्वार्थं भगवत्यामिच्छो न सिद्धः । तथा स्वात्मनि मात्स्यै-
 रूपतां शोभात् पौण्ड्रकस्य कामो लोकप्रतिष्ठास्यो न सिद्धः । ईशस्य श्रीबलदेवस्य
 क्षोभान्मोक्षो गतिर्द्विविदस्य न सिद्धा । तथा चैतच्चतुष्टयनिवारणार्थमेतदध्यायचतुष्टय-
 मित्यर्थः । नन्वत्र भगवल्लीलाभयै बलदेवचरित्रं किमित्युच्यते तत्राहुः - अनिरुद्ध
 इत्यादि । अनिरुद्धव्युद्भे द्वयोः सङ्घर्षानिरुद्धयोः कार्यम्, नहि धर्मैरक्षारूपं कार्यं प्रति-
 पत्तिनिग्रहं विना सिद्धयति, तेन कृष्णो बलस्तथा बलभद्रश्च अन्तरान्तरेत्यादिना
 प्रकारेणोकावित्यर्थः । तथा शब्दश्चकारार्थः । तथा चात्र ब्यूहद्वयकार्यं सङ्कीर्णत्व-
 योधनार्थं कथनमित्यर्थः । अध्यायार्थमाहुः - यमुनेत्यादि । कार्यमिति
 शीघ्रकार्यम् । लौकिकश्च इति । लौकिकश्चः ब्रह्मण्यस्यवाक्यरूपास्तुतया वा
 इति प्रतिभाति ॥३१७॥३२२॥ प्राथमिकीनां किमत्र सिद्धमित्याकाङ्क्षा-
 यामाहुः - सात्विका इत्यादि । श्रीबलदेवमहात्मास्यैभंगवत्प्रमितिशास्त्रिन्यः सत्यः
 सात्विकयो जानाताम्नां गोपीनां दोषः कृष्णदेवस्य कृत्रज्ञतायापादनरूपः सोऽपि

गोपीनां कृष्णदेवस्य शिष्टानां सात्विकत्वतः ॥३२३॥
 सत्सङ्गात्सुखमुत्पन्नं नित्यं कृष्णकथा यतः ।
 देवादीनां तु सम्मत्स्यै दैत्यानां देवरूपिणाम् ॥३२४॥
 मधुधारादिकं प्रोक्तं वस्त्रदानादिकं तथा ।
 कामो लोके हि सन्मानं कृष्णत्वे तन्नवेदं ध्रुवम् ॥३२५॥
 पौण्ड्रकस्तु ततो जातो मात्सर्यात्कृष्णरूपधृक् ।
 मूले कृत्वा विरोधं हि लोके नष्टस्तथाऽनुगः ॥३२६॥

नामयत इति सिद्धमित्यर्थः । श्रीनन्दादीनां यत्सिद्धं तदाहुः-विष्टानामित्यादि ।
 इयं गोपिकाभिः सह लीला न केवलस्य बलस्य, किन्तु भगवदाविष्टस्यैति ज्ञानपानायाः-
 देवादीनामित्यादि । देवादीनामित्यस्य वस्त्रदानादिकमित्यन्वेन सम्बन्धः ॥३२३॥
 ॥३२४॥ एवं द्वितीयाध्यायो विचारितः ॥

तृतीयं विचारयन्ति-काम इत्यादि । तत इति बालप्रस्तोभनात् ।

निबन्धकटिनांशाविवेचनम्

का--३२६. उच्चरार्थं सप्तदशाध्याय आरम्भतस्त्रिपिट्तमध्याये वा पौण्ड्रको हि
 बासुदेवत्वेन लोके प्रतिष्ठाकामः कृष्णरूपप्रश्रयान्तः, तदन्तरं मात्सर्यात् स्वदेवमूले कृष्णे
 विरोधं कृत्वा लोके नष्टः, अलौकिके तु तस्य फलं जातं प्रमेयबलेन, यतः अवतारसमये
 कामादीनामसाधनानामपि साधनत्वं, तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवशयेदिति-
 सिद्धान्तात् । परन्तु भगवद्गिरोधिनामनुगमनं ये कुर्वन्ति तेषु व्यवसायि, यद् भगवद्भक्तेन
 भगवद्विरोधेन वा कर्तव्यं यथासुतमन्थनप्रसङ्गे देवैर्देव्यानुगमनं वचनेन, यथा दुर्गार्थानामा-
 दीनामनुगमनं भगवद्विरोधेनैव विदुरेण कृतं तथा सति न कोपि विनाशस्तेषां अन्यथा उ-
 विनाशः स्यादेव, यथा काशिराजस्य लौकिकाकोपेण अनुगमनं कुर्वतः, अलौकिकप्रकरणानु-
 गमनं कुर्वतः काश्यादिनां चेति, एवं सति मूलश्लोकयोरेव त्वेवं कर्तव्या, तीर्थदेवक्षेत्रैः
 समकप्रस्था तुष्टैरपि कुत्रापि कार्यं भगवद्गिरोधिनां समकानामनुगमनं वच्येनाविरोधेन
 वा कर्तव्यं न त्वन्यथा, अतो वचनाविरोधाभावेपि कृष्णविरोधिसुदक्षिणानुगमनकरणात्
 तीर्थरूपा काश्यपि निर्देव्या, महादेवोपि वैदिकरूपवानन्यात्मको वारितः अन्याप्यपि
 शिवरूपाणि भूतप्रमथादीनि वारितानीत्यर्थः, फलितं सिद्धान्तमाहुः प्रकटेत्यादि, प्रकटे
 सुरवैरिणि दोषोत्पत्तिमात्रेणैव तीर्थदेवादिभिरपि समकाना अपि दुष्टास्याज्या एव न उ-
 दोषजनककारणप्रतिष्ठा कर्तव्या, भगवतः कृष्णस्य देवदेवत्वादिप्रतिभावः, तेन काश्यादीनां
 कृष्णविरोधेऽनुगतत्वेन देवदेवेन कृष्णेन काशीदाहरणं शिवप्रतिपातकाश्च श्रीभागवत
 उक्तः, भक्तिसिद्धान्ते दूषणं नेत्यर्थः ॥

प्रमेयबलमासाद्य मुक्तः पूर्वं न चाऽपरः ।
 वाक्येनैव तु कर्तव्यमविरोधेन वा कश्चित् ॥३२७॥
 न त्वन्यथा तीर्थदेवक्षेत्रैर्भक्त्यापि कुत्रचित् ।
 अतः काश्यपि निर्देव्या महादेवोऽपि वारितः ॥३२८॥
 तथाऽन्यान्यपि रूपाणि प्रकटे सुरवैरिणि ।
 दोषोत्पत्त्यैव ते त्याज्यास्तेन नाऽत्रोक्तदूषणम् ॥३२९॥
 पाण्डवादिसमस्तानां दोषोऽप्यत्र निवार्यते ।
 तथा वैष्णवमुख्यस्य नारदस्य विरक्तये ॥३३०॥
 धर्मस्य कारणास्त्रीणां नीत्वा यादवभुञ्जाम् ।
 एवं प्रमेयरूपो हि हरिर्दोषं न्यवारयत् ॥३३१॥

अनुगः काशिराजः पूर्वं पौण्ड्रकः । काशीदाहरणमचित्तमर्थमाहुः वाक्येनेत्यादि ।
 देवादिभिरसाहाय्यं कर्तव्यं तद्भगवद्भक्त्याक्येनाविरोधेन वा कर्तव्यं न त्वन्यथा । अन्यथे-
 त्यस्यैव विवरणम् । तीर्थदेवेत्यादि । अत इति सर्वैर्भक्तिकस्तस्य । एतद्रोध-
 नाथमित्यर्थः । एतद्यशःकार्यं फलकथनादवधीयते । एवं तृतीयाध्यायो विचारितः ॥
 चतुर्थीध्याये द्विविद्वधमात्रदर्शनात्सर्वेव दोषनिवृत्तिः प्रमेयबलेन ।
 श्रीकार्यं तु बलदेवकीडा स्फुटयेति विशेषाभावात् स विचारितः ॥

पञ्चमाध्यायं विचारयन्ति दोषेत्यादि । त इति कुरवः । अत्रेति गतदोषेषु
 प्रसादे, उक्तदूषणम् तस्यहृत्स्वं दूषणं नेत्यर्थः ॥३२५॥३२९॥ नन्वनिरोध्यानां
 कुरूपानां दोषनिवर्तनमनाशक्यम् । न च द्विविद्वस्यापि तथेति वाक्यम्, तस्य जगद्दु-
 तिकरावहत्वेन तद्दोषनिवृत्तकारावश्यकत्वात् न च तदभावादित्याकाङ्क्षायामाहुः-पाण्डवा-
 दीत्यादि । 'कथामिन्द्रोऽपि कुर्मभिः भीमद्रोणाजैनादिभिः' इति कथनात्पाण्डवा अपि
 तस्मिन् मित्रा इति तद्दोषोप्यत्र निवार्यते इति नानावश्यकत्वमित्यर्थः । इदं ज्ञान-
 कार्यं जानननात् ॥

षष्ठसप्तमयोर्धर्माहुः-तथेत्यादि । दोषोऽप्यत्र निवार्यते इत्यर्थं वरणो
 देहलोदीपवद्भाषि सम्बन्धते । विरक्तः इति । स्ववैराग्यस्य नारदे दोषनार्थं तच्च
 'ब्रह्मन् धर्मस्य वक्ताह'मित्यत्र स्फुटीभवति दोषक्षेतदज्ञानमेव ॥३३०॥ स्त्रीणां यादवीनां
 दोषो धर्मप्रसूदकारित्वम्, स च कुडुटशापात्रव्यते । यादवभुञ्जानां दोषो राजव्य-
 साहाय्येषुपेक्ष्य जरासुतविजिगीषादिरूपः । सोऽपि तत्र तेऽपि विरक्तः । शूद्रकपदे
 क्षत्रियपरम् । एवं सर्वं निरूप्य प्रकरणसमाप्त्याबीजमाहुः-एवमित्यादि । तथा
 चैतादृशभगवत्स्वरूपनादस्य प्रमेयप्रकरणत्वम् । अत्र दोषं न्यवारयदिति

साधनप्रक्रियां वक्तुं साधनान्तरमुक्तये ।
राज्याङ्गंशस्तथा दुःखं राज्ञामत्र निरूप्यते ॥३३२॥
साधने नारदो मुख्यस्तस्यापि प्रार्थनोच्यते ।

(अथ सात्विकसाधनप्रकरणम्)

सामर्थ्यं विद्यमानेऽपि स्वयं ज्ञात्वाऽपि सर्वथा ॥३३३॥
कृष्णाज्ञां वा सहायं वा लब्ध्वैवेष्टपरो भवेत् ।
तदा तु हरिरागत्य हितं वक्ति करोति च ॥३३४॥
साधने सर्वथा नीतिः कर्तव्येति प्रबोधयन् ।
उद्धवं सुग्धभावेन पृच्छति स्म करोति च ॥३३५॥
यावत्कर्तुं हि जीवानां शक्यं तावद्दत्तस्ययम् ।
साहाय्यं वाऽत्र कुरुते तावद्येन भवेत्क्रिया ॥३३६॥
इति बोधयितुं कृष्णः सम्भृता सर्वथा गतः ।
सर्वभावेन पूजार्थं श्रद्धार्दीनां च वृद्धये ॥३३७॥

सप्ताध्यायीफलकथनेन । सुबोधिन्यामर्थभेदकामयोसपत्तिपादनार्थंभूतःप्रकरणीपसो य उक्तः 'चतुर्था रूप्यते पद्भिः पद्भिः पद्भिः स्त्रिभिस्तये'त्यादिना । स न त्रिप्रकरणीपसे विरुद्धयते, प्रकारप्रयोजनयोर्भेदादितिबोधयन् । ननु दोषाभावात्प्रसङ्गे राजदुःखं कुतो निरूपितमित्याकाङ्क्षायामाहुः साधनप्रक्रियामित्यादि । तथा चोपोद्घातलाभिरूपितं परं तत्र राज्यश्रेष्ठरूपदोषाभावात्स्यापि निरूपणात् तावन्मात्रवेति न प्रकरणबहिर्भावापत्तिरित्यर्थः । एवं नारदप्रार्थनान्युपोद्घात इत्याहुः-साधने-त्यादि ॥३३०॥३३२॥ एवं साद्वीष्टाचिन्तितभिः प्रमेयप्रकरणविचारितम् ।

(अथ सात्विकसाधनप्रकरणम्)

अतः परं चतुस्त्रिंशद्भिः साधनप्रकरणं विचारयन्तः समाख्याहेतुं साद्वीनाहुः-सामर्थ्येत्यादि । तथा च भगवदुक्तसाधनबोधकलादेवं सादनमयदि-बोधकलाच्च साधनप्रकरणेति समाख्येत्यर्थः । ननु सर्वज्ञस्य भगवत उद्धवं प्रति कुतः प्रश्नः समर्थस्य कुतश्च सर्वसम्भृत्या तत्र यान्मुच्यत इत्यत आहुः-साधने सर्वज्ञे त्यादिसाद्वीद्वयम् । तथा च साधनोपोद्घातत्वेनेदमुच्यते तेनास्य साधनप्रकरणी-यत्वमित्यर्थः । सर्वथा गत इत्यत्र सर्वेति पदच्छेदः । इति प्रमेयस्य उपोद्घात-प्रकार उक्तः, इयमैश्वर्यलीला । अथ द्वाभ्यां वीर्यशशीलीले उच्येते, ते अपि प्रकरणे उपोद्घाततयैव प्रविशत इत्याशयेनाहुः-सर्वभावेनेत्यादि ।

शत्रूणां दृष्टिदोषाय भक्तमाहात्म्यसिद्धये ।
कचिवेकोऽपि वेपेण दृष्टादृष्टप्रकारतः ॥३३८॥
यथा भीमस्य सामर्थ्यं दत्त्वा मृत्युश्च बोधितः ।
प्रथमे तु मनःप्रीतिर्द्वितीये शत्रुमारणम् ॥३३९॥
तेनैव यज्ञदेहानां बन्धनं विनिवारितम् ।
ततो बोधनमेकेषां लौकिकं चापि कारयन् ॥३४०॥
साधनं कारयामास तथाऽन्यत्रागतस्तथा ।
ततस्तु यज्ञसंसिद्धिस्तत्र दैत्यस्य सन्निधौ ॥३४१॥
न निःशङ्कं देवचर्यास्तत्रोपायो हरेर्भजिः ।
तदैव प्रकटा दैत्याः स्वात्मानं दर्शयन्ति हि ॥३४२॥
अतः कृष्णस्य पूजायां शिशुपालो हतोऽसुरः ।
मानभङ्गस्तथाऽन्येषां दुर्योधनहितैषिणाम् ॥३४३॥
पूर्वं तु बलभद्रोऽत्र न यागार्थं समागतः ।
प्रयुम्नप्रमुखस्तत्र समायाता महारथाः ॥३४४॥
मुख्ये यागे निवृत्ते तु तान् प्रस्थाप्य कुशस्थलीम् ।
पाण्डवानां प्रार्थनया कियत्कालं तथाऽवस्तु ॥३४५॥

दृष्टादृष्टप्रकारत इति । बहुधा भवतीतिशेषः ॥३३३॥३३८॥ अष्टप्रकारो न स्फुट इति तथुदाहृत्य स्फुटीकुर्वन्ति-यथेत्यादि । क्रमेणाध्यायार्थमाहुः-प्रथम इत्यादि । 'तेनैव यज्ञदेहानां'मिति यज्ञः प्रमथनाथमत्तो जरासन्ध-चिन्तितस्तदर्थं देहो येषां राज्ञां तद्वन्धनं शत्रुमारणेनेव द्वितीयेऽध्याये-विनिवारितमित्यर्थः । तृतीयाध्यायार्थमाहुः-तत इत्यादि । एकेषामिति राज्ञां । साधनमिति । 'यद्यन्वशास'दित्यादिनोक्तं चतुर्थार्थमाहुः-ततस्त्रिसादिद्वाभ्याम् । तत्र दैत्येत्यादिनोक्तं प्रमेयं प्रासङ्गिकं शिक्षार्थमित्याशयोऽत्र बोधितः । पञ्चमार्थमाहुः-मानभङ्गस्तथेत्यादि । तथा चापत्कसङ्गत्यामवोधानयायं लीलैत्यर्थः ॥३३९॥३४५॥

१ दुःखाय ।

दुर्योधनादिमानस्य भङ्गे तत्र समागतः ।
 मिलितः कृष्णदेवेन रामो नोवाच किञ्चन ॥३४६॥
 अन्यथा पाण्डवान् सर्वान् हन्यादेवाऽविचारयन् ।
 एतदर्थं स्थितः कृष्णः प्रार्थनां जनयन् हृदि ॥३४७॥
 महादेवाधिदैवस्तु शास्त्रस्तत्र सहायवान् ।
 द्वारकायां यथा पूर्वं ददौ क्लेशं सुदुःसहम् ॥३४८॥
 यावत्तत्त्वानि पुरुषव्यतिरिक्तान्यहानि हि ।
 अत आज्ञां विना किञ्चिन्न कर्तव्यं कथञ्चन ॥३४९॥
 यतो रामे समायाते द्वारकात्यन्तपीडिता ।
 कालदेरनुरोधेन भगवांश्चाऽपि मन्यते ॥३५०॥
 आत्मानमन्यथाऽन्यत्र का शङ्का कार्यसाधने ।
 एवं सप्तभिरुद्दिष्टं साधनं यद्धरिर्विदेत् ॥३५१॥
 अन्यथा सेवनं तस्य कर्तव्यमिति निश्चयः ।

यज्ञानन्तरं भगवत इन्द्रप्रस्थस्थितेः प्रयोजनमाहुः-दुर्योधनादीत्यादि-
 द्वाभ्याम् । एवं चात्र श्रीकार्यं यज्ञसंसिद्धिः । ज्ञानकार्यं मानभङ्गः । भूभारजिर्द्विषया
 मयुक्तत्वात् । प्रार्थनामित्यादि । पाण्डवद्विदुः बलदेवमाधेनाहुत्यादयस्त्रिपर्ययः । एवं
 पञ्चभिरध्वार्यभंगवदाज्ञसं सपरिकरमेकं साधनं निर्दिष्टम् ॥

द्वाभ्यामध्यायाभ्यामन्यत्साधनं वक्तव्यं तत्र स्फुटमित्यतस्तदुप-
 पाद्याहुः-महादेवेत्यादिसाद्धंस्त्रिभिः । तत्र सहायचामिति । तस्मिन् सौभे तिष्ठति
 तेन शास्त्रस्तत्सहायमित्यर्थः । अहमिति । अत्यन्तसंपीणे द्वितीया । अत्र यत्साधन-
 सिद्धे तदाहुः अत इत्यादि । समायात्र इति इन्द्रप्रस्थाद् द्वारकायाते । 'तत्स्थितिश्च
 कथं राममसम्भ्रान्तमिति भगवद्वाक्याज्ज्ञायते । मन्यत इत्यस्य आत्मानमन्ययेत्यनेन
 सम्बन्धः । तेन भगवदाज्ञापालनमेव कर्तव्यमिति साधनमस्मिन्नपि सन्दर्भे सिद्ध-
 मित्यर्थः । प्रकरणसिद्धिमाहुः-एवमित्यादि । तथा चाज्ञायां तत्करणयनाज्ञायां
 भगवत्सेवनमिति द्वयमवान्तरप्रकरणाद् एव सिद्धमित्यर्थः । प्रकरणसमाप्तिबोधनायाहुः-

* अतः परं सात्विकानां फलं सप्तभिरुच्यते ॥३५२॥
 उभयोरैक्यसिद्धयर्थं कथाश्लेषो विधीयते ।
 प्रद्युम्नस्य जयस्मृत्या भगवत्स्मरणादपि ॥३५३॥
 शास्त्रे प्रविष्टो रुद्रो हि तेन प्रद्युम्नमारणम् ।
 कामजेता यतः प्रोक्तस्तेनाऽप्राप्यभवज्जयः ॥३५४॥
 शुभमत्यभूत्तदावेशः प्रद्युम्नस्याऽपकर्षणे ।
 अनेन तस्मिन् समये सर्वेषामेव रुद्रतः ॥३५५॥
 पाण्डवानां यादवानां सर्वेषामेव कालतः ।
 फलं तदैव भगवान् प्रयच्छति यदाऽखिलाः ॥३५६॥
 अत्यन्तं तापमायन्ति नोचेत्स्वाद् फलं न हि ।
 इति केचिद्विचार्यात्र कृष्णेऽपि परमात्मनि ॥३५७॥
 साक्षाद्भूतरूपेऽपि प्राकृतत्वप्रतीतितः ।

अतः परमित्यादि ॥३४६॥ ॥३५२॥ नन्वेव पूर्वार्थायसमाप्त्युक्तस्य दन्तवक्रागपनस्य
 प्रकार आरम्भे दृश्यते, तेन तच्छेषसांक्षयमितः प्रकरणान्तरारम्भ इत्याकाङ्क्षायामाहुः-
 उभयोरित्यादि । दोषभावफलयोः सङ्कीर्णसङ्गापनाथेय । तथा चैतावता न
 प्रकरणान्तरारम्भविषयतन्मित्यर्थः । ननु शास्त्रवचनप्रकरणस्य तात्पर्यमन्यथासेवनमि-
 त्यर्द्धनोक्तं तत्र किं गमकमित्यत आहुः-प्रद्युम्नस्येत्यादि । ननु प्रद्युम्नस्य भगवत्पुत्र-
 ज्येष्ठस्य देवक्यस्य शम्बरजेतुः कथं पराजय इत्यत आहुः-शास्त्रे इत्यादि । सुद्युम्न
 इत्यत्र शुभमतीति पाठः प्रतिभाति । रुद्रत इति पराजय इति शेषः । एवं षष्ठे
 वैराग्यकार्यसुक्तम्, द्वारकायुपेक्ष्य भगवत इन्द्रप्रस्थे स्थानबोधनात् ।

सप्तसामर्थ्यमाहुः-पाण्डवानामित्यादि । अत्र धर्मिलीला स्फुटैव । तत्र
 रुद्रात्पराजयसम्भवाभावेन कथं तदानीं हस्ताच्छाङ्गिपातादीत्याशङ्कायामाहुः-पाण्डवा-
 नामित्यादिसाद्धं । तथा च फलस्य स्वादीयस्त्वसम्पादनाय तथाकरणम् ।
 अन्यथा माहात्म्यज्ञानांशभूयस्त्वे स्नेहन्यूनत्वेन तथा रसालता न स्यादिति । ननु
 यथेवं तदा रूपय अलौकिकाद्यैर्दृष्टारो मोहलीयां कुतोऽङ्गीकुर्वन्ति ? कुतश्च धृक्-
 स्तन्मते दूषयतीत्यत आहुः-इतीत्यादि । इतीति । इदं रसालतासम्पादनार्थत्वं
 विचार्य । उद्भूतरूपे इति । 'स्वज्ञानन्तर्भावित्'तिन्यायेन स्वेच्छया प्रकटे । यद्धदिति ।

* इयं कारिकाभिः सात्विकफलप्रकरणारम्भे स्यादिति श्रीपुरुषोत्तमचरणाः सूचयन्ति ।

अवतारान्तरे यद्वत्तया वक्तुं विचारणाम् ॥३५८॥
 कुर्वन्ति लोकमोहाय तदर्थं तन्मतं क्वचित् ।
 फलात्पूर्वं पूर्वपक्षरीत्योक्त्वा दूषयत्यतः ॥३५९॥
 शुकः परमतस्वज्ञः केचित्प्रक्षेपमूचिरे ।
 पूर्ववक्षकथायां तु मोहलीलेति निश्चयः ॥३६०॥
 महादेवस्य तोषार्थं क्वचित्कल्पे तथाऽभवत् ।
 तस्मृतिर्योगधर्मेण तत आहुर्मुनीश्वराः ॥३६१॥
 तच्चाऽपि न शुको मेने भक्तियुक्ताच्च योगतः ।
 हृदिस्थदुष्टभावेन सहितं स्मरणं तथा ॥३६२॥
 न तु शुद्धेन योगेन तथा दृष्टमतो न हि ।
 एतस्य कथनादेवं ज्ञापितं सर्वथा यदा ॥३६३॥
 कार्यावेशं वितनुते तदा मोहो भवेदिति ।

तेन केनाऽपि लीलाऽपि न कर्तव्या कथञ्चन ॥३६४॥

यथा सत्संगे शुद्धसत्त्वे वा अवतरणम् । तदर्थमिति । तस्य पक्षस्य निवृत्त्ये । अत इति । स्यन्लोपे पञ्चमी । इदं साक्षात्पक्षमयस्मरणाय ॥३५९॥ ॥३५९॥

एवं तत्त्वार्थं न जानन्ति ये माध्वाद्यास्तन्मतमनुवदन्ति-केचित्प्रक्षेपमूचिरे इति । सिद्धान्तमाहुः-पूर्वत्यादि, क्वचिदिति यस्मिन् कल्पे पूर्णस्य नोवतरणम् । ननु यद्येवं कल्पान्तऽभूत्तदा शुभेन कृत इदं नाज्ञीकृतमित्या-काङ्क्षायामाहुः-तच्चापीत्यादिसाद्धेयं । तथा च 'विदुरकाष्टाय ब्रुहुः कुयोमिना'मिति वाचयात् सर्वे योगिनो भगवल्लीलादिकं ज्ञातुं शक्नुवन्ते किन्तु 'भक्त्या माम-भिजनाति' इतिवाक्याद् भक्ता एव शक्नुवन्ते । शुकस्तु तादृश इति परमं तत्त्वं विचार्य तन्मतं दूषितवानिति तथेत्यर्थः । नन्येतत्कथोपनिबन्धस्य किं प्रयोजनमत आहुः-एतस्येत्यादितुष्टयम् । किं ज्ञापितमित्यपेक्षार्यां तदाहुः-सर्वथेत्यादि । 'कार्यावेशं वितनुते' इति भगवान् नोवत्येति शेषः । इतीति । इदं ज्ञापितमित्यर्थः । तेनेति हेतुना । तथा वैतल्लीलाउकरणेऽप्यनिष्टं भवतीति तदपि न कार्यमिति ज्ञापितमित्यर्थः । नन्वनुरूपे देवानां हृदि कृतो दोषदृष्टिरित्यतः विचारणात् ।

तदाऽधिकारिणो देवा मन्यन्ते दुष्टभावनाम् ।
 सत्वावतारपक्षे हि भवेदेतन्न चाऽन्यथा ॥३६५॥
 निर्गुणस्तु हरिः कृष्णः स्वयमाविर्भवूव ह ।
 सन्देहे तस्य भक्तैस्तु निर्णयो ज्ञायतां यथा ॥३६६॥
 तं शस्त्रपूर्गेरित्यादि शुद्धं नान्यत्ततोऽधिकम् ।
 (अथ सात्विकफलप्रकरणम्)
 आदौ त्रिविधदुष्टानां वधोऽत्र त्रिभिरूप्यते ॥३६७॥
 शास्त्रस्य हरभक्तस्य दन्तवक्रस्य चारमनः ।
 तद्भातुश्च द्वितीयस्य राजसस्य वधः स्मृतः ॥३६८॥
 एवं दोषप्रणाशो हि फले पूर्वमुदीरितः ।
 तेनैव यादवानां हि सर्वव्यसननाशतः ॥३६९॥
 कृष्णात्मकं फलं सिद्धं यत एवं करोति हि ।
 ततः सर्वसुखार्थाय बलदेवत्रिनिर्गमः ॥३७०॥
 तीर्थं स्वधर्मनाशाय दोषे याते सुखं स्वतः ।
 स्वयं तु पाण्डवानां हि दुःखनाशं चकार ह ॥३७१॥
 एवं त्रिभिरिहाध्यायैर्दुःखनाशो निरूप्यते ।

आहुः-सत्त्वत्यादि । यथेति यथावत् ॥३६०॥३६६॥ एवं चतुस्त्रिंशद्भिः साधन-प्रकरणं विचारितम् ॥

॥ अथ सात्विकफलप्रकरणम् ॥

अतः परं साद्धेयश्चाशाः फलप्रकरणं विचारयन्ति-आदावि-त्यादिभिः । अतः परं सात्विककानामितिकारिका इतः पूर्वस्थेति प्रतिभाति । कथाश्लेषं स्फुटीकुर्वन्ति-आदावित्यादिभिः पादोर्नस्त्रिभिः । अत्रेति कथाम्लेषे, आत्मन इति भक्तस्येत्येति शेषः । राजसस्येति तद्भातुर्विशेषणम् । श्रीबलदेव-तीर्थेयात्राकथामयोजनसङ्गती आहुः-यत इत्यादि । तेन सुखप्रकारमाहुः-तीर्थ इत्यादि । स्वधर्मनाशाय दोष इति । वर्णाश्रमधर्मनाशाय विद्यमाने दोषे याते निवारिते । दुःखनाशमिति दुःखानुत्पत्तिम् । त्रिभिरिति साधनप्रकरणीया-

स्पष्टास्पष्टविभेदेन त्रिविधानां विशेषतः ॥३७२॥
 कालदोषानु ऋषयो वक्तरं मेनिरेऽधमम् ।
 अतो ज्ञात्वैव रामेण सूतो धर्मार्थमाहृतः ॥३७३॥
 सन्तोषार्थसृष्टीणां च स्वावतारं विधाय हि ।
 तत्र तं स्थापयामास कार्यं भागवते स्थितम् ॥३७४॥
 शुकोक्तमन्यथा वाक्यं हृदयं न विशेषकचित् ।
 बल्ललस्य वधो मुख्यो दोषस्तेषां च नाशितः ॥३७५॥
 बल्ललो दोषसूतो च त्रयोऽत्र विनिवारिताः ।
 ज्ञानोपदेशो लीलार्थो यथा तीर्थाटनं तथा ॥३७६॥
 शुद्धिस्तीर्थैस्तथा यज्ञैर्ज्ञानेनाऽपि भवेद् ध्रुवम् ।
 ऋषीणां त्रितयं सिद्धमग्रे मोहनिवृत्तये ॥३७७॥
 ज्ञानोपदेशोऽनन्यार्थो दोषा एवं विनाशिताः ।
 द्वाभ्यां पञ्चभिरग्रे तु गुणैर्दोषनिवारणम् ॥३७८॥
 दारिद्र्यनाशः सम्पत्त्या द्वाभ्यां तत्र निरूप्यते ।
 त्रिभिश्च त्रिविधानां च पूर्वोक्तानां च सर्वशः ॥३७९॥

न्तिमाध्यायसहितैस्त्रिभिः । अस्पष्टदुःखमन्येषां पाण्डवानां च ज्ञेयम् ॥३६७॥३७२॥
 ननु सूतवधः कुतः प्रकरणविरुद्ध उच्यत इत्यत आहुः-कालैत्यादि । तर्हि
 पुत्रः कुतः स्थापित इत्यत आहुः-सन्तोषेत्यादि । विधायेत्यत्र विचार्येति
 पाठः प्रतिपाति । तमिति पुत्ररूपिणम् । कथं स्थितमित्येसायामाहुः-शुकेत्यादि ।
 अन्ययेति । तदासने उग्रश्रवसः अनिवेशे परीक्षितभाषायां तस्य श्रोतृत्वेनाप्रवेशात् ।
 एवं साधारणदोषनाश उक्तः । मुख्यदोषनाशमाहुः-बल्ललस्येति । ज्ञानोपदेश-
 मयोजनमाहुः-ज्ञानेत्यादि । द्वाभ्यामिति । एतेन प्रथमे धर्मिलीला द्वितीये
 ज्ञानलीलेति ज्ञापितम् । यथाक्रमं वा । अभिमेषु दोषनाशफलयोर्भवनप्रकारं बोधयन्ति-
 पञ्चभिरित्यादि । तत्रावान्तरप्रकरणविभागमाहुः-दारिद्र्येत्यादि । त्रिभिर्ध्यायैश्च
 पूर्वोक्तानां त्रिविधानां तामसादिप्रकरणयोक्तमकानामेव सर्वप्रकारेण दोषनाश-

सुदामा ब्राह्मणः कश्चिदर्थं च ऋषिसम्मतः ।
 भार्या तु ब्राह्मणी तस्य नर्षी दारिद्र्यदर्शनात् ॥३८०॥
 विरुद्धसुभयं कालात्तत्रैकस्य निवारणम् ।
 तत्र कृष्णः पुष्टिमार्गं स्त्रीणां चैव हिते रतः ॥३८१॥
 अतोऽर्धजरतीयं तं भक्तं चक्रे स्वसङ्गिनम् ।
 यथा हि भगवानत्र पूर्णकामोऽपि तिष्ठति ॥३८२॥
 तत्सङ्गिभिस्तथैवाऽत्र स्थेयमित्येव निश्चितम् ।
 नाशो न कोऽपि भविता ऋषीणां चाऽपि मोक्षकः ॥३८३॥
 अलौकिकं च प्रददौ न दूषणमिहाण्वत्रपि ।
 स्वतुल्यस्याय तु कथा पूर्वजाता निरूपिता ॥३८४॥
 समक्षं भगवौस्तन्तु ऋषिमेवाऽकरोत्स्वतः ।
 अतो न किञ्चित्प्रददौ भार्यायै तत्र दत्तवान् ॥३८५॥

पूर्वकं फलमुच्यते । तथा चैवमत्र द्विप्रकरणी तेन सप्ताध्याय्यां पूर्वाभ्यां सह
 त्रिप्रकरणीत्यर्थः ॥३७३॥३७९॥

प्रकरणानि त्रिभज्य पञ्चस्वाद्ययोरर्थमाहुः-सुदामेत्यादि । नाम
 पुराणान्तरे प्रसिद्धम् । अर्द्धमिति । ग्रामवासादिति प्रतिपाति । ननु मूले तथा-
 विचत्वेन कथनात्कथं नर्षीत्यत आहुः-दारिद्र्यदर्शनादिति । कालादित्यादि ।
 मूले भगवन्निकट्यगमनप्रार्थनाया बहुश उक्तत्वात् । भगवत्सखित्वादियदृच्छयोपभेदेन
 वर्तमानत्वान्तर्भवतस्तत्र गमनाभावस्य कालकृत्वत्वेन एकस्यर्षिलस्य कालाभिवारणं
 प्रतिबन्ध इत्यर्थः । तत्रेति कालिके प्रतिबन्धे । अत इति पुष्टौ तस्याहीकृतत्वात्
 स्वस्य स्त्रीहितत्वाच्च । अर्द्धजरतीर्णिति । ऋषित्वाट्टिपौत्रधर्मवन्तम् ।
 निश्चिनमिति अनेन कथोपनिबन्धनेन निर्णीतम् । ननु भगवान्मोक्षको बन्ध-
 हेतुभूतां सम्पत्तिमेतादृशाय कुतो दत्तवानित्यत आहुः-नाशो नेत्यादि । नाशः
 परलोकहानिः । इयमेव लीला बृहदारण्यके 'अज्ञादो वसुदान' इत्यनेन आचिता ।
 ननु यथेवं न दोषलेखस्तदा 'प्रायो गृहेष्वि'त्यायनिष्ठानुवादस्य किं प्रयोजनमत
 आहुः-स्वतुल्यत्वेत्यादि । तर्हि समक्षं कुतो नादादित्यत आहुः-समक्षमित्यादि ।
 ननु धनार्थमागतय समक्षमृषित्वेऽपि धनदाने वैमनस्यं स्यादित्यत आहुः-अत

अनभिप्रेतपक्षे हि दानाभावो विशिष्यते ।
 अतो दाने तस्य तोषो गच्छतो वर्णयते पथि ॥३८६॥
 सांसर्गिकस्य दोषस्य निवृत्त्यै भगवत्परः ।
 भक्तिमार्गानुसारेण विषयान् बुभुजे वशः ॥३८७॥
 एवं ऋषित्वं भक्तत्वं धनं दारिद्र्यमेव च ।
 विरुद्धं स्थापयामास स्वकीयत्वप्रसिद्धये ॥३८८॥
 त्रिभिर्ग्रे तु भगवान् पूर्णं फलमुदीर्यते ।
 द्वाभ्यां द्वाभ्यां त्रिभिश्चैव फलत्रयमुदीरितम् ॥३८९॥
 दुःखाभावसुखोरुषौ कृष्णश्च त्रिविधस्तथा ।
 सर्वेषां वाञ्छिताकारः स्त्रीणामत्यन्तबल्लभः ॥३९०॥
 ऋषिदेवपितृणां च लौकिकालौकिकत्वतः ।
 फलदाता सर्वभावैः सर्वतोऽत्र निरूप्यते ॥३९१॥
 तत्कालस्थाः सर्व एव वर्णा एते च मानुषाः ।

इत्यादि । व्यक्लौपे पञ्चमी । तस्यैवं स्वभावं विचार्य । तथा च पूर्वपदमित्येन धन-
 लिप्साभावाद्भार्यया धनार्थिन्या बहुशः प्रार्थनेऽपि कृष्णदर्शनमेव लाभत्वेन मन्यमान-
 स्यामयानात् । तस्य च सम्पन्नत्वेन पूर्णपानोरथलासम्भवं पूर्णपित्तकरणेन क्षणलिप्सायाः
 सुतरामपगमाद्दानादावित्यर्थः । धनादानेन तस्य स्वस्य चाभिप्रायं प्रकटीकृतवानित्यु-
 भयार्थं समक्षादानमित्याहुः-अनन्वीत्यादि । तस्येति धनस्य ॥३८०॥३८८॥
 एवं नचभिर्द्वयोरर्थ उक्तः । अग्रिमत्रयाणां बक्तुं तत्सिद्धस्य फलस्य स्वरूपमाहुः-
 त्रिभिरित्यादि । त्रिप्रकरणसिद्धं फलं बोधसौकर्यायानुबद्धन्ति द्वाभ्यामित्येतेन ।
 एतदुपयययोक्तं भगवत्स्वरूपवैविध्यं स्फुटीकुर्वन्ति सर्वेषामित्यादिसाद्धेन । सत्पथत
 इति सात्त्विकान् विधाय । प्रथमाध्यार्यासद्धं सर्ववाञ्छिताकारत्वं स्फुटीकुर्वन्ति तत्काल-
 लस्या इत्यादिभिर्नचभिः । अत्र साद्धाभ्यां साधारणानां वाञ्छिताकारत्वरूपं फलं बोधितव्यं
 तच्च 'आसन्नच्युतसन्दर्श परमानन्दनिवेता' इत्यनेनोक्तम् । वाञ्छिताकारत्वं विना दहर्षेणै

सर्वतस्ते समागत्य कृष्णसान्निध्यदर्शनैः ॥३९२॥
 शुद्धसात्त्विकभावं ते प्राप्ता रोधनमागताः ।
 देहाविकं जगत्सर्वं विस्मृत्य भगवत्पराः ॥३९३॥
 जाता इति फलं तेषां हरिरेव न संशयः ।

अन्ते च गोपिकाः प्रोक्ताः शुद्धसत्त्वप्रसिद्धये ॥३९४॥
 आनन्दाभावादिति । तामसानां राजसभावस्य प्रवैष्टुकतादिदानीं सात्त्विकत्वं तेषां
 वक्तुमन्ते व्रजस्थानां कथेत्याहुः । अन्ते चेत्यादि । शुद्धसत्त्वप्रसिद्धये इति । सत्त्वस्य
 प्रमितित्रिकल्पेन तस्य शुद्धौ भगवत्स्वरूपयाथात्म्यावगतिरिति तदर्थमित्यर्थः ॥३९४॥

निबन्धकठिनानां गणिवेषे च नम्

(का-३९४) अग्रे त्रयस्त्रिंशोऽध्याय एकोनाश्रीतितमे वा अन्ते च गोपिकाः

प्रोक्ताः शुद्धसत्त्वप्रसिद्धय इति एतत्प्राथम्येत्वावरणमङ्गे स्फुटतयोक्त इति ततोवक्ष्ये । अतः
 परमनेनाप्यायेन सिद्धं फलितार्थमाहुस्तदन्ताः सर्व एवैते तत्कला इति निश्चितमित्यनेन,
 सर्वे भक्ता गोपिकायथः सर्वे फलं गोपिकाफलावधीत्यस्मिन् सन्दर्भे निश्चितं विद्या
 भागवतायधिरित्यादिवदित्यर्थः । एतद् विविच्य दर्शयन्ति संसार इत्यादि तद्विधायित्यनेन,
 फलस्यावधिरत्वं ह्यन्यत्र तदभावे अत्र तस्माद्भावे, दुःखासम्भलत्वे पूर्णत्वे न तु
 न्यूनत्वे, परमोक्तदृष्टे न तु निकृष्टत्वे च सति भवेत्, एवं भक्तानामप्यन्यत्र तादृशत्वाभावेन
 तादृशत्वमद्भावेभ्यभावात् इत्येव भगवद्भाष्ये पूर्णत्वे परमोक्तदृष्टभावत्त्वेवधित्वं स्यादिति फला-
 वधित्वेनेव भक्त्यावधित्वमर्थान् सिद्धयत्यन्तः फलावधिमाहुः संसार इत्यादिना, अन्यत्र विरो-
 धादेव तदभावः, भगवता परमात्मरूपपुष्टया गोपिकास्तु दानात् तस्माद्भावे, आहुश्च ते
 नलिननाभेति गोपिधानां प्रार्थना तच्छापिकेत्याहुः नथैव प्रार्थितं ताभिरिति, अस्मिन्
 प्रार्थनाश्लोके भगवतो नलिननाभयेन जगत्कर्मैत्यात् पदस्य चारविन्दत्वेन सुखकरत्वात्
 तापहारकत्वाच्च भक्तानां सुखकरं दुःखनाशकं तदेव तद्गुह्ये सृजतीत्युक्तम्, तेन फलस्य
 दुःखासम्भित्वस्युक्तम्, अगाधबोधैः पूर्णजातिवैशीकृतयोगैर्योगैरिति हृदि चिन्त्यमेव न तु
 प्राप्तमित्यनेन फलस्य परमोक्तदृष्टत्वस्युक्तम्, 'गेहं जुषामित्यनेन गेहस्य प्रीत्या सेवतस्युक्तम्,
 तच्च न अहन्तामन्तानं विनेति संसारो निरूपितः, संसारस्यावश्यं दुःखहेतुत्वेन
 रूपत उक्तः, चरणस्योक्तचरणायुत्त्वनत्वेतादृशमामिमानजन्मदुःखसम्भावनायामपि तैवेव
 तस्मिन्निष्ठः, अनेनापि फलस्य दुःखासम्भित्वस्युक्तम्, दैहिक ऐन्द्रियश्च सम्बन्धो न सदा
 तिष्ठति, अतः 'मनस्युदिया'दित्यनेन योगिवत् सार्वदिकः सम्बन्ध उक्तः, अनेन
 फलस्य पूर्णत्वस्युक्तम्, 'न' इत्यनेन स्वस्मिन् तत्प्राथम्येनोक्ता । ननु तामिः प्रार्थनेपि भगव-
 ताऽऽनेन कथं तत्सिद्धिः स्यात् तत्राहुः सम्मतं चापि वै हरेरिति, यद्यपि मनसि

निरोधश्चापि तासां हि सर्वभावेन रूपितः ।
तदन्ताः सर्व एवैते तत्फला इति निश्चितम् ॥३१५॥
संसारो भगवांश्चैव विरुद्धं दितयं फलम् ।
उभयैर्यत्सुखं तद्धि तासां पुष्ट्याऽभवत्तदा ॥३१६॥
तथैव प्रार्थितं ताभिः सम्मतं चाऽपि वै हरेः ।

ननु तस्याः किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायामाहुः निरोध इत्यादि । ननु स्वरूपसम्बन्धात्मकफलावधिनिरोध एतासां सर्वभावेन प्रागेव सिद्ध इति पुनः किं तत्कथयत्येत आहुः-तदन्ता इत्यादि । एते सर्व एवादित आरभ्य ज्ञानोपदेशान्ता उपायाः । तत्फला ज्ञानसहितसर्वभावपूर्वकनिरोधफलाः । तथा च पूर्वं सर्वभावे सत्यपि तदुत्तरं परोक्षोपदेशेन परोक्षज्ञाने जातेऽपि यावत्तत्प्रत्यक्षं न भवति तावत्सर्व-भावदाह्याभावात् सम्पृष्टनिरोधमिन्द्रिः सर्वभावानुभवाभावात् । एतत्कथयेदं निश्चित-मित्यर्थः । तदेतद्धिविषय दर्शयन्ति संसार इत्यादिभिः साङ्गैश्चतुर्भिः । अभव-दिति सर्वात्मकेन भगवता अभवत् । अत्र गमकमाहुः-तथैवेत्यादिभिः । 'आहुश्च ते

पदोद्देशमात्रप्रार्थनं न हरेः, तथा सति पदस्वीक्रेष्वश्वान् न पूर्णं फलं स्यात्, तथापि पूर्वं भगवतोपदेशवाक्येषु 'दिष्ट्या यदासीन् मत्सन्नेहो भवतीनां मदापन' इति कथना-दतासां स्नेहः सम्पूर्णभगवत्प्रापक एव न त्वेकदेशप्रापक इति, अत्र परोदयप्रार्थनं तु तद्वैतन्यज्ञापकव्याजेन सम्पूर्णोद्देशार्थमिति ज्ञेयम्, एतेन यत्रैव परमं दैव्यं तत्रैव भगवान् शीघ्रं हरित्वज्ञापनाय प्रकटो भवति गजेन्द्र इवेतिज्ञापनाय हरेरित्युक्तम् । ननु भगवतः सम्मतौ किं ज्ञापकमित्याशङ्क्य भगवद्वाक्यमेवेत्याशयेन श्रीभगवत्गतीतास्थानि वाक्यान्वे-वाहुर्न ज्ञानमित्यादि, उक्तवानित्यन्तेन, एकादशे विश्वाध्याये भक्तिप्रकरण इदं वाक्यम्, "तस्मान् मद्रक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः, न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह", अत्र स्नेहात्मकभक्तियोगादेव योगित्वं, न स्वशास्त्रयोगेन, 'मदात्मन' इत्यत्र मय्यात्मान्तःकरणं यस्य, अहञ्चान्तःकरणे यस्यैत्यर्थः, द्वयमप्यभिप्रेतम्, तादृशे भक्ते ज्ञानवैराग्योरोभावेपि फलविरुध्वः फलाभावश्च नेति तयो-साधनत्वमुक्तम्, तथा सति ज्ञानाभावादहन्ता वैराग्याभावात् नमता चोक्तेति पूर्वश्लोकोक्त-संसारो ज्ञापितः । इतः पूर्वोक्तैकादशस्कन्धावाक्येषु 'मधि हृदि स्थित' इत्युक्तत्वात् फलरूपो भगवान् प्राप्त एवेत्युक्तम्, भगवत्प्रासादापि भगवत् अनन्तानि रूपाणि सन्ति, तत्र कस्य

'न ज्ञानं च वैराग्यं' यतः प्राह हरिः स्वयम् ॥३१७॥
'अव्यक्ता हि गतिर्दुःख' यतः सर्वाणि चोक्तवान् ।
जीवतश्च स्थितिर्मृग्या तथा वृत्त्यादि सर्वथा ॥३१८॥
स्वाभाविकं न दुःखाय परत्रेह च निश्चितम् ।

नलिननाभे'तिपार्थनावाक्ये तथा सिद्धमित्यर्थः । ननु भगवत्सम्बन्धभावे प्रार्थनाभावं न गमकमित्यपेक्षायामाहुः सम्मतमित्यादि । यतो हेतोर्भगवानेकादशे 'जातशब्दो मत्कषायु निर्विण्णः सर्वकर्मसु । वेद दुःखात्मकान् कामान् परित्यागेऽप्यनीश्वरः ।

रूपस्य प्राप्तिरिति सन्देहवारणार्थमक्षरपर्यन्तस्य निरासं वक्तुं अन्यक्ता हि गतिर्दुःखमिति-गीतावाक्यमुपन्यस्तम्, अक्षरप्राप्ते साधनकाले भूयान् क्लेशः फलकाले च भगवत् तौदा-सित्यरूपं भक्तानां महद् दुःखम्, अतोक्षरप्राप्तिभक्तानां नाभीप्सिता, नापि पूर्णपुष्टिर्गो-भगवता दीयते, अनेन फले दुःखात्मिभन्नत्वमुक्तम्, यत्राक्षर्यासिरूपमपि दुःखं न, तत्रान्य-दुःखस्य का वार्ता, अतः परं फलस्य परमोच्छ्रयत्वं पूर्णत्वं च ज्ञापयितुमेतद्विनापि गीतावाक्यान्मुपन्यस्तन्ति, ये तु सर्वाणि वेति, अत्र प्रतीकमणिप्राप्तयत्वं श्लोकद्वयं ज्ञेयम्, तु शब्देन पूर्णपुष्टिसम्भक्तेतरभक्तिरतासः, येषां मदर्धं लौकिकवैदिककर्मपरित्यागापूर्वकं मत्परत्वं भगवत् एव फलत्वेन ध्यानपूर्वकमनन्यतया भगवदुपासनम्, तथा श्रुत्युत्सारासागरादुद्धारकल्पभाषोहमक्षरात् परल्लेषां भवाभीति तद्गदयो भवाभीत्यर्थः, अत्राह्वान् परत्वेन फलस्य सर्वोच्छ्रयत्वं वश्यत्वेन पूर्णत्वं च ज्ञापितम्, तथासत्ये-तादृशभगवद्ब्रह्मवैर्गोपिकाप्रार्थितं भगवतः सम्मतमितिसिद्धमन्यतैतादृशभक्तेऽप्येतैतादृश-फलादने भगवतोन्मत्तवादिष्वं स्यादिति । अतः परं ज्ञानवैराग्याभावावदुचितताहम्भत्वेन जीवतामेव भक्तानामिरीदं फलं सूचिनमितितद्विषयचानायाहुर्जीवत इत्यादि, अहम्भवाभिमानेन जीवतां स्थित्यर्थं गृहं जीवतां वृत्त्यादिकं च सर्वथापशितम्, तत्रेह लोके मनुष्याणां परलोक इन्द्रादीनां च स्वस्वगोहेषु स्थितानां स्वस्ववृत्त्या जीवतामेव परमं सुखं नान्यत्र, अतः स्वाभाविकं गृहवित्तादिकं न दुःखाय, अतो भगवानपि परतन्त्रत्वदुःखं निवारयितुं स्वतन्त्रत्वमुत्सुख सम्पादयितुं गोपिकानामेव गेहेषु गोपस्वर्गेणैव स्थित्वा मनोरथान्तमानन्दं ताभ्यः प्रयच्छति, न तु ताः स्वगेहेषु स्थापयित्वा स्ववृत्त्या च जीवयन्निति, तथा सति रुक्मिण्यादिमहिषीषुच्यतया भक्तावधित्वं फलावधित्वं च न स्यात्, भगवतो व्यापिवेकुण्डेपि गोपस्वर्गत्वम्, तत्रत्यभक्तानां गोपीत्वं च बृहद्भगवनीयकथासन्दर्भे स्फुटमिति तद् गृहं स्वाभाविकमिति न परतन्त्रतादुःखम् किन्तु परमसुखमेवेति तादृशं गोपिकाभिर्भावितमित्यर्थः ॥ १ येन । ये तु ।

लोकद्वयेष्टदं तुल्यं हरेर्नाञ्जयत्परं सुखम् ॥३९१॥

विरोध्यन्धोऽन्यमन्यत्र याचितं तेन तद्विधम् ।

अतिदेशार्थमन्येषां निकटे कथनं मतम् ॥४००॥

‘ततो भजेत मां भक्त्या श्रद्धालुर्देहनिश्चयः । जुषमाणश्च तान कामान् दुःखोदकांश्च गृह्यन् । प्रोक्तेन भक्तियोगेन भजतो माऽसक्तुन्मनः । कामा हृदय्या नश्यन्ति सर्वे मयि हृदि स्थिते । भिषते हृदयग्रन्थिच्छियन्ते सर्वसखायाः । क्षीयन्ते वास्य कर्माणि मयि यद्दृऽखिलात्मनि । तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः । न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेद्विद्भेऽतिसन्दर्भेण स्वस्मिन् जातश्रद्धस्य प्रवृत्तिनिवृत्त्यात्मक-वैदिकसर्वकर्मसु जाता रुचेरेहिककापस्वरूपज्ञानेऽपि तस्यागाशक्तस्य स्वस्मिन् श्रद्धो-त्कर्षपूर्वकं ममेदमेव कर्तव्यं नान्यदिति निश्चयदाहर्षपूर्वकं कामगर्हापूर्वकतद्भोगपूर्वकं भक्त्या श्रवणादिनवकावृत्तिं विधाय असक्तुच्छिचारे तथाभजनेन च क्रियमाणे तादृशस्य हृदये स्वस्य स्थितिं तथा हार्दसर्वकामनाशं ततः स्वदर्शनं तेन हृदय-ग्रन्थिमेदं सर्वसंशयच्छेदं चोक्तवान् । ततोऽखिलात्मकभगवत्साक्षात्काररूप-फलस्य जातस्य साधनभूतज्ञानवैराग्यप्रयोजनभावाद्ययोरश्रेयस्त्वयुक्तवान् । तेन सर्वस्वभाषपूर्वकभजनस्य सर्वस्वकभगवत्साक्षात्कारान्तात् भजनानुवृत्तिश्च सिद्धयति । तत्र ‘मयि भक्तिर्ही’त्यारभ्य ‘पश्यतांभातमशर’ इत्यन्तेन वरप्राप्तिवस्तिस्युक्तम् । तदेव शुकेन जीवकोशात्मकतत्त्वविवन्धकध्वंसपूर्वकमनुवृत्तितम् । न चात्र ज्ञानान्ततामात्रं भगवद्भिषेतम् । गीतायां ‘अव्यक्ता हि गतिरित्यनेन तत्फलपक्षर्षोक्तिपूर्वकं ‘ये त्ति’तिसन्दर्भेण स्वस्यैवोत्कर्षस्य फलत्वं च कथनात् । अत एवं ज्ञायते यदुक्तं प्रनाडीसिद्धैर्वप्रकारकस्वदर्शनेत्तरभावितादृशानुसन्धानपूर्वकनिरोध एवात्र फलत्वेनाभिमतम् । तदेतदुक्तम् ‘न ज्ञानमित्यारभ्यो’क्तवानित्यन्तेन ॥३९५॥३९७॥ ननु कोशध्वंसस्योक्तसाद्धिदैहिकव्रत्यमेव फलत्वेनाभिषेकं न निरोध इति शङ्कायामाहुः जीवत इत्यादि । ‘आहुश्च त’ इत्यारभ्य ‘ततः कामैः पुर्यमाणः सत्रजः सहवान्धव’ इत्यन्तग्रन्थेन तेषां देहस्थितेरवगमाच्च तथा, किन्तु निरोध एव विवक्षितस्यः फलमित्यर्थः । ननु यथेवं तदेदानीमेतादृशनिरोधस्य सिद्धला-त्प्रायेयानायाः किं प्रयोजनमित्यत आहु-स्वाभ्यायैक्येत्यादि । स्वाभ्यायैक्यमिति । ‘आत्मतत्त्वमर्थं तुल्य’मिति स्वाभाविकभिन्नत्वाद्दुःखजनकम् । अन्यचेति । एवं प्रकार-कनिरोधरहितस्यले ॥३९८॥३९९॥ एवं साङ्गोष्टमिच्छिषु प्रथमो विचारितः ।

द्वितीयं विचारयन्ति अतिदेशार्थमित्यादि । अध्यायारम्भे तथेति

१ ग्रहम् ।

स्त्रीणां स्वस्वपती स्नेहः सहजस्तन्निवृत्तये ।

कृष्णस्त्रीणां विवाहानां कथा त्वत्र निरूप्यते ॥४०१॥

लोकाद्भयं गोपिकाभिः पूर्वमेव निवारितम् ।

पुरुषोत्तमभावेन वैदिकं च निवारितम् ॥४०२॥

उत्कर्षे तु श्रुते स्त्रीणां पूर्वभावां विनश्यति ।

पश्चात्तापश्च जायेत विवाहख्यापनं ततः ॥४०३॥

कृष्णे कामाद्यभावाय दास्यं सर्वत्र वर्णयते ।

सर्वभावेन सर्वासां विवाहकरणे क्षमः ॥४०४॥

सुतरां भक्तियुक्तानां लक्षमणायः कथा तता ।

द्रौपदी पुष्टिमार्गस्था ततः पृच्छति यत्नतः ॥४०५॥

तदुत्कण्ठापराः सर्वा स्मिन्पियायांश्च देवताः ।

जाता इति पुरा प्रोक्ताफलादेतद्विशिष्यते ॥४०६॥

विस्मयाविष्टचित्तानां भविष्यति तथा हरिः ।

पूर्वाक्तानामपि तथा कमवृद्ध्या क्षणे क्षणे ॥४०७॥

महिषीणां यथा भावस्तथा साधु भविष्यति ।

लौकिकानखिलानेवं समुद्भूतय मनीषया ॥४०८॥

वैदिकानृषिदेवांश्च पूर्वभावस्य सिद्धये ।

पदाद्रोपिकावपुषिष्ठिरादीनां स्त्रीणां च यथाधिकारं निरोधोपनार्थमनुवादपूर्वकं कथनमित्यर्थः । स्वस्वपतिस्नेहनिवृत्तौ प्राप्तस्य (लोकवेदनिवृत्तौ प्राप्तस्य) लोकवेद-निरोधोपस्य परिहारायाहुः-लोकवादित्यादि । चिन्तयन्त इति । ‘तद्भावमापुरपि नित्ययुजं दुराप’मिति पूर्वाध्यायवाक्यादन्यत्रापि तदतिदेशस्य समानन्यायमासला-त्तयेत्यर्थः । साधनाभावेऽन्यासां कथमेवं भाव इत्यत आहुः-विस्मयेत्यादि । तदुक्तमप्रिमारम्भश्लोके ‘श्रुत्वा पुर्येत्यादिना । शेषमन्थ उचानार्थः । एवमष्टाभि-द्वितीयो विचारितः ।

तृतीयं विचारयन्ति-लौकिकानित्यादि । ‘मनोपयैत्यस्य ‘स्तोत्रं चकार-’त्यनेनान्वयः । पूर्वभाषस्येति पूज्यत्वस्य । *न्यायस्तु भारते पाश्चादिषु च

* भगवद्भक्त्या भगवदपेक्षे जाने भगवता तस्य स्तमानेन कृते स जीवस्तत आरभ्य सर्वलोकानां पूज्यो भवति । १ दिवेदव ताः

ततः प्रभृति पूज्यन्त इति न्यायेन वै हरिः ॥४०९॥
 स्तोत्रं तेषां चकाराऽऽद्ये निरोधार्थं तु ते पुनः ।
 विपरीतं सर्वमाहुः शास्त्रार्थोऽयं हि पुष्टितः ॥४१०॥
 सान्निध्यादेव सर्वेषां हृद्येवं समुपागतम् ।
 अनेनैवोपदेशोऽभूत्फलं चाऽपि समं मतम् ॥४११॥
 प्रमेयबलमासाद्य यादवानां फलं पुनः ।

प्रसिद्धः । तुः पूर्वपक्षनिरासे । अयमेवात्राभिप्राय इत्यत्र गमकमाहुः-ते पुनरित्यादि
 हिर्हेतौ । तेनान्यदपि कार्यं भगवता साधितमित्याहुः-अनेनेत्यादि । उपदेश इति ।
 सभासत्यभूतीनाम् । फलं चापि स्वस्मन्मनसि यथाधिकारो निरोधः ।
 ॥४०८॥४११॥ नन्वेवं सर्वेषां पूर्णं फले कथिते पुनः किमवशिष्टं येन वसुदेव-
 यत्प्रकथावतारितेत्याकाङ्क्षायां तत्प्रयोजनं वक्तुं प्रथमतः प्रश्नप्रयोजनमाहुः-प्रमेयेत्यादि ।

॥ निबन्धकडिनाशचिन्तेनम् ॥

(का. ४११) अत्रे पञ्चविंशत्याय एकाशीतितमे वा सान्निध्यादेव सर्वेषां हृद्येवं
 समुपागतमिति कृष्णसान्निध्यात् मुनिसान्निध्याच्च चैव सर्वेषां कुरुक्षेत्रे समागतानां
 हृद्ये एवं समागतम्, कृष्णवचनैर्ब्राह्मणानां साधनेषु प्राथम्येन गुरुत्वेन सर्वलोकपूज्यत्वं
 ब्राह्मणवचनैश्च कृष्णस्यैव पुरुषोत्तमत्वात् । सन्नाह्णसर्वलोकपूज्यत्वं परमफलत्वं चेति, एवं
 सर्वेषां हृदि समागतमित्यर्थः ।

अत्रेवात्रे अनेनैवोपदेशोभूदिति पादत्रयम्, अनेन कृष्णस्य मुनीनां च वचनप्रतिवचनेन
 सर्वेषां भगवन्मागोपदेशोभूत्, यथा नामकरणप्रस्तावे गर्गवचनैर्नन्दस्य नन्दवचनैश्चान्येषां
 गोपानामितिवदित्यर्थः, अथ प्रमेयबलमासाद्य सर्वेषां समं मतं फलं चापि बभूदित्यर्थः ।

(का. ४१२) प्रमेयबलमासाद्य यादवानां कृतं यद् राजसप्रकरणे फलं तदुद्धव-
 प्रश्नरूपया नीत्या पुनः सन्देहजननात् पुनः प्रमाणेनोज्यत इतिपदयोगना ।

(का. ४१३) अत्र ईशलीलां सुदुर्बोधात्मिकादि, वसुदेवे कर्मनिर्हारायै प्रकृतिं सति
 ते मुनयः को वेद ईशरो लीलायै वसुदेवे बाधकं कर्मापि स्थापितवानितिसंशयं गताः, तदा
 नारदः सन्देहवारकः, पूर्ववद् यथा चैद्युक्तौ युधिष्ठिरस्य मायावत्याः प्रद्युम्नविषयः प्रद्युम्ने
 द्वारकां नीते वसुदेवादीनां प्रद्युम्नविषयकः सन्देहो निवारितस्तद्वद् मुनीनामपि ॥

कृतं सन्देहजननात्प्रमाणेनोच्यते पुनः ॥४१२॥
 वसुदेवस्य सम्प्रश्रस्ततो यागार्थमुच्यते ।
 ईशलीलां सुदुर्बोधां मत्वा ते संशयं गताः ॥४१३॥
 नारदः पूर्ववत्प्राह सर्वसन्देहवारकः ।
 सात्विकप्रक्रियायां हि प्रमाणं न हि दर्शितम् ॥४१४॥
 ततः कृष्णकृतं सर्वं लौकिकं मेनिरद्विखिलाः ।
 अतो यागोत्सवो जातो लौकिकं वैदिकं तथा ॥४१५॥
 एकीभूयाऽभवद्भक्तौ तेन सर्वेऽभवन्समाः ।
 सर्वेषां सर्वभावां हि फलादपि हरिः फलम् ॥४१६॥
 सात्विकप्रक्रियायां हि सर्वं एव निरूपितम् ।
 निर्गुणत्वं समापन्ना निरोधोऽत्रैव रूपितः ॥४१७॥

एतत्प्रकरणेयममेयकरणे प्रमेयबलमासाद्य यादवानां दोषाभावरूपं फलं
 नीत्यालम्बेन सन्देहजननात्पुनः सदीर्घं कृतम्, तत्पुनः प्रमाणेनोच्यते
 ततो हेतोः सम्प्रश्र इत्यर्थः । कृतमित्यत्र गतमित्यर्थः प्रतिपाति ।
 ते इति सात्विकाः यादवाः । नटु तावन्मात्रेण कथमेवं संशय इत्यत
 आहुः-सात्विकेत्यादि । खला इति यादवो निदरामपीतिवद् । संशय-
 निहन्तिप्रकारमाहुः-अत इत्यादि । एतस्य संशयस्य निहृत्त्यर्थम् ।
 अभ्यप्रद्वक्ताचिति भक्त्यर्थमभवत् । फलितमाहुः-तेन सर्वेऽभवन्समा इति ।
 सर्वस्य लौकिकवैदिकस्य भक्त्यर्थमभवेन सर्वं राजसा यादवा निहृत्तचित्तवैषम्या-
 स्तुल्यरूपाः सात्विका अभवन् । तथा चैव राजसादीनामैकरूपमभवेनस्यावशिष्टत्वात्-
 द्यमेतत्कथावतारणमित्यर्थः । एवं सर्वमाफलं निरूप्योपसंहरन्तो निगमयन्ति सर्वेषा-
 मित्यादि । तथा च छान्दोग्योक्तरीतिकाहङ्गरादेशात्मादेशाभ्यां यदुक्तं तदत्र
 निष्पन्नं यदा तदात्र निरोधः स्कन्धप्रतिपाद्यः पूर्णः सिद्ध इत्यर्थः ॥४१२॥४१३॥
 एवं त्रयोदशाधिकेन शतैः सात्विकप्रकरणं विचारितम् ।

॥ इति सात्विकप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ गुणप्रकरणम् ।

हरिणा केवलेनेव धर्मेणैवाखिलं कृतम् ।
इति संशयनाशाय गुणानां प्रक्रियोच्यते ॥४१८॥
निर्धर्मको वा भिन्नो वा निरोधं कुरुते यदि ।
तदा व्यर्थं समस्तं स्यादिति षड्गुणवर्णनम् ॥४१९॥
येनेतावत्कृतं सर्वं स कृष्णो भगवान् परः ।
इति दर्शयितुं षड्भिरध्यायैः षड्गुणान् जगौ ॥४२०॥
ऐश्वर्येण समग्रेण प्रथमं ज्ञानदो हरिः ।
पश्चात्पुत्रप्रदश्चाऽपि बाह्याभ्यन्तरभेदतः ॥४२१॥
ज्ञानेनान्तर आनन्दः पुत्रादिभ्यस्तथा बहिः
पितृमातृविभेदेन वैदिकं लौकिकं तथा ॥४२२॥
ऐश्वर्यभाक्तिसिद्धयर्थं प्रकटीकृतवान् हरिः ।
गुरुत्वं देवतात्वं वा न स्वीकृत्य सुतस्वतः ॥४२३॥
तदुक्तमेव निखिलं सर्वं ब्रह्मेति बोधितम् ।

(अथ गुणप्रकरणम्)

अतः परमेकपञ्चाशद्विंशत्युपकरणं विचारयन्तः प्रकरणप्रयोजनं त्रिषाढाहुः-
हरिणेत्यादि । ननु केवलपथिणा करणे को दोषो येन तच्छब्दापाकियत इत्यत आहुः-
निर्धर्मक इत्यादि । तथा च निर्धर्मकेन करणे सर्वस्य मायिकलापस्या वैषम्येषु,
भिन्नरूपेण करणे मुख्यफलाभावेन सर्ववैषम्यमस्तदुभयनिरासायैवं प्रक्रियेत्यर्थः । तर्हि
सधर्मकः कया विधयोच्यत इति शङ्कायामारम्भे प्रकरणविभागे अन्तर्प्राप्त्यधिदेवा-
दीत्यादिना यदुक्तं तत्समारयन्तस्तान् त्रिषाढाहुः-येनेत्यादि ॥४१८॥४२०॥ एवं
त्रिभिः प्रयोजनकथनेन प्रकरणस्यावश्यकता निरूपिता ।

अतः परं प्रथमार्थमैश्वर्यं त्रिबिधं दर्शयन्ति, ऐश्वर्येणेत्यादि-
साद्विद्ब्रह्मदशभिः । अत्र प्रथमं वसुदेवस्तुतिस्तत्र उपदेशस्ततो देवकीमार्येण च,
ततः पुत्रानयनं ततस्त्वसद्व्रतपतिमुक्तम् । तेन कथमैश्वर्यबोध इत्याकाङ्क्षायां
कार्यद्वारेत्याहुः । बाह्याभ्यन्तरभेदत इत्यस्य समग्रप्रदेनान्वयः । कथमवगम
इत्यत आहुः ज्ञानेनेत्यादि । तथा च द्विबिधानन्दस्य विषयदानेन तयोस्तस्य
बोधनाप्तयेत्यर्थः । तत्र ज्ञानदानैश्वर्यप्रकटव्युत्पाद्यन्ति-गुरुत्वमित्यादि ।

कचित्तु ब्रह्मभावो हि खण्डज्ञानमिहोच्यते ॥४२१॥
लोकेऽधुना तदेवास्ते जीवेश्वरविभेदतः ।
मायाविनस्तु मन्यन्ते जीवमात्मानमीदृशम् ॥४२५॥
वसुदेवोक्तमखिलं वैष्णवाः पुरुषोत्तमम् ।
वस्तुतो यादृशं सर्वं तत्कृष्णं निरूप्यते ॥४२६॥
अतिदेशप्रकारेण स्थापितं चाऽपि वैष्णवम् ।
दृष्टान्तार्थं यतः साधुर्जीवोऽप्येतेन सिद्ध्यति ॥४२७॥

अयमर्थः । कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थो हीश्वरः । साधनं विनापि कर्तुंय,
फलोपशानानुकूलसामग्रीसत्तायामपि प्रतिबन्धुषु, विरुद्धसाधनेन कर्तुं समर्थ इति
तदर्थः । एतादृशसमग्र प्रकटीकर्तव्यम् । तत्र श्रीवसुदेवे 'येन येने'त्यादिना सर्वरूपस-
र्वशक्तिमत्त्वं सर्वकारणत्वं सर्वनियामकलादिकं च भगवत उक्तम् । भगवता तु
तदुक्तमद्गीकृत्य स्वस्मिन्सुतस्थापनपूर्वकं सर्वेषां तथात्वं नानालेऽप्येकत्वेन बोधितम् ।
तथा च न श्लोकः साधनं विना नाना भवति, न वा नानात्वसापथ्रीसत्तायामपि
तद्रूपे विद्यमानेऽप्येकं सर्वं भवति । न चैवं विरुद्धसाधनेनाविरुद्धं सर्वं भवतीत्यादि ।
साक्षात्कारिते तदपि फलोपहितं येन श्रीवसुदेवस्य नानाधीविनाशः । तस्मात्स-
प्रैश्वर्यमेव ज्ञानरूपकार्येण बोधभित्त्यर्थः । तदेतद्विशदीकुर्वन्ति साद्वैश्वर्युभिः-कच्चि-
दित्यादिभिः । कच्चिदिति । उपासनासम्बन्धु जैमिनीयेषु बोधोपायनवृत्तौ वेति
प्रतिभाति । ब्रह्मभाव इत्यत्र ब्रह्मत्वाद् इति पाठश्च प्रतिभाति ॥४२१॥४२५॥
तयोः सुमन्त्रयोः रिदानो ममसिद्धत्वात्तदशमतसत्तारायं तदनुसारिमत्तमसिद्धिं प्रमाण-
यन्ति-लोक इत्यादि । लोक इति । मध्वरात्मानुजयोर्मते यथायथं तयोर्मते जीवेश्वर-
योः त्यन्नेभेदस्य शरीरशरीरिभावेन भेदप्रतिभाषेदस्य च प्रतिपादनादित्यर्थः । मतान्तर-
माहुः-मायाविन इति मायाध्यादिन इत्यर्थः । तृतीयं पञ्चरात्रमतमाहुः-वासुदेवे-
त्यादि । एवं मतान्तराप्यत्र भगवन्मतस्वरूपमाहुः-वस्तुत इत्यादि । वसुदेवैर्वाहत्त्वं
भगवतः प्रतिपादितम्, भगवता तत्त्वं स्वस्मिन्ब्रह्मीकरणं सर्वोऽप्येवं यदुश्लेष
विषयः सत्ताराचरमिति स्वातिदेशेन सर्वस्य तथासमुक्तम् । तेनोभयव्यपदेशनायान्
भेदाभेद उक्तो भवतीति वस्तुस्थित्या ब्रह्मस्वरूपं निरूप्यते । किञ्च, अतिदेशेनैव
प्रकृतिविकृतिभावस्यापि सूचनाऽप्येवं मतपार्थिवैर्विकृताद्वैश्वर्यमपि स्थापितम् । तस्य
प्रयोजनं दृष्टान्तसिद्धिः । यतो हेतुरेतेन दृष्टान्तेन जीवोऽपि साधुः सिद्ध्यति ।
ईश्वरामकः सिद्ध्यति । तेन मन्वेवाशानवसरे नानावादानुरोधं ब्रह्माखण्डमिति
भगवन्मतस्वरूपमित्यर्थः ॥४२५॥४२६॥४२७॥

एतेन सर्ववेदानामर्थो ज्ञानाधिकारतः ।
 प्रच्युतानामीश्वरत्वब्रह्मादेव निरूपितः ॥४२८॥
 गुरुपुत्र इवाऽत्रापि कालप्रस्ता विमोचिताः ।
 पढेते पद्गुणत्वाय देवकीसुतेदेहिनः ॥४२९॥
 समानत्वनिवृत्त्यर्थं स्नेहस्तस्यास्तु वर्पते ।
 नन्दादिवदिदानीं हि देवक्यपि पुरा स्थिता ॥४३०॥
 अतः स्नेहदशायां हि स्तन्यं नित्यं हरिः पपौ ।
 पीतशेषमतः प्रोक्तं वेणवत्वाय मुक्तये ॥४३१॥

एतेनैश्वर्यसिद्धिमाहुः-एतेनेत्यादि । अर्थ इति अर्थज्ञानम् । एवं सार्द्धं शत्रुभिरनधिकारेऽपि ज्ञानदानेन 'तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहादि'तिन्यायेन बोधितम्, तेन समग्रैश्वर्यं साधितम् । क्रियया तद्वत्त्वं साधयन्ति गुरुपुत्रेत्यादि । समानत्वनिवृत्त्यर्थमिति । सर्वेषां तुल्यवयस्कत्वनिवृत्त्यर्थम् । तथा च कालप्रस्तानां स्वस्पर्शमोक्षेणात्मदर्शनेत्यादनरूपविमोचनक्रियया जन्मान्तरमन्तरेणैव तद्देहस्यासुर-योनिनिवृत्तिपूर्वकं मातृस्नेहोत्पादकयथावस्थितपूर्वरूपसम्पादनक्रियया च समग्रैश्वर्यं बोधितम् । अतः परं प्राप्तिक्रिकं विचारयन्ति । ननु भगवानेकादशवर्षो ब्रजादागतः, इदानीं च बृहद्रथा इत्युभयथापि स्तनपानात्सम्भवात्पीतशेषत्वकथनं कथं सङ्गच्छत इत्यत आहुः-नन्दादिवदित्यादि । हि यतो हेतोरिदानीं नन्दादिवत्कृस्नेत्रस्य-दर्शनजन्यदशायां यथा नन्दादयो निरोधपूर्णा जातास्तथा देवक्यपि पुरा पूर्वकाले

॥ निबन्धकठिनां शशिवेचनम् ॥

(क. ४३०) पट्टविशाखायै ब्रह्मशीतितमे वा पीतशेषलोपपादने नन्दादिवत्यादि, इदानीं कृष्णस्य मधुसूयां द्वारकायां च स्थितिसमये नन्दादीनां विरहदशासि, तद्दशायां परमस्नेहोद्रेकेण यदा बाह्यप्रपञ्चमनुसन्धायान्तर्मुखा कृष्णैकनिष्ठा भवन्ति ते नन्दादयस्तदा भगवानपि प्रकटो भवति, सर्वो च लीलां दर्शनस्पर्शनादिव्यवहारविषयो भूत्वा करोति, तद्वत् पुरा भगवतो ब्रजस्थितिसमये देवक्यपि विरहदशां प्राप्य स्थिता आसीत्, तदा परमस्नेहोद्रेकेणान्तर्मुखत्वे भगवानपि प्रकटो भूत्वा नित्यं स्तन्यं पपौ, अतः पीतशेषत्वम्, अस्य पक्षस्य केवलमाहुःकवेचत्वात् सर्वलोकवेचं पक्षान्तरमाहुः प्राकृत-त्वदशायां वा सद्यः पीतं विनिर्गमे इति ॥

प्राकृतत्वदशायां वा सद्यः पीतं विनिर्गमे ।
 उच्छिष्टभोजिनो मायां तरन्त्येव न संशयः ॥४३२॥
 एवमैश्वर्यचरितमेकेन विनिरूपितम् ।
 ततो वीर्यकथां प्राह तथैवैकेन सा त्रिधा ॥४३३॥
 एतेषां सङ्गतिः पण्णां न परस्परमुच्यते ।
 गुणत्वाय कथापक्षः पूर्वमेव निवारितः ॥४३४॥
 बुद्धिवीर्यं क्रियावीर्यं क्रिया च द्विविधा मता ।
 सिद्धमात्मानमेकं हि हिरूपं कुरुते यतः ॥४३५॥
 अतर्क्यभावमापन्नस्तथाऽन्येषां च तान् प्रति ।
 मायाविवाहे भगवान् बुद्धिवीर्यं चकार ह ॥४३६॥
 माया तु त्रिविधा प्रोक्ता शक्तिर्वै वासुदेवगा ।
 अधिभूता समस्तानां मोहिकैव स्थिता भुवि ॥४३७॥
 मायावती तु कामस्य द्वितीया विनिरूपिता ।
 द्वैविकी त्विषमारुघ्याता पतिस्तस्याः स्वयं हरिः ॥४३८॥

निरोधपूर्णा स्थिता, अतस्तथैति तथोक्तं मुखेन सङ्गच्छत इत्यर्थः । नन्वेवं सति तदैवद्युक्तं स्यान्नात्रैतपरुष्या पक्षान्तरमाहुः-प्राकृतत्वेत्यादि । अर्थस्त्वतिरोहितः ॥४२८॥४३१॥ एवं सार्द्धं द्वादशभिः प्रथमाध्यायो विचारितः

द्वितीयं वीर्याध्यायं विचारयन्ति षोडशभिः-ततो वीर्येत्यादिभिः । ननु तर्हि कथाद्वयं कुत इत्येतेत्यामाहुः-तथैवेति । यथा पूर्वाध्याय एवैश्वर्यं कथाद्वयेन द्विविद्युक्तं तथा च वीर्यमपीत्यर्थः । नन्वत्र राज्ञः पश्चात्सुभद्राविवाह उच्यते इति कथामात्रेवोचिता, न तु वीर्यबोधकत्वमपीत्याशङ्क्यामाहुः-कथापक्ष इत्यादि । पूर्वमिति । प्रथमस्कन्धविषयं कथामात्रमित्यादिभिस्त्रिभिः समाख्युप-लब्धत्वविचारे । तथा च न वीर्यबोधकत्वादनिरित्यर्थः । * द्वैविक्यं विभजन्ति बुद्धी-त्यादि । द्वैविक्यं मैथिलकरायां सेतस्यतीत्याशयेनाहुः-सिद्धमित्यादि । अन्येषा-मिति मुनीनाम् । तान् प्रतीति मैथिलान् मति । बुद्धिवीर्येत्यादयन्ति-प्रायेत्यादि, मायाविवाह इति । मायाया विवाहे । सुभद्राया मायात्वादिकं व्युत्पादयन्ति-

* त्रैविध्यम् पाठः ।

ईश्वरत्वानु दासी सा कन्यैव भवितुं क्षमा ।
 सा पुनर्देवकीमोहानस्यं जाता निजेच्छया ॥४३१॥
 तस्या भोक्ता न वै जीवो भगवान् पुरुषोत्तमः ।
 सम्बन्धान्नैव भोक्ता स्याल्लोकदोषात्र कन्यका ॥४४०॥
 सर्वदा स्थातुमुचिता वेदस्तस्या न युज्यते ।
 अतो विवाहः कठिनो लोकोऽप्यत्र न दुष्यति ॥४४१॥
 अत आवेशिनं कृष्णं नरं प्रवाजिनं तथा ।
 वेषात्पाषण्डिनं कृत्वा चौर्यैतां ददौ हरिः ॥४४२॥
 बलस्तु मूलवार्ता हि गृहे गुप्तंशसंयुतः ।
 न जानाति ततः क्रुद्धः कृष्णेन च निवारितः ॥४४३॥
 एतहुद्धिवलं प्रोक्तं येन लोकेऽपि सम्मतिः ।
 जनकः श्रुतदेवश्च भगवद्दीर्यबोधको ॥४४४॥
 प्रार्थनां चक्रतुरतो द्विरूपोऽभूत्तद्विच्छया ।
 मुनीनां च द्विरूपत्वं तेषां स्मृत्या च सम्मतम् ॥४४५॥
 न च ते द्विविधा जाता नाऽपि कृष्णस्तथाऽभवत् ।
 किन्तु कृष्णेच्छया जातास्तेषां चाऽप्यत्र विस्मयः ॥४४६॥
 अतः क्रियाबलं प्रोक्तं यथा स्वमे तथाऽभवत् ।

माया त्वित्यादि । आधिदैविक्याः कृत उत्पत्तिरित्यत आहुः--देवकीमोहादिति ।
 'उपगृह्णात्मजाभेव'मित्यत्रोक्तान्मोहात् । न युज्यत इति । श्रुतिगीतां इन्तव्यत्वेन
 प्रार्थनाभानुकूलो भवतीत्यर्थः । गुप्तंशसंयुत इत्यत्र गुप्तमसंयुत इति पाठः
 प्रतिभ्रान्ति ॥४३१॥४४४॥ जनकश्रुतदेवयोः क्रियाधीर्यबोधकत्वं व्युत्पादयन्ति-
 प्रार्थनामित्यादिना । अत इति प्रार्थनातः । हरिरिति शेषः । तद्विच्छयेति भगव-
 दिच्छया । स्मृत्या च सम्मतमिति । गौतमो बृहदगीतम् इत्यादिप्रसिद्धयेति
 प्रतिभाति । तथाऽभवदिति । सत्यवैऽपि तथाऽभवदित्यर्थः । अत्र 'कृत्वा तावन्त-
 १ द्वितीयो ।

एकत्राऽवस्थितः कालमन्यत्रैकं दिनं तथा ॥४४७॥
 अग्रे कालद्वयं तुल्यं तेन सर्वस्य विस्मयः ।
 एतदर्थं तु मुनयः सह नीताः स्वपौरुषम् ॥४४८॥
 प्रदर्शिता यतः सर्वे तद्वाक्याद्दीर्यवेदिनः ।
 श्रुतिगीता यशः प्राह सर्वसन्देहवारिका ॥४४९॥
 लौकिकं चेयुक्तिसिद्धं कर्तृत्वादि भवेद्धरेः ।
 अलौकिकस्य करणाद्यशो जातमलौकिकम् ॥४५०॥
 *अष्टाविंशतितत्त्वानि यथारूपे हरीच्छया ।
 तथैव नास्मि यशसि तावत्यः श्रुतयो मत्ताः ॥४५१॥
 तस्मात्सन्देहनिर्धारी मनसश्च निवेशनम् ।
 निर्गुणे भगवद्रूपे वेदैरेवेति निश्चयः ॥४५२॥
 श्रीशक्तेरभिमाध्यायस्तत्रैवं निर्णयः कृतः ।
 हरिरेव स्वयं भुङ्क्ते श्रियं नाऽन्यस्तु कश्चनः ॥४५३॥
 यस्तु मोहात्कचिद्भुङ्क्ते तं दुःखे पातयत्यजः ।
 भक्तस्य तन्न युक्तं हि तस्मात्तां त्रिनिवारयेत् ॥४५४॥
 अन्ये देवाः श्रियं दत्त्वा तथाऽन्यानपि वै वरान् ।
 स्वयं सङ्कटमायान्ति तस्माच्छ्रीर्नैव युज्यते ॥४५५॥

मात्मानं 'तावन्ति विभ्रतूपाणी'तिवद्रूपकरणभरणयोरनुकलादेकैवैव रूपे परिच्छिन्ने-
 नैककालिकभिन्नदेशिककारणं क्रियाधीर्यबोधकं सिद्धयति । कालमिति ।
 'दिनानि कतिचिद् भूभूमि'युक्तं बहुदिनानामकं कालम् ॥४४५॥४४८॥ एवं
 पांडवशाभिर्वीर्योऽध्यायो विचारितः ।

साद्वैद्विभिर्यशोऽध्यायं विचारयन्ति-श्रुतिगीतेत्यादि । लौकिक-
 मित्यादि । लौकिकं चेद्भुक्तिसिद्धं भवेदित्यन्वयः । शेषं स्फुटम् ।
 साद्वैद्विभिरग्रे ष्यध्यायं विचारयन्ति-श्रीशक्तेरित्यादि । तदिति ।
 दुःखे पातनम् । नैव युज्यते इति । अन्यदन्ता न युज्यत इत्यर्थः ।

* अत्रत्यं निबन्धकठिनांशविषेचनं स्कन्धान्ते २२४तमे पृष्ठे द्रष्टव्यम् ।

शाकुनेयकथा प्रोक्ता तदर्थं हसद्भृटे ।
 ततः परं तु ज्ञानस्य निर्णयो हरिमेधसः ॥४५६॥
 क्षमा तस्योत्तमं लिङ्गं कृष्ण एव प्रतिष्ठिता ।
 तस्या निर्णयसिद्धयर्थं भृगुपाख्यानमुच्यते ॥४५७॥
 तथा ब्राह्मणवार्ताऽपि सर्वयादवसन्निधौ ।
 क्षमा कृष्णे परा प्रोक्ता समर्थे ज्ञानसम्भवे ॥४५८॥
 उपदेशेऽपि नाऽन्यस्य ज्ञानमस्तीति बोधितम् ।
 अर्जुनस्य कथा प्रोक्ता सर्वगीतार्थवेदिनः ॥४५९॥
 अतः परन्तु वैराग्यं कथाऽध्याये निरूप्यते ।
 तेनैव पूर्णतां याति निरोधः सकलोऽपि हि ॥४६०॥
 कृष्णो विरक्तः किं वाच्यस्तत्सम्बन्धात्स्त्रियोऽपि हि ।
 कामैकरसपूर्णाश्च विरक्ताः सर्वथा मताः ॥४६१॥
 एतावदर्थनिर्धारं कथा यावत्पर्य ईरिताः ।
 तासां चाऽत्रोपसंहारः क्रीडया विनिरूप्यते ॥४६२॥
 एवं सर्वान् समुद्धृत्य कीडत्यस्माकमीश्वरः ।
 क्रीडायां प्राप्तसंसारः स्त्रीणामपि निर्वायते ॥४६३॥

ज्ञानाध्यायं विचारयन्ति सार्धंस्त्रिभिस्ततः परं त्वित्यादि ।
 प्रोक्तैति तदर्थं प्रोक्ता । स्फुटमन्यत् ॥४४९॥४५९॥

सप्तभिर्वैराग्याध्यायं विचारयन्ति अतः परमित्यादिभिः । स्कन्ध-
 समाप्तौ वैराग्यनिरूपणप्रयोजनमाहुः--तेनैवेति इतरन्तरपेक्षेण । नन्वत्र कथं भगवद्वैराग्य-
 बोध इत्यत आहुः--कृष्ण इत्यादि । अत्र वैराग्ये निरूप्ये क्रीडानिरूपणस्य किं
 प्रयोजनमत आहुः एतावदित्यादि । एतावदर्थनिर्धार इति । करणात्मकव्यापा-
 रात्मकफलात्मकनिरोधस्य सपरिकरस्य निद्धरि । तथा च निरोधोपसंहारं
 बोधयितुं तदुक्तिरित्यर्थः ॥४६०॥४६३॥

१ क्रियावतां ।

कुर्याद्विदशार्थास्तु निर्गुणेन युता गुणाः ।
 महिषी हृदयापन्नाः सन्देहं वारयन्ति हि ॥४६४॥
 मनसा तु तिरोधानाद्विह्वलास्ता निरूपिताः ।
 तेन कृष्णार्थता प्रोक्ता तासां सर्वक्रियासु हि ॥४६५॥
 स्कन्धार्थस्तु निरोधो हि ततस्तेनोपसंहृतिः ।
 अग्रेऽपि ये भविष्यन्ति कीर्त्तनात्तेऽपि तादृशाः ॥४६६॥

(इति गुणप्रकरणम्)

प्रकरणमिह पूर्यतेऽनवद्यं
 त्रयमपि विश्वजयाय मादृशानाम् ।
 निजपदसमवाप्तये च नित्यं
 निजगुरुणा हरिणैव लोकवन्द्यम् ॥४६७॥

इति श्रीवल्लभदीक्षितविरचिते तत्त्वदीपानिवन्धे
 श्रीभागवतार्थप्रकरणे दशमस्कन्ध-
 विवरणं सम्पूर्णम् ।

ननु संसारनिवृत्तौ किं गमकमित्यत आहुः--कुररीत्यादि । सन्देहमिति
 संसारसन्देहम् । यदि संसारः स्यादेवं भगवदासक्ता न स्युः । आसक्तौ गमकमाहुः--
 मनसैत्यादि । समाप्त्यध्याय एतन्निरूपणप्रयोजनमाहुः--स्कन्धार्थ इति । उपसंहार-
 प्रकाशयितवर्थमाहुः--अग्रेऽपीत्यादि । त्रयमिति । इतः प्राक्तनं प्रकरणत्रयम् । विश्व-
 जयायेति । 'भूयधान्ते विश्वमायानिवृत्तिरिति श्रुत्युक्तविश्वमायानिवृत्तयोः ॥४६४॥४६७॥

इति श्रीमत्पद्मप्रकरणेः पुरुषोत्तमस्य
 दर्शिता दशमस्कन्धनिबन्ध-
 योजना सम्पूर्णा ॥



का०-४५१ (निबन्धकठिनांशविषेचनम्) ५२? तमे पृष्ठमुत्सर्षयम् ।
(उत्तरार्धे) अर्धत्रयोध्याये चतुरशीतितमे या वेदस्मृतौ श्रुतीनां ब्रह्मपरस्वनिर्णयः, तत्राष्टा-
विंशतितत्त्वनिरूपिकाणां श्रुतीनामत्रयैर्वाभयशेपरूरेर्धाविंशतितिः श्लोकैर्निर्णय इत्थं
ब्रह्मपरस्वमिति प्राथमिकानां चतुर्णां श्लोकानां तु प्रकृतिपुरुषाद्द्वारमहत्त्वप्रतिपादक-
श्रुतिनिर्णायकत्वं सुबोधिन्यां श्रीमदाचार्यैरेव स्फुटं निरूपितम्, अनन न्यायेनाग्निं ज्ञेयमिति-
सूचितं च, परं स्फुटं नोक्तमित्याहुनिकानां बुद्ध्यारूढं न भवतीतिगुरुचरणप्रसादाद्
यथामतिमात्रं लिख्यते ।

तत्र-उद्गुरुपासत इत्यनेनाकाशप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः, आकाशशरीरस्य ब्रह्मण
उपासना कर्मयोगादिभ्यः श्रेष्ठा, कर्मयोगयोरुद्गुरुद्वयस्वरूपत्वेनापःसितत्वात् तस्य शिरोरूप-
त्वेनोर्ध्वस्थितत्वात् साक्षाद् भगवद्भामत्वेन कृतान्तमुखे पातनिवर्षकत्वादिति । पृथं ५ तत्त्वं ५ ।
स्वकृतत्रिचिन्नेत्यनेन तेजःप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः विरजबुद्धीनां त्यक्तव्यव-
हाराणां सर्वत्र स्थितो भगवानसिद्धदेकरस्त्वात् समानप्रीतिदायक इति । पृथं ६ तत्त्वं ६ ॥

स्वकृतपुरेण्वित्यनेन वायुतत्त्वप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः, ताः श्रुतयो वायुवन्
जीवस्य विषमं प्रवेशं ज्ञापयित्वा तदर्थिनो जीवस्य भगवद्भजनं साधयन्तीति । पृथं ७ तत्त्वं ७ ॥

दुर्गवगमात्मेत्यनेन जलतत्त्वप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः, यथा मेघादिजलस्य सर्वानन्द-
दायकत्वमेवं भगवच्चरितागृताब्धेरपीति । पृथं ८ तत्त्वं ८ ॥

लदनुपथमित्यनेन भूततत्त्वप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः । भूकार्यैर्भूतानि शरीराणि
भगवद्भजनेनानुगुणत्वान् न बाधकानि किन्तु तदभिमानस्तदभिमानवतां दुष्टानां सङ्घस्त्रिभिर्ना
दुष्टानिन्द्रियाणि चैति । पृथं ९ तत्त्वं ९ ॥

निभूतमरुन्मनोक्षेत्यनेन मनस्तत्त्वप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः, भगवच्चरणे प्रविष्टं
दृढं मन एव भगवत्प्रीतिसाधनं न तु प्रकारविशेषः प्रयोजक इति । पृथं १० तत्त्वं १० ॥

क इह न्नित्यनेन चक्षुस्तत्त्वप्रतिपादकश्रुतीनां निर्णयः, भगवद्भजनेन भगवद्देश-
सहितान्येव चक्षुषि भगवद्दर्शनसाधनानि, न केवलानीति । पृथं ११ तत्त्वं ११ ॥

जनमसत् इत्यनेन श्रोत्रतत्त्वप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः, ज्ञानैकवचनपरब्रह्मोक्त्वाद्
वेदान् भिन्नानि मतानि श्रावयित्वा जीवं भगवद्भिस्सुखमपि करोति, अतः सावधानतया
स्येयमिति । पृथं १२ तत्त्वं १२ ॥

सद्विव मन इत्यनेन त्वग्निन्द्रियप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः, त्वग्निन्द्रियं हि
परमार्थपर्यवेसायि यथार्थवस्तुमाहि स्वदृष्टान्तेनास्मविदामनुभवस्वायि परमार्थपर्यवेसायित्वं
स्थापयति दोषास्तु पश्चादन्यकल्पिता एवेति । पृथं १३ तत्त्वं १३ ॥

तव परि य इत्यनेन हस्तेन्द्रियप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः, तद्धि येषां सर्वार्थभावेन
भगवत्स्वरचर्यायां व्यापृतं तेषां सर्वत्र जय एव, न तु कुतोपि पराजय इति । पृथं १४ तत्त्वं १४ ॥

लमकरण इत्यनेनैव रसनेन्द्रियवाग्निन्द्रियोभयप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः
स्यैकव्यात्, रसनेन्द्रियं भगवद्भोगावशिष्टं चेद् भुङ्क्ते, तदा स्वयं पूतं सत् स्वसम्बन्धिं
जीवमपि पुनाति, वाग्निन्द्रियं च भगवद्भुगणानवरं तथेत्यर्थान् ज्ञेयम्, भगवन्निष्टं तु
भगवद्देशस्थानधिकारिणः स्वस्थाधिकारे प्रवर्तयन् सर्वेषां भयेन भगवदाज्ञाधीनत्वं ज्ञापयतीति ।
पृथं १५ तत्त्वं १५-१६ ।

स्थिरचरजातय इत्यनेन गुदेन्द्रियप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः, गुदेन्द्रियं
दि देहांतं मलं देहांतं पृथक्कृत्य सदीर्घं करोति, न तु देहस्थितम्, तद्वत् भगवतः
पृथग्भूता एव दोषभाजो भवन्ति न तु भगवत्सम्बद्धा इति । पृथं १६ तत्त्वं १७ ।

अपरिमिता धुत्रा इत्यनेन गन्धतन्मात्रप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः, तद्धि
द्रव्याधिकदेशशुचित्वात् स्वदृष्टान्तेन चैतन्यगुणकं जीवमणुं बोधयित्वा तस्य भगवन्विषय्यतां
ज्ञापयतीति । पृथं १७ तत्त्वं १८ ।

न पृष्टन उद्भव इत्यनेनोपस्थेन्द्रियप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः, तदुत्सुभययोगेन सर्वो-
त्पादकम्, तद्वत् भगवानपि प्रकृतिपुरुषसंयोगेन सर्वोत्पादक इतिज्ञापयतीति । पृथं १८ तत्त्वं १९ ।
नृपु तत्त्वेत्यनेन चरणेन्द्रियप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः, तद्धि सुबुद्ध्या भगवत्समीप-
गमने व्यापृतं जीवस्य संसारपरिभ्रमणादिसर्वदुःखनिवारकम्, दुर्बुद्ध्यान्वयत्र व्यापृतं जीवस्य
सर्वदुःखहेतुरिति । पृथं १९ तत्त्वं २० ॥

विजितहृषीक इत्यनेन स्पर्शतन्मात्रप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः, स्पर्शसुखप्रधाने
संसारसिन्धौ वर्त्तमानाः परमार्थसुखहेतुं गुरुनरणस्यै विहाय योगादिसाधनेरपि यतमाना
विभ्रमविहता मरणान्दुःखहेतुमेव स्पर्शं लभन्ते, न तु सुखहेतुमिति । पृथं २० तत्त्वं २१ ॥

स्वप्नसुतेत्यनेन रसतन्मात्रप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः, स्वप्नादीनां जीवन-
सम्पादकत्वान् जीवनतत्त्वदमनाभावव्यकमिति लौकिको रसनेन्द्रियैक्येवो मयुषादिरसोनुभवकाले
सुखं चानुभावथन्नमि परिणामे प्रायो दुःखहेतुमपि भवति, भगवद्भक्तस्तु सर्वेन्द्रियैर्बोधितं
सुखहेतुमिति । पृथं २१ तत्त्वं २२ ॥

शुचि पुरुषेण इत्यनेन प्राणेन्द्रियप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः, प्राणेन्द्रियं हि
गुप्तमपि स्वसुखहेतुवन्तु स्वमाद्यगुणेन ज्ञानाति, पश्चात् तत् तद्वत् फलमे भ्रमर इव सती
न निवर्तते, एवं प्राणसदृशबुद्धयो नराः कीर्तिगन्धानुभावेन च तीर्थेभ्योदिषु सुख भगवन्तं
ज्ञात्वा तद्वत्सुखमनुभूय न ततो निवर्तन्ते, नाभ्यं वाञ्छन्तीति । पृथं २२ तत्त्वं २३ ॥

सत् इत्स्थितमित्यनेन शब्दतन्मात्रप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः, शब्दतन्मात्रं हि
ध्वन्यात्मकमेरहितमनुभवकाले क्वचिद् गानादौ किञ्चित् सुखं ददाति, न तु परमार्थं,

तद्वद् वेदभगवन्मतविरुद्धानि सर्वमतानि कुतर्कमहुलान्यापातसुखजनकान्यपि ध्वनियत् परमार्थैश्वर्यानि न भगवत्सदप्रापकानीति । एवं २३ तत्त्वं २४ ॥

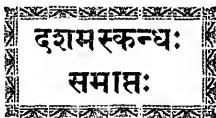
न यदिदमत्र इत्यनेन रूपतन्मात्रप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः, रूपतन्मात्रं हि द्रव्या-
कृतिरूपं कारणात् कार्यस्य भेदं बोधयित्वा भ्रान्तिहेतुर्भवति, एवं जगत्त्रिद्वान्स्वित्वात् पदार्थान्
कारणात् ब्रह्मणो भिन्नान् बोधयित्वा भ्रान्तिजनकम्, अतो न रूपात्मकाकृतिज्ञाताः पदार्थाः
सत्यत्वेन (मिथ्या) ज्ञेयाः, किन्तु वेदादिशब्दबोधिता (अभिन्ना) एवेति । एवं २४ तत्त्वं २५ ॥

स यदज्रयैत्यनेन तमोगुणप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः, तमो ह्यज्ञानरूपं प्रलयहेतुः,
तद्धि जीवेषु संसृष्टं स्वरूपाज्ञानं सम्पाद्य जडभावं प्रापयित्वा सर्वसुखनाशं कृत्वा, अन्ते
तेभ्यो मृत्युमपि प्रयच्छति, अतः सुधियाः सत्सङ्गेन सत्त्वसेवनपूर्वकं निर्गुणप्रयुचरणोपसर्पणेन
च तत्रिवृत्त्यर्थं यतितव्यमिति । एवं २५ तत्त्वं २६ ॥

यदि न समुद्भरन्नीत्यनेन रजोगुणप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः, रजो विशेषकं,
इष्टविस्मरणहेतुः, अत इष्टालाभजदुःखजनकं तदन्वेषणादिवहुक्लेशदायकं च, अतस्त्रिवृत्त्य-
र्थमपि सत्सङ्गादिना सुधिया यतितव्यम्, अत्र गये अनिवृचरजोगुणानां कामजदुःखतिरहितानां
निर्व्यलीकं यतिधर्ममाचरतां चेत् पूर्वार्थोक्तव्यवस्था, तदा किन्तु बकव्यमुचराथोक्तानां प्राण-
पोषकयतीनामुचराथोक्तव्यवस्थायामिति । एवं २६ तत्त्वं २७ ॥

सद्वग्मीत्यनेन सत्त्वगुणप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः । अत्र सद्वग्मीत्यनेन यादृशं
तमोरजोभ्यामसम्भिन्नं भगवत्यामितिजनकं तादृशं सत्त्वमुच्यते, तादृशे सत्त्वे सम्पन्ने
भगवदनुभवजनितानन्दात् सततश्रवणादिजनितानन्दाच्चान्यसांसारिकसंसर्गाभावान् न
कदाचिदपि दुःखं किन्तु निरन्तरं परमं सुखमेवेति । एवं २७ तत्त्वं २८ ॥

युपतय इत्यनेन सत्त्वस्य निर्गुणतापर्यवसायित्वनिर्णयः, सत्त्ववृद्ध्या भगवदनुभवे
जाते निरन्तरं भगवत्सेवनेन श्रवणादिना चागणिततदानन्दोद्देकात् सत्त्वस्यापि निवृत्तौ
पूर्णानन्द एवावशिष्यत । इति एवं २८ ॥ इति श्रुतिगीताया निबन्धकरुतिनांश्रविवचनम् ।



दशमस्कन्धः

समाप्तः

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

अथ तत्त्वार्थदीपनिबन्धे श्रीभागवतार्थप्रकरणे

अथैकादशस्कन्धविवरणम् ।

सत्साक्षीत्या तथाऽध्यायैरिरोधां दशमे त्रिधा ।

तामसादिविभेदेन भौतिकादिविभेदतः ॥१॥

अथैकत्रिंशत्तन्ध्यायैर्मन्त्रिकेकादशो स्फुटा ।

जीवेशयोर्हिधाभेदाच्चतुर्थाऽपि निरूप्यते ॥२॥

श्रीबालकृष्णाय नमः ।

अथ एकादशस्कन्धनिबन्धस्य योजना ।

अर्थकादशस्कन्धार्थं निबन्धनतः सङ्गतिबोधनाय सर्वस्कन्धार्थमनुवदन्ति
सङ्गत्यादि । तथा च दशमस्कन्धे त्रिविधानामार्थेष्वनेन यन्निरोधकथनं तदेकैकस्याधि-
भौतिकादिभेदेन त्रिविधनिरोधबोधनायैव । तेन तादृशनिरोधे जाते ततः स्वरूपाव-
स्थानम्, न तु नूने, अतस्त्वा कार्यकारणभावोऽत्र सङ्गतिरित्यर्थः ॥१॥

एवं सङ्गतिं बोधयित्वा प्रस्तुतं स्कन्धार्थं निरूपयन्त एकदेशे तत्प्रति-
पादानव्याघ्रस्यैवध्यायसङ्ख्याकथनपूर्वकं विशेषलक्षणसर्वोचनाय नामनिर्देशपूर्वक-
आहुः -अप्येत्यादि । सङ्ख्यातात्पर्यं द्वितीयसुबोधिन्यां शुक्तिलक्षणव्याख्याने उक्तम् ।
अन्यथारूपं तत्त्वरूपं तस्य परित्यागः । स्वरूपमेकम् । अवस्था द्विविधा । तत्त्वान्यष्टा-
विंशतिः । एवमेकत्रिंशद्देहा भवन्तीति । 'हेतुर्जीवोऽस्य समगदिविधा कर्षकारकः ।
यं चानुज्ञायिनं माहुरव्याकृतमुनापरे' इति द्वादशे स्कन्धे महापुराणसामान्यं नवमं
लक्षणं लक्षितम् । तदर्थस्तु, अस्य जगतः समगदिः अधिष्ठाकृतजीवाऽष्टद्वयजन्तया
तत्कर्मकर्ता जीवो हेतुस्त्वुच्यते । तं हेतुं केचन चेतन्यप्राधान्येनानुज्ञायिनामाहुः,
अपर उपाधिप्राधान्येनाव्याकृतमाहुरिति । तथा च हेतुस्वरूपं जीव इतिसिद्धम् । जीवस्तु
'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य तु । भागो जीवः स विज्ञेय' इत्यादिश्रुतावु-
त्पान्निपादे च केवलचिदंशरूपः सिद्धः । 'एवं पञ्चविधं लिङ्गं त्रिवृत्पोषकविविद्वन्तम् ।
एव चेतनया युक्तो जीव इत्यभिधीयत' इति चतुर्थस्कन्धीयनारदवाक्ये ऋषाधि-

जीवमुक्तिर्हिधा प्रोक्ता सायुज्याद्ब्रह्मभावतः ।
 ब्रह्मणोऽपि हिधा ज्ञेया नाट्यस्यागास्त्वकास्त्वतः ॥३॥
 आद्या पञ्चभिरध्यायैद्वितीया तस्त्वसम्मिदैः ।
 एकैकेन तथा शिष्टावभिनेयौ परं यतः ॥४॥
 विद्यया प्रथमा मुक्तिः प्रकृतेस्त्यागतः परा ।
 ज्ञानेन पूर्वा भक्त्याऽन्या प्रथमे दश बोधकाः ॥५॥
 गुणनिर्गुणभेदेन द्वितीये भगवान् परः ।
 ब्राह्मणश्च तथा हंसो भीष्मो भिक्षुः पुरुश्वाः ॥६॥
 पश्चाऽन्ये भगवँश्चापि हिरूपः सप्त बोधकाः ।
 ऐश्वर्यादियुतः कृष्णः पूर्णो बोधक ईर्यते ॥७॥
 नारदो निर्गुणस्तत्र कविप्रभृतयः परे ।

सहितः सिद्धः । अत्रापि मनभेदेन द्विबोधकः । एकादशोऽपि भगवद्भावेषु 'जोवो जोयेन निर्मुक्तो गुणैः स्वाशयसम्भवैरित्यत्र तथाङ्गीकृतः । तत्र प्रकृते 'मुक्तिर्हिधाऽन्यथा रूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिरिति लक्षणात्केवलो विवक्षित इति चैतन्यप्राधान्येन सोऽपि ब्रह्मात्मक इति ब्रह्मैव जगन्मूलकारणमिति मुक्तिर्हेतुविशेषत्वेनैकादशो स्फुटा, न तु जीवत्वेन । हेतोर्हिस्वरूपादबोक्तरीत्या चतुर्धा निरूप्यत इत्यर्थः ॥२॥ एतेन प्रकारेण चिन्मोहोऽप्युक्तः । चानुविचिध्यं स्फुटीकुर्वन्ति जीवेत्यादि । 'सायुज्याद्ब्रह्मभावतः' इत्यत्र क्रमो न विवक्षितः । एकादशीयमुबोधिन्माद्युपपत्त्या तपोक्तत्वात् । स्वकादिति नाट्यत्वागमस्य विशेषणम् । स्वत इति नित्यसूक्तत्वभावत्वात् । प्रकरणद्वयेप्यध्यायान् विभजने-आद्येत्यादि । आद्या ब्रह्मभावरूपाः । द्वितीया सायुज्यरूपा । तस्त्वसम्मिदैरिति चतुर्विंशतिभिः । ननु तर्हि शिष्टयोर्द्वयोः किं प्रयोजनमत आहुः-एकैकेनेत्यादि । शिष्टौ ममताहन्तानाद्यौ एकैकेनाभिनेयवतोभिनेयः प्रयोजनमित्यर्थः । स्वतो मुक्तिस्तु 'राजन्वरस्य तनुभृत्यादि'श्लोकत्रयेण ज्ञेया । तथा चाध्यायद्वयं ब्रह्ममुक्तिबोधकमित्यर्थः ॥३॥४॥ प्राकरणिकाध्यायसङ्ख्यावीजमाहुः--विद्येत्यादि । तयोर्थेधापर्यं साधने आहुः--ज्ञानेन पूर्वा भक्त्याऽन्येति । वक्तुनाहुः--प्रथम इति ज्ञाने । द्वितीय इति भक्तिरूपे साधने । द्वितीये पद्मकार इति भ्रमं वारयन्ति-पञ्चेत्यादि । हिरूप इति मूलरूपोऽवताररूपधेयर्थः । सप्तप्रयोजनमाहुः-ऐश्वर्यंत्यादि ॥५॥७॥ प्राथमिकानां दशानां प्रयोजनमाहुः-नारद इत्यादि ।

वैराग्यं भगवद्दर्माः सर्वनिर्णय एव च ॥८॥
 नित्यं कथायाः श्रवणं पूजा चेत्यङ्गपञ्चकम् ।
 अभिप्रायानु वैराग्यं पूर्वत्राङ्गं निरूपितम् ॥९॥
 प्रक्रिया बोधिका ज्ञेया शेषयोर्वीजभावतः ।
 द्वितीयस्य तु मुख्याङ्गं यत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥१०॥
 चतुर्मुक्तिर्हिरः प्रोक्तस्त्रयाणां पूर्वमीरितम् ।
 सङ्घर्षणस्य चरितमत्र स्पष्टं निरूप्यते ॥११॥
 ज्ञानशाक्तिस्तस्य मुख्या वासुदेवस्तु मोक्षदः ।
 अर्थकामौ द्वितीयस्तु धर्मं यच्छति मध्यमः ॥१२॥ *
 उपदेष्टा क्रियायां च निर्दोषत्वोय युक्तिः ।
 अङ्घ्रिष्टकर्मो कालादिस्तथोपायं करोति हि ॥१३॥

विद्यया प्रथमेत्यनोक्ताया विद्यायाः पञ्चाङ्गानि बोधयितुं पञ्चाध्याया इति । तदर्थानाहुः-वैराग्यमित्यादि । ननु प्रथमेऽध्याये यदुकुलशापनाञ्छुच्यत इति कथं तत्र वैराग्य-बोधकत्वेत्यत्र आहुः-अभिप्रायादित्यादि । शेषयोर्ज्ञानाङ्गभूतयोरहन्ताममतानाशयो-र्वीजभावतो वैराग्यस्य बीजभूतत्वेन पूर्वाध्यायैऽभिप्रायाद्वैराग्यमङ्गं निरूपितम् । यदि नैवमभिप्रेयाद्दुग्धेनारदसम्वादाचारं देवस्तुत्याधारम्भ एव वेदेतः प्रक्रिया-बोधिका ज्ञेया, ज्ञानप्रकरणमेवाभिप्रायबोधकं ज्ञेयमिति तथेत्यर्थः । द्वितीयप्रकरणारम्भे भगवत्स्तुत्यादेस्तात्पर्यं वदन्ति-द्वितीयस्येत्यादि । द्वितीयस्येति, भक्त्याख्यस्य साधनस्य । मुख्याङ्गमिति विषयत्वेन तत्स्वरूपनिर्वाहकत्वात्मुख्याङ्ग्या । यत्रेति मूलभूते परब्रह्मणि । तथा च तद्बोधनाय स्तुत्यादिकमित्यर्थः । ननु तर्हि भक्तिस्त-दिष्यं ब्रह्म च धक्तव्यम्, ज्ञानायुपदेशकथनस्य किं प्रयोजनमत आहुः-चतुर्मुक्तिरित्यादि । ईरितमिति चरितमविशेषः । तस्येति सङ्घर्षणस्य । द्वितीय इति मोक्षलोकोत्तरं प्रसङ्गतः समकथने विवक्षितत्वात्कृतां प्रद्युम्नो द्वितीयः । धर्ममिःत्यादिपादत्रयेणानिरुद्धचरित्रमुच्यते । तथा च ज्ञानादिनिरूपणस्य चतुर्मुक्तिचरित्रबोधनं प्रयोजनम् । तस्यापि प्रयोजनं भक्तिविषयनिकर्षं इत्यर्थः । नन्वस्मिन् स्कन्धे मुक्तिस्तत्प्रायेण च धक्तव्यं तत्रत्र सम्नादद्वयेनैव सिद्धयतीति मोक्षलकथनस्य किं प्रयोजनमत आहुः-अङ्घ्रिष्टेत्यादि । तर्हि वारद्वयं किमित्युक्त-
 १ न्याय । *

तदर्थं मौसलं प्रोक्तं संक्षेपेण पुरोवितम् ।
 अन्ते चतुर्णां चरितं सर्वमेवोपसंहृतम् ॥१४॥
 इयं निर्गलितं ह्यत्र भगवच्चरितेन हि ।
 तवा स्थितास्तु निर्द्वन्दाः सुखं प्राप्य परं गताः ॥१५॥
 नामारूढचरित्रस्य कीर्तनाच्चाऽपरे तथा ।
 लोकादृष्टया चरित्रस्य ग्रहणं बोधितं भवेत् ॥१६॥
 अतो विशेषं विज्ञातुं पुनः पृच्छति तत्त्वतः ।
 भगवानेव सर्वस्य कर्त्तव्यत्र निरूपितम् ॥१७॥
 उपक्रमेण निर्दुष्टः कथया चाऽपि बोधितः ।
 ज्ञानं पुरा भगवता वसुदेवाय बोधितम् ॥१८॥
 गुरुत्वभावनाभावाद्भिस्त्वृतस्तत्पुनर्हरिः ।
 नारवं स्थापयित्वाऽह्म मन्यते तं यतः पिता ॥१९॥
 गोपिकावह्वहिर्दृष्टौ व्यसनत्वं हि भासते ।
 संसारे निखिले तस्य त्यागेच्छा च प्रजायते ॥२०॥

अतः सम्यक्प्रबोधाय नारदोऽत्र निरूपितः ।

मित्यत आहुः-सङ्क्षेपेणेत्यादि । ननु भगवच्चरित्रत्वेन कथनस्य किं प्रयोजनमत आहुः-इयंमित्यादिसाद्धेयं । तथा चैतत्कार्यैर्द्वयार्थं चरित्रत्वेन कथनमित्यर्थः । अत्रार्थं पाण्डवेशुक्तमिति तद्वदन्येष्वपि देशान्तरीयेष्वगमन्तव्यम् । निरोधस्य सर्वत्र तुल्यतात् । द्वितीयं तु 'य एतां प्रातरुत्याये'तिवाक्याद् बोध्यम् ॥११॥१५॥ एवं साद्धेयः पञ्चदशभिः सपरिकरः स्कन्धार्थः प्रकरणार्थश्च विचारितः ।

(अ. १) प्रथमाध्यायार्थं विचारयन्तो 'ब्रह्मण्यनामि'ति राजप्रश्नस्य 'विभ्रद-
 पुरि'त्यादेस्तदुत्तरस्य च तात्पर्यमाहुः-लोकेत्यादि । निरूपितमिति । उत्तरग्रन्थेन निरू-
 पितम् । बोधित इति भगवानित्यनुपपन्नते । एवं द्वाभ्यां प्रथमाध्यायो विचारितः ।

(अ. २) द्वितीयाध्यायार्थं विचारयन्तो वसुदेवं ज्ञानस्य पूर्वमुपदिष्टत्वात्प्रादेन किमत्र कार्यमित्याकाङ्क्षायामाहुः-ज्ञानमित्यादिसाद्धेयत्वेन । व्यसनिवत्वं दुःखि-
 त्वम् । तथा च गुणानतिक्रमेण बहिर्दृष्टिनिष्ठचिन्तारदकार्यमित्यर्थः । नन्वत्र द्विविधा
 वकारो युक्तास्तथाप्येकेनैवाध्यायेन तदुक्तं कृतो नोक्तमित्याकाङ्क्षायामाहुः-

पुष्टिमार्गस्थितं मत्वा कदाचिन्नैव मन्यते ॥२१॥
 अतो मर्यादया सिद्धान्नव योगीश्वरान् जगौ ।
 तैद्युणानिक्रमे जाते नारदोक्तं हि भासते ॥२२॥
 नवानां भूमिकाः प्रोक्ताश्चतस्रो ह्यधिकारतः ।
 अतोऽध्यायैश्चतुर्भिर्हि तदुक्तं विनिरूप्यते ॥२३॥
 तत्र सर्वोत्तमो यस्तु तस्य कार्यद्वयं मतम् ।
 भगवद्धर्मकरणं ततो भागवतो भवेत् ॥२४॥
 अथवा भगवद्भक्तैस्तद्धर्मास्तु समाचरेत् ।
 उत्तमस्य तु चत्वारि कर्त्तव्यानीति रूप्यते ॥२५॥
 आदौ मायापरिज्ञानाद्विराग्यं सुदृढं मतम् ।
 ततस्तत्तरणोपायं गुरुस्वेवादिक्तं चरेत् ॥२६॥
 ततो ब्रह्म परं ज्ञात्वा यज्ञान् कुर्यादहर्निशम् ।
 वैदिकांस्तान्त्रिकान् वाऽपि तदर्थं वेदनिर्णयः ॥२७॥
 तत्राऽशक्तस्य सततं कथाश्रवणमीर्यते ।
 सर्वावतारैर्यज्जातं तस्मिन्नेतः सुखी भवेत् ॥२८॥
 ततोऽपि प्रथमो यस्तु प्राकृतः स निगद्यते ।
 तस्या भजननिन्द्यायां सन्निवेशः पुरा भवेत् ॥२९॥
 ततो युगानुरूपेण भजेत् स्वस्याऽधिकारतः ।

नयानमित्यादि । द्वि यतो हेतोरधिकारतो जनकप्रशंसिद्धः श्रोत्रधिकारविचारेण भूमिकास्तदुत्तमः प्रकारा वक्ष्यमाणसर्वोत्तमादियेदेन चतस्रः प्रोक्ता अतस्तथैत्यर्थः । तत्र प्रथमां मुख्य्यां विद्यां पदशयन्ति साद्धेयं तत्रेत्यादिना । भगवद्भक्तैरिति । सहायं कुर्यात् । इयं प्रथमाध्यायसिद्धा । द्वितीयस्यामाहुः-उत्तमस्येत्यादिसाद्धेय-
 ष्याम् । रूप्यत इति द्वितीयाध्याये रूप्यते ॥२६॥२५॥ तत्तरणोपायमिति ।
 मायातरणोपायम् ।

(अ. ३-४) द्वितीयस्यामाहुः-तत्राशक्तस्येत्यादि ।

(अ. ४-५) चतुर्थस्यामाहुः-ततोऽपीत्यादिसाद्धेयं । सन्निवेश इति अमिनिवेशः । आग्रहदादर्थमिति यावत् । स्वस्याधिकारत इति ।

भक्तिं चाऽग्रे स्वयं प्राह कृतार्थत्वं च पुष्टितः ॥३०॥
 ज्ञानस्य पूर्वसिद्धत्वात्कार्यमत्र निरूपितम्।
 मोहाभावस्तु तेनैव सिद्धमेवाऽखिलं यतः ॥३१॥
 चतुर्विंशतिभिः प्रोक्ता द्वितीया प्रक्रिया यतः।
 अतः प्रकृतिनाशाय पद्याध्यायो निरूप्यते ॥३२॥
 आद्यो मूलेन हरिणा स्वीकृतं त्याज्यतेऽमरैः।
 त्यागस्वीकरणे जाते तदुच्छिष्टावर्जीविनाम् ॥३३॥
 भक्तानां तद्विज्ञाहासेच्छा तत्र ज्ञानं क्रियाऽथवा।
 बोधनीयौ हि हरिणा तत उद्भवसङ्ख्या ॥३४॥

प्राकृताधिकारानुसारेण। नन्वेवं जयन्तेऽधिकारे कथं मुक्तिरित्यत्र आहुः-
 भक्तिमित्यादि। प्राहेति पदं देहलीदीपवदुभयत्र सम्बद्धयते। तथा
 च भगवदुत्तराणाञ्जगदनुग्रहाच्च मुक्तिरित्यर्थः। नन्वियं वसुदेवनादसम्पाद-
 कया ब्रह्मवादबोधनाशोपन्यस्ता। तत्र श्रोतुः स चेच्छुक्तस्येव भवेत्तदा युज्येत,
 तथा तत्र न दृश्यते इति कथमस्यास्तादर्थ्यमित्यत्र आहुः-ज्ञानस्येत्यदि। कार्य-
 मिति ज्ञानिनः कर्त्तव्यम्। तेनेति कार्यश्रवणेन, तथा च तच्छ्रवणेन 'यतोऽज-
 हुर्मोहात्मनः' इति मोहाभाव उत्कृष्टेनैवाखिलं साधनकदम्बकं सिद्धमतो ब्रह्मभावे कः
 सन्देह इत्यर्थः। तेनेतः परमभिमानस्यितस्तु भगवद्विच्छया विवक्षितलीलार्थमिति
 भावः ॥२६॥३१॥ एवं लोकादृष्टेयत्यादिभिः प्रथमं प्रकरणं विचारितम् ॥

(अ. ६) अतः परं सादृशप्रश्नप्रतिभिर्द्वितीयं प्रकरणं विचारयन्ति-

चतुर्विंशतीत्यादि। तत इति ब्रह्मभावप्रक्रियोत्तरम्। तेन तस्मात्प्रकारादयं प्रकार
 उक्तव्यते। अत्र भगवत एव साधनत्वेन पुष्ट्याधिक्यादित्याशयेनाहुः-अत इत्यादि।
 अत्र गमकमाहुः-आद्य इत्यादि। छष्ट्यादीं विभागोत्तरम्। जीवस्य मूलप्रकृति-
 संसर्गः केवलया मूलेच्छया, प्राकृतसंसर्गस्तु तथाभिमानजननात्। अत आद्यो मूलप्र-
 कृतिनाशो मूलेन हरिणेति। तद्बोधनाय ब्रह्माणं प्रति यादवान् प्रति भगवदुत्कयो
 बोधितास्तेन सोऽध्यायस्तथा। ततः स्वीकृतं स्वत्वेनाभिमान्यमानं परैरग्रिमाध्यायोक्तैः
 साधनैस्त्याज्यत इति। तत्रापि गुरुत्वेन भगवानेव साधनमित्याशयेनाहुः-त्याग
 इत्यादि। तज्ज्ञाहासेच्छेति प्राकृतजिहासोत्यादिका भगवद्विच्छा। बोधनीयाचिति।
 हेतु इति शेषः। द्विर्हेतोः। तत इति तथा भगवदुद्यमबोधनार्थम्। तथा च
 ३ नरैः।

त्रयोविंशतिभिः प्रोक्ता प्राकृतो हि तथा गणः
 प्रशस्तु कृष्णवाक्यार्थस्तेनाऽऽदावेव रूपिता ॥३५॥
 प्राकृताङ्कुरवत्पूर्वं हरिः सङ्क्षेपतो जगौ।
 सर्वत्र सुलभत्वाय भक्त्यै ज्ञानं निरूपितम् ॥३६॥
 तद्विच्छां तु पुरस्कृत्य न तु तस्याऽधिकारतः।

स्वकृतमाधनजन्यप्रकृतिप्राकृतसंसर्गनाशोपेक्षया भगवत्कृतब्रह्मस्य विलक्षणत्वात्तत्कले-
 ऽपि वैलक्षण्यमिति पूर्वसादयं प्रकार उक्तु इत्यर्थः। एतेन निरोधोऽपि यत्र
 तत्प्राक्तिकम् उक्तस्तत्राप्येव दिग्गुणसन्धेयेति बोधितम्। ननु त्रयोविंशतिभिश्चेत्सा
 कथा निरूप्या, तदा प्रशस्तयेव कृतो नोक्त इत्यत्र आहुः-प्रशस्त इत्यादि। रूपिनेति
 पाठे एतस्य कथापदेन योजना, एवं सादृशैस्त्रिभिः प्रथमाध्यायो विचारितः।
 (अ. ७) द्वितीयं विचारयन्ति-प्राकृतेत्यादि। प्राकृताङ्कुरवदिति।
 महत्त्ववत्त्वं 'विश्वामागतं व्यञ्जनं कृतस्थोजगदङ्कुर' इतिवाक्येनात्। अत्रतद्बोधयम्।
 'एष तेऽभिहितः कृत्स्नो ब्रह्मवादस्य सङ्ग्रहः' इति भगवता सम्पादोपसंहारे वक्तव्यम्।
 तेनाशोपकमेऽपि स एवोपशान्त इति ज्ञायते। तत्र भगवता 'यदात्थे'त्यादिभिस्त्रिभि-
 रुद्बोक्तानुवादमुत्वेन स्वाभिप्रायमुक्त्वा 'न वस्तव्य'मितिद्वार्यां बाहं साधनमुप-
 दिश्य 'यदिदं मनसे'त्यादिद्वार्यां प्राकृताङ्कुरवत्सर्वमुक्तम्। ततः'स्तस्माद्युक्तेन्द्रिय-
 ग्राम' इत्यादिपि श्रुतेभिः प्राकृताङ्कुरनाशायान्तरं ज्ञानरूपं साधनमुपदिशता 'पश्यन्म-
 दात्मकं विश्वमिति ब्रह्मवादः सङ्ग्रहणोक्तः। एवं सति 'यदिदं'मित्यत्र यन्मायिक-
 लभ्युक्तं तद्गौदे प्रयत्नं पर्यवसास्यति। स च विषयतारूपो द्वितीयस्कन्धे
 ऋषेः'मित्यस्य सुबोधिन्यां विचारितः। श्रुतौ च 'न तं विदाप्ये'तिमन्त्रे
 'माया ह्यन्यदिवे'तिब्रह्मणे चान्तरालिकः सिद्धः। अत्र च 'इन्द्रियायनच्छब्दं, त्यत्र
 'इक्षत विभ्रम'मित्यादौ 'ब्रह्मयुद्धये'त्यादौ च वक्ष्यते। तस्य च प्राकृतत्वं 'द्वे
 अस्त्र बीजे' इत्यत्र वक्ष्यते। स च साङ्ख्यादिसम्प्रतिसिद्ध एवात्र पुरःस्कृतिमादाय
 वैराग्यधर्ममन्त्रयते। वैदिकस्तु 'स एष जीव' इत्यादिभिः सादृशैश्चतुर्विधैर्दोत्यचिद्वैकं
 वक्ष्यते। 'कालेन नष्टा प्रकृत्य' इत्यादिना प्रपञ्चयित्यते च, तज्ज्ञानं च 'प्राकृताङ्क-
 नाशक'मिति। तेनात्र सङ्क्षिप्तज्ञानेन महत्त्वभावरूपमुक्तौ वक्तव्यायां ज्ञानं किमित्युपदिश्यत
 नन्वस्मिन् प्रकरणे भक्त्या ब्रह्मभावरूपमुक्तौ वक्तव्यायां ज्ञानं किमित्युपदिश्यत
 आहुः-स्वर्भेद्रेत्यादि ॥३५॥३६॥ ज्ञाने भक्त्यर्थत्वेन मुख्यभक्तेरेव प्रकरणशिव
 प्रकरणसमाप्तौ व्युत्पादयिष्यामः। तद्विच्छामिति। 'यातरशना ये ऋषयः' इति-
 वाक्यमचित्तौ ब्रह्माख्यधामनानेच्छां पुरस्कृत्य ज्ञानस्य भक्त्यर्थतायाः ('परं श्रेयः
 प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्' इति चतुर्दशाध्यायेन ज्ञानं निरूप्य पञ्चदशेऽध्याये
 स्वस्मिन्पुरुषोत्तमज्ञानपूर्वकभजनमुपसंहतम्। 'यो मायेवमस्मद्बो धानाति

तथाऽपि सेवको मुख्यः स्वाधिकारं न दृष्टवान् ॥३७॥
 अयोग्यमिच्छन् पुरुषः पतत्येव न संशयः ।
 इति निश्चित्याऽधिकारे यदुक्तं तद्धि पृच्छति ॥३८॥
 ततस्तु भगवान् प्राह स्वतः सर्वं विचिन्त्य ताम् ।
 अन्वयव्यतिरेकाभ्यां तदा प्रोक्तं फलिष्यति ॥३९॥
 अन्वयादिदिवृक्षायामशक्तिश्चेत्तदोच्यते ।
 गुरुशिष्यौ सदा तुल्यौ तदा ज्ञानं फलिष्यति ॥४०॥
 इदानीं यदुतुल्योऽयं गुरुस्तेन जडो मतः ।
 पञ्चविंशतितत्त्वानामध्यासर्विनिवृत्तये ॥४१॥
 तावन्तो गुरवः प्रोक्ता येनाऽवस्था दृढा भवेत् ।
 वैराग्यं समता चैव सर्वैरेव फलिष्यति ॥४२॥
 त्रिभिर्जडकथा प्रोक्ता कायवाङ्मनसां यथा ।
 दोषा नष्टा भविष्यन्ति तथावस्थात्रयस्य च ॥४३॥

पुरुषोत्तमम् । स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारते'त्यनेन) गीतायाद्भक्तलाभदर्थं
 ज्ञानमुपदिष्टम् । अधिकारविचारेण तत्रे भक्तिरेवोपदिष्टव्येत्यर्थः । नन्वधिकार
 उत्कृष्टमाणे कृतो ज्ञानेच्छेत्यत आहुः-तथापीत्यादि । न दृष्टवानिति नानुसं-
 हितवान् । तथा चाधिकाराननुसन्धानादिच्छेत्यर्थः । अननुरान्धानं कृत इत्यत आहुः-
 अयोग्येत्यादि । तथा च भगवान्भजतां मुकुन्द' इतिवाक्येन मुख्यमर्कदेश्यत्वेन
 तद्विस्तारान्देशादधिकाराननुसन्धानम् । अतस्तत्र यद्वातुं युक्तं हि निश्चयेन
 तज्ज्ञानं पृच्छतीत्यर्थः ॥३७॥३८॥ तर्हि भगवान् किमित्यधिकारमनुसृत्य नोक्तवा-
 नित्याकाङ्क्षायामधिकारमनुसृत्यैवोक्तवानित्याहुः-तत इत्यादि । तदेति । अनुमानैर-
 न्वयव्यतिरेकाभ्यां ज्ञायमाने मयि प्रोक्ते फलिष्यति तन्मदुक्तं ज्ञानं सदाधिकारानुसारेण
 भक्तिं ब्रह्म वा प्रापयिष्यतीतिभावः । तर्थावपूतसम्बाद्धं कृत उक्तवानित्यत आहुः-
 अन्वयादीत्यादि । इदानीमिति अधिकाराननुसन्धानदशायाम् ।

अतः परमवपूतप्रकरणमध्यायात्मकमिति तदनुसारेण विचारयन्ति
 पञ्चेत्यादि । अवस्येति जडावस्था । अत्र 'पञ्चविंशः स्वात्मोपशिक्षितामि'त्यनेनोक्तो
 वेदो ज्ञेयः । तस्य च तत्त्वं जीवाधिष्ठितत्वेन ज्ञेयम् । त्रिभिः कथने बीजमाहुः-
 त्रिभिर्भिरित्यादि । अवस्थात्रयस्येति जामदादिबुद्धवस्थात्रयस्य । एवमध्यायत्रय-
 १ सप्तमादित्रयाध्यायात्मकमित्यर्थः ।

उभयत्र ततो युक्तिं वक्ष्यति स्नेहभावतः ।
 ततोऽपि भगवान् प्रीतः पुष्टिं वक्ष्यति युक्तिः ॥४४॥
 एवं षड्विंशहाध्यायैरेकं ज्ञानं निरूप्यते ।
 मर्यादापुष्टिभेदेन नाऽधिकारस्तदा यदि ॥४५॥
 तदा तत्सिद्धये चैव प्रक्रियान्तरसङ्ख्या ।
 एवं सर्वत्र विज्ञेयं ब्रह्मा हंसो द्वितीयके ॥४७॥
 कपोतान्ताः शरीरस्य प्रकृत्यन्तनिवृत्तये ।
 मनसश्चन्द्रमाः प्रोक्तो बुद्धेश्चापि तथा रविः ॥४७॥
 अहङ्कारनिवृत्त्यर्थं कपोता विनिरूपितः ।
 गुणत्रयनिवृत्त्यर्थं द्वितीये नवधोच्यते ॥४८॥
 कामस्थेन्द्रियवर्गस्य तथाऽऽज्ञाया निवृत्तये ।
 कर्ममार्गे तथाकर्मभावात्कर्म विशिष्यते ॥४९॥

प्रयोजनमुक्तम् । तेनेतैर्विचारसमते एव, न तु तत्पनाशः, तत्त्वानाशस्तु भगवद्भक्तत्वेनैव
 रूपेणेति बोधनायाग्रिमाध्यायत्रयप्रयोजनगाहुः-उभयत्रेत्यादि । उभयत्रेति अध्याय-
 द्वये । प्रीत इति उत्कृष्टाधिकारं प्राप्त्यापि तदनभिमत्येन दीनभावावलम्ब्येन ज्ञानप्रश्ना-
 त्मीतः । एकमिति स्वरूपभाषकं स्वरूपविषयकं ब्रह्मत्वरूपम् । तर्थावतैवोत्तरसिद्धे-
 रग्रिमग्रन्थस्य किं प्रयोजनमत आहुः-नाधिकार इत्यादिना । तदेति तादृशः । तदा
 तत्सिद्धये इति तादृशे न्यूनधिकारे तादृशाधिकारसिद्धयर्थं 'ब्रह्मा हंसो द्वितीयक'
 इति न्यूनैऽधिकारे ब्रह्मा प्रश्नकृत् हंस उत्तरवक्तव्येत्यर्थः । एवमग्रिमकथामयोजनमुत्त्वा
 द्वितीयाध्यायार्थं विदोषेण विचारयन्ति कपोतान्ता इत्यादि । तेनेह पृथिव्या-
 दयः पार्थिवत्रयाद्यसनिष्टव्यर्थार्थं इत्यर्थान् सिद्धम् ॥४७३॥

(अ. ८) अग्रिमं विचारयन्ति-गुणत्रयेत्यादि । त्रिष्टोऽहङ्कारस्य निवृत्त्य-
 र्थमिति भावः ॥४८॥ तत्र प्रकारमाहुः-कामस्थेत्यादि । अत्र कामनिवृत्त्यर्थं
 पतङ्गः । इन्द्रियवर्गनिवृत्त्यर्थमजरसिन्धुप्रभृतयः । आशानिवृत्त्यर्थं पिङ्गला । नन्वजा-
 जगरेण कर्मनिवारणे किं बीजमत आहुः-कर्ममार्ग इत्यादि । कर्मभावादिति ।
 साधनत्वेन कर्मण एव विद्यमानत्वात् । तथाऽकर्मत्वकाकर्मतिपदच्छेदः । तथा

ज्ञानमार्गे तथा कर्म क्रियातोऽपि विशिष्यते ।
 गीतया न विरोधोऽत्र साध्यावस्था तु सामता ॥५०॥
 सिद्धावस्था त्विह प्रोक्ता परीक्षार्थं तु भोजने ।
 सोऽपि चेतुल्यभावः स्यादन्तरेण नता गुणः ॥५१॥
 अतः समुद्रं प्रोवाच तस्य चन्द्रेण वर्धनम् ।
 दृष्ट्वा तद्विनिवृत्त्यर्थं स्त्रियं प्रोवाच तादृशीम् ॥५२॥
 ततो निवृत्तोऽप्यशनाद्दशमायाति दुर्मतिः ।
 ततस्तद्विनिवृत्त्यर्थं मधुकारादिरूपणम् ॥५३॥
 ततो भिक्षार्थगमने स्त्रियं बाधकमाह हि ।
 त्या साऽपि परित्याज्या सर्वनाशोऽन्यथा भवेत् ॥५४॥
 पौनरुक्त्यं ततो नास्ति प्रसङ्गादपि वारिता ।
 सर्वस्य मूलं जिह्वेति ततः सा विनिरूपिता ॥५५॥
 ततोऽप्याऽऽशा तु महती राजसोऽयं तु मध्यमः ।
 सात्त्विकस्याऽपि सङ्गुद्धैर्विद्येः सङ्गुहो यदि ॥५६॥
 तदाऽपि सर्वनाशः स्यात्कुररस्तन्निरूपितः ।

चापकृष्टमेव बीजमित्यर्थः । नन्वेवं सति 'ज्यायसी चे'दिति गीतायामुद्धृतप्रश्ने भगवता 'संन्यासः कर्मयोगश्चे'त्यादिना कर्मयोगस्य विशिष्टत्वं यदुक्तं तस्य विरोध इत्यत आहुः—गीतयेत्यादि । ननु सिद्धावस्थाया अजरैरेणोक्ततात्पर्यनिरूपणस्य किं प्रयोजनमित्यत आहुः—परीक्षार्थमित्यादि । भोजन इति । केन चित्कारिते इतिशेषः । सोऽपीति भुक्तवानपि । गुण इतिसिद्धावस्थोत्कर्षः । तदपे पतङ्गनिरूपणप्रयोजनमाहुः तस्य चन्द्रेणेत्यादि । मधुकारादौत्यादिपदेन मीनः । ननु वारुह्यं स्त्रिया बाधकत्वं किमित्युच्यत इत्यत आहुः—ततो भिद्वेत्यादि । अयं न्विति । एतदध्यापोक्ताधिकारी तु ॥४९॥५५॥ एवं सार्द्धाष्टभिः संन्वाद्भित्तोर्याध्यायो विचारितः ।

(अ. ९) तृतीयं विचारयन्ति—सात्त्विकस्येत्यादि । अत्र विद्यादिसङ्ग-
 निष्ठचित्तबोधनाच्छब्दतन्मात्रनाशोऽध्यायार्थः प्रतिपाति । तदिति तस्मात् ।
 १ अत्र "सपाद्" इतिपाठः प्रतिपाति । सन्वादापाठे तु अवयूत्सन्वादात्स्व इत्यर्थः ।

तत्सिद्धये गुरुर्बालस्तथाऽपीष्टं न सिद्ध्यति ॥५७॥
 ततस्त्वटनमेकस्य मनः कृष्णे निवेश्य च ।
 अपेक्षितानां सर्वेषामन्यथा सिद्धिरुच्यते ॥५८॥
 सर्वाभावे हरिः सर्वं सर्वकर्ता प्रदास्यति ।
 वस्त्वन्तरावे जीवस्य ब्रह्मभावोऽपि साध्यते ॥५९॥
 विवेकसहितो देहः सर्वत्रैव च साधकः ।
 युक्तिस्तु द्विविधा प्रोक्ता ब्राह्माभ्यन्तरभेदतः ॥६०॥
 बाह्याः सर्वेऽत्र लोका हि जीव आन्तर उच्यते ।
 बाह्ये प्राह कचिद् ब्राह्मानांऽन्यथा शक्यता भवेत् ॥६१॥
 अतः साधुरिहोद्विष्टः स्वयं सङ्गुधत्वा भवेत् ।
 कदाचित्ते भक्तिमार्गं वदेयुरिति तां जगौ ॥६२॥
 मार्गद्वयस्य श्रवणात्सन्देहा जायते ध्रुवम् ।

कुमारेश्वरकृतोस्तात्पर्यमाहुः—ततस्त्वित्यादिपादद्वयेन । सर्पोर्णनाभिपेशस्कृतां त्रिभि-
 र्द्वैराहुः—अपेक्षितानामित्यादिभिः । स्वात्मोपशिक्षितामित्यादेराहुः—विवेकेत्युद्धेन
 ॥५६॥५८॥ एवं चतुर्भित्तोर्यायो विचारितः ।

(अ. १०-११-१२) अतः परं पौष्टिकत्रयीं विचारयन्तो ब्राह्म्यां
 युक्तिक्रमणे हेतुमाहुः—युक्तिस्तित्यादि । तथा च लोकोजीवयोर्हृत्वे
 युक्तियोगार्थे ब्राह्म्यामुच्यते । तत्र लोकानां संस्पृशजभोगप्रयान्तात्तद्वेषबोधनेन
 स्पृशन्मात्रजनाशक्त्यर्थः । एवं बद्धजीवैर्वैयलवोपनेन रूपतन्मात्रनाशोऽर्थः । लिङ्गे
 रूपवैशिष्ट्याच्छिष्ट्याजनस्यात्राभिप्रेतत्वादिति । 'अन्तगत्यैरविहत' (अ. १० श्लो० २२)
 इत्यादेस्तात्पर्यमाहुः प्राहेत्यादि । कर्त्तव्यादेति पुरुषविशेषे । अज्ञाक्यतेति त्यागा-
 शक्यता । एवं पूर्वा (दशमः) विष्टः । द्वितीयं (एकादशः) विष्टुन्ति अत इत्यादि ।
 अतस्त्वयागस्यावश्यकतात्साधुसङ्गमाणाविव इह युक्तिप्रकारणे उद्विष्टो बोधनार्थमुक्तः ।
 अन्यथा ज्ञानं स्थिरं न स्यादिति । साधुमाहुः स्वयमित्यादि, सङ्गीति
 भगवत्सङ्गी । एतदप्ये सङ्गी द्वादशे स्वयमिति विभागः । नन्वत्र भक्ति किमित्युक्त्वा-
 नित्यत आहुः—कदाचित्दित्यादि । भगवद्विच्छायां सत्यां ते भगवत्सङ्गिनो
 'भक्तिमार्गं वदेयुरिति हेतोस्तां गौणमुख्यभेदेन द्विविधां भक्तिं जगौ
 तदुक्तविश्यासार्थमधिकारमनुसृत्योपदिदेशेत्यर्थः ॥५९॥६१॥

नन्वेवं गृह्यतममुगोपश्रवणेऽपि कथं सन्देह इत्यत आहुः—मार्गोत्यादि ।
 १ सर्वत्र । २ ना ।

सन्देहविनिवृत्तिर्हि वचनाञ्चैव जायते ॥६३॥
 अतो यथा न जायेत तत्र युक्तिर्निरूपिता ।
 मूलमध्यावसानेश्च तत्स्वरूपनिरूपणम् ॥६४॥
 तत्स्वरूपपरिज्ञाने सत्त्वादिविनिरूपणम् ।
 अन्तःकरणधर्मादेरेवं दोषा निवारिताः ॥६५॥

उपक्रमे ज्ञानस्य गुणोपत्येन भक्तेश्च श्रवणेन तुल्यत्वानुसन्धानास्तन्देहः । किञ्च, जायते प्रथम् । तत्र त्यागार्थं दृश्यमानस्य मायिकत्वे विपत्त्यभावाय विश्वस्य स्वात्म-कत्वं चोक्तम्, अत्र तु वाह्यः सत्सङ्ग आन्तरभावार्थं सर्वात्मभावेन शरणगमनं चोक्तम् उभयत्र साधनयोर्विरोधाश्रयो न जायत इत्यर्थः । उत्तरप्रकारतात्पर्यमाहुः--सन्देहेत्यादि । वचनादिति युक्तिरहितादाह्यात्त्वाद्भवति । तत्रेति तदर्थम् । युक्तिरिति 'अयं हि जीव' इति सार्द्धोक्तोक्ता । एतया एकस्य शक्तिवि-श्लेषाद्धानात्प्रेष्यते तस्य मूलैक्याभायकत्वाज्जिज्ञासया मुखेनैव नानालभ्रमापोह इति । द्वितीयं साधनमाहुः--मूलेत्यादि । मूलं स्वयं 'मे व्यक्तिसि'तिकथनात् । मध्यं वेदवाणी-प्रभृति । अवसानं विष्टिष्टशक्तिस्त्वावस्था । इदं भगवदात्मके विभे 'य एष' इत्यादिनोक्ते द्वितीये 'मायामये तु प्रकृतिपुरुषो मूलं द्वे अस्य बीजे' इतिकथनात् मध्यं 'शतमूल' इत्यादिनोक्तम् । अवसानं मायामयत्वं । एवं मूलमध्यावसानैस्त्वयोः पूर्वमुद्यत्कान्तयोर्विभयोः स्वरूपनिरूपणं च सन्देहनिवृत्त्यर्थमित्यर्थः । अनेनोत्तरग्रन्थेन श्रीमद्ब्रह्मस्य ज्ञानमार्गं एव सन्देहो न भक्तिमार्गं इति तदधिकारोत्कर्षः सिद्धः । एतदभिसन्धायैव भगवता परमगुणरूपा गुणोप्या चेति द्विविधा भक्तिरज्ञायैवमि-त्यादिना द्विविधाः सन्निः सत्त्वानेन भक्ततत्त्वेन वोपदिष्टाः । अन्याया तु ज्ञानानुकरूपपाप्मपासनाशेषभृतां भक्तिं 'यद्यन्यो धारयितुष' इत्यादिभिश्चतुर्भिरुक्त्या ततः 'कृपाशुभ्रकृतद्रोह' इत्यादित्रिभिः साधुं चोत्त्वा तेन ज्ञानस्य तदनुकरूपस्य तत्साध-कस्य च स्वरूपे सपरिकरं बोधिते, उपक्रान्तस्योत्तरस्य च सिद्धत्वात्न वदेत् प्रयो-जनाभावात् । 'तस्मात् सत्त्व'मारभ्य 'शरणगमनं पर्येत उपदेशस्त्वदधिकारानुसारेणेति निश्चयः । तेन 'सर्वत्र मूलभसायैत्यारभ्य 'पृच्छती'त्यन्तग्रन्थे ज्ञानस्य भक्त्यर्थत्वं यदुक्तं तत्रिर्विवादम् । अत्र समाप्तां वदन्तीति कथनादसत्त्वभावनासत्त्व प्रतिपाति ॥६२॥६३॥ एवमध्यायत्रयार्थमुक्त्वा सप्तमादिविषयद्वयार्थी विचारिता ॥

(अ. १३) अतः परं त्रयोदशारम्भेभ्येतस्यैव दोष इत्याहुस्तत्स्वरूपेत्यादि । सप्तम्यत्र तादर्थ्यं । मायिकप्रपञ्चस्वरूपपरिज्ञानार्थमित्यर्थः । तेन सिद्धमाहुः अन्तःकरण-

तदात्मकत्वाद्दोषो हि न पूर्वैर्विनिवार्यते ।
 अतो गुरुरिहान्यो हि वक्तव्यः पूर्वतो महान् ॥६६॥
 तदर्थं प्रश्नकर्तारस्तादृशा सनकादयः ।
 हंसो हि सहजं नीरं त्यक्त्वा यद्वाति तत्पयः ॥६७॥
 निर्णयस्तत्र हंसेन कृतः सर्वत्र सम्मतः ।
 उभयस्य परित्यागः स तु कृष्णो यदा भवेत् ॥६८॥
 परमश्रद्धया भक्त्या तद्वैशेष्यात्प्रवेशतः ।
 चतुर्था तद्धि भवति सर्वदोषनिवृत्तितः ॥६९॥

धर्मादेरित्यादि । अन्तःकरणे धर्माः सङ्ख्यादयः, आदिपदेन बाह्यं कर्म, तस्य दोषा वन्धकत्वरूपाः । एवं तत्त्वप्रकारगोचोर्धनेन निवारिता इत्यर्थः । तत्रैवं हंस-गीनाकथनं कृत इत्यत्र आहुः तदात्मकत्वादित्यादि । अन्तःकरणस्य बोधन-प्रकारस्य च मानिकत्वेन गुणात्मकत्वात् । पूर्वकृतैः साधनैर्दोषो मेद्बुद्धिरूपो न निवार्यते । अतस्तस्येत्यतः कथनमित्यर्थः । तादृशा इति अवतारत्वादवधुतुल्याः तथा च तद्द्रोहस्य पूर्वस्मादाश्रयमर्थसिद्धिमित्यर्थः । आश्रयज्ञानप्रकारमाहुः हंसो हि इत्यादि । विरुद्धयोर्मिश्रितश्रोनपरिज्ञानादपेक्षितोद्धारणं बोधनप्रकारे विशेषः । दत्तस्य देहे पारत्रयशुद्धिरं । 'देहो गुरुरिति श्लोके तथासिद्धत्वात् । अत्र तु देहानुसन्धानाभावः । 'देहं च नश्वरमित्यत्र तथा बोधनात् । अतोऽपि विशेषे इति प्रकार इत्यर्थः । हंसोत्कर्षमुक्त्वा तदुक्तानामुत्कर्षार्थाहुः--निर्णय इत्यादि । सर्वत्रेति भक्तौ ज्ञानार्थे च । निर्णयस्वरूपमाहुः--उभयस्येत्यादि । उभयस्येति गुणवयस्य स्वचित्तस्य च । स इति जीवः । कृष्णत्वभवनोपायमाहुः--परमेत्यादि । एतेर्हेतुभि-धतुर्गां दोषनिवृत्तितो द्वि निश्चयेन तत्कृष्णत्वं भवति तदोभयपरित्यागो अवतीत्यर्थः । अत्रेदं बोध्यम् । 'परमा श्रद्धा फलमुखमङ्ग'मिति सर्वत्रैव प्रसिद्धम् । भक्तिश्च गुणातीता-त्तरं ब्रह्मभावसाधिकेति गीतायां 'मां च योऽव्यभिचारेणेत्यत्र सिद्धम् । तदत्र 'इति मे छिन्नसन्देहा' इत्यादिदूशेनोक्तम् । प्रवेशश्च भक्तेः परत्वे तदप्यत्र 'परये'तिभक्तिविशेषणेन सिद्धम् । तत्र प्रवेशः परया भक्त्या तादृशी भक्तिश्च ब्रह्मभावोत्तरम्, स च ज्ञानस्य परम-काम्यापन्नत्वे ज्ञानस्य तादृश्यं च 'बुद्ध्या विशुद्ध्या युक्त' इत्युक्तप्रणाड्या शान्तत्वे इति तदर्थं पूर्वं बुद्धिशोधनमावश्यकम् । तत्रोपायश्च गुणचित्तयोर्न्योन्यसंत्यागः । स च तद्वै

निश्चयार्थोऽयमेवेति वक्तुं श्रेयोनिरूपणम् ।
 अन्यत्रेच्छेय एतादृशुपायो वा भवेत्तदा ॥७०॥
 न कृष्णत्वं फलं पूर्णं नाऽपि त्यागस्तथोभयोः ।
 अतो निर्णयसिद्धयर्थं प्रमाणस्योच्यते गतिः ॥७१॥
 प्रमेयबलमासाय युक्तिश्चाप्यत्र रूप्यते ।

भवति यदा बुद्धौ भगवदावेशेन नानात्वनिवृत्तिः । सा च सर्वं भगवानिति परोक्षे
 ज्ञाने । तदत्र युक्तिभिः साधनीयमिति । तदर्थं 'मनसा वचसा दृष्टये'त्यनेन सर्वस्य
 स्वाभिन्नसुप्रदिव्य तत्राह पदेन किं जीवात्सा पराभ्युपेत उत ब्रह्मेति सन्देहनिवृत्त्यर्थ-
 मयिमे श्लोकद्वये जीवस्य स्वामकलकथनेन पूर्वोक्ताहंपदार्थो ब्रह्मेवेति बोधयित्वा
 गुणवित्तयोस्तथागर्थे बुद्धेर्जायदादिदृष्टित्वये जीवस्य तद्वैलक्षण्यं च दृष्टित्वयसासिन्वेन
 बोधयित्वा त्यागोपायं 'त्यागः सगुणवेसा'मिति त्यागस्वरूपं चोक्त्वा 'यावन्नानार्थ-
 यीर'ति द्वाभ्यां भेदबुद्धेर्मिथ्यात्वं तद्वतोऽज्ञत्वं चोक्त्वा जीवस्य दृष्टित्वयवैलक्षण्य-
 ज्ञानाय 'यो जागर' इत्यनेन स्पृष्टयन्वायदिति युक्त्या सासित्वं निर्णयाग्रिमेण
 सिद्धसंशयलेशनिःशेषनिवृत्त्यर्थं स्वभजनं कार्यमिति बोधयित्वा 'ईक्षेत विभ्रम'मित्यनेन
 गुणसर्गादिमिथ्यास्ये युक्तीराह । एवं सत्यत्र चित्तपभवगुणानामुपसन्नन्तत्वाद्ये
 चोपदेशस्वरूपस्य सांख्ययोगब्रह्मेनोक्तत्वात्तन्मुनिमनःकल्पितभेदादसिद्धिगुण-
 सर्गादयैव नश्वरत्वाद्विषयैकस्यैव मिथ्यात्वं तद्वीजयोः स्वात्मभिन्नत्वादिमिति सिद्धयति ।
 नस्तदेवादासिद्धस्यैच्छिककस्य । एवं च 'मनसा वचसे'त्यनेन यदुक्तं तदाज्ञस्येन
 सिद्धयति । अत एव 'तत्राज्ञसे'निर्पदे 'ईक्षेते'त्यत्र चेदमितिपदम् । एवंमेव सप्तमे
 द्वादशे च बोध्यमित्येतदर्थमेव हंसगीताया उपसिद्धत्वात् । अतो गीतायाम्प्येता-
 द्दशमेव ज्ञानं 'भक्तिहेतुत्वेनाभिमेतं श्रुतो ब्रह्मसूत्रेषु च, तत्राद्यव्यभिचरन्म-
 ष्णनादिभ्योऽचगन्तव्यम् । अत एवं परोक्षज्ञाने युक्तिभजति ततो भजनेन
 निःशेषसंशयनिवृत्तावावेश इति बोधनाय दृष्टं ततः प्रतीत्यादित्रयेण विद्यमानस्यापि
 भ्रमाजनकत्वमभेदनिष्ठया सिद्धस्य देहाननुत्पत्तयानं देहस्य कर्मवशेन स्थितिं चोवाच ।
 एवं सर्वसाधनसम्पत्तौ संशयच्छेद इति जिन्नसंशया इत्यनेनावेशस्यापि लाभ इति
 पूर्वोक्तप्रबोक्तं चाविवादात् ॥६४॥६८॥ एवं त्रयोदशाध्यायो विचारितः ।

एतस्य निर्णयस्य श्रुत्यभिप्रेतत्वज्ञापनायाग्रिमाध्याय इत्याशयेनाहुः--
 निश्चयेत्यादिद्वयम् । उपायो वेति । अन्य इति शेषः । नापि त्याग इति ।
 पूर्णं साधनमिति शेषः । उभयोरिति । गुणचेतसोः । एवं द्वाभ्यां 'नियमान् यमा'-
 नित्यन्तस्यार्थे उक्तः । अतः परमुक्ताधैर्योपायैर्'आद्यन्तवन्त 'इत्यारभ्य मद्दिनाऽन्य'-
 ? युक्ति ।

सेवकत्वे हीनभावदोषोऽपि विनिवार्यते ॥७२॥
 श्रद्धा त्वेतावता सिद्धा ततो भक्तिनिरूप्यते ।
 स्वरूपतः साधनतः फलतश्चाऽपि रूपिता ॥७३॥
 तस्याश्च साधनं ध्यानं ततस्तदपि रूपितम् ।
 तत्र बाधकहानाय ध्यानभेदा निरूपिताः ॥७४॥*
 आवेशार्थं प्रवेशार्थं कृष्णात्सर्वं भवेदिति ।
 एतावता द्वितीयस्तु खण्डः पूर्णो निरूपितः ॥७५॥
 ज्ञानेनाऽपि प्रवेशो हि भजेदिति पुनर्हरिम् ।

दित्यन्तग्रन्थ इति तस्य तात्पर्यमाहुः--प्रमेयत्व्यादि । प्रमेयबलम् स्वरूपबलम् ।
 युक्तिरिति । फलान्तरस्यद्यन्तवत्त्वादिरूपा स्वापितान्तमेनोन्यानिच्छारूपा च । यदि
 पूर्णं साधनात्मकं श्रेयोऽन्त्यस्यात् । तदा तत्फलत्वा लोका आद्यन्तवत्त्वादिधर्माणो
 न स्युः । यदि पूर्णं फलमन्यत् स्यात् मय्यपिताप्यन्यदिच्छेदिति । यतो
 नैवगतो नैवमिति । तथा च श्रुतो कर्मफलानां तथात्वकथनादात्मलाभस्य सर्वत
 उत्कृष्टकथनाद्वाभयान्याधिकरणविवचितागतिरीत्या भगवत् एवात्मलात्तत्रैव फले श्रुतेस्ता-
 त्पर्यमित्यर्थः । नन्वस्त्वेवं फलादौ तथापि भक्तौ नानात्वस्य विद्यमानत्वादात्वात्तन्त्या-
 दीश्वराद्यर्थे तु स्यादेवेति न साधनोत्कृष्ट इत्यत आहुः--सेवकत्व इत्यादि । एतेन न
 तथा मे प्रियतम इत्यादिश्लोकत्रयतात्पर्यमुक्तम्, तथा चास्वातन्त्र्येप्यत्र न भयक्यो
 दोष इत्यर्थः । एतावता ग्रन्थेन यस्मिद्धं तदाहुः--अश्रुत्यादि । सिद्धेति पूर्वाध्याये
 सद्देशेणोक्ता निर्दिष्टे । 'बाध्यमानोऽपीत्या'देहात्पर्यमेमाहुः-नातो भक्तिरित्यादि ।
 'बाध्यमान' इत्यारभ्य 'भुवनं पुनराती'त्यनेन स्वरूपतः, 'यथाग्निने'ति द्वाभ्यां
 साधनतः, 'विषयाति'त्यादिभिः फलतः । निवारिता इति 'यमेतदध्यानमकलम्'
 इतिकथनाच्चिन्वारिताः । ध्यानस्य प्रयोजनमाहुः--आवेशार्थं प्रवेशार्थमित्ति ।
 चित्तस्य भगवन्प्रवेशार्थं भगवत्तन्त्रिते प्रवेशार्थमित्यर्थः । सर्वं भवेदिति द्रव्यज्ञान-
 क्रियाभ्रमनिवृत्तिभयेत । अत्र द्रव्ये 'स्वयं पारवय'मिति ज्ञाने विषयो मायिक इति
 भाववैद्विच इति क्रियायां भगवद्भ्रजनादन्यन्कलैव्यमिति भ्रमो बोद्धव्यः सप्तमस्कन्धीय-
 भायाद्वैतवाक्यतात् । एवं सर्वभवतोक्त्या यस्मिद्धयति तदाहुः--एतावतेत्यादि । एतावता
 ग्रन्थेन भ्रमनिवृत्त्या कृष्णत्वे द्वितीयः खण्डः सुदृढनेहरूषो भक्ते-
 र्विशेषोपाशः पूर्णो निरूपित इति सिद्धयतीत्यर्थः । तत्र प्रकारं स्फुटीकुर्वन्ति
 ज्ञानेनापि प्रवेशो हि भजेदिति । हिर्हेतौ । तथा चात्र क्रियाभ्रमनिवारणोक्त्या
 भक्त्यर्थता निश्चियत इति भावः । एतेन पञ्चदशाध्यायस्याप्यर्थ उक्तः ।

* अत्रत्यं निवन्कठिनांशविवेचनं स्कन्धान्ते २५८ तमे पृष्ठेनुसन्धेयम् ।

यावानित्यादि विज्ञातुं विभूतिं पृच्छते पुनः ॥७६॥
ततः स्वात्मानमेवाऽहं गुरुमर्जुनसारथिम् ।
विभूतिः सकला प्रोक्ता भक्त्यैवाऽहं भवेदिति ॥७७॥
तदर्थं धर्मसम्पन्नः शुद्धो भक्तो भवेदिति ।

तत्रापि समाप्तौ 'सर्वासामपि सिद्धीनामि'त्यादिद्वयेन सर्वप्रशुतसर्वस्वत्वयोः कथनात् । तेन सिद्धिपूर्वकभ्रमवापराधैवान्तरायातया तदुपस्थितिकथनमिति सोऽप्यध्यायो भक्तिबोधनस्यैव शेष इति । एवं चतुर्दशे मनोनाशः । पञ्चदश आकाशस्य वायोवैति प्रतिभाति ।

(अ. १६) षोडशो 'येष्व'त्यनेनोक्तः गकारप्रश्नो विभूतिप्रश्नश्च प्रकृतानुप-
युक्त इवेति तत्प्रयोजनमाहुः- पुनरित्यादि । पृच्छत इति चतुर्थ्यन्तत् । अयमर्थः ।
गोतायां 'भक्त्या मामभिजानाती'त्यत्र यथावच्चादिरूपेण ज्ञानं प्रवेशहेतुभूतयुक्तं
तदेवात्र 'ज्ञात्वाऽज्ञात्वाऽथ ये वै मां यावान यथास्मि यादृश' इत्यनेन भजनात्पूर्व-
कालिकत्वेन परामृष्टम् । एतावान्तरं च विज्ञोयति । तत्र यावच्चादिरूपेणऽभिज्ञानं
भक्त्योक्तम् । अत्र तु तेन रूपेण यतः कुतश्चिदज्ञानमभिज्ञात्वाभावादनवश्यकमिति बो-
धितम् । तेन तादृशज्ञानस्याभिज्ञातये एव प्रवेशं प्रति व्यापारता नेतरयेत्तिलफलि । तथा
तत्त्वत इत्यस्य तत्प्रकारवचन इति शार्थः फलति, तथाभिज्ञानं परया भक्त्या ब्रह्मत्वे इति ।
ततः पूर्वं विवक्षितज्ञानं दुर्ययमतो यादृशमभिज्ञातुं 'येषु येषु च भावेषु यथा तां परमपैव'
इत्यनेन प्रकारविशिष्टस्वरूपं हरिं पुनः पृच्छते 'स्वयमेवात्मानमिति' वाक्येनान्यस्य
तत्स्वरूपाभिज्ञत्वाभावात् । यावच्चयन्ने च विज्ञातुं विभूतिं पृच्छते उद्वेग्य ततस्तद्ग्राप-
नाय स्वात्मानमेवाह 'अहमात्मोद्भवामीप'मितिश्लोकेनाह । 'गुरुमर्जुनसारथिमेव-
मेतदहं पृष्ट'इत्यादिना भक्तिययत्वायाह । यत्र ज्ञानाय सर्वपापान्मत्सादिकं यादृशज्ञान-
नाय सर्वैरूपत्वादिकं यावच्छज्ञानाय विभूतिं चाहेत्यर्थः ॥७७॥७६३॥ नन्वभिज्ञानाभावे
केवलस्य ज्ञानस्यानावश्यकत्वात् किमर्थं सर्वैर्विभूतिकथनमित्याकाङ्क्षायामाहुः- 'विभू-
तिरित्यादि । तथा च मुख्यभक्त्यर्थं भगवद्भूतया विवक्षितताचस्यश्च विभूतिरूपत्वा-
भवनात्तन्मात्रतान्निष्ठया भक्त्या भगवत्प्रायः तत्कथनमित्यर्थः । एवं चात्र विभूति-
कथनोत्तरं 'मनोविकारा एवैते यथा वाचाभिधीयत'इतिशब्दार्थे येन लोकोक्तिरूपेण प्रका-
रेण वा चाऽभिधीयते तेन प्रकारेण 'अपागादग्नेरिग्नन्तमि'तिवन्मनोविकारा एव, न तु
सद्गुणः, किन्दु सद्भिर्भूतिरूपा मर्दशरूपा एकेष्वर्थाद्विभूतिज्ञाने यावच्चयच्छानं भवतीति
बोध्यम् ॥७७॥ एवं षोडशोऽध्यायो विचारितः ।

(अ. १७-१८) सप्तदशाष्टादशावपि भक्तिशेषो स्फुटावित्याहुः-
तदर्थमित्येकेन । सप्तदशस्यारम्भे 'यत्स्वयाऽभिहितः पूर्वं धर्मस्त्वद्रक्तिलक्षण' इति

वर्णाश्रमवतां धर्मस्तदर्थं विनिरूपितः ॥७८॥
तथाऽपि ज्ञानमार्गस्य परिज्ञानमिहेच्छति ।
तदा भीष्मो गुरुः प्रोक्तो धर्मराजश्च पृच्छति ॥७९॥
तत्र सर्वपदार्थानां निर्णयः सर्वकर्मणाम् ।

'यथाऽनुष्ठीयमानेन त्वयि भक्तिर्नृणां भवेत् । स्वधर्मेण'तिकथनाद्धर्मसम्पन्नो भक्त्यर्थैव,
स्वधर्मस्य भक्ताद्युपयोगस्तु तदर्थस्य सप्तमस्कन्धे दुर्वासनानिवारकतायाः स्थापित्वेन
शुद्धिजनकत्वादिनि । एतदुत्तरे समाप्तौ 'इति मां यः स्वधर्मेण भजेत्यत्रयमनन्यभाक् ।
सर्वभूतेषु मज्जानो मज्जक्तं विन्दतेऽचिरादि'तिकथनाद्ध भक्त्यर्थमेव निरूपित इत्युपाव-
प्यध्यायो भक्तेरव शेषवित्यर्थः । अत्र साध्यरूपाभक्तिः प्रेमात्मिका, साधनरूपा
तु श्रवणाद्यात्मिका नन्यभागि'त्यनेन सूचिता । अन्यथा साध्यसाधन-
भावलोपापत्तेः । स्वधर्मस्तु साधनभूताया एव भक्तेरङ्गीभूतः । न च स
एव भक्तिसाधनमिति शङ्क्यः, 'अनन्यभागि'ति विशेषणवैयर्थ्यापत्तेः । अतो भजेदन-
न्यभागित्युपयकथनादुक्त एवार्थः । अत एव 'धर्मः स्वनुष्ठितः पुसा'मित्यादीनि
वाक्यानि । एवं सप्तदशाष्टादशौ विचारितौ ॥

(अ. १९) ऊनविशाध्यायं विचारयन्ति-तत्र वर्णाश्रमधर्मस्य
भक्तिशेषत्वकथनोत्तरमूनविशारम्भे 'यो विद्याभुनक्तसम्पन्न' इत्यादिना
ज्ञानिनस्तपस्वतीत्यनेन ज्ञानं च प्रशस्य 'तस्माज्ज्ञानेन सहितमि'त्यनेन
ज्ञानस्य भजनाङ्गत्वं पूर्वाध्यायोक्तधर्मस्येवोक्तत्वा 'ज्ञानविज्ञाने'त्यनेन
मुनीनां ज्ञानयज्ञेन संसिद्धिं चोत्त्वा ज्ञानियशोसायां 'मायामात्रमिदं
ज्ञावे'ति दृश्यमानस्य मायामात्रत्वं यदुक्तं तदुद्धवदेहोऽप्यस्तीतिबोधनाय
'त्वय्युद्धवाश्रयनी'त्युक्तम् ।

तथा पूर्वध्यायेऽपि 'नैतद्भक्तुतया पश्ये'दिति 'येतद्दात्मनि जग'दिति-
ब्रह्मार्थो दृश्यमानस्यावस्तुत्वं स्वात्मनि विद्यमानस्य शरीरात्मकस्य जगतो मायात्वं
च विचार्य यतिनेत्युक्तम् । तच्छ्रुत्वात्र सन्देह उत्पन्नः किं जगतो मायिकत्वेन
ज्ञानं भजनाङ्गत्वं ब्रह्मात्मकत्वेनेति तेन पृच्छतीत्याहुः- तथापीत्यादि । इह भगव-
दाक्ये तथापि मायिकत्वेन प्रकारेणपि ज्ञानमार्गस्य परिज्ञानं भक्त्यङ्गत्वेन सन्देह-
निवर्तकं सम्यग् ज्ञानमिच्छतोत्यर्थः । तदा भगवांस्तसन्देहनिवृत्त्यर्थं सर्वपिसम्मतिं
बोधयितुं स्वयमुत्तरमनुत्वा युधिष्ठिरभीष्मसम्वाद्गुत्वेनाहेत्याहुः तदेत्यादि ॥७८॥
७९॥ सम्वादविषयमाहुः- तत्रेत्यादि । तस्मिन् सम्वादे मोक्षधर्मेषु कथ्यमानेष्वे-
तन्नयुक्तं तदनुद्वेगित्वं- 'भगवाञ्जैव'त्यादिना । तत्र 'नये'त्यादिकं ज्ञानस्वरूपलक्षणम् ।
नत्यायमर्थः । भूतेषु ब्रह्मादितृणस्त्वाम्नातेषु नैवैकादशषष्ठीयां, प्रकृतिवृत्तयाम्-

सत्यादीनां तथा रूपं ज्ञानार्थं विनिरूपितम् ॥८०॥

इदङ्कारपञ्चतन्मात्राणि तव, इन्द्रियाण्येकादश, भूतानि पञ्च, गुणाश्च एवमष्टाविंशति-
सङ्ख्याकान् भावांस्तत्त्वानि येन ज्ञानेन वै निश्चयेनेक्षेत, अथैवमीशोत्तरमध्येष्वष्टाविंश-
तिष्वेकं सदैवेतीक्षेत तज्ज्ञानं मम मत्सम्बन्धेनैव निश्चितं भीष्मेण निर्णीतम् । तथा च
सदित्याकारकं कैवल्यं येन भासते तज्ज्ञानमित्यर्थः । इदमेव गीतायां 'सर्वभूतेषु
यैकैः'मिति सात्विकज्ञानत्वेनोक्तम् । अत्रापि पञ्चविंशो कैवल्यं सात्विकं ज्ञानमि'ति
वक्ष्यते । अथ (श्लोक० १५) एतदेव हि विज्ञानं'मितिह्याभ्यां विज्ञानस्वरूपं लक्षितम् ।
तत्रायमर्थः । एतद्वक्ष्यमाणं हि निश्चयेन विज्ञानं यद्यस्मादेकेन न तथा न कारणान्-
न्तरसम्बन्धानं विना स्थित्यनुपपत्त्ययाः सम्भवन्त्यतो भावा ब्रह्मादित्युपसम्बन्धाना-
स्त्रिगुणात्मकास्तेषां स्थित्यादीन् येन पश्येतेतदेव विज्ञानं निश्चितमित्यर्थः । द्वितीयमाहुः
आदावित्यादि । यदेकं कारणं आदावन्ते चकारादवस्था विशेषेषु मध्ये च एकस्मात्स-
ज्यात्कार्यात्सृज्यं कार्यान्तरं अनुलक्षीकृत्य इयात् गच्छेत् कायस्थायन्तमध्येषु यद-
नुस्यूतं भवेत्तस्मिन्सङ्क्रामे कार्यस्य प्रत्यये पुनरेच्छिष्येत अलीनं तिष्ठेत्,
तदेव सद्ब्रह्मभूतमन्यतु आगन्तुकमारोपितं वेति यज्ज्ञानं तदपि विज्ञानमिति भीष्मेण
निश्चितमित्यर्थः । तथा च सर्वैर्मष्टाविंशतितत्त्वात्मकमिति ज्ञानस्य युक्त्या
त्रिगुणैर्विंशतिष्वज्ञानं विज्ञानम्, केवलं सदिति ज्ञानस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यां
सर्वं सदिति ज्ञानं विज्ञानमिति फलति । उभयोर्मध्ये पूर्वस्य प्रयोजनमाह
श्रुतिरित्यादि । एतच्चतुष्टयस्यैषु प्रमाणेष्वनवस्थानात् प्रविष्टोऽवस्थानं निश्चयो
यस्यैत्यनवस्थानस्तादृशादिकल्पास विचारको विरज्यते । तथा च विकल्पादिरहितः
प्रयोजनमित्यर्थः । द्वितीयस्य प्रयोजनमाह-कर्मणामित्यादि । तथा न नशरत्ना-
द्विरिष्येन्ममममलक्ष्मणोऽनन्तश्च अद्भिमन्त्रया मूलकारणे ब्रह्मणि अद्भिमयो जन-
मित्यर्थः । एवमष्टाभ्यां तत्र निश्चितं प्रयोजनमुक्तम् । अत्र सर्वत्र मोक्षधर्मवर्षाव्येषु
निश्चितो योऽर्थः स उक्तः । 'सद्भक्तियोगं च महद्दिष्टय'मित्यस्योत्तरमाह-भक्ति-
योग इत्यादि । पूरति ब्राह्मशाध्याये । परमिति अल्पभिन्नारिस्तादेकादशाध्याया-
दारभ्येतावन्मुक्तैर्भ्योऽन्यैष्व्योक्तैरुक्तम् । 'एतदेव 'यदात्मनी'ति त्रिभिश्चिदाभीनां
लक्षणमुक्तम् । एवं ज्ञानमारभ्यैश्वर्येयोर्योऽन्तानं स्वरूपस्य सर्वैर्पिसन्निधी भीष्मेण
निश्चितस्य कथनेन विकल्पस्य मायामयलक्षणं तेषु वैराग्यजननाय वैराग्यं गुण-
वैतन्त्यपर्यन्तं यदा भवति तदा तस्य ब्रह्मभावानुगुणतात्परमभक्ष्युपयोगित्वं न तु
तु साक्षादिति बोधितम् ।

तत उद्भवप्रश्नारोपेन यमादीनां यत्स्वरूपमुक्तं तदपि मुख्यविज्ञाना-
ह्वलेनेत्याहुः-सत्येत्यादि ।

मार्गत्रयविरोधस्य परिहारस्तथोच्यते ।

अधिकारविभेदेन मार्गभेदो निरूप्यते ॥८१॥

सर्वाशक्तौ का कथेति शङ्कां वारयितुं पुनः ।

शुद्धिप्रकरणं प्रोक्तं तथा शास्त्रविनिर्णयः ॥८२॥

अन्तःकरणवजीवप्रकल्प्येण संशयः ।

अत्र सत्यादीति कथनभेदेषां सन्नियुक्त्युपकारकत्वं बोधयति ॥८०॥ अतो द्विविधज्ञा-
नस्य भक्ष्यप्रज्ञापकारबोधनायोनविंशो इति विचारितम् ।

(अ. २०) विंशो विचारयन्ति । तत्र विकल्पस्यावाप्तवत्त्वे बोधिते पूर्वकाण्ड-
वैयर्थ्येन वेदविरोधशङ्कोत्प्रेक्षिते तन्निवृत्त्यर्थं विंशोऽध्यायः । सोऽपि परम्परया भक्तिश्रेष्ठ-
इत्याख्येनाहुः-मार्गत्रयेत्यादि । तथा च पूर्वकाण्डे यो भेदो नानाप्रकारेणोक्तः
स जगन्प्राधिकारिणां वैराग्याद्येमतस्तस्य न भेदे तात्पर्यम्, किन्तु वैराग्य इति
न पूर्वकाण्डवैयर्थ्यं न वा पूर्वोत्तरकाण्डविरोध इति परम्परया भक्त्यर्थेलाक्षत्वापि
पक्षिशेष्यत्वं निर्वाचयन्ति ॥८१॥ एवं विंशो विचारयन्ति ॥

(अ. २१) एकविंशो विचारयन्ति । तत्रारम्भे 'य एतान्मत्स्यो हिला
भक्तिज्ञानक्रियात्मकान् । श्रुद्धान् कामांश्वेदः प्राणैर्जुषन्तः संसरन्ति त' इत्युपक्रम्य 'स्वे
स्वोधिकारे या निष्ठा स गुणः' इत्यनेन भक्तानां भक्तेरधिकारे, ज्ञानिनां ज्ञानस्य,
कर्मिणां कर्मणश्च या निष्ठा स गुणः, तदभावो मार्गान्तरनिष्ठा च बोध इत्युक्त्वा शुद्धि-
प्रकरणमुक्तं ततो वेदार्थनिर्णय उक्तस्तस्य तात्पर्यमाहुः-सर्वशक्तत्वावित्यादि । तथा
च यो भाववदुक्तमार्गोपायानां यथावत्साधनासमर्थोऽथ च तत्र श्रद्धासांस्त्वेतदनुकूलयो
वक्तव्य इति जगन्प्राधिकारिणां शुद्धिप्रकरणोक्तरीत्या तत्तच्छुद्धिमवगत्य धनैः धनैः
सद्सत्यकस्य इत्येतद्विस्तृत्यायुक्तत्वेनोक्तं तेन वेदे गुणदोषकथनमवकल्पबोधनार्थं न
तु वस्तुभेदबोधनार्थमिति वेदार्थनिर्णयोऽप्युक्त इति सोऽध्यायोऽपि विप्रकृष्टपरम्परया
भक्त्येव श्रेष्ठ इत्यर्थः ॥एवमेकविंशो विचारयन्ति ॥

(अ. २२) द्वाविंशो विचारयन्ति-तत्र पूर्वध्यायसमाप्तौ भेदस्य मायामात्रत्वा-
नुवादेनोत्तरकाण्डे भेदस्य निषेधादिद्वानामभेद एव तात्पर्यमिति श्रुते जनविश्रयायोक्ता
तत्त्वानामष्टाविंशतिसङ्ख्यापि मायिक्येव सिद्धचतीति सा कुतोऽङ्गीकृतेति शङ्का
कति तत्त्वानीति सङ्ख्याविषयकः प्रश्नस्तत्रापि भगवता मत्तान्तररक्षणमेव यौक्तिक-
त्वमुक्तम्, न तु स्वमतस्येति भेद एव पथैरसितो नाभेदस्तथा सति प्रकृतिपुरुषविवेकार्थं
वैराग्यं न तु साक्षात्समर्थमित्यवगत्य पृच्छतीत्याख्येनाहुः-अन्तःकरणेत्यादि ।
यथा सनकादीनां 'गुणेष्वविज्ञते चेतो गुणाश्चेतसि चेति गुणचेतसोः स्वरूपभेद-
ज्ञानेऽपि तदन्योन्यसंत्यागहेतुसन्देहस्तद्द्वय जीवप्रकृत्योः (स्वरूपभेदज्ञानेऽपि)
स्वरूपवैलक्षण्यज्ञानेऽप्यन्योन्यसंश्लेषाच्च भेदज्ञानमिति सन्देहः प्रकृतिपुरुषबोधावित्या-

उभयं हरिरेवेति तत्र वै निर्णयः कृतः ॥८३॥
 मायया त्रिविधं भानं न प्रवृत्तिविध्यां भवेत् ।
 तदाऽपराधसम्बन्धादन्यदाऽपि न मुच्यते ॥८४॥
 एतच्छङ्कापरित्यागो मनोदोषान्न च स्वतः ।
 तस्मान्मानसदण्डे हि नाऽपराधः कदाचन ॥८५॥
 दण्डस्य च परिज्ञानं यथातिक्रमणं सहेतु ।

द्विरुक्त इत्यर्थः-- उच्यतेऽर्थमाहुः-- उभयमित्यादिसाक्षाद्भ्याम् । एवं प्रश्ने कृते भगवान् संख्यायाः सार्थकत्वं वास्तवभेदस्य मायिकत्वं च समर्थयितुं प्रकृतिः पुरुषश्चेति विकल्पः पुरुषधर्मेत्यादिना प्रकृतिपुरुषभेदस्य वाचारम्भणत्वात् वैकारिकत्वं तदर्थं स्वमायाया आध्यात्मिकादिति त्रिविधबुद्धिजनकत्वं बोधत्वात् दृष्टान्तेनोपाधितः परस्परसापेक्षतयैकस्यैवांशतत्त्वैर्विध्यमंशिनस्ततो भिन्नत्वं च बोधयित्वा 'आत्मा यदेवामपरोऽयमायः स्वयानुभूत्याऽखिलसिद्धिसिद्धिरित्यर्द्धनाकाशे स्थितस्य सूर्यस्यैव प्रकृत्यादिभ्यो व्यतिरिक्तस्यात्मन आयात्वं स्वधर्मणानुभवेन सर्वानुभावकत्वं बोधत्वात्, एवं त्वगादीत्यादिनेन्द्रियाणां त्रैविध्यं विकारस्य प्रधानजन्यत्वं पूर्वोक्तनानातत्त्वप्रकारवाद्स्यात्सम्बन्धाज्ञानजन्यत्वाद्बुद्धयैस्यापि स्वलीकपदोक्तस्याज्ञानभात्रपर्यवसितानां भगवतः साक्षात्पराहृष्टबुद्धीनां बुद्धौ सर्वदा स्थित्वा तस्य विद्यादस्यानिवृत्तिमाह । तेन प्रकृतिपुरुषो न वस्तुतो विभो, किन्तु धर्मभेदेन वाचात्सर्वी निवृत्त्यर्थकस्यैवहारापोयोगिनी । यथा पूर्वोक्तान्तोको भेदो वस्तुनां निवृत्त्यर्थकस्यैवहारापोयोगिनी तद्वदिति वस्तुत उभयं हरिरेवेति अपागाद्गन्धेनित्वमितिविधिर्नयः कृतः । तेनोक्तरीत्या त्रिविधं मायया भगवद्विद्वत्त्वानां भवनीत्येवैदं एव तात्पर्यमित्यर्थः । ततः 'त्वच्चः पराहृष्टयिष्य' इत्यादिना तस्त्सारप्रकारप्रश्ने 'मनः क्रमेण'मित्यादिना संसारानिहतिं तेषामाह । तेन भगवद्वैभुख्ये भेदबुद्धयन्तुल्याऽपराधसम्बन्धात् प्रुच्यत इत्युक्तम् । ततः 'तस्माद्बुद्धव वा बुद्धश्चैत्यादिना तत्रिहृष्टिप्रकारमाह । तेनाहोशी शङ्का मनोदोषावेव जायत इति द्रष्टे मनसि सा न निवर्तते तस्मान्मनोदण्डः कर्तव्य इत्युक्तमित्यर्थः । अत्रापि प्रापञ्चिकानां मायिकत्वं वैराग्याधर्ममुच्यत इति प्रकारणादेव सिद्धम् । वैराग्यं च भक्त्यर्थमित्ति पूर्वमुक्तमग्रे च वक्तव्यम् ॥८२॥ ॥८५॥ एवं द्वाविंशो विचारितः ॥

(अ. २३) अतः परं भेदोऽपारमार्थिकोऽप्यागन्तुको वा आरोपितो वेति सन्देहोऽवच्छिष्यते सोऽग्रे चतुर्विंशो विचारणीयः । साम्प्रतं तु वृत्तानुरोधेन त्रयोविंशो भेदादण्डस्य दण्डनमनसश्च परिज्ञानप्रकारमेव भगवानुक्तवानित्याहुः-- दण्डस्य वेत्यादि

तस्य साधनविज्ञाने गुरुभिर्भुक्तिरूप्यते ॥८६॥
 तथा चेद्भावयत्येष तदा स्यादण्डितं मनः ।
 मनसस्तु परित्यागे न किञ्चिन्मृग्यतेऽपरम् ॥८७॥
 यदा पुनः साधकत्वं तस्य वाञ्छति कर्हिचित् ।
 तदा साङ्ख्यप्रकारेण सर्वं ज्ञात्वा न मुह्यति ॥८८॥
 गुणेश्चेन्मोहमायाति तदा तेषां जयो यथा ।
 तच्च तेषां स्वरूपं च तावन्मात्रनिवारणे ॥८९॥
 निर्गुणानां पदार्थानां स्वरूपं विनिरूपितम् ।

द्वाभ्याम् । तथा चात्र मनसः परित्यागे सति न साधनान्तरापेक्षेति सिद्धेरयमध्यायः पूर्वाध्यायस्यैव शेष इत्यर्थः ॥ एवं त्रयोविंशो विचारितः ।

(अ. २४-२५) अतः परमभेदद्राहृष्टाय भेदस्वरूपविषयकं सन्देहं वारयितुं स्वोक्ताष्टाविंशतितत्त्वपक्षस्योपयोगित्वं च बोधयितुं द्वावध्यायानित्याशयेन तौ विचारयन्ति-यदा पुनरितिसाक्षाद्भ्याम् । तावन्मात्रनिवारण इति । अष्टाविंशतितत्त्वमात्रनिवारणार्थम् । अयमर्थः । ऊनचिंशे तस्माज्ज्ञानेन सहित'मितिद्वाभ्यां ज्ञानसम्पत्तेर्भक्तिशेषत्वमुक्तम् । ततो नवैकादशेति त्रिभिर्गोणैर्मुच्यभेदेन द्विविधं ज्ञानविज्ञानयोः स्वरूपमुक्तम् । तत्र ज्ञानसम्पत्त्या यदा भजेत्तदा संन्यासी सन् विश्वयोर्विशोक्तरीत्या मनो दण्डयित्वा भजेत् । यदा तु न तत्राधिकारस्तदा आश्रमात्तरे चतुर्विंशत्पक्षविशोक्तरीत्याऽष्टाविंशतितत्त्वपक्षोक्तभेदस्यागन्तुक्तत्वमवगत्याधिदैविक्यादमाश्रित्य विज्ञानसम्पत्त्या भजेदिति चतुर्विंशत्पक्षविशयोक्तात्पथम् । 'येन मे निजिता सौम्ये'त्यादिभिः साङ्ख्यतुर्भिरवगन्तव्यमिति । तेन वैराग्यं अत्र च साक्षात्परम्परया वा यथाधिकारं भक्तेरेव शोषा । भजनप्रकारश्च 'मल्लिङ्गमद्रक्तजने'त्येकादशोक्तः, 'पुनश्च कथयिष्यामी'त्येनविंशोक्तश्च यथाधिकारं बोध्यः । भक्तिस्वरूपादिकं च 'न रोधयती'त्यादि द्वादशोक्तं बोध्यमिति बोधितम् । ततश्च मुख्योपाधिकारं द्वादशोक्ता शरणागतरेव साधनम् । मध्यमे ऊनविंशोक्तमात्मसमर्पणपूर्वकं भजनम् । जयन्त्येकादशोक्तरीतिक्रमिति सर्वत्र भक्तिशेष एवेति ॥८६॥८९॥ एवं चतुर्विंशत्पक्षविंशो विचारितौ ।

एवं जातोऽपि सङ्गेन पुनश्चेन्नाशमेति हि ॥९०॥
 तथा पुरुरवाः प्रोक्तः स्वात्मानं स्वयमुक्तवान् ।
 सङ्गाद्यष्टः पुनः सङ्गं विमुच्य लभते गतिम् ॥९१॥
 जन्मान्तरे स्मृत्यभावे सङ्गाद्यष्टो यदा भवेत् ।
 तदा का गतिरित्यत्र हरिपूजा निरूपिता ॥९२॥
 तेन जातिस्मरो भावी तस्या ज्ञानं हरिः स्वयम् ।
 जातिस्मरस्य वदति सर्वसाधनपूर्वकम् ॥९३॥
 तत्रोपपत्तिर्निखिला वर्णिताऽद्धवदुद्भये ।

तथा रोगाद्यभावाय साधनानि हरिर्जगौ ॥९४॥

(अ. २६-२७) अतः परं षड्विंशोऽप्येतस्यैव शेषो वैराग्यबोधनेनेत्याहुः—एवं जातोऽपीत्यादिसाङ्गेन, प्रोक्त इति गुरुः प्रोक्तः। सप्तविंशोऽप्येतच्छेष इत्याहुः—जन्मान्तर इत्यादि । 'द्वैवोसम्पद्धिमोक्षाय'ति वाक्यात् । द्वैव्यां सम्पद्धि विमोक्ष आवश्यकः । तादृशस्य यदि वासनावशात्सङ्गस्येता प्रतिबन्धस्तस्मिन् सत्येव यदि देहः पतति द्वैव्याः सम्पदो धर्माश्च धारयन्नादो पुनरुद्भयन्ते तदा तस्य शुद्धधर्मा का गतिः कथं निस्तार इत्याशयेन प्रश्ने नानभिर्भिन्नानाप्रकारेणोक्तस्य कर्मकाण्डस्य सङ्क्षेपरूपा हरिपूजा तादृशाधिकार्येण तृतीययोगरूपं साधनमुक्तम् । तेन ज्ञानमिदं तदपि भक्तेरेव शेषः । परं विप्रकथेण प्रकारविशेषेण चेति विशेषः । उपसंहारे 'भक्तियोगं स लभते' 'एवं यः पूजयेत् मा'मित्यनेन निःश्रेयससप्तश्रोत्ररणादित्यर्थः । ॥९२॥ एवं सप्तविंशो विचारितः ॥

(अ. २८) अष्टाविंशं विचारयन्ति तेनेत्यादिब्रह्मण्याम् । वदतीति पूर्ववत्प्रतिबन्धाभावात् वैराग्यस्यावश्यमपेक्षितत्वात्तदर्थं मायावादं भक्त्यर्थं ब्रह्मवादं च वदतीत्यर्थः । एतावता 'निःसङ्गो विचरेदिहे'त्यन्तस्यार्थ उक्तः । निखिलेति मायावादसम्बन्धिनी ब्रह्मवादसम्बन्धिनी च । अनेनाङ्गेन उद्धवप्रश्नस्य 'यावदेहेन्द्रियेत्यारभ्य' 'ह्यर्थं पण्डितमानिना'मित्यन्तस्य ग्रन्थस्य चार्थ उक्तः । तथा रोगेत्यङ्गेन 'योगिनां-ऽपकयोगस्येत्यारभ्यान्तस्यार्थ उक्तः । न च 'तत्परं पुरुषरूपातेर्गुणवैतृण्य'मिति पातञ्जलसूत्रात् प्रकृतिमाकृत्यवैराग्यस्य तेषां भेदादिनात्मन्यपीष्टत्वात्तदर्थं तद्विहाय मायावादस्य किं मित्यादरणमिति शङ्क्यम् । जीवविषयकवैराग्यस्याप्यत्र विवक्षितत्वेन

तत्राऽशक्तं तदानीं हि फलप्रेप्सुं विचार्य हि ।
 उद्धवं सुगमं प्राह प्रकारं सर्वमिश्रितम् ॥९५॥
 तत्राप्यशक्तं तं ज्ञात्वा बदर्या प्रेषयत्यजः ।
 साधनान्याह तत्राऽपि यत उक्तं हृदि स्पृशेत् ॥९६॥
 एवं चतुर्विंशतिभिर्जाविमुक्तिर्निरूपिता ।

तादादरणात् । प्रकृतिः पुरुषश्चेति विकल्पोऽविद्यमानोऽप्यवभासते यो वैकारिको राजससर्ग एव; 'देहेन्द्रियमाणमनोऽभिमानो जीवोन्तरात्मे'त्यादिवाक्यैस्तयान्विश्रयात् । न च मायावाद एव तात्पर्यमिति शङ्क्यम्, 'ज्ञानं विवेको नियम' इत्यादिवाक्य-चतुष्टये 'यथा हिरण्यं मुकुतं मित्यादिभिः कार्यजातस्य ब्रह्मत्तरुणपरिरोधप्रसङ्गात् । तस्माद्धेतुमतिपन्नस्यैव मायिकत्वं न त्वैच्छिकस्येति ब्रह्मवादाद् एव तात्पर्यमिति निश्चयः । तस्माद्यमप्यध्यायो भक्तेरेव शेषः परम्पर्येतिबोधितम् ॥ ९०॥९४॥ एवमष्टाविंशो विचारितः ॥

(अ. २९) ऊनत्रिंशं विचारयन्ति तत्राशक्तमित्यादिब्रह्मण्याम् । तथा च सोऽप्यध्यायोऽनुकल्पबोधकत्वात्प्रकरेण शेष इत्यर्थः । ननुप्रक्रमे 'विद्धी'ति 'पश्यन्नि'ति कथनादुपसंहारे च 'एव तेऽपिहितः क्रुस्तो ब्रह्मवादस्य सङ्ग्रहः' इतिकथनाच्च ज्ञान एव तात्पर्यमवगम्यन् इति तस्यैव प्रकरणीयत्वम् । भक्तिस्तु 'यद्यनीशो धारयितुमि'त्यादिका ज्ञानानुक्तत्पतयोक्तंति तत्र तात्पर्यस्याशङ्क्यत्वेन प्रकरणीयासम्भवात्सर्वस्य भक्तिशेषत्वमितिपदानमसङ्गतमिति चेत्—

अत्रोच्यते । विज्ञानन्तर्भक्तौ तात्पर्यनिश्चयेनोपक्रमोपसंहारयोर्नैवैत्ये भक्तेरेव प्रकरणीयत्वस्य सिद्धत्वासर्वस्य तच्छेषत्वप्रतिपादनं नासङ्गतमिति । तथाहि, एकादशोऽध्याये 'अथैतत्परमं गुणं शृण्वतो यदनुन्दन । सुगोप्यमपि वक्ष्यामी'ति प्रक्रमभेदेन सुगोप्यपरमगुणस्वरूपामयुवतां प्रतिज्ञाय ब्रह्मशाध्याये भक्तावेव तद्वोधनात् 'मत्कामा रमणं जारं मत्स्वरूपविदोबलाः । ब्रह्म मां परमं प्राप्नु'रिति । ज्ञानं विनापि भावेन सद्भावेन स्वभायिकथनात्, तत्रापि 'शतसहस्रश' इतिकथनेन काकतालीय-निवारणात् । त्रयोदशो हंसगीतायां नानालभ्रमनिरूपकं ज्ञानं निरूप्य 'एवं विमुच्य गुणत' इति श्लोके नानालभ्रमनिवर्चकं ज्ञानं निरूप्य 'भजत माखिलसंशयाधि'मिति तस्य कण्ठ एव भजनाङ्गत्वबोधनात् । ऊनविंशोऽपि 'ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो' 'भज मां

भक्तिभाविन् इत्युपदिश्य तदर्थमेव तयोः श्रद्धावैराग्ययोश्च कथनात् । श्रीर्षं भक्ति-
भवनार्थं परमकारणान्मुपदिश्य 'एवं धर्मैर्मुमुक्षाणामुद्भवात्पनिवेदिनाम् । मयि सज्जायते
भक्तिः कोऽप्योऽर्थोऽस्यावशिष्यत्' इति तत्प्रशंसावादात् । चतुर्वेदो भक्तोक्तार्थस्य भक्ति-
बलस्य तत्कलोकर्षस्य साङ्ग्योर्धर्मविद्ययोस्ततो न्यूनत्वस्य च बोधनेन षोडशो भक्ति-
युक्तबुद्धयैव परिसमाप्तिबोधनेनोपपन्नः सप्तदशाष्टादशयोर्भक्त्यर्थमेव धर्मकथनेनाधि-
मेवपि तच्छेषस्य तदनुकल्पस्यैव बोधनेन च सर्वत्र तस्या एव मुख्यतयाऽप्यासाच्च
भक्तावैव तात्पर्यं निश्चिते उपक्रमे ज्ञानकथनं मंत्रैयोज्ञाह्नणे जीवात्मोपक्रमवस्तौल-
भ्यार्थम् । उपसंहारे ब्रह्मवादादोल्लेखश्च मायादिवादस्य परम्परयाङ्गत्वबोधनार्थमित्यवश्यम् ।
'यद्यनोन्न' इत्यादिना यदनुकल्पकथनं तत्पूर्वासानोपभूतभक्तिसाधनत्वेन पर्यवस्यदेका-
दशयोरुक्तभक्तावैव तथात्वं पर्यवसायवर्तीति प्रकरणादेवावसोयते । 'अथैतत्परम'मिति
मुख्यभक्तिप्रक्रमभेदाच्चिन्ति पूर्वोक्तमविवादम् । ननु 'मत्कामा रमण'मिति श्लोके
स्वस्वरूपज्ञानरहितत्वमन्तर्यद्वयगतानामेवोच्यते । जारपदेन तद्बुद्धि विषयस्यैवोल्लेखात् ।
'तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्याऽपि सज्जा' इति शुक्लवाक्यसामानाधिकरन्धेन तथा
निश्चयात् । रासस्थानां तु सन्दर्शने कुरुक्षेत्रे साक्षादुपदेशेन च ज्ञानस्य दानात्परहकारित्वमेव
समायातीति ज्ञानकर्मसमुच्चयवज्ज्ञानभक्तिप्रमुख्य एव तात्पर्यम्, न तु ज्ञानस्याङ्गत्व
चेन्न, रमणपदोक्तविषयान्तरोल्लेखवैयर्थ्यापातात् । 'रागेण साद्ध'मित्यादिश्लोकत्रयोक्त-
रासस्थशुद्धिचिरोभाषातात् । 'केवलं हि भावने'ति श्लोकोक्तस्य केवलपदस्य गवा-
दीनामुल्लेखस्य 'शुद्धिय' इत्यन्यविशेषणस्य च विरोधात् । अतो ज्ञानोपदेशो ज्ञासा
पाने महान् रस इति रसाधिक्यार्थमेव स्तुक्चन्दनाद्युपकरणवज्ज्ञान फलाधिगिति नात्र कोपि
ब्रह्मलेश इति बुद्धिमद्भिरनुसन्धेयम् । ननु येयं तदा 'योगासुषो मया मोक्ता' इति
फलार्थं किमिति मार्गत्रयकथनमिति चेत्? अधिकारिभेदेन भिन्नफलदानार्थमित्यनु-
सन्धेहि । ननु तथापि 'न निर्विण्णो नातिसक्तो' इति भक्तौ मध्यमस्याधिकारित्वं
कथं सङ्गच्छते इति चेत्, तन्न, मुख्यभक्ति लक्षीकृत्येति बुध्यस्व । न चात्र मानावाचः ।
तत्रैवाध्याये 'जातश्रद्धो मत्कथा'स्त्वित्यादिना तस्य स्वरूपमारभ्य 'कथञ्चिद्यदि
वाञ्छन्ती'त्यन्तेन फलान्तमुक्त्वा 'न मय्येकान्तभक्ताना'मित्यादिभिस्त्रिभिर्मुल्या-
धिकारिस्वरूपकथनस्यैव मानलात् । अत उक्तरीत्या सर्वसामञ्जस्यान्मुल्यभक्तेः
प्रकरणित्यममुष्णमिति निश्चयः ॥९५॥९६॥

प्रकृतमनुसरामः । प्रकरणमुपसंहरन्ति-एवमित्यादि । एवं सार्धैर्ब्रह्म-
वच्छिभिः सायुज्यरूपजीवमुक्तिप्रकरणं विचारितम् ।

ब्रह्ममुक्तिस्ततो ह्यभ्यां ममाहम्भावभेदतः ॥९७॥
ब्रह्म कृष्णस्तन्मयत्वं यादवादिषु संस्थितम् ।
तेषामभावकथनादभिनीतो ममक्षयः ॥९८॥
देवप्रार्थनयाहं च नटवद्देहमन्यथा ।
त्यजतीतीश्वरस्यापि तत्र हेतुः सुरार्थना ॥९९॥
पूर्वत्र त्रितयं हेतुर्हरीच्छा पृथिवीभरः ।
उद्धृतवाह्वेवभावः स्वपदप्रापणं ततः ॥१००॥

(अ. ३०) अतः परं ममाहन्तानाञ्ज्यत्यागरूपब्रह्ममुक्तिप्रकरणं
सार्धैर्ब्रह्मविशतिनिर्वाचयन्ति-ब्रह्ममुक्तिरित्यादिभिः । ममाहम्भाव-
भेदतः इति । ममाहन्ता नटवत्यागभेदतः । एतेन ब्रह्मणो नित्यशुद्धबुद्धयुक्तस्व-
भावत्वस्य श्रुतिसिद्धत्वाङ्गान्भावेन तन्मुक्तिप्रथममनुपपन्नमितिशङ्का निरस्ता ।
अत्रैवेकादशध्याये 'वद्धो मुक्त इति ध्यास्या गुणतो मे न वस्तुतः,
गुणस्य मायामूलान्न मे नोन्नो न वन्दन'मित्यनेन स्वयते भगवता
जीवन्धरस्यापि मायाकुलार्हङ्कारजन्यत्वेन ध्यान्तिसुलत्वव्यवस्थापनासः जीवस्यापि
न वास्तवः किन्त्वभिमानमात्रः, परं मायानिर्गुत्ति विना (न) निर्वचत इति तन्निवृत्त्यर्थं
भक्तिज्ञानोपासनानि यथाधिकारमावश्यकानि । स्वस्य तु माया शक्तिरूपा दास्य
कुर्वाणा निवृत्तौ न तद्गुणकृतः सः किन्त्वैच्छिक इति तदावै तदभावादिति ।
तदेतद्ब्रह्मशरीरकुर्वन्ति-ब्रह्मत्वादिभिः । अभिनीत इति । ब्रह्मवादे भगवता स्वस्यैव
सर्वात्मकत्वभोक्षणं उक्तमिति समत्वस्याभिप्रेयमात्रत्वात्तत्रैवामायाव्यवस्थेन ममत्वक्षयो-
ऽप्यभिमानमात्र इति तथैत्यर्थः ॥९७॥९८॥ अहन्तात्वागं विशेषमाहुः-देवेत्यादि ।
अहमिति । अहम्भावक्षयोऽभिनीत इत्यन्वयः । एतेन 'स आत्मानमेवावैदहं
ब्रह्मास्मी'ति । 'अहं सर्वस्य प्रभवः' 'अहं योगस्य साङ्ख्यस्ये'त्यादिषु योऽहमर्थयोगः
स नाभिमन्त्रिष्यः किन्त्वात्मविषयः । उक्तश्रुतौ तथैव सिद्धत्वात् । अतो नटवद्यः
कपटमानुषवेषोऽहन्ताभिनयस्तस्याच्च देवप्रार्थनया त्यागोऽभिनीत इत्यर्थः । नन्वत्र
सुरार्थेनायाः किं प्रयोजनमत आहुः-ईश्वररयेत्यादि । कर्तुमकर्तुमन्ययाकर्तुं समर्थ-
स्य प्रकारान्तरेणपि देवादिदुःखनिवारणसमर्थत्वान्मानुषवेषश्रहणे सुरार्थेनैव
योजमतोऽप्रापि सैव हेतुस्केत्यर्थः । तर्हि ममात्क्षये को हेतुरित्यत आहुः-पूर्वत्रे-
त्यादि । अत्र हेतुश्चैव स्वरूपम् एवोक्तम् । उद्धृतत्वादिनोक्तस्तु प्रकरणबलभ्यः ।
तत्रापि देवभावः श्रौतः । 'हरिः' हन्तमनुयन्ति देवा' इति तैत्तिरीये ब्रह्मवैष-
श्रुतेः । द्वितीयं तु'यत् एतद्ब्रह्मच्यते' इति तदर्थं प्राकट्याञ्जयेयम् ॥९९॥१००॥

यथा कृतं वदत्येष तेन जातः परीक्षितः ।
 भ्रमः स्वतुल्यता तेन चैव पृष्ठं तथाविधम् ॥१०१॥
 तिरोधानेच्छया जाताः शकुनाभावभूमयः ।
 कालः सेवकरूपाद्धि विश्रष्टः स्वां गतिं गतः ॥१०२॥
 अधिकारप्रदानेन निमित्तानि ततोऽभवन् ।
 भगवांस्तत्पूर्वमेव कृतवानिति सत्यवान् ॥१०३॥
 न प्रतीकार इत्याह देशो गौणोऽत्र सम्मतः ।
 काले समागते तत्स्यात्स्त्रीवालानां विनाशनम् ॥१०४॥
 अधर्मश्च तदा भूयाद् द्वारकाऽपि विनश्यति ।
 मुक्तिश्च तेषां जायते स्वामिकार्यं च तैः कृतम् ॥१०५॥
 अतः स्वपदमेवैते प्रापणीया न संशयः ।
 शापदोषनिवृत्त्यर्थं मुक्तं कारितमेव च ॥१०६॥

(अ. ३०) एवं सार्द्धं त्रिभिः प्रकाराणां विचार्यं प्रथमाध्यायार्थं

दशभिर्विचारयन्तो राजप्रश्वहेतुं पूर्वमाहुः-वयेत्यादि । यथाकूल-
 मिति यथाप्रतीतिविषयीकृतम् । स्वतुल्यतेति जीवतुल्यता । भातेति
 श्रेयः । तथाविधमिति तनुत्यनयम् । तथा च शुक्लात्पर्यायनिश्चि-
 नाद् भ्रम इत्यर्थः । शुक्रोक्तितात्पर्यं वदन्त इच्छाकारं ज्ञापयितुं भगवत्कृते-
 स्तात्पर्यं वदन्त उत्पातदर्शने हेतुमाहुः-निर इत्यादिसाद्देन । षष्ठाध्याये शापस्य
 दुरत्ययसमुक्तमिति तत्तात्पर्यमाहुः-भगवांस्त्रियादि । तथा वेच्छाविषयत्वादप्रतीकार्यं
 इत्यर्थः । स्त्रियादीनां शङ्कोद्धारं श्रेयणस्य यादवानां प्रभासे नयनस्य च यदाज्ञापनं
 तत्तात्पर्यमाहुः-देश इत्यादि । अत्रेति अस्यामिच्छायां देशो द्वारकास्वयमुक्ति-
 क्षेत्ररूपः परमकल्याणोऽपि कालापेक्षया अप्रभानो विचारितः । तत्सम्बन्धतो-
 राधिकारिकं कार्यं इवानी काले समागते तथा स्थापदस्तथा श्रेयणं नयनं चेत्यर्थः ।
 'वयमि'तिपदमुचितस्वसनयनतात्पर्यमाहुः-मुक्तिरित्यादि । एतेन 'प्रभासे
 सुमहापुण्यं यास्याम्' इत्यस्य व्याख्याने श्रीधरेण यदुक्तम्, 'एते देवांशा अधिकास्ति-
 तास्तयो मुक्तिं नार्हन्तीत्यतो द्वारकातस्तेषां प्रभासे नयनमिति तन्निश्चयः ।
 अभिषेकाद्याज्ञापनतात्पर्यमाहुः-शापेत्यादि । तथा च ब्रह्मदण्डस्य दुरत्ययत्वात्सुक्तिं
 प्रतिबन्धीयादिति तन्निश्चयार्थं तथाकथनं करणं चेत्यर्थः । एतेन 'यत्र स्नात्वा
 दक्षशापा'दिति ब्रह्मरूपसरस्वनीयुक्तत्वेत्वं मुख्यभागमकमित्यपि शङ्का निरस्ता ।

रामस्य सत्वदेहस्तु पूर्वमेव निरूपितः ।
 जराभिमानी यो देवः स लोके कार्यतः श्रुतः ॥१०७॥
 विस्मृत्य स्वात्मरूपं हि वने चरति लुब्धकः ।
 पशुपक्षिमृगासक्तः शापरूपं तु यद् बृहत् ॥१०८॥
 तत्पदे योजयामास पूर्णं ब्रह्मणि सुस्थिरम् ।
 अधिभूतप्रकारेण हरिणत्वमुपागतः ॥१०९॥
 ब्रह्म कृष्णाजिनमिति श्रुत्या तादृक्त्वमागतः ।
 एवं बहिः स्थितं सर्वं स्वात्मन्येव निवेद्यायेत् ॥११०॥

'विमुक्तः किल्बिपात्सव' इत्यादिवाक्यश्रेणेण पापनिवृत्त्या पूर्वरूपसम्पादनस्यैव तत्र
 बोधनात् । अतः सेवाफलप्रतिबन्धनाशायैव नयनम् । एवञ्च 'सत्रियाणामयं धर्मः
 प्रनापतिनिमित्तः । ज्ञाताऽपि भ्रातरं हन्या'दिति 'धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्य-
 त्क्षत्रियस्य न वियत' इति 'द्वौ सम्मताविह मृत्युं दुरापा'वित्यादिवाक्यैश्च युद्धं
 धर्मस्तेन मृत्युश्च मुक्तिसाधनमतो भगवतः पट्टो गुणः प्रादुर्भूतस्तेषां भीत्योत्पादनेन
 स्वजनान् विस्मारयैस्तत्समये वैराग्यं दृढीचकारेति मुक्तिप्रतिबन्धकदोषनिवृत्त्यर्थमेव
 तथाकारितमिति शापोऽपि ये एतमाशयं न जानन्ति तेषामेवान्यथाभानहेतुरिति-
 भावः । तेन 'भगवन्मतकोविदा' इति सुमित्रिश्रेणमभयेतादृशभगवदभिप्राय-
 ज्ञादुत्स्य बोधकम् । किञ्च, मुक्तौ दित्स्तितायां तदुपायकारणमावश्यकम्,
 उपायास्तु 'कायकेशावहा' इति पुष्टयैव कायकेशानावाहृभ्यस्तसाधनात्मकं युद्धं तन्निश्च-
 येरणमितीयमपि लीला पुष्टयैव प्रकारदर्शनेनैव परमसुराणां व्यामोहः । तेन
 पशुस्कन्धोयनिबन्धसमाप्तौ यदुक्तं 'सर्वैर्लोलः पुष्टिमध्ये प्रविशन्तीति मे मति'रिति
 तदत्रापि निश्चय्युहम् । एवमन्यथाप्यनुसन्धेयमिति दिक् ॥१०९॥१०६॥ 'रामः
 ससुद्वेषेलाया'मित्यस्य तात्पर्यमाहुः-रामस्येत्यादि । पूर्वमिति प्रथमस्कन्धनिबन्ध-
 पञ्चरात्रवाक्येषु 'रोहिणीनन्दन' इत्यत्र । तथा च 'तस्याज लोके मानुष्यमित्यनेन
 तस्यैव त्याग उच्यते न तु नैसर्गिकस्येत्यर्थः । 'मुशलावरोपायः खण्डे'त्यादेस्तात्पर्यमाहुः-
 जराभीत्यादि । जरा कालकन्या । कार्यतः वलीपलितारिरूपकार्यतः । यद् बृहदिति
 आधिभौतिकमसारांशम् । पूर्णं ब्रह्मणीति आधिदैविकेऽक्षरे । उपागत इति
 असारात्मकश्चरण इति श्रेयः । हरिणत्वमोजनमाहुः-कृष्णेत्यादि । श्रुतिस्तु 'निषाद-
 धरोपस्य' इत्यादेस्तात्पर्यं वदन्तोऽग्निमाध्याये वक्ष्यमाणं कार्यं विचारयितुं स्थितिरि-
 त्याहुः-एवमित्यादि । अयमर्थः । अत्र हि 'एवं नष्टेयुः सर्वेष्वित्यवोक्तो नाशो

तत आवरणार्थिं हि प्रकटीकृत्य तत्र वै ।
तिरोभूय स्वयं भूयस्तं च विद्युन्निभं तथा ॥१११॥
तिरोधानं कारयितुं व्यवसायात् स्थितः क्षणम् ।
तदा देवा भ्रमं याता वैकुण्ठेऽथ प्रयास्यति ॥११२॥
विष्णुः सगुण एवाऽयं विमानिन तदा वयम् ।
सहोत्सवेन महता नेष्यामः स्वस्वमन्दिरम् ॥११३॥
भ्रमात्तनु यथा नाऽभूत्तेन तेऽप्यत्र विस्मिताः ।

न नैकायिकादिप्रतिपन्नो ध्वंसः, किन्तु विनाशः-कारणे लय इति कफिलोकः
सूक्ष्मभावापन्नस्य कार्यस्य कारणान्तः क्लेशः। पुराणे प्रतिसङ्कमस्य श्रुतौ च यथायतीति
प्रकर्षणं गमनस्य सत्कार्यवादेनाज्ञीकारात् । अतः क्रमेण स्वस्मान्निर्गम्यैवं बहिःस्थितं सर्वं
स्वात्मन्येवानेन प्रकारेण युगपत्प्रवेशयन् । ततः प्रवेशानन्तरं 'योगधारणामेत्ये'त्यनेन
वक्ष्याणामावरणार्थिं 'रविमध्ये स्थितः सोमः सोममध्ये हुताशनः । बन्दिहमध्ये स्थितं
सत्यं सत्यस्यान्तःस्थितोऽच्युत' इति श्रुत्युक्तम्, 'तस्य मध्ये बन्दिशिवता अणीयोर्ध्वान्-
व्यवस्थित' इति तैत्तिरीयसम्बर्धभ्राषितं जीवकरारूपं वा, उक्तसन्दर्भं 'नीलतोयदम-
ध्याया विद्युच्छेलेव भास्वरे'त्युक्त्वाया उपमाया अत्र 'सौदामिन्या यथे'ति छद्मान्तेन स्मरणात् ।
प्रकटीकृत्य तन्नाग्नौ वै निश्चयेन स्वयं तिरोभूय परमात्मनेनान्तःस्थित्या बहिः-
दृश्यो भूता तमसि विद्युन्निभं तथा विद्युद्गीत्या तिरोधानं कारयितुं व्यवसायाद्
व्यवसायं कृत्वा क्षणं स्थित इत्यर्थः । तथा च 'विद्युच्चतुर्भुजं रूप'मित्यादिभिः स्वरूप-
वर्णनं नित्यस्य स्वरूपस्य तिरोधानेऽपि स्थितिवोधनार्थम् । अन्यथाऽत्र प्रयोजनाभावाद्वा
स्यात् । अत एवेच्छाशरीरिणेत्युक्तम् । अतस्तथातिरोधानमिति भावः ॥१०७॥
॥१११॥ अतः परं 'भगवान् पितामहं वीर्ये'ति श्लोकोक्तेनेत्रे निमीलनस्य तात्पर्यं
मसद्वादनाहुः-तदेत्यादि । तथा च भगवता सर्वेषां ज्ञानशक्तिप्रदस्वनेत्रनिमीलनेन
तेषां ज्ञानशक्तिस्तिरोधापिता । तेन तेषां सगुणत्वादिभ्रमो वृत्तः । 'सलोकान् लोक-
पालान्ः पाही'ति प्रार्थनायां 'यास्यामि भवनं ब्रह्मन्नेतन्ते तवानवे'त्युत्तरणाजिमानेन
वैकुण्ठं यास्यतीति च भ्रमो वृत्तः । भगवांस्तु गुणातीत एवाक्षरे विद्यमानो माया-
शुद्धाव्य(उत्पाद्य) तत्रैव प्रकटीभवतीति न तस्य यानम् । 'यास्यामी'ति वाक्यं तु प्रभासस्य
ब्रह्मरूपसरस्वत्यधिष्ठितत्वात्तत्परम् । एतदन्त इति सप्तमी तु चर्मणीत्यादिवत्सप्तम्यर्थं ।
अगस्त्येनां भ्रमात्तनु तथा नाभूत् । तेन ते देवा अप्यत्रैव तिरोधानकरणे विस्मिता
इत्यर्थः । यादववहास्करस्यापि सेवाकर्तृत्वात्तदाज्ञापनादितात्पर्यं वक्तुं तत्स्वरूपा-

दारुको विष्णुलोकाद्दि समायतो जयादिवत् ॥११४॥
तत्रैव सरथो यातः स तु भक्तो बभूव ह ।
बलवद् रुक्मिणीमुख्या नाट्यं सर्वमिहोदितम् ॥११५॥
अथ चैकादशे स्कन्धे मुक्तिरेका विधीयते ।
अहन्ताममतानाशरूपा साधनसंयुता ॥११६॥
साधनद्वितयं पूर्वं प्रक्रियाद्वितयेन हि ।

दिकमाहुः-दारुक इत्यादि । तथा च सालोक्यसामोध्ये अनुभूय सायुज्यरूपां
परममुक्तिं प्राप्त इत्यर्थः । 'कृष्णपरन्धो विश्वान्नि'मित्यादेस्तात्पर्यं वक्तुं तदेहस्वरूपमाहुः-
बलवदित्यादि । परिहासाध्याये 'क स्व महिम्नि अभिरतो भगवांरुपयोन्नः काहं
गुणप्रकृतिरङ्गवृहोतपादे'त्यत्र तत्स्वरूपस्य गुणप्रकृतित्वेनोक्तसादृश्यत्र शूलप्रकृतित्वेन
कथनाच्च तदेहः सत्त्वात्मकः । मूल्या इत्यनेनाष्टावक्राज्ञा व्यावर्तिताः । एवं चात्र
सन्दर्भं भगवानेव स्वयं गुणातीतः परिकरस्तु मुख्यः सालिकः, शेषस्तु राजसस्ता-
मसश्च । तस्य सर्वस्य सूक्ष्मं शरीरं दशमस्कन्धार्थोक्तप्रकारेण त्यक्तवासनं गुणातीतं
ब्रह्मभूतं विधाय स्थूलं सगुणं शरीरमनया रीत्या त्याजितवान् । ततश्च
चतुलक्षणीकलाध्यायोक्तरीत्या विद्यन्मण्डनोक्तरीत्या च ब्राह्मदेहस्य
विद्यमानत्वादित् सर्वं नाट्यमिहोदितमित्यर्थः । इदं यथा तथा विद्य-
न्मण्डनटीकासमाप्ती लीलानित्यतावादाविचरणे निगुणतरसुपपादित-
मिति न पुनरत्रोच्यते ॥११२॥११५॥

एवं चतुर्भिः प्रकारैश्चतुर्णां मुक्तिं निरूप्य पूर्वप्रकरणद्वयोक्त-
मुक्तेर्जीवसम्बन्धित्वेन साक्षाद्ब्रह्मधर्मत्वाभावात्तदंशे स्कन्धार्थस्य ब्रह्म-
लक्षणवद्दानिरित्यरुच्या पञ्चान्तरमाहुः-अथवेत्यादि । एकादशे स्कन्धे एका
अहन्ताममतानाशरूपा, एका मुक्तिर्ब्रह्मधर्मरूपाऽपिधीयते । तर्हि पूर्वप्रकरणद्वयं
किमर्थमित्यत आहुः-साधनेत्यादि । सा मुक्तिः साधनं विना न भवतीति तैः
संयुता । तत्र साधनमक्तिर्ज्ञानकर्मसमुच्चयेति तदयं हि यतो हेतोः पूर्वप्रकरणद्वयेन
परस्परया साक्षाद्योपदिश्य ततो बालानां कचोद्यने मुखेन बोधनार्थं तमहन्ताममतान-

भक्तिज्ञानक्रिये चैव ततो बालकबोधने ॥११७॥

अभिनीय तमेवार्थं दर्शयामास केशवः ।

एतद्भगवतो मूढं चरित्रमिह वर्णितम् ॥११८॥

(अत्र निष्णाताहृदयो भगवत्याश्रमेति हि) ॥११८॥

इति श्रीबल्लभदीक्षितविरचिते तत्त्वदीपनिबन्धे

एकादशस्कन्धविवरणं

सम्पूर्णम् ।



नाशरूपमर्थमभिनीयैव दर्शयामास, 'अज्ञानसङ्घो भवबन्धमोक्षो'विति 'बद्धो मुक्त इति व्याख्या 'गुणतो मे न वस्तुतः । 'गुणस्य मायामूलज्ञान मे मोक्षो न बन्धन'मिति वाचयाच्च स्वरूपस्थितेरेव वास्तवत्वेन विस्मृतकण्ठमणिन्यायेनैव मोक्ष इति जीवस्यापि तौ मायिकाविति बोधनाय साधनस्याहन्ताममतानाश एव पर्यवसानात्स एव मोक्षः । ब्रह्मणि स्वहन्तामते अपि न स्त इति तत्राद्योऽपि तथा इति बोधनाय च मायिकनिवारणेनाभिनीय दर्शयामास । यतः केशव उत्पादकपदेशकयोरपि ब्रह्मानन्दरूपफलदोऽस्तथेत्यर्थः । एवं चात्रोपदेशरूपालीला करणं भस्मादादिकं व्यापारः, अहन्तामयतामलयः फलमिति प्रलयत्वेन ब्रह्मलक्षणसमस्याः सिद्धयतीति भावः । अनया लीलयाऽऽमुरव्यामोहरूपकार्यदर्शनाभिरुचयैर्माहाङ्गव 'य एतां प्रातरुत्याये'ति'य एत-हेवदेशेय'त्यादीनां तात्पर्यं वदन्तो लीलास्वरूपं फलं चाहुः—एतदित्यादि । तथा च नात्र निकर्षलेश इत्यर्थः ॥११८॥

इति श्रीमत्पद्मसुन्दरगैः पुरुषोत्तमस्य

दक्षिणा एकादशस्कन्धनिबन्ध-

योजना सम्पूर्णा ॥



अथैकादशस्कन्धनिबन्धकठिनांशविवेचनम् ।

कारिका १२. २२९तमे पृष्ठेमुसन्धेयम् ।

एकादशस्कन्धे चतुर्मुखचरित्रनिरूपणं वासुदेववस्तु मोक्षद इत्यादि, दशमस्कन्धे तामसप्रकरणे फलान्तैश्चतुर्भिः प्रकरणैर्बोद्धाभ्यन्तरमेदेन स्वरूपसम्बन्धात्मको मोक्ष एव सम्पादितो मुख्यतया, अतो वासुदेवकार्यं तामसानां फलस्वरूपप्रधानत्वात्, तथा राजसप्रकरणे फलान्तैश्चतुर्भिः प्रकरणैरर्थैकामावेश मुख्यतया सम्पादितौ । स्त्रीणां पुत्राद्यर्थसम्पत्तिः पुत्रादीनान्तुपाहरणादिना कामसम्पत्तिरिति यादृशः । असत्त्वेन मध्यमत्वान्मध्यमावेव पुरुषार्थी राजसेन प्रबुद्धेन । यद्यपि धर्ममोक्षाविति "कर्हिचित् सुसमासीनम्", "अपश्यतां चानिरुद्ध"-मित्यध्यायद्वयेन निरूपितौ, तथापि तयोर्थैकामसाधकत्वेनैव विनियोगः, तथा सात्त्विकप्रकरणे सिद्धधर्मस्य पापफलं भुञ्जतो नृगस्यानिरुद्धात्मकेन भगवता प्रमेयबलेन धर्मो दत्तः, अन्येभ्यश्च यादादाभ्यो धर्म उपदिष्टः "दुर्जरं वत ब्रह्मस्य"मित्यादिना, धर्ममार्गे ब्रह्मस्वापहरादिना ब्राह्मणानां क्षोभो न कर्तव्य इति 'मयादया कृताथोऽस्तु यदि पापं न जायत' इति सिद्धान्तान् निर्दोषत्वे सत्येव धर्मसिद्धिरितिज्ञापनाय । तथा जरासुत-रुद्रराज्ञां प्रार्थनां श्रुत्वा यादवा जरासन्धजयेत्सतो जाता, तद्बधेन राजमोक्षणं यद्यपि धर्मस्थापि जात्यभिमानसिद्धत्वान् न मुख्यः, किन्तु वेदप्रमाणसिद्धे यज्ञात्मक एव धर्मो मुख्य इति ज्ञापनाद्योद्धोक्तिरूपया युक्त्या यज्ञसाहाय्यमेव कर्तव्यमित्युपदिष्टं यादवानां निर्दोषत्वकरणार्थम् । तथा फलप्रकरणेपि कुक्षेभे मुनिप्रशंसारूपया युक्त्या मुनिकृत-भगवद्भक्तिरूपस्य च युक्त्या वासुदेवयज्ञकरणतदुपदेशरूपया च भगवत्याप्त्यर्थं पूर्वं ब्राह्मणा एव पूज्याः, ब्राह्मणवचनेनैव वेदसिद्धौ यज्ञ एव कर्तव्य इत्युपदिष्टम्, सात्त्विकानां प्रमाणपरत्वात्, सात्त्विकेनानिरुद्धेन प्रमाणसिद्धौ धर्मो एव सम्पाद्यत इत्यर्थः । दशमाध्यायान्त उद्धवश्रंशं पूर्वाध्याये "तस्मान् जिज्ञासयात्मानम्"मितिवचन आत्मज्ञानं मोक्षहेतुरित्युक्तम्, 'वैशारदी' से'तिवाक्ये वैशारथा बुद्ध्या गुणकार्यप्रपञ्चस्य समुत्स्य दाहे केवलत्वात्प्रवशेपे मोक्ष इत्युक्तम्, स च आत्मा जीवो वा ब्रह्म वेति सन्देहः, बद्धो मुक्तो वेति च । बद्धत्वे कथं तज्ज्ञानेन मोक्षः स्यात्, मुक्तत्वे कथं देहस्थत्वं सम्भवति, यद्यपि "काल आत्मागमो लोकः" इतिवाक्ये सत्यैवात्मस्वरूपत्वमप्युक्तं तथापि कालादिसमतया त्याज्यं मध्यपातिलिनोक्तं न तु पार्थक्येन ब्राह्मत्वेन चेत्यतः सन्देहः, तदेतदुद्धलेनोक्तं ब्रह्मरूपत्वे कथं देही? कथं वा गुणैर्बध्यते? जीवरूपत्वे देही सन् कथं गुणैर्न बध्यते? बद्धत्वे तज्ज्ञानेन मोक्षोऽसम्भावित एव, तदुपसंहार उक्तं "नित्यबद्धो नित्यमुक्त एक एवेति मे अम"इति ॥

स्कं. ११. १४१तमे ष्ट्रेनुसन्धेयम् । का. ७४-७५-७६

अग्रे पञ्चदशाध्यायार्थोक्तौ सत्यपि कार्यकारणभावे बाधकनिवृत्तौ सत्यामेव कारणत्वात् कार्यात्वचिरित्तिबाधकनिवृत्तये ध्यानस्य भक्तिसाधनत्वे बाधकनिर्देशकः पञ्चदशाध्याय इत्याहुस्तत्र बाधकेत्यादि । “भूतसृष्ट्मात्मनि मयी”त्यादिनाष्टादशसिद्धिहेतुत्वेन निरूपिता भगवन्भेदाः निवारिता इति ध्यानभेदेषु क्रियमाणेषु चेतसः फलान्तरविषयत्वान् न चेतसि भगवत्वापेक्षो नापि चेतसो भगवति प्रवेशः, तथा सति न मच्छुत्यत्चिरित्ति बाधकत्वात् तत्फलरूपसिद्धीनामपि भगवत्वाप्तावन्तरायत्वकथनाच्च निवारिता भक्तिफलार्थिना न कर्तव्या इति, ननु सिद्धिविषयके चित्तस्य तद्भावे किं विधेयमित्याशङ्क्य तत्रोत्तररूपं सर्वासामपि सिद्धीना-मित्यादेश्यमाहुः कृष्णात् सर्वं भवेदिति, आवेशप्रवेशव्यापारकत्वरूपध्यानेनैव भक्तिसिद्धौ भगवत् एव प्राप्ते तेनैवानायासेन सर्वमाप्तेन सिद्धयर्थं साधनान्तरं कर्तव्यमित्यर्थः । एतावन्तेति “बाध्यमानोपि मद्भक्त” इत्यारभ्याध्यायेन, द्वितीयः खण्ड इति परमभक्तिरूपः, पूर्णो निरूपित इति साधकबाधकव्यापारफलसहितो निरूपित एवं पञ्चदशाध्यायो विचारितः ।

अतः परं षोडशाध्यायस्यापि मृत्तयुपयोगं वक्तुं समकारं तदर्थमाहुर्ज्ञानिनापीत्यादि, द्वयेन तत्र ज्ञानेनापि प्रवेशे हि भजेदिति तु प्रकारः, पुनरित्यादि सारथिमित्यन्तोध्यायार्थः, विभूतिरित्यादि भवेदित्यन्तं प्रयोजनम्, तत्र प्रकारेभ्यो उच्यते । भक्तिव्यापारमूर्ते यावत्त्वादज्ञाने-ध्यायार्थमूर्ते विभूतिज्ञानं प्रकार इति, गीतायां “मच्चया मामभिजानाति यावान् यथास्ति तत्त्वतः; ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरं”मित्यनेन ज्ञानस्य प्रवेशसाधनत्वमुक्तम्, “माह वैदे” रित्यादिना “मच्छया त्वनन्तर्ये”त्यनेन चान्यनिषेधपूर्वकं भक्तेरेव साधनत्वमुक्त-मिति परस्परविरोधे निर्णय उच्यते ज्ञानेनापीत्यादि, ज्ञानेन प्रवेशाङ्गीकारपक्षेपि भजनया-वश्यकम्, यावत्त्वादिकारकस्याभिज्ञांरूपस्य ज्ञानस्य “मच्चया मामभिजानाती”तिकथनेन भक्तिसाध्यस्य तद्व्यापारत्वेन प्रवेशहेतुत्वाद् भक्तेश्च भजनैव सिद्धेः; अत्र श्रीभागवतेपि ‘ज्ञात्वाज्ञाने’त्यनेनानन्यभजनकर्तुरेव भक्ततत्त्वकथनेन भक्तिपूर्वकालीनस्य यतःकुतश्चिज्जातस्यान-भिज्ञारूपस्य यावत्त्वादिज्ञानस्याप्रयोजकत्वकथनाच्च । अतो भक्तिपूर्वकालीनस्य यावत्त्वादि-ज्ञानस्य माहात्म्यज्ञानहेतुत्वेन भक्तिसाधकत्वम्, मच्चयन्तरमाविनस्त्वभिज्ञारूपस्य व्यापारत्वेन भक्तिफलप्रवेशसाधकत्वं यावत्त्वादिज्ञानं तु विभूतिज्ञानेति भक्तावययोगः; स्नेहरूपांशस्य तु भजनैव सिद्धेर्भजनस्यावश्यकत्वम्, शेष टीकान्तरे स्फुटमिति ततो ज्ञेयम् ॥ इति ।

एकादशस्कन्धः समाप्तः

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजन्दवद्वयमाय नमः ।

श्रीमद्वाच्येचरणकर्मलभ्यो नमः ।

अथ तत्त्वार्थदीपनिबन्धे श्रीभागवतार्थप्रकरणे

द्वादशस्कन्धविवरणम् ।

इत्येकत्रिंशताध्यायैर्मुक्तिरुक्ता ससाधना ।

लीलाश्च नव सम्पूर्णास्तभिः शुद्धौ ह्यपाश्रयः ॥१॥

त्रयोदशभिरध्यायैर्द्वादश स निरूप्यते ।

स पञ्चधाऽत्र निर्णीतो द्वितीये स त्रिषोदितः ॥२॥

श्रीबालकृष्णो जयति ।

अथ द्वादशस्कन्धनिबन्धस्य योजना ।

अथ द्वादशस्कन्धार्थं निबन्धसङ्गतिकथनाय पूर्वस्कन्धार्थमनु-
वदन्तो ‘दशमस्य विद्युद्धयर्थं नवानामिह लक्षणम् । वर्णयन्ती’त्येतदर्थस्मारणपूर्वकं
तदर्थमाहुः—इतीतितादौ । शुद्ध इति निरावरणः सारतः । अध्यायसङ्ख्याता-
त्पर्यभेगे वक्तव्यम् । सङ्गतिरत्र ज्ञाप्यापकभावेन हेतुत्वात् सा स्फुटैव । अतः परं
सामान्यलक्षणे “व्यतिरेकान्वयौ यस्य जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ति, मायापयेषु तद्गत्सा जीववृत्तिव-
पाश्रयः । पदार्थेषु यथा द्रव्यं तन्मात्रं रूपनामसु । बीजादिपञ्चतां तासु ह्यवस्थासु
युतायुत”मिति यद्विज्ञप्तम्, तदर्थस्तु श्रीधरेण जीवसंसारतद्वाचयोरविद्युत्तावधिभूतं
ब्रह्मापाश्रयः । तत्र दृष्टान्तः ‘पदार्थस्य’त्यादिना निरूप्यत इत्युक्तः । स च विचारे
मायामयविषयजीववृत्तिरूपसंसारे स्मृत्यान्वयात्तदविद्युत्तामभूतं तद्वाधस्य चावधिभूतं
साक्षिरूपं ब्रह्माश्रय इति सिद्धयति । द्वितीये च पदार्थेषु यथा तन्मात्रं द्रव्यं युत-
मवस्थास्वयुतं तथेति सिद्धयति । तेन जगतो विवर्त्तोपादानं परिणाम्युपादानं वा
ब्रह्मापाश्रय इति सिद्धयति । इह तु तस्मादपि कथिद्विषेप इति वक्तुमत्र पञ्चमकर-
णानि मूचयन्तस्तत्स्वरूपमाहुः—स पञ्चयेत्यादि । सोऽपाश्रयोऽत्र श्रीभागवते
पञ्चधा निर्णीतः । तथा चान्यत्र साधारणलक्षणानुसारेण द्वेषा नानापकारेणो-

नवभिर्बोधितवपुस्तथा सुष्टिलचादिकृत् ।

आधिभौतिकभेदानां द्रष्टा सर्वान्तरः परः ॥३॥

कोऽत्र तु पञ्चप्रकारेण निर्णीत इत्येव विशेष इत्यर्थः । निर्णयप्रकारानाहुः—द्वितीय इत्यादिसपादाभ्याम् । तथा च 'दशमस्य विशुद्धयर्थे'मित्यनेनोक्तं 'सर्गादिनवलक्षण-लक्ष्यसमेकम् । 'आभाम'श्रित्यनेनोक्तं जगत्सृष्टिस्थितिप्रलयकर्तृत्वमपरम् । ब्रह्ममीमांसायां जन्माद्यधिकरणे कर्तृत्वस्य समन्वयाधिकरणे उपादानत्वस्य च विचारितत्वाद्य च 'जन्माद्यस्य यतोऽन्वया'दित्यत्रोभयसङ्गहातकर्तृत्वमुपादानत्वस्याप्युपलक्षकम् । तथा-प्यध्ववसीयत् इतिपदाचतुतीयचकाराच्च विचर्षोपादानत्वस्यापि सङ्गहः । तेन सामान्यलक्षणं पुराणान्तरैकी विस्तारश्चादत्तः । तेनैकदेशविचारं पूर्वैलक्षण-स्यापि सामान्यलक्षणत्वम् । अन्यथा महापुराणान्तरस्याप्येकशास्त्रत्वं बाधितं स्यात् । उक्तरीत्या नवानां विशेषलक्षणविचारं तु तस्य विशेषलक्षण-त्वम् । अन्यत्र तेपामेतल्लक्षणाभावस्य केवाञ्छिन्नामान्तरस्य च 'सर्गोऽस्याथ विसर्गश्चे'त्याद्युक्तोद्देशलक्षणाभ्यां निश्चयादिति । एवञ्च 'वेदे रामायणे चैवे'ति 'सर्वैवेदेतिहासानामिति'वाक्योक्तमपि सङ्गृहीतं भवति । 'योऽध्यात्मिकोऽयं पुरुष'-इतिब्राह्मण्युक्तमाध्यात्मिकादित्रितयद्रष्टृत्वं तृतीयं लक्षणम् । एतस्य लक्षणस्यात्यन्त-विविक्तसंस्वरुचिकलाय लक्ष्यस्वरूपमाहुः—सर्वान्तरः पर इति । तथा च लक्षण-वाक्ये स्वाश्रयाश्रयपदमेतदर्थम् । अन्यथा 'स आत्मे'त्यनेनैव चतुर्थस्य परमात्मनः प्राप्तेरिदं न वदेत् । अतः स्वस्य पुरुषोत्तमस्याश्रयो लोकासनचरणरूपं तुरीयमक्षरं तस्याप्याश्रय इति तत्रार्थः । तथा च वेचृत्वं जीवात्मसु त्रितयवेतुलमन्तरात्मन्यन्तर्था-मिणि स्वातिरिक्तत्रितयवेतुलमात्मत्वं चाश्रयोऽप्यस्तीति तद्वारणायैदं पदमिति निश्चयः । तस्य च सर्वान्तरत्वमानन्दमयाधिकरणविषयत्वाक्यसिद्धम् , तेनैव श्रुत्य-न्तरसिद्धं पञ्चमत्वं च । परमत्वञ्च 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्येतद्ब्राह्मणसिद्धम् । एवञ्च द्वितीयस्कन्ध एतत्सुबोधिन्यां यत्पक्षद्वयमुक्तमिदमेकं भगवतो रूपं भगवानेव वेति तदपि सङ्गच्छते । तेन नवलक्षणलक्ष्य आश्रयः अस्रात्मकः दशलीलानिरूप्यत्वेन दशलक्षणलक्ष्य आश्रयः पुरुषोत्तम इति मूलाविच्छेदरूपत्वात्नवलक्षणलक्ष्यो हि कृष्ण इति 'दशलीलानिरूप्योऽयं पुरुष' इति कारिकाद्वयमाश्रयस्य लीलात्वेन पुरुषोत्तमत्वेन कथनं च यथाश्रुतं प्राञ्जलमेव सङ्गच्छते इति बोध्यम् ॥२॥३॥

एवं हृदि पुरस्कृत्य लक्षणाभ्युक्तवान् शुक्रः ।

लोकप्रसिद्धिं स्वीकृत्य ह्यं चाऽपि निरूपितम् ॥४॥

वेदो वा भगवान् वाऽपि शब्दार्थरसरूपधृक् ।

वेदमेव समाश्रित्य सर्वं तिष्ठन्ति मानवाः ॥५॥

केचनैव हरिं वाऽपि केवलं केचनैव हि ।

रुद्धिमिति । 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मितिश्रुत्या 'उत्तमः पुरुषस्त्वस्यः परमान्मेत्युदाहृत' इति गीतया बोक्तं रुद्धिम् । तर्हि प्रकारद्वयमन्यकुत्रेत्यत आहुः—लोकेत्यादि । लोके हि सहायत्वेन रक्षकत्वेन चोपजीव्य आश्रय इत्युच्यते तां प्रसिद्धिं स्वीकृत्य द्विविधमुपजीव्यत्वं द्वादशे निरूपितम् । अपीतिपदस्य लोकप्रसिद्धिपदेन योजना । ह्यं स्फुटीकुर्वन्ति वेदो वेत्यादि । शब्दार्थरसरूपधृगिति शब्दरसरूपधृगर्थरसरूपगुणित्यर्थः । इदमग्रिमपदध्यायोविचारं स्फुटीभवित्यति । ननु पूर्वोक्त-लक्षणैरेव ज्ञायमाने आश्रये एवं रूपद्वयकथनस्य फि कुटीभवित्यति । ननु पूर्वोक्त-स्यादि । केवलमिति असङ्गोदासीनम् । तथा च लोके शब्दार्थभेदेन द्विधाऽऽश्र-यणदर्शनात्तस्वीकारेण शब्दरसरूपस्य । द्विप्रकारकार्यरसरूपस्य च कथनमित्यर्थः ॥४॥५॥

निबन्धकठिनानांशविषेचनम् ।

का-५, द्वादशस्कन्धे प्रकरणार्थविभागे वेदमेव समाश्रित्येति कारिका-व्याख्यानं लिख्यते, कर्मिणः सर्वे मानवा वेदमेव केवलं समाश्रित्य तिष्ठन्ति, वेदोक्त-कर्मिणरेवविहितैर्मिषिद्वैश्च शुभाशुभफलं मन्यन्ते न स्वीश्रमङ्गीकुर्वन्ति, केचन मर्त्यादा-स्याः ज्ञानमिष्टा भक्ताश्च हरिं चापि समाश्रित्य तिष्ठन्ति वेदप्रतिपाद्यत्वेन हरिं मन्यन्ते, केचन पूर्णोत्प्रहमाजः पुष्टिस्थाः केवलं वेदनिर्देशं हरिमेव समाश्रित्य तिष्ठन्ति, तदुक्तं 'ते नाधीतश्रुतिगणा' इति "केवलं हि भावेन" इति च, तथापि ये ज्ञानसद्विज्ञानोपि वेदं भगवदाज्ञानेन मन्यन्ते न तु पञ्चानन्देनिति, अत्र श्रीभागवते पञ्चमाध्याये ज्ञानशक्त्या-श्रयनिरूपणे "स्वमे यथा शिरच्छेद" इति श्लोके समग्रदृष्टान्तेनात्मनो जगत्सर्वं निरूप्य "घटे-भित्त" इति (अ० ५) श्लोके आकाशदृष्टान्तेन स्थूऽऽक्षमेदहद्वयविनाशे पुनर्ब्रह्मतापि निरूप्य जीवस्य संसारोद्भवप्रकारमाह "मनः सृजति वै देहा" इति श्लोकेन । तत्रैयं वस्तुस्थितिः सृष्टेः पूर्वकाले एक एव भगवान् यदा रमणेच्छां कृतवान् तदा सप्तमर्थरूपया

तत्राऽऽद्यस्य स्वरूपं हि स्पष्टमत्र निरूप्यते ॥६॥

यस्य लीला नव प्रोक्ताः स शुद्धः पुरुषोत्तमः ।

आश्रयः सर्वभूतानामधिको द्वादशात्मकः ॥७॥

त्रयोदशस्ततः प्रोक्तः स्कन्धार्थोऽयं विबुध्यताम् ।

अध्यायत्रितयेनापि स एवाऽर्थोऽनुवर्णितः ॥८॥

वचोविभूर्तीरियुक्तया भिन्नाश्रयविनाशकः ।

अ. १ पञ्चमकारान् व्युत्पादयन्तः प्रथमस्याध्यायसङ्ख्यायाऽवग-

तिरित्याहुः—तत्रेत्यादिद्वाभ्याम् । आद्यस्येति नवलक्षणलक्ष्यस्य । अत्रेति स्कन्धे ।

द्वादशात्मन इति । शब्देनाश्रयोने संख्यामात्रप्रयोजकमित्यतः प्रकरणेन तमर्थं

स्फुटीकुर्वन्त आहुः—अध्यायेत्यादि । कथमित्याकाङ्क्षायां तन्निर्द्धारार्थमाहुः—वच-

इत्यादि । *कथा इमास्ते कथिता महीयसां विताय लोकेषु यशः परेयुषाम् । विज्ञान-

वैराग्यविवक्षया विभोर्वचोविभूर्तीन तु पारमार्थ्यम् इति श्लोके लोकेषु यशोविताय

जगत्कारणमूल्या मायया स्वात्मन एव सर्वे जडजीवन्तयाम्यात्मकं जगत् सृष्टयान् जडं

चिदानन्दयोर्जोवि स्वानन्दस्य च तिस्रोमार्थं कृतवान्, अन्तर्बामिणि तु सच्चिदानन्दान्

प्रकटनेन स्थापितवान्, इति प्रकरणे त्रिधा स्वांशा उर्यादितास्त्रयापि सर्वेषां ब्रह्मरूपत्वाद्

वैचित्र्याभावे तु न रमणं सम्पन्नम्, तदा पूर्वोक्तमांशमूला मोहिका माया जीविलरूपाज्ञानं

सम्प्राद्य भोगाभिनिवेशात्मकं पुनः सृष्टवती, तदुक्तं चतुर्थस्कन्धे पुराणनोपाख्यानं “नानुरूपं

यदाविन्दद्भूतं स विमान इवैत्येनेन ततो मनोदेहान् देवतिर्वगादीन् शुभान् सत्त्वादीन्

कर्माणि च विहितनिषिद्धान्बुध्वावचानि च सृजति येन जीवत्याहम्मानभिमानरूपः

संसारः, तदा वैचित्र्ये जाते भगवतो रमणं सम्पन्नमिति, ननु भगवत्संष्टे देहादिप्रपञ्चे

मनसः संपृक्ष्वं कथमिति चेत् तत्राहात्मन इति जीवसम्भषित्वेन तद्भोगार्थं स्ववर्तित्यर्थः,

यथा ब्रह्माण्डे भगवता सामान्येनोत्पादितेप्यन्नादौ कर्तुः स्वार्हाणुसारेण पुनः स्वकर्म-

णोत्पादयन्ति तद्वत् ।

* स्कं. १२-अं. ३-श्लो. १४ ॥

आश्रयो लौकिकानां तु लोको धर्मोऽथवा पुनः ॥९॥

उभयं नष्टमधुना द्वाभ्यां तत्तु निरूपितम् ।

शुद्रपर्यवसानेन लोकनाशो निरूपितः ॥१०॥

अधर्मस्य च सम्पूर्त्या धर्मनाशोऽपि बुध्यताम् ।

एवं पूर्वोश्रये नष्टे कृष्ण एवाश्रयो मतः ॥११॥

परेयुषां परं भगवन्तं प्राप्तवान् महीयसा इमाः कथा विभोर्विज्ञानवैराग्यविवक्षया

एकादशस्कन्धे भगवतोक्तं यन्कार्यस्य कारणाभिज्ञत्वेन कारणात्मकतात्वं विशिष्टज्ञानं

भेदस्य कान्पनिकत्वेन लौकिकानामवस्तुत्वात्तेभ्यो वैराग्यं च तदुभयविवक्षया ते

तुभ्यं कथिताः । अत इमा इशातुकाध्यानाः कथा वचोविभूर्तीः विभूतिविवष्यत्वेन

भगवदनुवर्णनशेषभूता इत्युच्येति कथनेन भिन्नाश्रयविनाशको भिन्नः स्वातिरिक्तो

य आचार उपजीव्यश्च लोके प्रतीयते तस्य नाशकः कालाख्यवैष्टया निवृत्तकः । तेन

निरङ्कुशतया सर्वाधारः सर्वोपजीव्योश्च सिद्ध इत्यर्थः । तथा चास्मिन् श्लोके

विभोरेवमाश्रयत्वे सिद्धेः को विश्वरित्याकाङ्क्षायां यस्तुत्तमेत्यग्रिमे ‘कृष्णेऽमलां

भक्तिमभीप्समान’ इत्यनेन तस्य कृष्णसन्निधायनादुत्तमकृष्णानुवाद इत्यनेन तस्य

सधर्मकल्पनिधायनस्य स एवाश्रय इति निर्द्धारितम् । गीतायामपि ‘अक्षरादपि

चोत्तम’ इति । श्रुतावपि ‘अक्षरात्परतः पर’ इतिकथनादिदमेव निर्द्धारितम्, अतः

स एवाश्रय इति भावः । एवं वावयेनेममर्थं हृदीकृत्याध्यायत्रये यथा स आश्रयो-

ऽनुवर्णितस्तं प्रकारं वक्तुं पूर्वं इयोरर्थमाहुः—आश्रय इत्यादिद्वाभ्याम् । लौकिकाः

प्राकृतान्तेषां लोकः प्रवाहरूप आश्रय उपजीव्यः पुनः किञ्चित्तत्त उत्तमानां धर्मस्थाया,

द्वाभ्यामध्यायार्थ्यां तद्द्वयं नष्टं निरूपितम् । ननु प्रवाहधर्मस्य चेदानीमपि दर्शनात्

कथं निरूपितमित्याकाङ्क्षायामाहुः—शुद्धेत्यादि । शुद्धमेव शुचा द्रवतीति

यौगिकार्थस्यात्र सङ्ग्राहकम् । असर्ववर्णत्वेन दुष्टानां दुःखाद्यर्थानामव्युत्पत्तिसंके-

वा । अतस्तत्पर्यवसानेन तस्योपजीव्यतानाशो निरूपितः । एवं दम्भादिबाहुल्येन

धर्मनाशोऽपीति यथा कथा इमा इति श्लोके कथाविवषयाणां विभूतिलबोधनेन तेषां

निरङ्कुशाधारस्वरूपमाश्रयत्वं निवारितमित्यर्थः । तथाऽध्यायत्रये कालस्य लोकधर्म-

नाशककथनेन तयोत्पजीव्यस्वरूपमाश्रयत्वं निवारितमित्यर्थः ॥३॥१०३॥

(अ. ३) तावता कृष्णस्य भगवतः कथमाश्रयत्वमत्र सिद्धमित्यतस्तुनीयस्यार्थमाहुः—

एवमित्यादि । तथा च तुनीयाध्याये राज्ञा कलिदोषनाशोपाये वृष्टे ‘पुंसां कलिहृत्तान्

दोषा’ नित्यादिभिरुत्तरं वदता श्रीशुकेन भगवानेवोपजीव्यतयाऽश्रयो विचारित इत्यतः

पूजादिनाऽनुरूपेण नाम्नां श्रवणकीर्त्तनेः ।
त्रिष्वर्धे दोषराहित्यं गुणाश्चापि तथाऽपरे ॥१२॥
आश्रयो भगवान् कालं तावन्तं चेत्प्रतीक्षते ।
कल्किर्भविष्यति तदा सर्वसाधारणो मतः ॥१३॥
उपलक्षणमेतद्धि नामपूजादिना हरिः ।
यदा तुष्टः प्रसन्नः स्यादात्मानं च प्रदर्शयेत् ॥१४॥
तदाऽश्रयः पूर्णरूपो भविष्यति न संशयः ।
विलम्बे कारणं गर्वस्तदर्थं दोषवर्णनम् ॥१५॥
तन्निवृत्तिश्च भवतीत्यग्रे कीर्त्तनमीरितम् ।
एवं त्रिभिर्मुख्यरूपो नवानां शुद्धिलक्षणः ॥१६॥
हरिराश्रय इत्युक्तो मुक्तानामिति वर्णितम् ।

सिद्धमित्यर्थः । तस्याश्रये प्रकारद्वयमाहुः—पूजादिनेत्यादि । कालावधिमाहुः—
त्रिष्वर्धेत्यादि । त्रिषु पूजादिषु क्रुतेषु अर्द्धे कलिपूर्वार्द्धे दोषराहित्यं गुणापि
भगवत्प्रासादायासाभावरूपो गुणापिशब्दात्परमाभिः । यथा पूर्वार्द्धे एतन्नयं तथा
परे कल्युच्यते भगवान् साक्षादेवाश्रयः । तत्र विशेषः । कालं तावन्तं वेत्यतीक्षते
तावत्पर्यन्तं चेदयं न करोति तदा कल्किरूपेणावतीर्थं तथेत्यर्थः । मत इति
आश्रयो मतः ॥११॥१२॥ नन्वाश्रयसम्पत्तेर्निवन्धार्थत्वात् तस्यं दया । दैव्यां
सम्पत्तौ किल तदपेक्षा । तस्यामपि चेत्कालप्रतीक्षा तदा कलिदोषविधमनं युधैवेत्यत
आहुः—उपलक्षणमित्यादि । एतत्कालवतीक्ष्यं दयाभावस्योपलक्षणं यदि न दययति
तदा कल्पयन्तमिति । किं तर्हि पूर्वमपि दययति तत्र हेतुः—हीन्यादि । ननु
यद्येवं तदा प्रसादे विलम्बः कुत इत्याकाङ्क्षायामाहुः—विलम्बे इत्यादि । दोषवर्णन-
मिति अहन्तादिरूपाजान्द्रोषवर्णनम् । तथा चोक्तोर्थः । सर्वोऽपि दोषवर्णनत्रि-
ष्टुत्तिप्रभ्रतदुत्तरैः स्फुटतीति नात्र शङ्कालेश इत्यर्थः । एवमवान्तरतात्पर्यमुक्त्वाध्याय-
त्रयसिद्धमर्थमाहुः—एवमित्यादि । मुख्यं सर्गादिनवकनियामकं रूपं यस्य नवानां
सर्गादिदुष्कृतानानां शुद्धिनिष्कृष्टं स्वरूपं लक्षणं यस्य यदि हि ययोकरुषा नवापि
ज्ञाताः स्युस्तदा सर्वान् विहाय हरिसेव सर्वान्तानाऽऽश्रयेत । अतो नवानां निष्कृष्ट-
स्वरूपं तन्मियामकस्य मुख्यस्वस्यैव लक्षणम्, अतः स तथा तादृशः स मुक्तानामाश्रय
इति त्रिभिः सिद्धमित्येवं शब्देन बोधनालक्षन्याध्यायसङ्कलया तस्य तथा बोधनं
युक्तमेवेत्यर्थः ॥११॥१२॥ एवं नवभिः प्रथमं प्रकरणं विचारितम् ॥

अतः परं द्वितीयस्तु जगदाश्रय उच्यते ॥१७॥
यतः सर्वं समुत्पन्नं यस्मिंश्चैव प्रलयीते ।
पृथिवीव घटाद्यावः स ब्रह्मज्ञायते न हि ॥१८॥
अन्तश्चाऽपि स विज्ञेयस्तदेव सफलो भवेत् ।
इति प्रलयकथनं चतुर्थां सृष्टिरत्र हि ॥१९॥
पूर्वांक्तैवाऽतिदिष्टा हि क्रियाशक्तिर्निरूपिता ।

अ. ४ द्वितीयं विचारयन्ति—अतः परमित्यादि । पृथिवीव घटाद्या-
दिति । यदस्यादिरूपादानं मृत्पिण्डः कर्तृक्रियाव्याप्तस्तस्याप्यादिः पूर्वरूपं सत् तस्याप्या-
श्रयः पृथिवी, तद्वत् । तथा च जगदुपादानं प्रकृतिः कालो वा तस्यादि बृहत् तस्याप्या-
श्रयः परतः पर इत्यर्थः । स ब्रह्मज्ञायते नहीति 'यं न निभालयस एषोऽणिमे'तिश्रुत्युक्तः ॥
अन्तश्चापीति । मायिकानामप्यन्तर्गम्यर्थः । तद्वेति । तेन वेगमयोत्पत्तौ सफलो
भवेत् । 'आश्रयः स्वफले दया'दितिवोपयितुं चतुर्थां प्रलयकथनम् । प्रलयश्च
मूर्धेपरि हि निश्चयेन पूर्वोक्ता द्वितीयायुक्ता एकादशो निर्णीतैवात्र 'बुद्धीन्द्रियार्थ-
रूपेण'त्यादिश्लोकेषु भगवदुपा मायिकी चेति त्रिविधापरिदिष्टा, हि यतो हेतोरस्मिन्व-
ध्याये आभासश्चेति श्लोकोत्पलक्षणकाश्रयवचनार्थं क्रियाशक्तिर्निरूपिता ।

अत्रायमर्थः । पूर्वाध्याये 'युगानि युगमानञ्च'तियगृष्टे तदुत्तरमत्र वक्तव्यम् । तत्र
युगस्वरूपं पूर्वाध्याये दर्शितम् । कालगनित्युगमानञ्च तृतीयस्कन्धे दर्शितमिति तदत्र
कल्पलभयोः स्वरूपं मानञ्च चतुर्थेऽध्याये त्रिविधं—नेनोत्तरं प्ररितम् । तदनन्तरं
'द्विपरार्द्धं त्तिकान्तं' इत्यादिना प्राकृतिकालान्तिकनित्याः प्रलया यदुच्यन्ते
तद्वगमनः क्रियाशक्तैरेव बोधनार्थम् । क्रियाशक्तिश्च सृष्ट्यादिभेदेन त्रिधा ।
सा पूर्वस्कन्धेऽपि प्रलयांशे सम्यक् नोक्ता । यत एकादशेऽन्तरिक्षवाक्ये महत्त-
वान्त एव प्रलय उक्तः । भगवत्प्रायेऽपि 'कालो मायामये जीव' इति श्लोके
'विकल्पायावलक्षणं' इति कथनद्वन्द्वप्रतीत्यभासमाश्रमेवोक्तमिति । तदत्र 'द्विपरार्द्धं
त्तिकान्तं, इत्यादिना तत्कालकथनपूर्वकमनुयायव्याकृतस्य शिष्टत्वात्तत्स्वरूपं चोच्यता-
ञ्च । पुरुषाव्यक्तशक्तिप्रलयमात्रकथनेन पुरुषाव्यक्तसत्ताबोधने केवलस्य ब्रह्मणो
नाश्रयत्वसिद्धिरिति तदर्थमात्यन्तिककालादिना तां क्रियाशक्तिं सम्यक्बोधयितुं पूर्वमा-
त्यन्तिककालस्वरूपं द्वादशभिः प्रपञ्चयति । तत्र प्रपञ्चस्य ब्रह्मात्मकत्वविदुषः
साहचर्यान्त्यायितुं प्रथममहन्तया ममतया च प्रतीयमानानां बुद्ध्यादीनामवस्तुत्वमाह—
बुद्धीत्यादि(श्लो० २३) । अत्र बुद्धीन्द्रियायाः प्रतीयमानरूपेणावस्तुभूता आद्यन्तवत्त्वाद्

दृश्यत्वाच्च, शुक्तिरजतवदिति साधने, वस्तुभूता घटादिवदिति दृष्टान्तेन हेतोः साधारण-
 लमतस्तादृहायैवं प्रयोक्तव्यम् । आत्मरूपं ज्ञानं अहम्ममत्वेन प्रतीयमानं बुद्धीन्द्रियार्था-
 श्रयं बुद्धीन्द्रियार्थवृत्तिकलात् शुक्तिरजतवृत्तिकतदाश्रयज्ञानवत्, यन्नैवं तन्नैवं घट-
 ज्ञानवदिति । आश्रयत्वं तत्र विपर्ययितया बोध्यम् । ननु शुक्तिरजतस्य स्वतोऽवस्तुत्वाज्ज्ञा-
 नवृत्तित्त्वेनात्मरूपस्य ज्ञानस्य तदाश्रयत्वसिद्धिः, प्रकृते तु बुद्ध्यादीनामर्थक्रियकारितया
 घटादिवद्वस्तुत्वेन ज्ञानवृत्तिलाभावात्कथं विवक्षितज्ञानस्य तद्विपर्ययित्वरूपमाश्रयत्वमिति
 शङ्कायां तेषामवस्तुत्वं साधयति इदृश्यत्वेत्यादि । बुद्धीन्द्रियार्थाः स्वेन रूपेणावस्तुभूता
 आत्मरूपज्ञानदृश्यत्वे तदव्यतिरिक्तत्वं च सत्याद्यन्तवत्त्वात्, यद्यद्दृश्यत्वं यदव्यति-
 रिक्तत्वं च सत्याद्यन्तवत्त्वचदप्युच्येन्नैव वस्तुभूतं न स्वतः । ज्योतिर्हृद्यज्योतिरव्यति-
 रिक्तदीपचक्षु रूपवदिति । एतदेव निगमयति एवमित्यादि । न स्युरिति । अत्रापि
 पृथगित्युपपज्जेते । ऋतादिति आत्मरूपाज्ज्ञानात् । एवमाध्यात्मिकादीनां
 बुद्ध्यादीनां पृथगसत्त्वं द्रष्टृज्ञानरूपत्वं च साधयित्वा यदा बुद्धेः पृथगसत्त्वं तदा
 तदवस्थानां सुतरां तथास्यमित्याह बुद्धेरित्यादि । इदमिति बुद्धयवस्थापेदकृतम् ।
 यतो बुद्धिरेव जागर्ति स्वपिति सुखपिति च, न लात्मा, वृत्तित्रयसाक्षित्वात् ।
 अतो बुद्धौ विद्यमानमिदं नानालम् । अहं जागर्मीत्याद्यभिमानरूपतात्पर्यमात्मनि
 मायामात्रमित्यर्थः । नन्वध्यासस्य कश्चिद्भ्रमस्तददर्शानन्तरभाविताद् बुद्ध्यादीनां
 क्वाप्सत्त्वे तत्त्वतीतेरप्यभावेन तदध्यासोऽपि कथं स्यादित्याकाङ्क्षायां बुद्ध्यादीना-
 मन्यत्र सत्त्वं साधयितुं विश्वस्य ब्रह्मण्युत्पत्तिमाह-यथेत्यादि । ननु विश्वोत्पत्तिनाशौ
 न दृश्यावतस्तस्य कथं कादाचित्कत्वमित्यत आह-अवयवमुद्बुदाप्यस्यदिति ।
 अवयवोऽर्वांशः, न तु कारणम् । तथा च विश्वं कादाचित्कमाद्यन्तवत्त्वात्,
 आद्यन्तवत् सावयवत्वाद् व्योमनि जलधरवदिति सावयवत्वानित्यत्वयोर्व्यतिरिक्त-
 नाशस्य दर्शनाच्च विश्वमप्यनित्यमित्यर्थः । एतेन प्राकृतिकमलयेऽपि युक्तिरुक्ता । तेन
 जलधरवदनित्यत्वेऽपि विश्वस्य सत्यत्वेन ब्रह्मणि सत्त्वाद् बुद्ध्यादीनां प्रथमं तत्रानुभवे
 पश्चादात्मनि तदध्यास इत्यहन्तया ममतया चाध्यस्तासे मायामात्रा एवेत्यर्थः । ननु
 व्योमजलधरदृष्टान्तेन विश्वं ब्रह्माधिकरणकं पृथगेव सिद्धमिति बुद्ध्यादीनामनित्यत्वं
 नित्यादात्मनो भिन्नत्वं च सिद्धमिति साङ्ख्यमताको विशेष इत्याकाङ्क्षायामाह-
 सत्यमित्यादि । अत्रावयवशब्दः कारणवाची । सत्यं सत्यपदवाच्यं ब्रह्म सर्वा-
 वयविनामवयवः कारणं प्रोक्तः वाचारम्भणवाक्ये उक्तः । अतः प्रकृत्यादेरप्यवयवित्वा-
 चस्यापि ब्रह्मैवावयवः । तथा च श्रुतौ ब्रह्मण एव कारणत्वकथनात्प्रतीतः । पृथगपि
 १ 'विषयतया' पाठभेदः ।

तद्विश्वं न ब्रह्मणः पृथगित्येव विशेष इत्यर्थः । ननु श्रुतिर्वदति तथापि ब्रह्मणो
 विश्वोपादानत्वं कथं बुद्ध्यावरोहतीत्यवस्तकमाह-चिन्नेत्यादि । विना विशेषण ।
 तथा च यदि प्रकृत्यादयो मूलकारणरूपाः स्युस्तदार्थेन विन्नेन सह ज्ञानिभिः प्रती-
 येरन, लौकिकद्रष्टृभिर्मैथा पटाङ्गभूतास्तन्तवः प्रतीयन्ते तद्वत् । तथा च यतो ज्ञानिनां
 तेन प्रतीयन्तेऽतो न तेऽवयवाः । सत्यं तु प्रतीयत इति तदेवावयव इतिप्रागामिणकप्रत्यक्ष-
 सिद्धाचर्काचस्य बुद्ध्यावरोहः । इदानीमपि सदन्यव्यतिरेकयोर्विश्वमित्नुपलम्भा-
 दिति भावः । तथा च सत् सर्वावयवः सर्वैस्मिन् प्रतीयमानत्वात्, सर्वाभावेऽपि
 प्रतीयमानत्वाच्च, यदेवं तदेवम्, पटदशायां तदप्यागभावध्वंसदशायां च प्रतीयमान-
 पटाङ्गननुवत्, यन्नैवं तन्नैवम्, तथा अपतीयमानकपालवदिति तर्कमूलमनुमानमपि
 तथा बुद्धिजनकम् । सत्यदेन सत्यं ब्रह्मैवोच्यते न प्रधानमिति त्वीक्षत्प्यादि-
 मृद्भ्रमेव विचारितम्, अतः सत्यमेव सर्वकारणत्वात्सर्वाश्रय इति साधितम् ।
 ननु ब्रह्मवादिनामेया प्रतीतिर्न साङ्ख्यह्यानाम् । अतः श्रुतिरपि प्रायपाठबलादन्यथा
 नेत्येत्याकाङ्क्षायां साङ्ख्यप्रतीतेर्भ्रमत्वमुपपादयति-यन्स्तामान्येत्यादि । यत्प्रधानं
 सामान्यविशेषाभ्यां कारणकार्यस्वरूपाभ्यामुपलभ्येत सः पदार्थो भ्रमः अभिमानमात्रो
 न वस्तुतस्तत्र हेतुः-अन्योऽन्यायाप्याश्रयादिति । अयमर्थः । साङ्ख्यमते
 हि प्रधानस्य कारणत्वं स्वरूपं च केवलं कार्यलङ्घकानुमानरित्वाद् न तु
 प्रत्यक्षशब्दाभ्यां गम्यते, स्थूलास्पृश्वतन्मात्रस्य बाष्पाभ्यन्तराभ्यां तैरहङ्कारस्य,
 तेनान्तःकरणस्य, ततः प्रकृतौ भिन्निर्भूत्वात् । तन्मते च जीवेषु प्रमाणानि
 'प्रत्यक्षानुमानशब्दाः प्रमाणानि'तितत्त्वज्ञात् । एवं सति अप्रत्यक्षेणाशाब्देन
 महत्त्वेन कार्येण तादृशस्य प्रधानस्य स्वरूपं कारणता च सिद्धयति । तेनाप्रत्यक्षेणा-
 शाब्देन प्रधानेन महत्त्वस्वरूपं तत्कार्यत्वं च सिद्धयतीति प्रत्यक्षशब्दाभ्यामनु-
 जीवितमन्योन्याश्रयप्रसं तदनुमानमपोजकमतः प्रधानप्रतीतिर्भ्रम इत्यर्थः । एवञ्च
 श्रीधरेण मायावादिमतमनुसृत्य ब्रह्मणः कारणत्वं नातीव सत्य-
 मित्युक्तत्वात्प्रथित्वव्यापकत्वगुणगुणिभावविशेषणविशेष्यभावानामप्य-
 न्योन्याश्रयस्यासादावस्तवत्वमुक्तं तदसङ्गतमिति बोध्यम् ।
 ननु कारणस्वरूपस्य न कार्यस्वरूपसापेक्षतेति कारणस्वरूपं निर्वाचयेव, एवं
 कार्यस्वरूपस्य कारणस्वरूपसापेक्षत्वेऽपि तस्य पाश्चात्यत्वेनोत्पत्तान्न्योन्याश्रयाभावात्-
 त्वरूपमपि निर्वाचय । एवमुभयोः स्वरूपे सिद्धे कालविशेषे स्वरूपद्वयं चावलम्ब्य जाय-

माना कार्यकारणभावप्रतीतिरपि न भ्रमरूपः, न च कालविशेषविचारे पूर्वपश्चाद्भावप्रतीते-
रन्योन्याश्रयग्रस्तत्वादसिद्धिरिति वाच्यम् । तस्या अपि तत्रितयस्वरूपसापेक्षत्वेन तद्-
भावादिति शङ्कायामाह—स्वमेवायन्मवद्वचस्तु यदिति । अयमर्थः । दिक्कालावाका-
शादित्य' इति तत्सृष्टाचन्मते सृष्टादिपरिस्पन्दोपाधिरूपो जन्य एव काल इति गुण-
श्लोभकस्याभावान्महत्त्वोत्पासिरेव तु यदिति यत्स्वैकमुरुरभूतं महत्त्वत्वं तदप्याद्यन्तवचनेन
रूपेणावस्तु, तथा च तद्भावे तद्वत् कालस्याप्यभावेन कारणकार्यरूपसान्मन्यविशेष-
भावाभावात्साध्याद्युपलम्भ उपलभ्यमानं प्रधानमपि भ्रम एवेत्यर्थः । ननु मास्त्वेवं
प्रधानसिद्धिस्तथापि स्वभावादेव परिणाममानं प्रधानं पुरुषः पश्यतीत्यङ्गीकारे प्रत्यक्षादेव
सिद्धावनुमानमप्युपोद्बलकमस्त्विति चेत्त्राह—विकार इत्यादि । विकारो महान्
सः ख्यायमानः प्रत्यगात्मना प्रत्यक्षीक्रियमाणोऽपि प्रत्यगात्मानं विना न निरूप्यो-
ऽस्ति । अयमर्थः । स्वभावादेव परिणामे तत्त्वस्य नित्यत्वात्सदा परिणामः स्यात् ।
तत्र महत्त्वप्रधानयोः कार्यकारणभावो न स्यात् । प्रधानस्य सर्वांशपरिणामे
प्रकृतित्वं चापेयाद् अत आंशिकोऽनित्यश्च परिणामो वाच्यस्तथा सति न केवलस्व-
भावसाध्यः । अत इतराभावात्प्रधानस्य प्रत्यात्मन भ्रम एवेत्यर्थः । अतः
प्रत्यात्मनैव स निरूप्यः । एवं सति स्वतिरिक्तं प्रधानं स पश्यतोत्यत्र मानाभावा-
त्स्वमेव तथा पश्यतीति मन्तव्यम् । तथा सति विकारः स्वेन रूपेणावस्तुभूतः
प्रत्यात्ममदृश्यत्वं तदव्यतिरिक्तत्वं च सत्याद्यन्तवच्चादीपादिवदिति पूर्वोक्तानुमानेन
तस्याऽवस्तुत्वाद्भ्रमत्वमित्यर्थः । ननु क्वं स्वातिरपि यथार्थानुभवं विनाऽप्युपपन्नेति
त्राह—अणुरपीत्यादि । 'अणुरपि स्वांशैस्त्रिसमः' श्रित्सर्वः मूलचिदत्वकः
श्रुत्युक्तीत्या स्यान्न तु जडः । समः सर्वपर्यायः । तथा च मूलचिद्रूपे
ब्रह्मणि तस्य सिद्धत्वाच्च ख्यात्यनुपपत्तिरित्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः आत्म-
वदिति । तथा च यथा 'बहु स्यामि' तोच्छयाऽमिनिस्फुलिङ्गवद्विभागेनात्मनानात्वं
तथा 'प्रजापेये' तीच्छयोर्गेनाभितन्नुवद्विकारोऽपीत्यर्थः । ननु सिद्धं तर्हि ब्रह्मण एवं
विभागान्नानात्वमित्यत आह—न हीत्यादि । एवं ब्रह्मेऽपि सत्यस्य ब्रह्मणो हि
निश्चयेन नानात्वं न । अविद्वान् शुद्धब्रह्मज्ञानरहितः साहचर्यादी यदि ब्रह्मणो
नानात्वं मन्यते तदा छिद्रयोर्ब्रह्मसहचरदस्तु यथा घटाद्युपाधिना विभज्यमानस्याका-
शस्य निरवयवस्य नानात्वं भासते न तु भवति, तद्वद्विच्छया विभज्यमानं ब्रह्माविदुषां
नाना भासते, न तु भवति, विभाजकक्रियाया अभावात् । तद्भावे च स्वरूपनानात्वा-
भावादिति । यदि च व्युच्चरणादेर्द्विभाषात्तादृश श्रावणादुपाधिपूर्वकालोचनं विभाजक-

क्रियामाकलयत्य तथा ब्रह्मस्वरूपनानात्वं मन्यते तदा ज्योतिषोर्वातयोरिवास्तु । यथा
हि विभाजकस्वक्रियाभेदादीपचक्षुर्भेदेन भिद्यमानमपि ज्योतिर्न भिद्यते । यथा
च वायुर्नानादेशेषु वानपि न स्वरूपतो भिद्यते, तथा ब्रह्मापि स्वक्रियया
विभज्यमानं न भिद्यत इत्येवं तावन्भावे दृष्टान्तो । नन्वपि दृष्टान्तद्वयशेधात्
स्वरूपभेद एव पर्यवस्यतीत्यस्वक्या दृष्टान्तान्तरमाह—यथेत्यादि । सुवर्ण
यथा नाना कालेषु नानाऽऽकृतिभिर्विभज्यमानमपि नाना तथा ब्रह्मापीत्यर्थः ।
एतन्न परं विशेषः । दृष्टान्ते परक्रियया विभागो दाप्यन्तिके तु स्वक्रियेति ।
वस्तुनानात्वाभावस्य भयप्राप्य तुल्यः । एतदेवैकादेशे भगवता 'यथा सुवर्णं सुकृतं
पुरस्ता'दिति श्लोकेनोपदिष्टम् । एवं सति पूर्वश्लोकोक्तदृष्टान्ता यथाकमेणोपाधिवादभेद-
वादत्रिशिष्टाद्वैतवादानामेकदेशत्वबोधनार्था इति पर्यवस्यति । अत एव ते भगवता
नोक्ता इति । एवमाश्रयत्वनिर्द्धाराय ब्रह्मणो निर्णीयात्यन्तिकलयस्वरूपबोधनाय
ब्रह्मवादेनैव बन्धमोक्षप्रकारं ब्राह्मणमाह यथेति । धन इति च । तावुत्त्वाऽऽत्यन्तिक-
स्वरूपमाह—यदेवमित्यादि । एवमिति उक्तीत्या । एतेनेति ब्रह्मवाद-
सिद्धेन । तथा च साक्ष्योक्तनित्यानित्यविकजन्यो बन्धच्छेदो ब्रह्मवादे-
पर्यवसानाभावात्त्यात्यन्तिकशब्दवाच्य इति बोधितम् । अग्रे नित्यः प्रत्यस्तु
कालिकावस्थामेदकृतः स्फुट एव । एवञ्च नैमित्तिकमाकृतियोः प्रतिस्फुक्रमरूपा,
आत्यन्तिके तु सुवर्णदृष्टान्तेन नानालनिवारिकाऽऽप्युत्तात्मानुभवोऽवतिष्ठत इति
कथमाहूपात्तरापत्तिनिका च नित्ये च कालस्य वेष्टारूपत्वाच्चैष्टिकीत्येवं चतुर्विधा
क्रियाशक्तिः क्रियाश्रयत्वबोधनायैतदध्यायसमाप्तौ 'कालस्य गतिरीदृशी'ति 'लीला-
कथास्ते कथिता' इतिवदद्विः श्रीशुकैर्निर्हणितेति कारिकार्थः सम्पन्नः । अत्र
माकृतिके पुरुषाच्यक्तयोः स्थितिमुक्त्वा यदात्यन्तिके नानात्वं निवारितं तेन सुभासो-
पनिषच्छ्रावित्ताः प्रलयमक्रिया उपवृत्तिः । तत्र हि प्रृथिव्यायव्यक्तान्तं लयमुत्त्वाऽ-
'व्यक्तमधरं लीयते, अधरं तमसि लीयते, तमः परे देवे एकीभवति दिव्यो देव
एको नारायण' इति कथनेनाक्षरान्तं लयस्तमस्तु पर एकीभाव इति शब्दान्तरेण
ल्येकीभावयोर्विभागाभावेकीभावात्मा स्वरूपभेद इति तेनाऽपि ब्रह्मवादस्यै सिद्धेरिति ।
एतेनात्यन्तिकस्य सृष्ट्याद्विगतक्रियाविलक्षणतत्रितयक्रियात्मकत्वं बोधितमिति
ब्रह्मलक्षणेऽपि न दृष्टान्तः । इदं चाश्रयान्तःपातीत्याश्रयस्यापि लीलात्ममिति न
कापि शङ्कालेशः ॥१६॥१९३॥ एवं त्रिभिन्नतुषोऽध्यायो विचारितः ॥

ज्ञानशक्तिर्द्वितीयेन वैदिकस्त्वयमाश्रयः ॥२०॥
पूर्वोक्तस्तान्त्रिकश्चैव बाह्याभ्यन्तरभेदतः ।
द्वाभ्यां प्रतिष्ठितो राजा वाक् पूर्वत्र नियोजिता ॥२१॥
आत्मानमभये चैव स्थापयित्वाऽभवत्फली ।

(अ. ५) पञ्चमं विचारयन्ति-ज्ञानवाक्तित्वादि । श्रीशुकः स्वयं ब्रह्मभूतः पुराणोक्तं भगवन्तमत्रानुवर्णतेऽभीक्ष्णमित्यनेन स्मारयित्वाऽग्रेऽभेदबोधकं ज्ञानमूर्धादृष्टवान् । अतः प्रकरणस्य त्रितीयेनाध्यायेन ज्ञानशक्तिभगवदीया निरूपिता । नन्वत्राश्रये निरूपणीये ज्ञानशक्तिकथनस्य किं प्रयोजनमत आहुः-वैदिक इत्यादि । वेदे हि ज्ञानान्देव हि कैवल्यं 'ब्रह्म वेदं ब्रह्मैव भवती'त्यादौ ज्ञानमेव तस्यासिद्धसाधनतया श्रानितम् । तच्च भगवद्ब्रह्मैव भवति ज्ञानं स्वत इति जायन्त्येव'वाच्यम् । अत आत्यन्तिकमाप्त्यर्थं सोक्तेत्यर्थः । तर्ह्येनेनैव कार्यसिद्धेः पूर्वोक्ताश्रयकथनस्य किं प्रयोजनमत आहुः-पूर्वोक्त इत्यादि । चः पुनरर्थः । एकादशे पूजाप्रकरणे भगवता 'उभाभ्यां वेदतन्त्राभ्यां मयां तृणयसिद्धय' इति त्रिधा स्वमाप्तिकथनेनोपयथापि तस्या अभिमतत्वाद् द्वाभ्यां बाह्याभ्यन्तरभेदत आश्रये प्रतिष्ठितो राजा उत्करीत्या फली अभवदिति सम्बन्धः । अत एव फलार्थमुपयकथनमित्यर्थः । उपयोम्ये पूर्वोक्त एव शुकस्य मुख्यत्वेनाभिमत इत्याशयनाहुः-वाक् पूर्वत्र नियोजिता । अन्यथा समाप्तौ 'एतत्तैऽभिहित'मिति श्लोकेन राजमश्रानुवादपूर्वकं चेष्टाकथनं नोपसंहरेत्, अतः क्रियाश्रयविचारोऽपि पूर्वोक्तरीत्येव ज्ञानं मुख्यमित्यर्थः ॥२०॥२१॥

नि० क० निवेचनम् । का. २१. निबन्धे चतुर्थेपञ्चमाध्यायात्मकद्वितीयप्रकरणसमाप्तौ पष्ठाध्यायस्य पूर्वार्धात्तार्यकथनार्थं राज्ञः परीक्षितः फलबोधकारिकायां द्वाभ्यां प्रतिष्ठित इत्यादिद्वाभ्यां तान्त्रिकवैदिकहर्याश्रयजगदाश्रयाभ्यां राजा प्रतिष्ठितः तच्छब्दवर्णेन पूर्णसाधनो जात इत्यर्थः । तदेव स्फुटं कथयन्ति वाक् पूर्वत्र नियोजितेति, पूर्वत्र दशलीलाविशिष्टे हरी वाङ् नियोजिता, तस्यै फलत्वेन कीर्तनकर्त्ता जातः, तदुक्तं "वाचं यच्छाग्यबोधज" इत्यनेनास्मानं शुद्धजीवं अभये प्रलयावशेषरूपे जीवस्य प्रवेश-स्थानेश्वरे ब्रह्मणि स्थापयित्वा तदविभक्तमारामनमुपय फली प्राप्तफलोभवदिति, तथा च स्वयमश्वररूपो भूत्वा पुल्लोचनस्य कीर्त्तनेन तदानन्दमनुभूतवानित्यर्थः । क्रियाशक्तिरूपैः प्रत्येजीवस्यान्यथारूपनिवृत्तिरान्तरब्रह्मबोधरूपनिवृत्तिः, आन्तरब्रह्मबोधज्ञानशक्त्या स्वरूपासिरितिद्विविधसाधनरूपाश्रयोक्षरः, पुल्लोचनस्तु फलरूपाश्रय इति तृतीयचतुर्थ-पञ्चमाध्यायेष्वर्थादुक्तं तात्पर्येण ज्ञापितमित्यर्थः ।

आश्रयस्य द्विरूपत्वं साधनेन फलेन च ॥२२॥
साधनं द्विविधं चेति त्रयमर्थोद्दिहादितम् ।
आश्रयस्त्रितयं चाऽग्रे सार्धसतभिरुच्यते ॥२३॥
त्रितयं तत्र यो वेद स साधनपरो भवेत् ।

नन्वत्राश्रयनिरूपणे तस्यासिद्धसाधनकथनस्य किं प्रयोजनमत आहुः-आश्रय-स्थेत्यादि । 'भवद्भिरुच्यते' प्राप्तिं नारायणभुजाश्रयै'रित्यादावाश्रयशब्दः साधने प्रयुज्यते, फले त्वय, अदस्तस्यैवं द्विरूपत्वम् । साधने च ज्ञानात्मकं वैदिकतान्त्रिकभेदेन द्विविधम् । अत अर्थाद्व्युच्छेदोऽपे पञ्चमो । तथा चाभिधेयस्य वस्तुनो वा विचारो कृत्वा इह प्रकरणद्वये त्रयमुक्तमित्यर्थः । एवं त्रिभिः पञ्चमो विचारितः ॥

(अ. ६-७) अत्रिमं विचारयन्ति-आश्रय इत्यादि । अग्रे प्रकरणान्तरे आश्र-यस्त्वदीयलक्षणलक्षितो ज्ञानाश्रयः । त्रितयमाध्यात्मिकादिकं च सार्द्धं सप्तभिरादित आश्रय-तार्थाद्भिरुच्यते इत्यर्थः । कथमुच्यते इत्याकाङ्क्षायां तं प्रकारं सार्द्धेनाहुः-त्रितयमित्यादि ।

का. २३ अगे पष्ठाध्यायार्थोक्ताश्रय इत्यादि, आश्रयोपे पञ्चमाध्यायादमे परीक्षितः फलनिरूपणेनोच्यते, अनेन पष्ठाध्यायस्या 'विद्युषाः साधुवादिन' इत्यन्तानामष्टशोकानां तात्पर्यमुक्तम्, पूर्वोक्ताश्रयद्वयश्रवणेन राजा भगवदाश्रयरूपं फलं प्राप्तमिति, अतः परं सार्धसप्तभिरुच्यतेमाध्यात्मिकादिकत्रितयमुच्यते, पष्ठाध्याये वेदत्रितयं सप्तमाध्याये-ष्टमादिषु त्रिषु त्रिविधा भक्तिः, दशमादिषु त्रिषु त्रिविधं भागवतमिति, एतत् सर्व-माध्यात्मिकादिकत्रितयज्ञापकं तथापि भक्तिभागवतयोर्बेदफलत्वान्न त्रितयज्ञापकत्वेन कथनं किन्तु प्रकरणभेदेन दुष्टभेदेनोच्यते । अथ त्रितयज्ञानस्य प्रयोजनं वदन्तो "जन्मेजयः स्वपितर"- (श्लो-१६) मित्यारभ्य "संहितामध्यगामिना" (श्लो-३५) मित्यन्तस्य तात्पर्यमप्याहुस्त्रितयं तत्र यो वेद स साधनपरो भवेदिति, अत्र पितृमार्गवैरेण सर्पदेहंन मायाकार्यम्, स्वभावतो जन्मजयो न दुष्ट इति ज्ञापनार्थं बृहस्पतिवचनान् निवृत्तिसात्त्वजनं च, तदुक्तं सुतेन "तैषा विष्णो-र्महाभाये"त्यनेन, ततो मायामनसश्च निवृत्त्यर्थमारामवादिप्रवर्तितः श्रवणकीर्तनादिरूप आस-वाद्ः साधनमुक्तम्, ततोमिमेण "न यमे"त्यनेन मायान्तःकार्यस्य सर्वस्य निवृत्तिपूर्वकर्मैरादि-त्येन कीटाारूपमारामवादिनां सुखमुक्तम्, तेनानिद्विभृत्तिपूर्वकं साधनदशाभिमैवेदं फलमिति ज्ञापितम् । ततः साधनस्य फलात्प्राप्तिरित्यज्ञानार्थं "परं परं वैष्णव"मित्यनेन प्राप्तं परमं फलमुक्तम् । ततोदन्ताममतत्प्रावरूपमेतस्यैवान्तरं साधनम्, "ततोतिवादा"मित्यनेन ज्ञापकम् ततोमे स्वगुरुमस्कारस्तदुपकारश्लेषः, तथा चैवं कारिकार्थः, तत्राश्रयप्रकारेषु यो जीवस्त्रितय-माध्यात्मिकादिकं वेद अन्तर्ज्ञानेनापरोक्षं वेदादिशब्दैः परोक्षं वा स साधनपरो भवेत्,

अन्तर्ज्ञानप्रकारस्तु पूर्वमेव निरूपितः ॥२४॥

आध्यात्मिकादित्रितयं यो वेद स आत्माऽधरात्मकः आश्रय इति हि लक्षणः विकल्पपाये, तल्लक्षणकक्षितयत्वेताऽयं भवेत्तदा शुक्लादित्युल्लेखः साधनपरो भवेत् । वाक्यान्वयाधिकरणोक्तरीतिकरणमात्मपर्ययरूपभक्तिप्राक्कथ्येन मुख्य्याधिकारी सन् गुणातीतानि यानि श्रवणादिसाधनानि तत्परो भवेत्, तथा चैतदर्थमेव विभूतिरूपाश्रयपक्षः । एवं भावश्च न सर्वेषां मुक्तानां किं 'सक्षरभिया'मिति सूत्रोक्तोपसदन्यायेन तादृशद्विस्वाविषयाणामेव, 'भगवान् भजता'मितिवाक्यात् । 'यो वेद निहितं गुहाया'मिति तु ज्ञानमार्ग' इति शास्त्रार्थप्रकरणे यदुक्तं तस्याप्यभेदाश्रयः । एवमर्द्धेनैतत्कथनप्रयोजनमुक्तं ज्ञोश्चिद्विस्वरूपज्ञापनायेदं लक्षणमिति । एतादृशस्वरूपज्ञाने किं साधनमित्याहाङ्गायामाहुः-अन्तरित्यादि । पूर्वमिति । आत्यन्तिकलयस्वरूपकथने ॥२२॥२४॥

स्वात्मानमाध्यात्मिकमाधिभौतिकान्त्तु ग्रहकुलाधिदैविके योजनपरो भवेदिति साधनम्, तत्रात्म-वादिभिः प्रवर्तित आत्मवादः पूर्वोक्त एव वेदादिरूपः, तैवैव प्रथमं त्रितयज्ञानम्, ततः तस्याध्यात्मिकरूपस्य सकार्यमायामनसोर्मिधृत्त्या भौतिकान्त्तु ग्रहकरणम्, तत उर्मिराहित्येन सुखमबान्तरफलम्, ततो वैष्णवपरमपदप्राप्तिरूपं परमफलं तदेवाधिदैविके योजनमिति ज्ञेयम्, इदमेव प्रकरणे पञ्चमे स साधनपरो भवेत्, अत्र च 'फलमुक्तां त्रयीं जगद्वि'ति षष्ठाध्या-यात्वेन चोक्तम्, अपरोक्षमन्तस्त्रितयज्ञानप्रकारस्तु पूर्व पञ्चमाध्याये ज्ञाननिरूपणेन, चतुर्था-ध्याय आत्यन्तिकप्रलयनिरूपणेन च निरूपितः । वैदेरेव नान्यशक्तिरखिलं त्रितयज्ञानमत्र प्रकरणे सार्धाध्यायेन निरूपितम्, अत्र पुराणादीनामपि वेदस्याभिप्रायेण त्रयीशिष्टविभेदेने-त्यध्यायद्वयार्थकथनम्, एतदेवोपसंहारे "ब्रह्मजिदं समाख्यातं शालाप्रणयनम्"मित्यनेनोक्तम्, अन्यथा पुराणादीनां वेदत्वाभावे "शालाप्रणयनमिति न वेदेत्, एतच्च च षष्ठाध्यायपूर्वार्थोक्तं पूर्वप्रकरणस्यापि फलत्वेनोपयोगि, अस्यापि प्रकारणस्य फलत्वेनोपयोगि, अत उभयोर्मध्ये निरूपितं, तदेव 'देहलीन्यायसिद्धयर्थ'मित्यनेन तत्त्वदीपे विवृतमेवं तृतीयप्रकरणं विचारितम् ॥

का-२४. अथ स साधनपरो भवेदित्यस्यात्राभिप्रेतार्थान्तरमुच्यते त्रितयवेदान्त्यां पूर्वोक्तफलसाधने तत्पर उद्युक्तो भवेत्, ब्रह्म कार्ययोगादिषु साधनेषु स्तस्यपि वेदादिभि-स्त्रितयवेदा साधनैर्जातसाक्षात्कारोभेदयोगान्तादृशानां पूर्वोक्तफलमात्म्यशुक्लदं साधनं भवेत्, अत्रेव प्रकरणे वेदादिविवाश्रयत्वं पर्यवसन्तति, तदा वेदेदशास्त्राविभागप्रश्नस्तदुपरं चेति, अत्रे चतुर्थपञ्चमप्रकरणार्थनिरूपणे अत परं तु द्विविध इति पादोद्गम्यां प्रकार्याद्वयार्थस्त्रिविधा भक्तिस्त्रिविधं भागवतं चैतिक्रमेण प्रतिज्ञातम्, तथैव चापि विविच्य निरूपितम्, स्कन्धारम्भे तु 'स पञ्चाश्व निर्णीत'इति प्रतिज्ञाय प्रकारत्रयं द्वितीयस्कन्धोक्तमत्र

वेदैरेवाखिलं ज्ञानं तत्साद्धेन निरूपितम् ।

एवं वेदं कृपाविषयस्य ज्ञानमार्गादिस्थेव साधनमिति ज्ञापनायाध्यायार्थमाहुः-वेदैरित्यादि । अत्रारम्भे राजतृप्तान्तर्बोधनं राजो ब्रह्मभावबोधनार्थम् । ततःपद-निरूपणं फलबोधनार्थम् । ततः साधनबोधनं स्वस्य श्रवणाधिकारबोधनाय । एवमर्द्धोऽध्यायः पूर्वस्यैव शेषः । ततः ज्ञानकप्रश्नारभ्य साद्धेन वेदशास्त्राकथनम्, पुराणस्यापि वेदशास्त्रमासीत् शास्त्राप्रणयनमुपमहत्तमम् । पूर्वोऽध्याये ऋकृशावलोक्तयन्तर्-श्रुत्यैवे लब्धत्वां व्यासं सर्वपापः प्रशुच्यते' इति फलमुक्तम् । तद्यजुःसाम्नोरपि

सारथिवा द्वितीयस्कन्धोक्तं 'स्वाश्रयाश्रय' इति पदं 'सर्वान्तरः पर' इतिपदेन तत्त्वदीपे विवृतम्, नैतदेव परमाश्रयद्वयानिगयस्याधिकत्वमत्र सूचयतीति ज्ञापितम्, अत्र 'एवं हृदि'-मिति श्लोकनाश्रयशब्दस्य रूढ्या वृत्त्याधिकरणरूपमर्थमादाय द्वितीयस्कन्धस्यानि शुक्प्रोक्तानि लक्षणानि, अत्र स्कन्धे तृतीयोक्तं द्वे लक्षणभित्ते, तेषां श्रयशब्दस्य लोकप्रसिद्धं सहायत्वेन रक्षकत्वेन चोपजीव्यरूपमर्थमादायैत्युक्तम्, तदुदाहरणं तु 'शब्दार्थरसरूपशुक्ल वेदो वा भगवान् वे'ति दृष्टितम्, लोकस्य खेष्टफलसाधनं वेदः सहायस्तत्फलहेतुसाधननिरूपकत्वाद् निधिमन्त्रत्वेन तस्यापकत्वात् च, भगवांस्तु रक्षकः साधने प्रवृत्तं पालयत्युपद्रवांश्च त्रीकोटीत्येवं द्विषोपजीव्यस्वाश्रयशब्दस्य लोकप्रसिद्धोऽर्थ इत्युक्त्वा 'वेदमेव'त्यादिना तद् विवृतम्, तथा स्वरूपकमानुसरणेन 'शब्दार्थरसरूपशुक्ल वेदो वा भगवान् वा' यथायथं चतुर्थपञ्चमप्रकरणार्थां यत्कथ्यः, तत्रापि स्वाश्रयाश्रय इतिपदेन सर्वान्तरत्वं परत्वं च यदुक्तं तदपि योजनीयं तदैवोपक्रमेण सहैकवाक्यता भवति । अत्र तु त्रिविधा भक्तिस्त्रिविधं भागवतं च प्रकरणद्वयार्थ उक्त इति कथमेकवाक्यतेति वेदत्रेदं प्रतिभाति, दशमस्कन्धपूर्वोऽं समदशाध्यायविवृतौ मुषोधिन्त्यामेकविंशत्यस्कन्धस्य कालस्य निरूपणे 'ऋतवो धर्मं प्रतिष्ठिता मासा धर्मिन्वि'ति निरूपितम्, तेन ऋतुनिरूपणस्यैव धर्मो निरूपितः, मासनिरूपणस्यैव धर्मिनो निरूपितत्वात्तद्वदशाश्रयैरसरूपो भगवान् भक्ती प्रतिष्ठितः, शब्दरसरूपो वेदश्च भागवतेऽज्ञो नोपकमविरोधः, भक्तौ तस्यामेव भगवद्रसानुभवान्द् भागवतस्य च वेदसारत्वाद्, अथ स्वाश्रयाश्रयपदे नाक्षरपुरुषोत्तमभावे वार्थत्वेन निवृत्तितौ किन्तु यावत् किञ्चित् स्वाश्रयाश्रयं तेन भक्त्याश्रितं भागवतं भक्तेराश्रयः, एकभक्त्या गृहीतस्यैव भागवतस्य परमभक्तिजनकत्वात्, भक्तैर्भगवतश्चैकत्वविवक्षया 'सर्वान्तरः पर' इत्यनेन स्वाश्रयाश्रय इतिपदं व्याख्यातम्, तेन भक्तिरन्धो भगवान् सर्वान्तरस्तस्यापि परमं प्रापकं वेदसारं भागवतमिति ज्ञापनान् न कापि कोपि विरोधः, अतः सुल्लैकवाक्यतासम्भवात् सर्वं युक्तमेवेति ॥

त्रयीशिष्टविभेदेन फलयुक्तां त्रयीं जगौ ॥२५॥
 देहलीन्यायसिद्ध्यर्थं शिष्टमेकेन रूपितम् ।
 एवं सप्तभिरध्यायैरुक्तस्त्रिविध आश्रयः ॥२६॥
 अतः परं तु द्विविधस्त्रिविधभिरिहोच्यते ।
 भक्तिमार्गो भागवतं त्रिविधं त्रिविधं यतः ॥२७॥
 आध्यात्मिकादिभेदेन मार्कण्डेये प्रतिष्ठिता ।
 त्रिविधापि हरेर्भक्तिः कर्ममार्गानुसारिणी ॥२८॥
 अत्यन्तनिष्ठाभापना स्ववाक्यकरणाद्धरिः

तुल्यं छन्दस्तस्य सर्वत्र तौल्यादित्याशयेनाहुः—फलयुक्तां त्रयीमित्यादिपादद्वयम् ।
 शिष्टमिति अथवादि ॥२५॥२६॥ एवं सार्द्धंस्त्रिभिस्तृतीयप्रकरणार्थ उक्तः ॥

(अ. ८) अग्रिमं प्रकरणद्वयविभागमाहुः—अतः परमित्यादिसपादेन ।
 आध्यात्मिकादिभेदेनेति पदमग्रेऽपि युज्यते । प्रथमप्रकरणीयाध्यायवार्थमाहुः—मार्कण्डेयेत्यादिपदभिः । प्रथमस्यार्थमाहुः—सपादाध्यात्म-कर्ममार्गानुसारिणीति ।
 उपासनामार्गानुसारिणी । ‘अग्न्यर्कगुरुविमान्मन्त्रैश्चयन्सन्त्ययोर्हृति’मिति । ‘आराध-
 यन् हृषीकेश’मिति च तत्र वाक्यात् ॥२७॥२८॥ अत्यन्तनिष्ठापकृत्ये हेतुं गमकं चाहुः—
 स्ववाक्येत्यादिपादद्वयेन । स्ववाक्यकरणादिति तपोबोधकवाक्यकरणात् । एवं
 प्रथमाध्यायार्थ उक्तः ।

का-२९. अग्रे नवमाध्यायार्थोक्तां तादृशस्यैत्यादिनिश्चय इत्यन्तं तादृश्यस्य
 पूर्वोक्तरूपस्य मार्कण्डेयस्य भगवद्भूते वरः परः द्वितीयविष्णुरूपः तज्ज्ञापकमाहुः चिन्त्येत्यादि,
 तादृशो हरिर्यसिन् वरानुभवे मार्कण्डेयं तथा दृष्ट्वा मायादुःखनिवर्तककृष्णाभजेन द्रक्ष्यति
 परं भक्त्या न प्राप्तः । किन्तु “सकृद् दक्षित”मित्यत्र नारदस्यैव रूपया प्राप्तोतोत्तरेषु,
 अत्र क्लेशेन भगवन्देववर्णं ज्ञाननिष्ठास्वज्ञापकमित्यर्थः ।

नमः श्रीवल्लभाचार्यपादज्ञानखरोचिषे ।

पदीयस्मृतिरेवाशु हृदयान्धयविनाशिनी ॥

इति श्रीमद्गुरुचरणप्रसादेन यथामविभाताः प्रकीर्णस्थानेष्वर्थाः लिखिताः ।

॥ इति निबन्धकठिनंशाश्रिवेचनं समाप्तम् ॥

स्वयं तुष्टः समायातस्तादृशस्य वरः परः ॥२९॥
 अचिन्त्यानन्तशक्तिर्हि यस्मिन् द्रष्टा हरिस्तथा ।
 भक्त्या न सिद्ध इति स तत्रैवान्तरधीरयत ॥३०॥
 क्लेशेन भगवन्मार्गो द्वितीय इति निश्चयः ।
 योऽधिकारी भक्तिमार्गे तत्प्रसादमवाप्य हि ॥३१॥
 भक्तश्चेत्सर्ववित्सुस्थस्तृतीयः स उदाहृतः ।
 भक्तियुक्तो महादेवस्तां दातुं शक्योऽतथा ॥३२॥
 भक्तस्य यावान् सङ्क्लेशः स मायैत्यपि रूपितम् ।

(अ. ९.) द्वितीयस्याहुः—तादृशस्येत्यादि । परः को वेत्याकाङ्क्षायां
 तज्ज्ञापकमाहुः—अचिन्त्येत्यादि ।

हरिस्तथेति । हरिरेव पर इत्यर्थः । तर्हि तिरोधानं कुतः कृतवानित्याकाङ्क्षा-
 यामाहुः—भक्त्येत्यादि । तत्रैवेति मायायाव । ‘नाहं प्रकाश’ इतिगीतावाक्यात् ।
 द्वितीय इति आध्यात्मिको ज्ञानमार्गीयः । एवं द्वितीयाध्यायार्थ उक्तः ॥

(अ. १०) तृतीयस्याहुः—य इत्यादि । एतेन ‘नारायणपरः प्रशान्तात्मा
 तृतीय’ इत्युक्तं भवति । नन्वत्र शिवदर्शनमभ्यादाद्युपनिबन्धनस्य किं प्रयोजनमत आहुः—
 ‘भक्तियुक्त इत्यादि । एतेन महादेवे गुरुत्वबोधनाय तदुपनिबन्धनमित्युक्तम् । ननु
 द्वितीयनिष्ठायां क्लेशनिरूपणस्य किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायामाहुः—तथेत्यादि ।
 उपास्यानारम्भे ‘स वा अस्मत्कुलोपपन्नः कल्पेऽस्मिन्नि’त्यादिना प्रलयाभावदशा-
 बोधनात्, समाप्तो च ‘मायवैभवमि’त्युक्त्या ‘एतत्केचिद्विद्वांसो मायासंसृतिमात्मनः ।
 अनायावर्तितं नृणां कादाचित्कं प्रचक्षत’ इत्यनेन मार्कण्डेयाभूतं मायवैभवम्
 एतत्केचिद्विद्वांसो नृणामनायावर्तितं कादाचित्कमात्मनो मायासंसृतिं
 प्रचक्षत इति सङ्ग्रहस्य मायासंसृतित्ववादिनामविद्वत्प्रथमनाशकस्य सङ्क्लेशो
 यः स मायेति निरूपितम् । तथा च तद्वोधनाय तदुपनिबन्धनमित्यर्थः ।
 एतस्या निष्ठायाः स्वरूपमाहुः—भक्त्याद्यादि, इयमिति । माहात्म्यज्ञानपूर्वकं
 भगवच्छरणगमनं सर्ववैशाराहित्यं भक्तमाहात्म्यपूर्वकं तेषु भक्तिः, एकान्तभक्त्या
 पयैतन्मित्येवं रूपा । एवं चात्र कर्ममार्गानुसारिणी भक्तिरुभयविधनिष्ठा विभाजिकेति

भक्तिमार्गानुसारेण भक्तिनिष्ठेयमीरिता ॥३३॥

चतुर्थस्स्वाश्रयोऽयं वै श्रीमद्भागवतमन्तिमम् ।

पुरुषाराधनं तत्र सूर्यात्कालमपेक्ष्य हि ॥३४॥

श्रीभागवतवाक्येन कथां तत्र च योजयेत् ।

आधिदैविकमाख्यातमेतद्भागवतं मतम् ॥३५॥

कथाः सर्वा इहोदिष्टा आधिभौतिकमुच्यते ।

यथा लोकाः प्रवर्त्तन्ते कथयन्ति परस्परम् ॥३६॥

तत्पूर्वकत्वं निष्ठाद्यस्य सिद्धयतीत्येवं वैविध्यम् । आश्रयरूपा भक्तिस्तु तिष्ठत्योऽतिरिक्ता स्वतन्त्रभक्तिरूपा । तत्रत एवैतन्नित्यमेदवेदनमिति हृदिऋत्य प्रकरणशुषसंहरन्ति-चतुर्थे इत्यादि । अयमिति एतादृशदशासाधनानुक्कलो भगवान् ॥३३॥ एवं तृतीयाध्यायो विचारितः ।

(अ. ११-१२-१३.) अतः परं पादोन्नैः पञ्चभिः पञ्चमंप्रकरणं विचारयन्ति-श्रीभागवतमन्तिममिति । तस्य कथं वैविध्यं कथं चाश्रयत्वमित्याकाङ्क्षायामाहुः-पुरुषेत्यादि । तत्र तेषु त्रिषु त्रिषु रूपेषु श्रीभागवतवाक्येन सूर्यात्कालमपेक्ष्य पुरुषाराधनं तत्राराधने कथाश्च योजयेद् एतदाधिदैविकमाख्यातम्, सूर्योपाधिककालसापेक्षपुरुषाराधनपूर्वककथायोग आधिदैविकरूपमित्यर्थः । अत्राद्भ्य-माद्याध्यायोक्तम्, अङ्गी तु 'अयेममर्थं पृच्छाम' इति वाक्यात्प्राप्यते, सर्वश्रवणाङ्गं पृच्छाम इति तत्रार्थव्यक्तैः । यथाराधनशुभ्यतामधिषेयाद् इममध्यायं श्रीभागवतारम्भ एवोपनिबन्धीयादिति । द्वितीयं तद्वहति केवलकथास्वरूपं, द्वितीयाध्याये तथैव सिद्धत्वात् । तृतीयं तु स्फुटमेव । तदपि तृतीयेऽध्याये दानदानमाहात्म्यपाठादिमाहात्म्यकथनेन फलेष्वरूपधन्याधिकारिवोधनात् । तेनैकमेव श्रीभागवतं कार्यद्रयकरणेन त्रिविधम्, पुराणत्वादिकसुभयविच्छेदकमिति त्रिरूपता । आश्रयरूपं सर्ववेदान्तसारत्वेन ज्ञातरि परमानन्दजनकम् । तदेतद् 'सर्ववेदान्तसारं हि श्रीभागवतमिष्यते । तद्रसादृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद्रतिः क्वचिद्'

श्रीभागवतमेवाऽत्र केवलं चेत्समाश्रितम् ।

गङ्गावद्भरिवच्चैव शम्भुवच्च फलिष्यति ॥३७॥

शुद्ध्या फलप्रदानेन भक्तिदानेन च स्वयम् ।

अत्र प्रतिष्ठितं सर्वं तेनाऽयं विद्युतः क्वचित् ॥३८॥

श्रीमद्भागवतं समस्तनिगमन्यायैकतत्त्वात्मकं

नानाभ्रान्तितमःकपाटपिहितं सन्तुष्टये सर्वथा ।

नाऽभूदित्यवगत्य निश्चितपदैरुहोत्तदीपाकृतिं ।

श्रीमद्भागवतप्रदीपमधुना चक्रे मुदा वल्लभः ॥३९॥

इत्यनेनोक्तम् । एतादृशस्यैवाधिकारिणः पूर्वाक्तभेदत्रयस्यैतदतिरिक्तत्वेन वेदनादिति । चतुर्णां फलबोधनेन तृतीयस्याश्रयत्वं निगमयितुमाहुः-श्रीभागवतमित्यादि । अत्र गङ्गावच्छुद्धयति प्रथमस्य, हरिवत्सायुज्यदानेनेति द्वितीयस्य, शम्भुवद्भक्तिदानेनेति तृतीयस्य । इदं च 'निम्नगानामि'ति श्लोके दृष्टान्तशुभत्वेन बोधितम् । च पुनः स्वयं फलिष्यति । तत्र हेतुः, अत्र प्रतिष्ठितं सर्वमिति । तदेतदुक्तं 'श्रीमद्भागवतं पुराणममल'मिति श्लोके । तेन हेतुनायं प्रकारः क्वचिद्विद्युतः 'वह्नीपीठे'त्यत्र 'गीतकीर्ति'पत्रेन तद्विषयश्लोकेन च विद्युत इत्यर्थः ॥३८॥ एतादृशं च श्रीभागवतस्वरूपमात्मनानुभावप्रकटनहृदयस्याज्ञया प्रादुर्भावात् । श्रीमद्भाचार्यचरणैरेवावगतमिति बोधनायाहुः श्रीमद्भागवतमित्यादि । एतेना'त्रिभ्रकारतत्त्वार्थदिपमि'ति टीकायां यदुक्तं तदेतन्मूलकमिति ज्ञापितम् ॥३९॥ शेषमुक्तानार्थम् ।

॥ इतिश्रीद्वादशस्कन्धयोजना ॥

एवं हृदिस्थाच्युतनोदनेन

श्रीवल्लभाचार्यनखेन्दुकान्त्या ।

ध्यानं गते कर्म्मि स्वपयेऽय्म्

या जो जना सा लिखिता मयाऽत्र ॥१॥

यथा भागवतस्याऽर्थो हृदिस्थाच्युतनोदनात् ।
 तथा निरूपितः सद्भिः क्षमा कार्या ममोपरि ॥४०॥
 युक्तं वा यदि वायुक्तं मया यद्यन्निरूपितम् ।
 तत्सर्वं कृष्णचरणे वाक्पुष्पं विनिवेदितम् ॥४१॥
 इति श्रीवल्लभदीक्षितविरचिते तत्त्वदीपनिबन्धे
 श्रीभागवतार्थप्रकरणे द्वादशस्कन्धविवरणं

सम्पूर्णम् ।

ज्ञमन्तु तद्यज्ञिसितं मयाऽन्यथा
 स्वकर्मदोषादधमेन मौढ्यात् ।
 कृपालवोऽस्मत्प्रभवः सदा मां
 स्वदासदास्ये च नियोजयन्तु ॥२॥

इति श्रीमत्प्रभुचरणैः श्रीपुररुषोत्तमस्य दर्शिता पञ्चमस्कन्धनिबन्ध-

शोषादारभ्य द्वादशस्कन्धनिबन्धान्तयोजना
 समाप्त ।

द्वादशः स्कन्धः समाप्तः

इति श्रीवल्लभदीक्षितविरचिते

तत्त्वार्थदीपनिबन्धे

श्रीभागवतार्थप्रकरणं

समाप्तम् ।

अध्यायत्रयप्रक्षिप्तत्वसमर्थनम् ।

॥ अथ श्रीमदाचार्यचरणाः ॥

कथामात्रं हरेर्वाच्यं सर्वत्रैतन्न केचन । कथां वक्तुं भागवतीं क्वचित् सिद्धायलौकिकीषु ॥१॥
 योजयित्वा लाघुनिका अध्यायत्रितयं जगुः । शब्दार्थसङ्गतीनां हि स्पष्टा तत्र विरुद्धता ॥२॥
 लोकप्रसिद्धैस्तच्चार्थि कथञ्चिद् रूप्यते स्फुटम् ॥ २३ ॥

पूर्वाध्यायान्ते 'कीमार्ं जहत्तुर्धन' इत्युक्तं, "ततश्च पौगण्डवयः श्रितां व्रजे
 वभ्रुवतुस्तां पशुपालसम्मतान्" नित्येव सन्दर्भस्तथापि भगवच्चरितमिव वत्सापहरणं
 पशुपुत्रगेण प्रतिददामि तां कथामाश्रित्यापासुरवर्षं ब्रह्मस्तुतिं च पूर्वापरयोः निवेश्य
 कौतुकलौला भगवतः प्रदर्शिता, लोका हि लौकिके कौतुकिनो भवन्ति, तत्र तु
 प्रथमध्याये लौलामाह सुविस्तराय । अयासुरस्य च वधं युक्तिव्यापि स्वयुक्तिः ॥१॥

॥ अथ श्रीप्रभुचरणाः ॥

अद्रोऽध्यायवर्षं प्रक्षिप्तमित्युक्तम् । तत्र 'कीमार्ं जहत्तुः' 'ततश्च पौगण्डवयः
 श्रिता' इति युक्तं सन्दर्भं इति । मध्येन्यकथा 'त्वेवं विहारी' रित्यस्य 'ततश्च पौगण्डवयः'
 इत्यस्य च वृत्ता नोक्तेति ज्ञायते । अन्यथेतदध्यायत्रयानन्तरमेव कीमार्त्यागं बवेत् ।
 किञ्च, 'पौगण्डे परिकीर्तिर्न' मितिवाक्यात् पूर्वाध्याय एव तस्यासंस्ततश्च पौगण्डवयः श्रिता' इति
 वाक्यं विरुद्धं स्यात्, तदनर्थकं च । तुनीयाध्यायान्ते 'प्येवं विहारी' रिति श्लोकोद्युना कैश्चि-
 द्युल्लेखेषु निरूप्यते, तदप्रामाणिकमितीतोपि तथार्थं तेषां ज्ञेयम् । (१०-३०-१७) भगवत्प्रिया-
 कृतलीलासुनकृतिष्वेतदनुकृत्यभावात् । तुनीयस्कन्धे (अ. २) श्रीमद्ब्रह्मवैद्विदशेष्कन्धे (अ. १२)
 सूतेन चैतत्तथाया अकथमाश्च 'न भारतीमिह सूचोपपश्यन्वयः' च कथिन्मे मनसो युगा गतिः ।
 न मे हृदीकापि पतन्त्यसत्यं २-६-३३ इति ब्रह्मवाक्यविरोधश्च । ईश्वरे तत्त्वेन ज्ञानवत्-
 सत्प्रीक्षाकृतमहानर्थक्यत्वात्, 'भयान् कल्पयिकल्पेषु न विद्युष्यति कर्हिचि' इति २-९-३६
 भगवद्वाक्यविरोधश्च । 'तोकेन जीवहरणमि'त्यादिनिरूपकस्य संदेशत्वेन ज्ञानवत्साहाय्याहर्ष-
 स्यासम्भवाच्च । आचार्यैः प्रसिद्धिमात्रेण विवृतमित्यस्मागिल्लेखितम् ।

(अथ गो. श्रीपुररुषोत्तमचरणाः)

(कं. १. १.) अथ प्रशिक्षाध्यायान् विवरिषयो मतान्तरमाहुः कथामात्रमित्यादि-
 सार्थेन, प्रक्षिप्तत्वं समर्थयितुमाहुः शब्दार्थैर्त्यर्थं, व्याख्याने हेतुमाहुर्लोकिकैर्त्यर्थेन, प्रक्षिप्तत्वं
 समर्थयन्ति पूर्वाध्यायेत्यादि, एतेषां मूलमाहुस्तथापीत्यादि, एतेवेवोक्तं पाशोचरसङ्घे,
 'तत्त्वभूतकृष्णेनाहिरूपोधासुरो हतः । भगिनीभ्रातृनिवेशी तस्य ब्रह्मगतिः कृता ॥१॥
 मोचिता वसतत्याला'तद्वद्व्यादन्तकालयात् । तस्मिन्नहनि मध्याह्ने सवत्सान् वत्सपालकान् ॥२॥
 विधिर्नहार सम्पद्यन् प्रभावं गोपकृष्णम् । पञ्चाहापूरिते वर्षे वत्सान् पालन् प्रजापतिः ॥३॥
 सर्वानाचष्ट वैकुण्ठं तुष्टाय नवमीदिने । कृष्णमायाहताः सर्वे क्षणार्धे मेनिर्मकाः ॥४॥
 इति, अत्राचार्यैः सन्दर्भविरोधरूपमेकमेव दृग्गुण्युक्तम्, टिप्पण्यां स्वन्यायपि दृग्गणानि प्रक्षिप्तत्व-
 मापकान्युक्तानि तानि ततोवगन्तव्यानि, किञ्चानैव प्रथमाध्याये भगवतोपासुरसुखप्रवेशत-

इशनेन “तदा धनच्छदादेव भयाद्वाहेति युक्तुः”, जहृषुर्षे च कंसायाः कौणपास्त्वध्वान्धना” इत्यनेन कंसादीनां हर्ष उक्तस्तदुत्तरं तदैव तगोशेन तद्देशेनमप्यर्थादेव सिद्धम्, एवं यति यदधेरिष्टवधोत्तरं नारदेन कंसायोक्तं “याभ्यां ते पुरुषा हता” इति तद् विरुध्यते, अथस्य वकीकानुज्ञस्य यो वधस्तस्य स्वयमेव दर्शनात्, किञ्च द्वितीयाध्याये ‘स्नेहस्तुतस्तन्पयः-सुधासवं मत्वा परं ब्रह्म सुतानपाययनिःयुक्तं तदप्यग्निमया रसलील्या विरुध्यते, किञ्च तदानीं वयस्यानां पञ्चवार्षिकत्वेन तत्तुल्ये भग्द्वेषेण स्तनानामसङ्गतिश्च, श्रीगोपेश्वरास्तु न चाशेषदेशेऽप्यध्यायत्रयस्य भागवतीयत्वप्रसिद्धेरस्य प्रसिद्धत्वसमम्भवीतिवाङ्मयां तदुक्तं विकल्प्य दूषयन्ति ‘तथा हि सा प्रसिद्धिः किं पामराणां पण्डितानां वा सर्वेषां वा ? नाथः, तत्प्रसिद्धिमात्रेणैष्टसिद्धेरभावात्, अन्यथा देहात्मयुद्धेरपि प्रामाण्यापत्तेः, न च यावत्प्रवहणहृत् तस्या अपि प्रामाण्ये दोषाभाव इति वाच्यः किं तावता? तत्राख्येण देहात्मनो भेदेवधारिते तस्या असङ्गतत्ववदेतेषामपि पूर्वीकद्वेषणेनाभागवतीयत्वेवधारिते प्रसिद्धेरपयो-जकत्वस्यैव निश्चयात्, न द्वितीयः, सर्वेषां पण्डितानां तथा प्रसिद्धौ भावाभावात्, अन्यथा तद्विषयकविवादादप्यसमसङ्गात्, सर्वलोकाप्रसिद्धस्याभ्यस्त विवादककलितत्वादर्शनात्, कतिपयेषां तथा प्रसिद्ध्या भागवतीयस्वाङ्गीकारेण्येषां तदभावेन तद्वैपरीत्यस्यापि वक्तुं शक्यत्वात्, न च बहूनां प्रसिद्ध्या तथास्वाङ्गीकार एव युक्त इति वाच्यं, ‘शतमप्यन्यानां न पश्यती’-तिन्यायेन तेषां सर्वेषामप्यनभिज्ञत्वात्, दूषणागम एव ‘बहूनामनुग्रहस्य न्याय्यत्वादन्यथा देहात्मदाद्वन्द्यायापत्तिः, एतेनैव तृतीयोपि निरस्तो ज्ञेयः। न च पापप्रसिद्ध्या तेषां भागवतीयत्वं शक्यशङ्कं, तत्र लीलामात्रकथनदर्शनात्, यदि हि ‘गीतासारं प्रथम्यामि सर्वगोचरोत्तरं कृष्णो यमजुनाया’ हेत्यसिपुराणे गीतासारस्य गमयदुकरत्वं लिङ्गदुष्कम्, तथा चेदत्र किञ्चिद्भागवतीयत्वलिङ्गदर्शनं स्यात् तदाङ्गीकर्तुं शक्येनापि, अतो भागवतीयत्वव्योपधकस्य लिङ्गावकायैरभावात् तथास्वाङ्गीकारो न युक्त एव। न च दूषणोद्धारे सति कथमयुक्तो न च तेषामनुज्ञायैस्त्वम्, तथा हि कौमारत्यागोचरं पुनः कौमारलीलाकथनस्य चमत्कारविशेषाधानार्थत्वेन सम्दर्भविरोधस्य परिहासश्च लीलानुकरणस्य च भावानुरोधिल्लेनतद्भावाभावेनतदनुकरणमात्रस्यापि शक्यवचनत्वादेवमन्येषामपि परिहृतप्रायश्चेति वाच्यं, तथा सति कौमारलीलाकथनस्य चमत्कारविशेषाधानार्थत्वं हरिवंशविष्णुपुराणब्रह्मवैवर्तपुराणां लीलानां तथासावत् तौष्येन तासामपि कथनप्रसङ्गात् तासु न तथास्त्वन्त्रैव तथात्वमित्यत्र विनिगम-काभावादनुकरणभावहेतुभूतताडम्भाभावस्य गो हेतुस्तस्याप्यवकायवचनत्वेन तत्रापि समाध्य-भावात्, भावाभावरूपेण हेतुना तत्कल्प एतलीलाभावस्यैव निश्चयाच्च, न च श्रीभरुणे-तद्व्याख्यानादितेषां भागवतीयत्वेनाङ्गीकार उचित इति वाच्यं, प्रथमस्कन्धे द्वित्रिंशत्त्रितयं च यस्य विलसच्छाला” इति कथयतेतेषां बहिर्भावस्य सूचितत्वाद्, एवं ‘मज्जतः-फेनावल्म्वने’पुद्बुदोक्तिसूतोच्योरेतदभावसमाधानस्य कर्तुमशक्यत्वाच्च, तस्मात् ‘उद्भाजा-ज्जनेरेतदङ्गीकरणम्, यत्तु नोपदेशेन’ ‘बधश्च वत्सवक्योस्तथाप्युत्तरमोगिनः, वत्सवोरो ब्रह्ममोहो ब्रह्मणः स्तवनें हरे’रित्युक्तसौस्तत्रापि पादत्रयमनवधानंविजुम्भितनेवोपदेशितानां दोषणामनयादित्वाद्, अत आधुनिकानां वृन्दावनीयभूतीनां यस्तत्र भागवतीयत्वप्रहः स श्रद्धाज्ञानमूलक एवेति सुधीभारवधेयम् ॥

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः

अध्यायत्रयप्रक्षिप्तत्वसमर्थनम् ।

गो.श्रीमत्कल्याणरायनयश्रीगोपेश्वरजीविरचितम् ।

(दशमस्य नवत्यध्यायेषु अ. १२-१३-१४ अध्यायानां प्रक्षिप्तत्वम्)

प्रतिक्षणोद्भवद्वायवीशुपोमिभिरास्तुतः ।

त्रजस्त्रिरस्यगोविः स जयत्यस्मदीश्वरः ॥१॥

अत्र तावद्घामुरवध्रममोहनतत्कृतत्वात्दिनिरूपकदशमस्कन्धगताध्याय-त्रितयं पूर्वापराध्यायकथितकथासङ्गत्यनुपपत्त्या कथमपि श्रीशुकोक्तिपिति वक्तुं न युक्तमनः प्रक्षिप्तमेवेदं न श्रीभागवतीयमिति श्रीरहस्यविदो वदन्त्यस्त्वभ्युत्तरणाः । यदिह गदितं केनचित्, केचिदध्यायत्रयं न मन्यन्ते तत्र कारणं न पश्यामः सर्वत्रापि देशेवैतिल्यामत्सदादिति । तत् तस्यैव गत्स्य शोभते पूर्वोत्तराध्याय-कथासङ्गत्यनुपपत्तेरेव तत्र कारणत्वात्, तथा हि पूर्वमेवं विहारेः कौमारैः कौमारं जहृषुर्षेण इत्यनेन कौमारविहारपरिसमाप्तिनिरूपणादप्ये क्रमप्राप्तं पीगण्डलीलानामेव निरूपणं न्याय्यं न पुनरध्यायत्रयेण कौमारलीलानामेव, तस्मादसङ्गतिरस्या-दृष्टव्यानिव । तथा च दुःप्रतिज्ञेयं ग्रथिमन्वम् । किञ्च, न वयमध्यायत्रयं न मन्यामहे अत एवैतद्विवरणमस्मन्मते विद्योतेतः तर्हि षड्कृद्भां प्रभातमङ्गीकृतत्वात् तस्येति चेत्, न, उदीरितपीत्या भागवतीपलायोगेन प्रसिद्धिमात्मानुरोधेन विवृतस्यापि तस्य प्रसिद्धत्वात्तेस्त्वदभिमताभावात्, न चाशेषदेशेऽपि भागवतीयत्वप्रसिद्धेरस्य प्रसिद्धत्वसमम्भवीतिवाच्यं, विकल्पाक्षमत्वात्, तथा हि, तथा प्रसिद्धिः किं पामराणामभिधिस्तता पण्डितानां वा, आहोस्वत् सर्वेषां ? नाथः, तत्प्रसिद्धिमात्रेण समीहितसिद्धेरभावात्, अन्यथा देहात्मवददस्यापि दूषपरिहृतत्वप्रसङ्गात्, पामराणा-सामत्वस्यसिद्धेस्तत्रापि प्रमाणयितुं शक्यत्वात्, न द्वितीयः, सर्वेषां तेषां तत्सन्धि-मानाभावात्, अन्यथा तद्विषयकविवादादप्यसमसङ्गात्, न हि सर्वलोकाप्रसिद्धयैः क्वचिद् विवादास्पदीभवितुमवकल्पते, कतिपयानां तथा प्रसिद्ध्या भागवतीयत्व-प्रसाधनेऽन्येषां तेषां तद्भावेनैतद्वैपरीत्यमसङ्गत्याप्यशक्यभङ्गत्वात्, ननु तथास्त्वस्य बहूनां भागवतीयत्वं मेनिरंजो नैवमिति चेत्, न, शतमप्यन्यानां न पश्यतीतिन्यायात् । नन्वत्र विनिगमनाविह इति चेत्,

न, पूर्वोक्तवक्ष्यमाणयुक्तिभिः प्रक्षिप्तत्वस्यैवाभ्युपगमनीयत्वेन तदभावात्, न तृतीयः पक्षद्वयोक्तदूषणानतिवर्चितत्वात् । ननु पाषोत्तरखण्डेसेतङ्गीलाप्रसिद्धि-सद्भावान् न कोपि दोष इति चेन्न न, पुराणान्तरेतत्पक्षेदेर्भागवतीयत्वागमकत्वात् । अन्यथाप्यपुराणप्रसिद्धकथान्तरस्याप्यत्र प्रक्षेपे तथास्तस्यावर्जनीयत्वापातात्, यच्च चोक्तं तदीयस्वसम्प्रदायानङ्गीकारप्रामाण्येन तस्याप्रामाण्यं चेदन्मसम्प्रदायाङ्गीकार-प्रामाण्येन विपरीतं कथं न स्यादिति, तदपि न, उक्तयुक्त्या भागवतीयत्वाभ्युपगमो-तदीयस्वसम्प्रदायानङ्गीकारप्रामाण्येन तदप्रामाण्यस्यैव सुस्थिरत्वात्, यदपि पुरतः पुनः कौमारलीलावर्णने चमत्कारविशेषस्मरणेनेति न पुनरुक्तिरितिसमाधानम्, तदप्य-नवधानविजृम्भितम्, सर्वलीलास्वपि चमत्कारस्मरणावतारस्य सुवचत्वेन सर्वासाधेय-तासां पुनरुपन्यासप्रसङ्गात्, भगवद्गीलागमस्यैवातिमान्विचित्रत्वात्, अथैव चमत्कार-स्फुरणे नियामकाभावात्, न च रसालेश एव निवामक इतिवाच्यम्, तस्यापि सर्वलीलासाधारण्यात्, असद्गतार्थकथने श्रीशुकस्य वक्तृदोषापाताच्च । अपि च प्रथमिमाणं तत्तत्स्थित्यलीलानुकरणवद् यदेतदनुकरणाभावाः, सोपि प्रक्षिप्तत्वमेव प्रत्यापयति । न च यावद्गीलानुकरणनियमाभावाः, भावभरणाविधेवतस्तत्तदनु-करणस्यानिराकरणीयत्वात् तस्य चात्रापि भावात्, अन्यथान्यत्रापि क्वचित् तद-भावापत्तेः । अन्यच्च च 'पौगण्डे परिकीर्तितमि'तिवचनात् पूर्वोक्त्या एवाभियतत्वात् पौगण्डव्यसः पुनस्ततश्च पौगण्डव्यःश्रिता'विरत्येन तच्छूयणोक्तैर्युक्तत्वादेत-द्वचनस्याव्यतिवचनवैयर्थ्यापत्तिः । ब्रह्मणो भगवद्भूजिज्यत्वेन तत्परीक्षणासामञ्-स्यापरिहारात् । भगवत्प्रसादात्समोहाभावाभ्युपगमे च 'द्वितीयस्कन्धे' (अ. ७-२७) ब्रह्मणा 'तौकेन जीवहरणं यदुद्धृष्टकियासैमासिकस्य च पदा शकटोपहृतः । यद्विज्ञानान्त-रगतेन दिविस्पृशोर्वा उन्मूलनं सितरथाऽर्जुनयोर्नै भान्य'मितिपुर्णप्रथमाहात्म्योपवर्णनेन विद्वद्भक्तस्य तस्य भगवति धाष्टर्यकरणानीचित्वं कथं निरसनीयम्, न च लीलायां स्वान्यभिमायानुसारिकायैकरणेन(न)किञ्चिदनुचितमित्तिवाच्यम्, अपराधजनकं कर्षणि-प्रभोः सेवकप्रवर्तनाभिमायासम्भवात् । ननु नापराधजनकत्वस्य प्रम्भभिप्रायैयैवापराध-वाधकत्वादतो युक्तमेव धाष्टर्यमिति चेत्, सत्यम्, अभिमायपूर्वकधाष्टर्यं नापराधोपि, प्रकृते धाष्टर्यस्याभिमायपूर्वकताबोधकाभावेन तदनीचित्वस्य वज्रलेपत्वात्, तत्कल्प-नायाश्च विपरीतकल्पनाभिमाय अनुत्पानात्, किञ्च तृतीयस्कन्धे श्रीमद्ब्रह्मवैर्लीला-न्तराणि वदद्भिर्द्वादशस्कन्धे सूतेन चोक्तसर्वलीलाः कथयतेतदभिधानाच्च, 'द्वारिंशत् विशतं च यस्य विलसच्छाखा' इत्यध्यायसङ्ख्यानिरूपकोत्सवैतद-

ध्यायत्रयप्रक्षिप्ततायाः श्रीभारभिमायविषयत्वाच्च । तथा च तदुक्तिमान्ब्रह्मलो-रनालोचितपूर्वापरत्रयस्यानुचितमेवाप्रक्षिप्तत्वप्रसाधनमुपेक्षणीयं प्रेक्षासाधनैरिति को-विदा एव विदाङ्कुर्वन्वित्येया दिक् ।

श्रीगोपेश्वरस्य स्वाचार्यचरणान्नेकचेतसः ।

कृतिरेषा कृतिषामसकृच्च जायतां मुदे ॥१॥

इति श्रीमत्कल्याणारायतनयश्रीगोपेश्वरकृत-
मध्यायत्रयप्रक्षिप्तत्वसमर्थनम् ॥

श्रीसुकुन्दरायो जयति ।

श्रीमदाचार्यश्रीमत्सुकुचरणी जयतः ।

श्रीमद्गोस्वामिश्रीगिरिधरविरचित्ताध्यायत्रयप्रक्षिप्तत्वसमर्थनम् ।

भवति भवमहाविधर्गोपदं वै सुमुक्षो-

रमिभवति कवीशान् यत्प्रसादाद् विमुक्तः ।

प्रभवति निजलीलाभेमभावाः स्वकानां

दुतमतिजयति माकु रायशब्दान् सुकुन्दः ॥ १ ॥

वन्दे राधारसाभोषिसुअलकालानिधिम् ।

श्रीमद्गोपाललालं तं गोपीकेश्वरैर्षकम् ॥ २ ॥

यत्प्रसादाद् विमुक्तोपि वादिकुम्भोद्भगवन्तुम् ।

प्रभवेत्सुद्धीमदाचार्यचरणान् नौमि तान् सदा ॥ ३ ॥

येषां कृपाकटाक्षेण स्वमागेशो भवेन्नरः ।

भक्त्या श्रीमद्विद्वलेशान् प्रभुस्तान् नौमि सर्वदा ॥ ४ ॥

यत्पादाङ्गरसास्वादमवाप्य विगतैपणः ।

भवन्ति भक्तास्ताच्च श्रीमद्यदुनाथान् नमाम्यहम् ॥ ५ ॥

श्रीमद्गोस्वामिगोपालसुतो गिरिधरः सुधीः ।

करोति त्रितयाध्यायप्रक्षेपे युक्तिसञ्चयम् ॥ ६ ॥

शिष्यणीस्थमकाशस्थनिजवुद्धिस्ययुक्तयः ।

सद्ब्रह्मामि यथावुद्धिं ग्रन्थानालोच्य सर्वशः ॥ ७ ॥

अर्वाचां तु मत्तं सय्यगनुवाच यथामति ।

दूष्यते युक्तिचयैर्वालोषाय तदुहाय ॥ ८ ॥

अथ श्रीमदाचार्यमतानभिज्ञानां कलिकालजनितकालिकात्मकलिलान्तःकरणानां मतमादावन्नयते । तथा हि । यदेतदध्यायत्रयं 'पूतना लोकबालव्री'त्यादिश्लोकपादकं च 'य एतपूतनामोक्ष'मित्यादिश्लोकं च केचिद् वैष्णवा न मन्मन्ते । तत्र कारणं न पश्यामः । सर्वत्रापि देशे ऐतिहासप्रस्तात् । वासनाभाष्यसम्बन्धोक्तिविद्वत्काम-
धेनुशुकमनोहरारामहंसमियादिषु प्राचीनाधुनिकटीकासुव्याख्यातत्वात् । तदीयस्-
सम्प्रदायानङ्गीकारमामाणं चेदन्यसम्प्रदायाङ्गीकारे तद्विपरीतं कथं न स्यात् । न च सुरभिदादिशब्दत्रयमिदादिशब्दः क्वचित् न प्रयुज्यते इतिवाच्यं 'यन् न ब्रजन्ययभिदो रचनासुवादात् ष्णन्ति येन्यविषयाः कुकथा मतित्री'रितितीय-
स्कन्धवचनात् । न च तत्र तत्तु लीलानुवादे सा लीला नास्ति श्रीपरम्पामिभिस्तत्र तस्या अपि दृशितत्वात् । अत एव 'द्वात्रिंशत्तत्र च यस्य विलसत्काखा' इतिपद्ये खण्डितमध्यायत्रितयं यदिदमेवेति न तन्मतम् । न च तत् त्रयमन्यत्र कुत्रापि खण्डयितव्यम् । सर्वत्राध्यायसङ्ख्याश्लोकसहितटीकासङ्गतात् । ततो द्वात्रिं-
शच् च प्रथम शतानि चेति द्वन्द्वैक्यमेव तद्विद्वंसितमनिर्णयवहुलस्यानवस्थापिया त्रित एव पर्यवसानात् । क्वचित्प्रलानालभन्त इतिन्यायेन । अन्यथा त्रिंशतीत्येव स्यात् । न चासुरशुक्तेः सिद्धान्तविरुद्धत्वात् तदीर्यम् । श्रीकृष्णमारितेषु सर्वेषु तेषु दृष्टत्वात् । 'आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि, माममाप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधर्मा गति'मित्यादिविषयि मां श्रीकृष्णलक्षणमयाप्यैव न तु प्राप्येत्याध-
ङ्गीकारात् । न च पुराणान्तराप्रसिद्धत्वेन सा लीला न सम्भावनीया, पाशोचर-
खण्डे स्पष्टत्वात् । श्रीद्वन्द्वात्वे तत्तद्गीलास्यानानि च प्रसिद्धानि । न च भक्तगति-
सादृश्येन तेषां तस्यास्तिरसम्भ्रसा शुद्धभक्तैस्तादृशमाप्तेःनुपादेष्यत्वात्, 'नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ते प्रसादमि'त्यादिवचनशतैः । न च पूतनाया जननीसार्धं जननी-
माहात्म्यविद्विर्ज्ञेयम्, 'सद्देवादिव पूतनापी'तिज्ञाप्येन जननीवेगमात्रतस्तत्कारणात् तस्या एव महिमाविषयव्यञ्जनात् । तत्र तत्र वैरपि व्यञ्जितः सिद्धान्तेन दौषः परिहृयते । न च गोपीशब्दमात्रान्त्रैः सर्वासामेव तासां स्तन्यपाने रासाद्यनुपपत्तिर्नैतन्व्या, तासां श्रीयशोदासमवयस्यात्वात् तन्मेयसीनां तु तत्समवयस्कत्वात्, तस्मान् न कश्चिद् विरोधः । तद्वक्तानामेव परममाहात्म्यमेवात्र सेत्स्यति । अतस्तदनुभवः श्रीभगवदनुग्रहेणैव सम्पद्यत इति तन्मृगोप्यत्वमेवेत्येवं तादृशवचनमुपपद्यत इत्यलमिति विस्तरं गेति कति-
चिद् वैष्णवाभासाः प्रलयेषु । तदनुसारिवैष्णवतोषणीसारकारोपि प्रलयाप ।

तत्र पूर्वभेददङ्गीकारे कारणं न पश्याम' इति यदुक्तं तत्र श्रीमदाचार्यचरणैः

सुबोधिण्यां तत्रैव 'भोजयिता लाघुनिका अध्यायत्रितयं जगुः । शब्दार्थसङ्कीर्णानां हि स्पष्टा तत्र विरुद्धता । लोकप्रसिद्धेस्तत्रापि कथञ्चिद् रूपेण स्फुटम् । पूर्वध्यायान्ते 'कौमारं जहतुर्वैज' इत्युक्तम्, 'ततश्च पौण्ड्रवयःश्रितां जने वधवतुस्तौ पशुपालसम्पत्ता' त्रित्येव सन्दर्भे' इत्युक्तम् । तत्र 'कौमारं जहतु' स्तत्र पौण्ड्रवयःश्रिता'विति सङ्कीर्णं, मध्ये 'कचिद् वनाशये'त्यादिकथा'त्वेवं विहार'रित्यस्य 'ततश्च पौण्ड्रवयः' इत्यस्य च मध्ये वक्तु नोकेति ज्ञायते । अन्यथैतदध्यायत्रयानन्तरमेव कौमारस्यामं भवेत् । पूर्वध्यायान्ते न वदेत् । यच्च चापुन्यैरत्रैर्विहारैरित्यादिपद्यमपि पठन्ते तत्र पुरतः पुनः कौमारलीला वर्णनस्मृतिविशेषचमत्काराभिनयेनापि पुनरुक्तारित्तये'मिति जल्पितम्, तत्रोच्यते, तत्र त्रयाध्यायार्कालोचनैव विहारैरितिपद्यस्य सर्वसम्पत्ता । एवं च तद्वद्वय-
सम्बन्धिनीलीलात्यागकथने पुनस्तत्कथने न वक्तुः प्रमादापत्तिः । न हि पूर्णानां तेषां पूर्वपरभावविस्मरणम्, न वा चमत्काराभिधायिलीलाविस्मरणम्, येन पूर्वं तत्प्रकरणे न वदेयुः पश्चाच्च च वदेयुः । न चैवमपीयं लीला न वक्तव्या पश्चाच्च चमत्कारातिशयविशिष्टसंस्पृष्टा कथनं सम्भवति, क्वचित्त्वात् । अध्यायत्रयान्तपि पुन-
रुक्तिं सम्भवति 'यत् कौमारं इतिक्रिन्व'पौण्ड्रे परिकीर्तित'मिति (अ. १२ श्लो. ४१) पौण्ड्रायलीलाकथनेन कौमारत्यागकथनस्य प्रमादाप्रसिद्धत्वात् । अत एव तृतीया-
ध्यायान्ते 'प्येवं विहार'रिति श्लोकोपुना केचित् पुस्तकेषु लिख्यन्ते तदमायणिकमितीतोपि तेषां तथात्वं ज्ञेय'मिति श्रीमत्प्रभुचरणैरुक्तम् । किञ्च 'पौण्ड्रे परिकीर्तितमि'ति-
वाचयत् पूर्वध्याय एव तथापि स्तत्र पौण्ड्रवयःश्रिता'वितिवाक्यं विरुद्धं स्यादत्रैकं च । किञ्च भगवत्प्राकृतलीलानुक्रियेषु एतद्गीलानुक्रियाभावात् तृतीयस्कन्धे श्रीमदुद्-
बैर्द्वाशस्कन्धे श्रीसूतेन च श्रीमद्भागवतानुक्रमणिकायां तत्कथाया अकथनाच्च च । यत् तु चैतन्यमनचन्द्रिकायां द्वादशस्कन्धेनुक्रमणिकाव्याख्याने लक्ष्मीनाथपण्डितेन स्कं. १२-१२-२९ 'दृगणवर्तते निष्येयस्त्वथैव बकवत्सयो'रित्यादेरन्तरमयासुरासुरीभो न लिखित इति केचिदत्र विस्मयन्ते, तदसत्, यमलाजुनभङ्गस्य पुराणान्तरै लिखितस्य कथमलिलनमनाकरोत्, तेन क्विन्न भयति, सदस्यः श्रुतत्वात् भवत्येव तद्वद्वापि, 'अपि गृध्रे वदामि ते' 'ब्रूयुः किन्मथस्य क्षिप्यस्ये'त्यादौ पूर्वमेव व्याख्यातं चेत्तुक्तम्, तत् तु रभससंचलितमेव । द्वितीयस्कन्धे 'यद् रिङ्गान्तरगतेन दिविसृष्टोर्वा उन्मूलनं क्षिप्रया-
जुनयोने भाव्य'मितिव्रजवाक्ये, दशमे 'क्वचिन्धैयङ्गवत्सैन्ने मन्ना शब्द उल्लखले, गच्छन्नुनयोर्भेद्ये वाहुःशं तावपातय'दिति गोवर्धनोद्धारणानन्तरं गोपवाक्ये, 'चद्गन्ध्या सन्ना कचिद् तन्वी तत्र उल्लखले' इति भगवत्पियालीलानुक्रुतौ च

यमलाजुनलीलासत्त्वेन न केवलं द्वादशेनुक्रमणिकायामभावेन नासत्त्वं प्रतीयते, अपामुरलीलायास्तु सर्वत्रानुवादेनाभागवतीयसमेवेति बुद्धयस्व । तृतीये 'कीमारी' दर्शयन् चोष्टां प्रेक्षणीयां त्रजोक्तसाध, स्वद्विष हसन् मुग्धबालसिंहालोक-
कन ' इति कीमारीलीलासामान्यत एवोक्तेति न ततो यमलाजुनभङ्गनादिवचनमिति । किञ्च मृतपौराणिकैस्तु अतमात्रं श्रीगोपैः श्रीत्रजनमणीभिः साक्षादनुभ्रतया तदुक्तौ तदनुकरणे च भगवद्भरविशिष्टब्रह्मवाक्येषु सत्त्वेन तस्या असत्त्वेन च श्रीभागवतीयलभूदुखललीलायास्तस्याश्चाभागवतीयमिति दिक् । 'न भारती मेद्द सुपोपलक्ष्यते न वै क्वचिन् मे मनसो मृषा गतिः, न मे हपीकाणि पतन्त्यसत्पथ ' इति ब्रह्मवाक्यविरोधश्च, ईश्वरे तत्त्वेन ज्ञानवत्स्वतपरीक्षाकृतै-
र्मैदाननर्थरूपत्वात् । 'भवान् कल्पविकल्पेषु न विमुहति कर्हिचि'दिति भगवद्वाक्यविरोधश्च । न चारिम्द कल्पविकल्पेष्वेव मोहाभावरूपपरस्य भगवता दृक्तादित्वात्पथ, तथा सति तावदेव सिद्धौ कदाचित्प्रदीपादानवैष्यात् । 'ज्ञानं परमशुद्धं मे यद् विज्ञानसमन्वितपर, सरहस्यं तदज्ञं च गृहाण गदितं मया, यावानहं यथाभावो यद्गुणकर्षकः, तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते यदनुग्रहाद्' इति वाक्यानुरोधात् तस्यायेश्याप्रमाणिकत्वात् । न हि भगवदनुग्रहेण यावद्भगवद्विषयज्ञानवतो ज्ञानगो मोहः सम्भवति । अन्यथा परमाप्तस्य पुरुषोत्तमस्यानाप्तत्वं स्यादिति बुद्धयस्व । 'तोकेन जीवहरण'मित्यादिरूपकस्य तद्वैश्वरत्वेन ज्ञानवत्सत्तादृश्याष्टस्यसम्भवाच्च । किञ्च, श्रीरामानुजाचार्यैः शिष्यपुत्रैः शुकेशिष्यानामध्यायत्रयं प्रसिद्धमित्येव प्रसिद्धमित्येव, अथापि प्रायशो व्यवहितमणसात् वैश्वि-
द्याख्यातत्वाच्च व्याख्यायते, तत्रायैनामुरवशात्मकं चरित्रमनुवर्धते क्वचिदि-
त्यादिकोत्तरम् । तत्र 'व्यासायै'रित्येव व्यासमठः शुकप्रसिषीणोटीकाकारौ रामा-
नुजाचार्यैः शिष्यकुलनाथपुत्रास्तस्यमृतिभिरित्यर्थः । किञ्च लदीयसम्प्रदायाचार्यैर्मार्जैः प्राचीनपुस्तकेषु 'नैपां पाठ' इत्युक्त्वा त्यक्तं इति । तदनुसारिभिर्विजयभञ्जैरप्य-
ध्यायत्रयस्याव्याख्यातत्वेन त्यागकारणज्ञानार्थं त एव पयनयोगार्हा इत्याचार्यमत-
दुर्हा चर्चयात्म्यम् । किञ्च भवध्यायत्रयशेषकारणत्वे स्थिते यद्ज्ञानं तत् स्वाचार्यमन्वा-
चार्यमतमवस्य पृथङ्मतसारणेनेवेति, माध्वाचार्याणां स्वाचार्यत्वेनाविकर्षणं तु लदीयसम्प्रदायायैर्जीवनामककृततत्त्वसन्दर्भं माध्वाचार्यमकटितभागवतव्याख्यानकारण-
निरूपणे श्रीमाध्वाचार्यपरमैरित्युक्तौ तदीयविद्याभूषणरचितटिप्पण्यां श्रीमाध्वाचार्यच-
रणैरित्यादरसूचकबहुत्वनिर्देशः स्वपूर्वाचार्यादिति वाच्यमित्युक्तम् । यच्च सर्वदेशप्रसि-

द्ध्याध्यायत्रयाङ्गीकारस्तत्र सा सर्वदेशप्रसिद्धिः पामराणां वा पण्डितानां वा सर्वेषां वा. नादिमः, तस्य सिद्धिमात्रेणैष्टिद्वैरभावात् । अन्यथा देशात्पुष्टैरपि प्रामाण्यं स्यात् । न च यावद्भगवद्भारं तादृशपुष्टैरपि प्रामाण्यं दोषाभाव इतिवाच्यं, किमेतावता शास्त्रेण देशात्मनो भेदेऽवधारिते तस्या असङ्गतत्ववदेतेषामपि पूर्वोक्तै-
र्वैश्याणैश्चाभागवतीयत्वे प्रसिद्धेप्रयोजकत्वस्यैव निश्चयात् । न द्वितीयः, सर्वेषां पण्डितानां तथाप्रसिद्धौ मानाभावात् । सर्वेषामभूतस्यायस्य विवादविषयत्वाद्देशान्त, वासनाभाष्यसम्प्रभोक्तिविद्वाक्कामधेनुशुकमनोहरा परमरसंभियादिकतृणां तथाप्रसिद्ध्या श्रीभागवतीयलाङ्गीकारे रामानुजाचार्यानुयायिभ्योसिरूपव्याख्यातत्वेन वीररायवैरपि प्रसिद्धत्वकथनेन माध्वाचार्यैर्विजयभञ्जद्विभिरैतदध्यायत्रयाव्याख्यानेनान्येषां तद-
भावेन तद्वैरैरित्येवमिदं वक्तुं शक्यत्वात् । न चात्यप्रसिद्धशेषेभ्यो बहुप्रसिद्धैर्याय-
स्त्वात् तथाङ्गीकार एव युक्तमिति वाच्यम् । 'शुभमप्यन्वा न पश्यन्ती'तिन्यायेन तेषां सर्वेषामप्यनभिज्ञत्वात् । किञ्चोदाहृतग्रन्थव्याख्यानत्वेन श्रद्धाजाख्याग्रहः तर्हि तस्यपिवादिदं निविशेपं ब्रह्म भवद्भिरप्यङ्गीकार्यं स्यात् । तथा सति वैष्णवत्वमतभङ्गः, दूषणाभाव एव बहूनामनुग्रहस्य न्याय्यत्वात् । एतेन तृतीयोपि निरस्तः । अन्यथा देशात्पुष्ट्यान्वादायपत्तिः । यद्यपि सम्प्रदायग्रहणग्रहणरूपसमापेक्षत्वात् न तत्त्वगोष्ठी-
सामयिकम् । श्रीभागवतमवर्तैकानां श्रौतैरध्यासशुक्लचरणानामेव सम्प्रदायित्वम् । तेषा-
मुक्तौ पूर्वापरविरोधादुपेयम् । तन्मुखतः श्रुतस्य तत्सम्प्रदायविदः सूतस्यानुक्रमणीरूपोक्तौ चाननुवादित्वाच्च । श्रीगोवर्धनेन्द्रणानन्तरं श्रीनन्दरायान् प्रति सर्वेषां गोपब्रह्मनां लीलानुवादीकावभावाच्च । किञ्चास्मत्सम्प्रदायाचार्याणां ज्ञनरत्नानां लीलानुकरणे एतद्वीलानुवादीकावभावाच्च । न हि सामकीनयोप्याकीणसम्प्रदायश्रद्धार्थत्वात्तयो भवितुमर्हति किन्तुपदितानामनुरोधिन एव सर्वे । किञ्च 'श्रीब्रह्मस्वतनका वैष्णवा-
क्षितिपावनाः, चत्वारस्तो कलौ भाव्या मद्यदायमवर्तैका' इति पात्रवचसा सम्प्रदाय-
मवर्तकत्वेनोदिता रामानुजाचार्यैरित्युक्त्वा मिनित्वाकाः यथाक्रमशः श्र्यादिसत्त्वाः । तात्पर्याताच्छब्दमितिन्यायेन श्र्यादित्वेन व्यपदेशः । एते वैष्णवाः सम्प्रदायमवर्तैका भाव्या, एतेः सम्प्रदायमवर्तैकैरैतदनुरोधिभिश्च प्रसिद्धत्वकथनेन न त्वेष्टिसिद्धिः । न हि कश्चेन्नैतसम्प्रदायातिरिक्तो वैष्णवः सम्प्रदायवान् भवतीतिसम्प्रदायविद एव वदन्ति । किञ्च तत्सम्प्रदायमवर्तैकैर्माध्वाचार्यैरेतदध्यायत्रयप्रदर्शयि नाङ्गीकृत इति प्रसिद्धत्वं त्वयाप्युक्तं कार्यं सर्वथा, अन्यथा तवानाप्तत्वं स्यात् । एवं सति यन् 'सामकीन-
सम्प्रदायेऽध्यायत्रयं श्रीभागवतस्यमित्यङ्गीकरणं' तच्च च देवानां मियत्वेनेवेति दिक् ।

यदपि सुरभिदादिशब्दवदप्रभिदादिशब्दमयोगाभाव इति शक्यमुपपाद्य
 'यन् ब्रजन्त्यप्रभितो रचनानुवादाच्छृण्वन्नि येन्यविषयाः कुक्या
 मतिर्ग्री'रितितृतीयरक्तपथयेऽपासुरहन्वथैकाग्रभिच्छब्दमयोग इति समापेरुद्धायनं
 तदपि निरुद्धमनोरमम् । अत्र भगवत्कथातिरिक्तपापजनककथाश्रवणशीलानां
 वैकुण्ठगमनाभावप्रतिपादनं भगवत्कथापराणां तु वैकुण्ठगमनोपपादनार्थानुगुणकं
 भगवतः पापनाशकार्यायभिच्छब्दस्य विशेषणत्वोपादनं सम्यगिति न भवदर्थसिद्धिः ।
 किञ्च सर्वत्राप्यशब्दस्य पापपाचकत्वमेव । तथा च श्रीभागवतपट्टस्कन्धे 'एतेनैव
 ब्रह्मो नोस्य कृतं स्यादयनिष्कृतम्, यदा नारायणायेति जगद् चतुरभरम्, सर्वेषामप्यघ-
 वतामिदमेव मुनिष्कृतम्, नामव्यहारणं विष्णोर्धैतस्तच्छिषया मतिः, न निष्कृतैरुदितै-
 ब्रह्मवादिभिस्तथा विशुद्धशक्त्ययवान् ब्रतदितिः, यथा हरेर्नामपदैरुद्धातैस्तदुत्पद्य-
 श्लोकगुणोपलम्भकम्, अथैनं मापनयत कृतान्नेपायनिष्कृतम्, यदसौ भगवन्नाम
 श्रियमाणः समग्रहीत' 'चक्षुषि चर्मन् शतचन्द्र छादय द्विषामयोनां हर पापचक्षुषाय,
 यन् नो भयं ग्रहैभ्योभूत् केतुभ्यो नृभ्य एव च, सरोस्रुपेभ्यो दंष्ट्रिभ्यो भूतैर्भयोभ्य
 एव चे'त्यादिषु । नवमस्कन्धे च 'किन्त्वहं न भुवं यास्ये नरा मर्यादाजन्त्य-
 प'मितिश्रीगङ्गोक्तौ भगीरथ आह 'साधवो न्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकपावनाः,
 हन्त्येवं तेऽसृजन्त तेषास्ते ब्रह्मभिदिरि'त्यत्राप्यभिच्छब्दस्य पापपदैकाश्रय इती
 विशेषणतासम्बन्धेनान्वयस्य सर्वेषामिच्छत्वेन श्रीभागवते न कुत्रापि भवदीप्सित-
 तादृशशब्दसम्भव इतिदिक् । एतेनैतद्विषयकपापपदैकवाचकशब्दः भावार्थितितोपणो-
 सारोक्तमपास्तम् । यच्च चापि न च तत्र तत्रानुवादे सा लीला नास्तीत्याशङ्क्य
 श्रीभरैस्त्र तत्र तस्या अपि दर्शितत्वादित्युक्तम्, तत्रोच्यते, किं लीलादिसत्त्वे श्रीधर-
 व्याख्यानानुरोपेन प्रामाण्यमुक्त श्रीभागवते तत्त्वसंज्ञानुवादेन । अथे श्रीधर-
 व्याख्यातश्लोकादेरप्रामाण्यं स्यात् । द्वितीये तु द्वितीयस्कन्धे ब्रह्मणा, तृतीये
 श्रीमद्ब्रह्मवैदशने गोवन्देनीन्द्राणोत्तरं गोपेन्द्रादशे सतेन च तदनुवादे सा
 नास्तीति निश्चीयते । एवं च श्रीभागवत एवाभावेन श्रीधरस्वामिनः कुत
 आनीय दर्शयेयुः येन तदभिमतेशिद्धिः । किञ्च यद्यपि श्रीभरैरुक्तास्तन्मातरो
 यथा 'किञ्च गानो नु मातर' इत्यत्र 'तन्मातर' इति वस्ताहरणलीलाभि-
 प्रायेण बहुवचनं 'गोगीपिकास्तन्मातरोऽभव'श्चित्ति व्याख्यातम्, तथापि वस्ताहरणली-
 लायां गोगीपिकास्तन्मातरोऽभवमित्येवावतार्थोपेभिप्रियायविशिष्टोपादानेनावस्तविकं
 योतितम् । अत्र व्याख्याने तु नाभिः सह रासाधनुपपत्तिरतिवक्ष्यते । इतोप्यध्याय-

त्रयाणां मत्सित्तत्वं बोधयम् । (अ-६. श्लो० ३६) केचित्तु तु तन्मातरो वसुदेवपत्न्य
 इत्याहुः । तदपि दोषकवलितम्, तन्मातृपदस्य वसुदेवतीव्याख्याने बीजाभावः । तस्यस-
 इत्यावाभावात् । अग्रिमश्लोके 'प्रिष्ठु गानो नु मातर' इतिगोसमभिष्याहारेण वसुदेव-
 स्त्रीणां ग्रहीतुमशक्त्यसादिति । एवं बीभागवतस्य व्याख्यानस्य दुष्टत्वेन 'पूतना
 लोकवाल्मीक्यादिश्लोकपदक्रमपि प्रथिमं त्रयम्, पूर्वापरसङ्गतिविरोधाच्च' च, तत्र 'दृष्ट-
 गानस्य देहस्य भ्रुमशङ्क्योक्तोत्तरं भयं, उचित्तः कृष्णमित्युक्तस्यपाहतापाम्नः । 'कटभूमस्य
 सौरभ्यपत्राय व्रजोक्तस', किमिदं कुत एवेति वदन्तो व्रजमाययु'रितिसिद्धेः ।
 एवं च 'दृष्टमान'इत्यादिश्लोकस्य 'कटभूमस्य सौरभ्य'मित्यस्य च शब्दार्थो सङ्गती,
 मध्ये (अ-६-३५) 'पूतना लोकवाल्मीक्यादिश्लोका नोक्ता इतिज्ञायते, यथेते वक्तु-
 रभाष्टाः स्युस्तीर्हि 'नदः स्वपुत्रमादाय पोष्यातस्तुदराधीः, मूर्धन्यपत्राय पर्याप्तं मुदं लेभे
 कुरूद्वे'त्यनन्तरं पठेयुः । अत एव श्रीमदाचार्यचरणं 'रत्र पद श्लोका विगीताः
 सर्वत्र दृश्यन्ते तेप्यध्यायत्रयवद् व्याख्यायाः स्पष्टत्वाच्च चोपेक्ष्यन्त'
 इत्युक्तम् । एतेन पूर्वापरसङ्गत्यभावो यथाध्यायस्य तथात्रापि बोध्यमितिभ्रमितम् ।
 किञ्च 'य एतन् पूतनागोक्ष'मितिपट्टाध्यायचरमश्लोकं व्याख्याय 'इदमपि
 विगीतमिति केचि'दित्युक्तं श्रीमदाचार्यचरणैः । तत्र 'केचि'त्स्यदोपादानेन
 स्वमते विगीतत्वाभावां बोधितः । विगीते बीजानुपपत्त्यात् । तस्माच्छ्रीधरेण सर्वसंसा-
 रणतया प्राप्ताध्यायत्रयव्याख्यानां कृतम् । एतदनुरोधेनैव 'विषजलाप्यप'दितिपथे
 व्याख्यानसादाध्यायुरा'दिति व्याख्यातम् । रादान्तस्तु 'व्यालाः सर्पाः कालोयसुदर्शना-
 दयः राक्षसाः तुषावदिदयः नैषामेकत्रज्ञावः तस्मादपि रक्षिता' इति श्रीमदाचार्य-
 चरणव्याख्यातम् । इह आदिशब्देन कालीयपरिक्रमताः सर्पाः प्राणाः कालीयनिः-
 सारणे तेषामपि निःसारणात् । 'नात्र स्थेयं त्वया सर्वं सुद्वंदं याहि मा चिरम्,
 स्वज्ञात्यपत्यदाराद्वो गोनुभिरेष्यतां नदी'तिभगवत्वाक्यात् । 'सकलवृद्धतुष्टुत्रो
 द्वीपमभ्येर्जगाम' हेतिश्रीशुकवाक्याच्च' च । सामान्यत एव 'कृता
 नवतिरध्याया दशमे कृष्णकोर्षेय' इत्युक्तम् । अत एव प्रथमस्कन्धे
 'द्वाविंशत्रिंशत् च यस्य विलसच्छास्ता'इत्युक्तम् । किञ्च प्रथमस्कन्ध-
 भारम्भटीकायां 'सम्प्रदायानुरोपेन पीर्वापर्यानुसारतः, श्रीभागवतभावाथैदीपिके
 प्रत्यनय' इतिश्रीधरचरणे कोटिद्वयं सम्प्रदायानुरोधः पूर्वापरविरोधाभावश्च । तत्र
 सम्प्रदायो बोधवैवादीनां तदनुरोपेन 'कृता नवतिरध्याया' इतिमत्त्व्यायश्लोककथनम् ।
 'विषजलाप्यप'दितिपथे 'कालराक्षसादध्यायुरा'दिति व्याख्याने च । पूर्वापरविरोधा-
 भावेन तु 'द्वाविंशत्रिंशत् च'तिकथनमितिदिक् । अत एव 'तन्मातर' इत्यत्र 'वस्ता-

हरणलीलाभिप्रायेणे'त्यत्राभिप्रायवदोपादानमितिप्रागुपपादिनम् । यत् तु "द्वात्रिंशच्च
च त्रयश्च शतानि चेति द्वन्द्वैकमेव विवक्षितम्, अनिर्णीतबहुत्वस्यानवस्थाभियां त्रित्व
एव पर्यसात्तात् कपिञ्जलालभनन्यायेन, अन्यथा त्रिशतीत्यात् । न च पात्रादित्यं कल्प्यम्,
लोकप्रसिद्धत्रिशतीतिप्रयोगविरोधात् । न च शीघ्रि च तानि शतानि त्रिशतानीतिविदोषण-
विशेष्यसमाप्त इतिवाच्यं, 'दिवसकृत्व्ये सङ्ग्राह्याय' (तत्पुरुषे संज्ञायामेव दिग्माल्ये समस्येते
इति) नियमेन तद्भावात् 'दितिविगतं तद्भावात् । द्वात्रिंशच्च च त्रयश्च शतानि चेतिद्वन्द्वे
'अल्पाचूत्तर'मितिसूत्रेण'द्वन्द्वेयी' तिवृत्तौ च तत्र भाष्यकारैः पठितेन सङ्ख्यायां अल्पी-
यस्या'इतिवाकित्तेन त्रिशब्दपूर्वनिपातापत्तिः, त्रिशतीति दोषापादानं तु सुधैव त्रितकृत्यानि
शतानि त्रिशतानीति मध्यपदलोपिसमाप्ते तद्भावात् । न च कैयटकृते प्रत्याख्याने दोषः
शाकप्रियः पार्थिव इत्यादिवारणाय तत्र च न स्यात्प्रत्यक्षमितिशब्दरत्ने उक्तम् । अत एव
'द्विगोलेयनपत्य' इति सूत्रे, भाष्ये 'त्रैविद्य' इत्यत्र त्रयवयां विद्यामधीत'
इत्युक्तम् । ततो द्वात्रिंशच्च च त्रिशतं च द्वात्रिंशत्त्रिशतम् 'सङ्ख्यायां अल्पीयस्या'
इत्यनेन द्वात्रिंशत्त्रिशतपूर्वनिपातः । कपिञ्जलाधिकरणेन त्रित्वे पर्यसानमित्युक्तिस्तु
वैयाकरणसिद्धान्तापर्यालोचनमूलिकैव । उक्तौ उपसर्जनपदार्थेषु सङ्ख्यासामान्या-
भावात्पर्यव नत्सिद्धान्तसिद्धत्वात् न शतपदेन त्रित्वबोधः । कपिञ्जलालभनन्याये
तु वृत्त्यभावाद्द्विसावाहुल्यमयाच्च न बहुत्वस्य त्रित्वे पर्यसानम् । किञ्च स्वरूप-
सूत्रे भाष्ये एकश्च एकश्च द्वौ च द्वौ चेत्येवरीत्यैकदोषमाहाङ्क्य सङ्ख्याया
अर्थासम्प्रत्ययादन्यपदार्थात् च नैकदोष इति समाहितम् । एवं चात्र द्वन्द्वोपि
नेति तद्व्याख्यानात्स्वद्रीत्येदमप्यसाधु । द्वात्रिंशद्वीतिपदेन तु न लोके व्यवहारः,
पञ्चत्रिंशदिति तद्व्याख्यातारस्वद्रीत्येदमप्यसाधु, द्वास्पष्टान्यपदार्थेतिदिक् । यदपि
प्रसिद्धत्वेनेव कल्प्यते तत्र प्रसिद्धिवशादेव पञ्चत्रिंशत्त्रयत्याभिसिद्धौ सङ्ख्या-
करणवैयर्थ्यापितात् । सङ्ख्याकरणं हि शिष्यबोधाय, तत्र शिक्षणायां शतत्रयसङ्ख्या-
ज्ञाने प्रसिद्धिपरतन्त्रत्वं चेत् तदा गणना सुधैव स्यात् । अपरश्च गणनाकरणं हि
बोधसौकर्याय । तत् तु द्वात्रिंशच्च त्रिशतं चेतिविग्रह एवेति । भवदुक्तेस्तु
हिंस्रत्वेन न श्रीधराभिधत्स्वाद्यो विग्रह इति दिक् । केचित् तु नेदं श्रीधरपर्य
किन्तु प्राचां श्रीधरेणोपन्यस्तं पूर्वापरविरोधादित्याहुः, तत्रापि श्रीधरेर-
भौषादेवोपन्यस्तम्, नो चेत् कथमुपन्यसेत् । एतेन श्रीधरमेतेषु प्रसिद्धत्वं
सिद्धम् । किञ्च न वयं श्रीधराभिमतया प्रसिद्धत्वमङ्गीकृत्य, किन्त-
नेकदोषद्वैतत्वेन तत्त्वमङ्गीकृत्य । यथापि न चासुरमुक्तेः सिद्धान्त-
नतिरिद्धत्वात् तदीयमिति सङ्ख्याद्वयात् श्रीकृष्णमारितेषु सर्वेषु दृष्टत्वात्

'आसुरां योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनो'त्यादिगीतावाक्यस्युपन्यस्य मां श्रीकृष्ण-
लक्षणमापार्थैव न तु प्राप्यैत्यङ्गीकारादित्युक्तम्, तत्र भवदोषाचार्यमतानुयायिपि-
र्विजयभक्तैः 'यातुथान्यपि सा स्वर्गमवाप जननीगति'मित्यादिश्लोके अपि स्वर्गं
गर्हितं स्वर्गं नरकमित्यर्थः । 'अपिः पदार्थसम्भावनान्वयसर्गगर्हासङ्घर्षे'प्यतिपाणिनिः ।
(१-४-५-६) जने ये नीचास्तेर्गम्यत इतिजननीगतिः स्पष्टोच्योर्थैः । यद्वा जनन्या इ गति
त्रिचित्रगतिं योग्यतामुत्तमित्यर्थः । 'इत्रिचित्रे स्मरे पुमा'नितियादवः । अनेनापि पूतनाया
नरकगतिः उच्येत्याः, स्वर्गगतिरितिमुचितम् । नु सविकल्पार्थं गतिं योग्यत्येतद्विशेषः ।
यद्वाऽनु योग्यतासदृशार्थं 'नु पृच्छार्थां विकल्पे च पश्चात् सादृश्ययोर'न्वित्यमर इति
व्याख्यानात्, केसवधोचरमपि 'स नित्यदोऽङ्घ्रिधियावा तमोऽश्वरं पिबन् वदन् वा विचरन्
स्वप्नन् श्वसन, ददशे चक्रा तुयमच्युतं यस्तदेव रूपं दुःखापमया' (१०-४४-३९) इत्यस्मिन्
श्लोके अन्युतं चक्रे छत्रमवापुषं यस्मास्तमोदेवतायास्तच्चक्रायुषमन्यथाज्ञानसाध्वं यद्
ददशे तदेव तमोदेवताया रूपं नित्यलक्षणमाप दूरवापिगम्युभयत्र समं 'चक्रे सैन्ये जलावर्ते
रथाङ्गे च नरोत्पयोः, सञ्चारं मण्डले वृत्तछत्रमेधार्थमेदयो'रिति चेत्युक्तम्, एवं च
श्रीकृष्णमारितानामसुराणां न मोक्ष इति तेषां मतमिति त एव पृष्टव्याः । एतेन न च
पूतनाया जननीसाम्यं जननीमाहात्म्यविद्विद्धेभ्यम्, 'सद्रेपादिव पूतनायो'त्यादि-
वाक्येन जननीवेपमात्रतत्त्वत्वात्प्येत्, नमपि प्रत्युक्तम् । 'सद्रेपादपी'तिवाक्यं
गणित्ताध्यायस्थमितिविबोधः । भम श्रीमदाचार्यचरणोत्सन्न तत्र तेषां युक्तैरुपा-
दानत्वात् । परन्तु न तस्या भक्तिमुक्तिस्माभ्यम्, तेषां तत्र लय एव पुष्टिमागैवर्तितानं
सिद्धत्वात् पुष्टिरुपोचमलीलात्तुभव एवेति । अत एव लयापि-न च भक्तसादृश्येन
तेषां तत्प्राप्तिरसम्भवात् शुद्धभक्तसादृश्यमात्रेणुपादेयत्वात्, 'नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि
ते प्रसाद'मित्यादिवचनश्लोकेभ्य इत्युक्तम्, यच्च चापि न च पुराणान्तरप्रसिद्धत्वेन
सा लीला न सम्भावनीया पाधोचरखण्डे स्पष्टत्वाद्-इति जल्पितम्, तन्न न रोचते
विदुषाम्, 'तत्पक्षभूतप्रसूषेऽहिरूपोयामुरो हतः, भगिनी भ्रातृनिर्वेशी तस्य ब्रह्मगतिः
कृता ॥१॥ मोचिता वसन्तपालास्तत्रक्रादन्तकालयात्, तस्मिन्नहनि मथ्यादे सवस्तात्र
वस्तपालकान् ॥२॥ त्रिचिह्नहार सम्पश्यन् प्रभावं गोकर्षिणः, पञ्चाहापूरिते वर्षे
वस्तपालान् प्रजापतिः ॥३॥ सर्वानाचष्ट वैकुण्ठं तुष्टाव नभमोदिने, कृष्णमायाहावाः
सर्वे क्षणार्थं मेनिरेशंभकाः ॥४॥ तैर्ज्ञातश्चाद्य निहतोऽयासुरस्सखिना हि नः, गत्वा
ग्रजे ततो बाला इति सर्वे ब्रजे जगुः'रिति पञ्चपुराणवाक्येषु लीलामात्रकथनात् ।
यथा हि 'गीतासारं प्रवक्ष्यामि सर्वेगीतोचरोत्तरम्, कृष्णो यमजुनायाहे'त्यभिपुराणे

गोतासारस्य भगवदुक्तललिङ्गसूक्तम्, तथा चेदत्र किञ्चिद्भगवतीयललिङ्गदर्शनं स्यात्, तदाङ्गीकृच्छु शक्येतापि । अतः श्रीभागवतीयललोपललिङ्गवाक्यादेरसत्त्वादर्शिकारो न युक्तः । न च दूषणोद्गारे सति कथमयुक्तः, न च तेषामनुद्वार्यत्वम्, तथा हि तस्यागोचरं पुनः कौमारलीलाकथनस्य चमत्कारविशेषाधानार्थत्वेन संदर्भविरोधस्य परिहारात् लीलानुकरणस्य च भावानुवीर्यत्वेन तत्राभावात्तैतदकरणामास्यपि शक्यत्वचक्षणात् । एवमन्येषामपि परिद्वेषात्पत्वाच्च चेतिवाच्यम् । तथा सति कौमारलीलाकथनस्य चमत्कारविशेषाधानार्थत्वे हरिवंशविष्णुपुराणब्रह्मवैवर्तसूक्तानां लीलानां तथात्वस्य तोल्येन तासामपि कथनमसङ्गात् । तामु न तथात्वमत्रैव तथात्वमित्यत्र विनिगमकाभावात्, अनुकरणभावहेतुभूतताहभावस्य यो हेतुस्तस्याप्यशक्यत्वचक्षणेन तत्रापि समाधानाभावात् । भावाभावश्चेन्न हेतुना तत्कल्पैतद्वलीलाभावस्यैव निश्चयाच्च वेत्यलम् । यच्च चापि श्रीभङ्गदाने तत्कलीलास्थानानि च प्रसिद्धानीत्युक्तम्, तथापि न हि लीलयास्थानमसिद्धत्वा श्रीभागवतस्यैव सम्भवति, बहुनां श्रीराधाकुण्डश्रीकृष्णकुण्डगुलाकुण्डाल्यदानगढाल्यमानगढाल्य-साकरीखोराख्यकदमपण्डीसङ्केतवटद्वोलास्थानविखलनीशिलास्थानलुकलुककन्दरा -- ख्येत्यादीनां तत्रानुदितानां प्रसिद्धत्वात् तत्रोदितानामपिसिद्धत्वाच्च । किञ्च श्रीमपुरामाहात्म्ये एतद्वलीलास्थानस्याकथनाच्च । यच्च चाप्युदितम्, न च गोपी-शब्दमात्रभ्रान्तेस्तासां 'स्नेहस्तुतस्तन्यपयःसुधासर्वं मत्वा परं ब्रह्म सुतानपायय'वित्ति-द्वितीयाध्यायप्रतिपादिते स्तनपाने ताभिः सह रासाद्यनुपपत्तिरिति दूषणमुद्गाह्य तासां श्रीयशोदासमवयस्यात्वात् तस्यैयसीनां तु तत्समवयस्क-त्वाच्च इति समाधानं कृतं तन्न न मोदते विदुषाम् । न हि श्रीयशोदासवयस्यानामेव भ्रवतौत्वं नियमाभावात् । किञ्च वयसा तुलया इत्यर्थं 'नोवैयोधमविषमूलपूलीतातुला-भ्यस्तार्थतुल्यमाप्यवध्यानाम्यसमसमितसम्मिमेतेषं'ल्वनुशासनेन यत्थत्यस्य ज्ञायमान-त्वेन यथा (१०-५-२३) 'दिष्टया भ्रातः प्रवयस इदानीमप्रजस्य ते, मजासाया निहृत्तस्य प्रजा यत् समपद्यते'तिवाक्येनाशान्निवर्तकवार्थिककाले श्रीयशोदायाः पुत्रोद्भवस्तथा तासासेव सर्वासां तादृशकाल एव पुत्रोद्भव इति तु ब्रह्मणापि न वक्तुं शक्यम्, अनिश्चत्वात् । न च पूर्वमेव तदुद्भवत्वं पुत्रवर्तित्वेनोत्तरं वाक्येन समवयस्कत्वमिति-वाच्यम्, तथा समवयस्कैस्सह श्रीकृष्णस्य 'कदाचिद् यशुनातीरं वत्सान् चारवत् : स्वकैः, वयस्कैः कृष्णबलयोः'तेनैव साकं प्रयुक्ताःसहस्रश' इत्यादिवाक्यैः कीदादिवर्षेनेन तनु-प्राणां तु तादृशलीलासाधकवयोभावेनग्राह्यात्, तस्मादग्रिमरासलीलाया विरुध्यत'इत्युक्तिः श्रीमत्पुरुषोत्तमानां दुष्परिहर्षैः । किञ्च तदानीं वयस्यानां पञ्चवार्षिकत्वेन तनुलयेभ्यो

१ कौमुद्यां तद्धितेषु प्राग्वितीयपरकरो इदं यद्विधानार्थकं सूत्रम् ॥४-४-९१॥

भगवदुपि स्तनदानासङ्गतिश्च । यच्च चापि तस्यैयसीनां तु तत्समवयस्कत्वादित्युक्ति-स्तदपि रमससंपलित्वैव, तथाङ्गीकारे 'यदा कदाचिद् गोप्यो मां मन्यन्ते च विद्यौरवम्, यशोदात्वारुपेण निधिनोति निरन्तरम्, बालभावगतं गोप्यो दृष्ट्वा मङ्गचनो-त्युक्ताः, किशोरवयसा बालं रन्तुमिच्छन् मयानिशप, तत्तु तं मृपापनादं मा मातुरप्रेतु-वंतु ताः, दर्शनार्थं मन्मुखस्य समा जग्मुश्च पृथक्' इत्यादिपुराणवचनविरोधात् 'यशोदानदर्शनीयकामारलीलावन्तत्रेव तदवला मयुहीतपुष्करि'रिति(१०-८-२४)श्रीभाग-वतवचनविरोधश्च । अत्र ब्रह्मनाशब्दस्य विशेषात्स्यद्भना भीरुकायिनी चामलोचने'त्य-मरकटोदनवरुणीस्त्रीषु शक्तिवोधनात् । 'अङ्गनामङ्गनामन्तरे साधवो माधवं माधवं चान्तरे नाङ्गना इत्यमाकल्पिते मण्डले मययाः सङ्गो वैयुना देवकीनन्दन' इतिविलम्बमङ्ग-लोक्तौ तथा दृष्टत्वाच्च । 'अन्तर्हिते भगवति सहसैव ब्रजाङ्गना' इतिश्रीभागवते तथा दृष्टचरत्वाच्च च । किञ्चाङ्गनाशब्देनैव श्रीयशोदासमवयस्कत्वनिरासः त्वयापि वैष्णव-तोषिण्यां 'अथ किञ्चिद् वयोतिरेकेण बलवृद्धिमाकट्यादितस्ततोस्वित्ते ब्रजमध्ये सर्वैरामपि स्त्रीणामत्यानन्दो जनित' इत्याह यर्हीति, अङ्गनादर्शनीयेत्यादिकं तत्रकीचुके तासासेव प्राशान्यादित्युक्तम्, तच्च च सङ्कोचे विरुध्येतेतिदिक् । यच्च चापि तस्मान् न कश्चिद् विरोधः प्रन्युत भगवद्वक्तानां परममाहात्म्यमेवात्र सेत्स्यति, अतस्तदनुभवः श्रीभागवदनुग्रहविशेषेणैव सम्पद्यत इति तत् सुगोप्यमेवेत्येव तादृशे वचनमुपपद्यते अल्पमितिस्वरणैवतिवलिप्तम्, तत् तु स्वगोप्रीसामयिकं न कश्चिद् विरोध इति कथनमात्रम् । अत्रैव प्रथमाध्याये भगवतोपासुरमुखमेषाने तदर्शनेन 'तदा यनच्छदा देवा भयद्दाहेतिमुकुटः, बहुपुत्रं च कंसायाः कोपणास्त्ववपापन्वा' इत्यनेन कंसादीनां हर्ष उक्तः । तदुत्तरं च तदैव तत्राशेन तद्दर्शनमप्यथैव सिद्धम् । एवं सति यदग्रेरिष्टवधोत्तरं नारदेन कंसायोदितं'यथासां ते पुरुषा हता' इति तद्विरुध्येत । सबकीचकानुजस्य यो वयस्तस्य स्वयमेव दर्शनात् । किञ्च 'स्त्वानां निरोद्धुं भगवात् मनो दधे तावत् प्रविष्टास्त्वसुरोदान्तरं' 'वृणादितो दिष्टकृतेन विस्मित' इत्यतिविरुद्धम्, नहि भगवतो मनसः प्रतिकूलं कथमपि भवितुमर्हति, सर्वेषां मनसां निषामकत्वं भगवन्मनस इतिश्रुतिसहस्रसिद्धत्वात् । किञ्चैव सत्सङ्कल्पताहानिः भगवत्स-हानिश्च । किञ्च दिष्टकृतनिरूपणे चात्ययोग्यतमम् । भगवतोपि दिष्टकृतत्वेन विस्मये दिष्टस्य बलिष्ठतया 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः' 'न तत्समथा-भयधिकश्च दृश्यत' इतिश्रुतिविरोधः । किञ्च तस्य बलिष्ठतया वा तस्यैवो-पासनाकरणं स्यात्, न तु तन्निघयस्य भगवत् इतिनास्तिकमतपानाः । न च भगवद्विचारात् पूर्वमेव प्रविष्टाः यासावत्यदोपादानादित्वाच्यम् । न हि जीववद् विचारकरणं भगवतः सम्भवति सर्वेशत्वात्, गोपादिप्रवेशानस्य सत्त्वाद् रोध एव

कृतः स्यादिति जानीहि । किञ्च भगवद्भक्तानां न भगवदिच्छातिरिक्तं भाग्यं प्रबलम्, तदीयसम्प्रदायस्थमायुष्यैकान्दिबिन्द्यां भगवद्भक्तानां सुखादिकं न प्रारब्धादिजन्यं किन्तु भगवदैच्छिकमिति प्रतिपादितं विरुध्येत । किञ्चाद्यावपि 'वने कृष्णो विचिकायो'त्यनेन 'काप्यष्टु'त्यनेन च भगवतो मोहाज्ञानकथनं बहुदोषकव्यक्तितम्, 'यः सर्वज्ञः स सर्ववि'दित्यादिश्रुतिविरोधाच्च च । किञ्च पूर्वापरविरुद्धायनेकदोषाणामुदित-
तलाच्च । भगवदनुग्रहादिकथनमपि न मन्भवति, 'गुरुस्य भवेत् तुष्टस्तस्य तुष्टो हरिः स्वयम्' 'आचार्यं मां विनातीयान् नावमन्येत कर्हिचिद्' इत्यादिवाक्येनाचार्या-
नुग्रह एव भगवदनुग्रह इति । अथवा तु स्वाचार्यैर्माध्वैस्त्वत्कत्रयाध्यायस्य श्रीभागवत-
स्थत्वसमर्थनादाचार्यमत्द्रोहे भगवदनुग्रहस्य दूरापास्तत्वात् । किञ्च अवतारानवतार-
दशार्थां सर्वोपकारार्थमाचार्यैर्गन्धर्वैरुपस्थापितं कियते । तादृशाज्ञायां श्रीभागवतशास्त्रान-
रुपायामध्यायत्रयानङ्गीकारे सुवैज्ञानाभेदेनाज्ञाच्छेदी मम द्रोही न च भक्तो न मे मिय' इति । 'आज्ञा गुरुणां न विचारणीये'त्यादिवाक्यै-
र्भगवद्द्रोहित्वे स्वस्मिन्ननुग्रहविशेषाविवेकरणं देवानां मियत्येन पुष्टित्तमन्यत्वेन
कोपयुज्यते । गुणोप्यलकथनमपि प्रक्षिप्तस्थमेकेत्येतादृशवचनोपपत्तिस्तादृशेवेति । किञ्च
ज्ञानोप्यत्वे किं कारणं ब्रह्मणो ज्ञानकल्पने च श्रीपुरुषोत्तमे भगवति चाज्ञानविवेकारण-
मितिमहाननयः । किञ्चातिगोप्यत्वं श्रीमद्वृत्रजर्मणीरसरसितरासलीलायास्तदतिरि-
क्तस्य तस्याभावादिति । एतेनैव 'वधश्च वत्सवकपोस्तथासुराभूषिणः, वत्सचोरो
ब्रह्ममोहो ब्रह्मणा स्त्वन्नं हरे'दितिविषयेयोक्तौ पादत्रयमनवधानविजृम्भितमेव उपद-
र्शितानां दोषाणामनयायात् । अत एव 'आयुजिज्ञानां ह्युदावनीयप्रयुतीनां यस्तत्र
भागवतीयाग्रहस्य अद्राजान्ध्रमूलक एवेतिमुषिभिरवधेयमिति श्रीपुरुषोत्तमैरुक्त-
मितिश्रीमदाचार्यवर्षयाणां निरुद्ध एव पन्था इतिश्रीमदाचार्यवर्षरणापुत्रेणैव
तदीयोक्तज्ञानमित्यलं बहुलखनेन ।

इतिश्रीबलुभाचार्यश्रीविठ्ठलपदाब्जगोः ।

कृपाबले समाश्रित्य प्रवेशेपोकिसमर्थनम् ॥१॥

कृतं मया प्रसीदन्तु स्वामिनो मम सर्वदा ।

छेत्तव्यः संशयोनेन साधुभिर्गतमसरेः ॥२॥

इतिश्रीसर्वबादतमीभरविघटनविरोचनश्रीमद्बलुभाचार्यात्मजश्रीमत्प्रमु-
चरणोत्सज-महाराजश्रीयदुनाथकुलोद्भवश्रीमद्गुरोवामिश्रीगोपालतनय-
श्रीमद्गोस्वामिश्रीगिरिधरविरचिताध्यायत्रयमक्षिप्तत्वसमर्थनं
समाप्तिमवाप्तिम् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

अध्यायत्रयप्रक्षिप्तत्वसमर्थने श्रीमद्गङ्गाधरभट्टकृता जपमाला ।

प्रणम्य श्रीनदाचार्यान् श्रीमत्प्रभुवराम् गुरुन् ।

अध्यायत्रयपदेशीयं किमिति विचिन्त्यते ॥१॥

तत्र तावदितरतीत्या धर्मिग्राहकमानेनैव द्वात्रिंशद्विंशतमध्यायाः सिध्यन्ति, प्रक्रम
एव 'द्वात्रिंशद्विंशते चे'तिश्रीधरवाचुक्तैः ॥१॥ न च 'द्वात्रिंशच्च त्रयश्च शतानीतिप्रभे
समाहारेकवद्भावेन पञ्चत्रिंशदधिकशतत्रयमित्यर्थो भवित्यतीतिवाच्यं 'द्वन्द्वे धी'तिशब्दस्य
पूर्वेनिपातात्पठेः ॥२॥ 'सहस्रक्याया अल्पीयसा' इतिवाचिकान्वात् एव 'द्वात्रिंशदि'तिप्रयोगः
३॥ 'अल्पाचूतरे'मितिसूत्राच्च ॥४॥ न च 'समुद्राद्भादः' 'लक्षणहेत्वो'रित्यादिनिर्दे-
शात् पूर्वनिपातप्रकरणमन्वित्यगिति वाच्यं, तावत्तस्योत्सर्गिकप्रवृत्त्यापठेः ॥५॥ लक्षणैकचक्षु-
ष्काणामोरसर्गिकप्रवृत्तयै लक्ष्यासिद्धेः सिद्धान्ताच्च ॥६॥ सौत्रपूर्वेनिपातप्रकरणस्यानित्य-
त्वापि वार्तिकस्यात्थात्वाच्च, अन्यथा सिद्धाद्द्वीत्यादिप्रयोगापत्तेश्च ॥७॥ शतानीतिपठे त्रयणपिच
महर्षे गात्रामालाच्च ॥८॥ न च प्रथमातिक्रमे कारणाभाव एव मानमितिवाच्यं प्रत्या-
सत्तिसद्व्याप्तिभ्याथेन परार्थे ब्रह्मणपक्षेविंमिगमनाविरहात् ॥९॥ समासत्वभावेनोपसर्जने
सद्व्याप्यस्यत्यस्य महात्माप्यादावुक्तेश्च ॥१०॥ न च 'कपिज्जालरुमन्'भ्याथेन बहुत्वसद्व्याप्या-
सित्व एव पर्यवसानमितिवाच्यं, तत्र 'न हिंस्यात् सर्वा भूताती'तिविविरोधमिवा
शास्त्राकरणे दोषमिवा च कपिज्जालारुमेनेतिश्रुतमप्याप्यात् त्रित्वे पर्यवसानेपि प्रकृते
तद्विरहात् ॥११॥ अत एव वा हिंसाचभावादुत्तरादोहेनेन त्रित्वनियमाः साम्राज्यदोहं प्रकृत्य
हि श्रयतेक्षायतत्तिसो दोहमित्या विसृष्टव्यागमस्वारभ्य तूष्णीमुत्तरा दोहयतीति तत्र यावद्
यजमानस्य गोजातं तावद् दोषत्रयमितिराद्धान्तिस्तं तत्र समासभावेन बहुत्वदर्शनेपि प्रकृत
एकत्वादीनामपि संशयाच्च ॥१२॥ प्रस्युत हिंसाचभावादल्पसद्व्याप्यां बहुत्वपर्यवसानवत् प्रकृते
माहात्म्यविशेषादधिकसद्व्याप्यसम्प्रत्ययापत्तेश्च ॥१३॥ न च त्रिपठे तन्त्रमितिवाच्यम्, अति-
दुर्बोधात् ॥१४॥ एकशेषमकक्षणे तन्त्रेणत्र भवितुमयोग्यत्वाच्च ॥१५॥ वैयाकरणपन्थानां
मतेऽसद्विवक्षणे अपि तन्त्रान्मुपगमेन मानं प्रकृते दृष्टम् ॥१६॥ किञ्च स्पष्टार्थे पञ्चत्रिंशदित्येव
त्वदिगमेते उच्यते ॥१७॥ न च श्लोकस्तथा तुष्कर इतिवाच्यं तथात्वे हि देवानां

१-२ शि० कोषया इदममले सुवमिदम् ॥ २-२-१२

३. 'समुद्राद्भाद' इत्युक्तेस्तु पूर्वनिपातयानित्यवशापन्था इति शि० कोष्यां वैदिकव्याकियायाः
सुषोर्ध्वपानुक्तम् । लक्षणहेत्वोः किलाद्यम् इति मूले रुद्रनक्षत्रिशापाम् ॥

प्रियता स्वया स्वामिषु साधिता भविष्यति ॥२८॥ पञ्चविंशदशो शतत्रयमिताः शाखा इत्यादिरीत्यापि सुपट्वाच् च ॥१९॥ यत् स्वध्यायलीलाया गुप्ततया द्वाविंशदित्यापुकिरिति, तत्रापि चिन्त्यते, किं ब्रह्मणोऽज्ञानकल्पनाया गुप्तेति न, इतोपि विगीतताया वक्ष्यमाणत्वात्, अथ वा लीलाया रहस्यत्वं तदपि न, रासलीलातोऽनर्तिकतात् ॥२०॥ न च तत्र गोप्यत्वेनोक्तिरेव हेतुः अप्रयोजकत्वात् ॥२१॥ बहुत्र एकादशादौ गोप्यत्वेनोक्तिश्च ॥२२॥ न च श्लेच्छयैव भङ्गचन्तरेणोक्तिरिति साम्प्रतम् इतोपि प्रशिक्षित्वसिद्धेः ॥२३॥ नाप्यत्राध्यायबोधोपानतत्पर्यं प्रतिस्कन्धं प्रत्यध्यायं च तदुक्तिरित्यपि युक्तम्, उपक्रम एव द्रष्टृदृष्टसौभाग्याभावात् ॥२४॥ अपि च सद्ब्रह्मा हि बोधसौकर्याथी तथा च स्पष्टमेव वाच्यमित्युक्तं प्रथमस्कन्धे प्रथमेध्याय एव तदनुक्तिश्च ॥२५॥ यत् तु प्रसिद्धत्वादेव शतपदेन शतत्रयं गृह्यत इति तदपि न, पञ्चविंशतोपि तत एव लभे स्कन्धानां च द्वादशत्यापुक्तिवैयर्थ्यात् ॥२६॥ किञ्च स्वरूपसूत्रस्य भाष्यविरोधः तत्र हि एकश्च द्वौ च द्वौ चेत्येवं चकारेण एकशेषमाशङ्क्य सद्ब्रह्माया अर्थासम्प्रत्ययदसत्यदार्थत्वान् च नैकशेष इतिसमाहितम् तत्रान्यपदार्थत्वादित्यस्यान्यपदवाच्यत्वादित्यर्थः ॥ द्वौ च द्वौ चेत्यस्य चत्वार इत्यर्थे इतिभाष्ये प्रदर्शनात् । एवं चान्न द्वन्द्वोपि नेतिभाष्याभिप्राय इतिव्याख्यातारः ॥२७॥ यत् तु माप्यस्य एकदिनवान्तानां द्वन्द्वैकशेषो नेत्याशयः न तु दशादिभिरपि त एकादशविंशती इतिद्वन्द्वैकशेषबोधाभ्ये एव प्रदर्शनादिति, तच् चिन्त्यं, उत्तरभाष्ये नेती पृथक्परिहारौ गार्थ्ये गार्थ्यायणश्च गार्थ्यावित्यत्र प्रथमहेतुव्यभिचारात् । विंशतिश्च विंशतिश्च निंशती इत्यत्रान्यदहेतुव्यभिचारात् किन्तु एक एवायं परिहारः । न च प्रथमो व्यभिचारस्त्रार्थसम्प्रत्ययपदार्थत्वाभावात् । नापि द्वितीयः, अन्यपदार्थत्वेऽप्यसम्प्रत्ययादिद्युक्तेः । एवं च द्वाविंशत्त्रिपदे हेतुद्वयभावात् नैव भाष्यं द्वन्द्वेनेति युक्तम् ॥२८॥

न चास्यार्थसम्प्रत्यायकत्वमेव शिष्टप्रयोगादिति प्रतिपत्तव्यं सम्प्रत्ययस्य लोकसाधारण्येनैवाङ्गीकारात् लोके सद्ब्रह्माया एवंप्रकारिकाया अदर्शनात् ॥२९॥ शिष्टतार्पर्यस्य यथाश्रुतत्वं एव मया प्रतिपादिते तत्रैवावाशिष्टत्वाच् च ॥३०॥ यत् तु द्वाविंशच् च त्रिंशत्तं चैषां समाहारे रूपमुत्तरपदे तु त्रयश्च शतानीति तत् सुच्छं प्रायुक्तानेकदृष्ट्या विनिर्मुक्तत्वात् ॥३१॥ यच् च त्रिंशत् पञ्च शतानीतिपाठादपि सिद्धे त्रिपदस्योभयत्रानवयस्तन्त्रेण सूच्यत इति, तदपि सुच्छं, तथा सिद्धे तथैव सुपठन्ते द्रविडप्रणायामयोगात् ॥३२॥ यदि तयोक्तौ पञ्चपदस्य शतविशेषणता स्यादिति विभेपि तदा द्वाविंशदित्युक्तौ तावन्मात्रप्रतीतेः किं न विभियाः ॥३३॥ न चैवं स्कन्धाध्यायकल्पनायां पूर्वापरविरोध इतिशङ्कनीयः विगीत-श्लोकव्याख्यानवत्पुनः ॥३४॥ न चैवं विगीतव्यापुक्तिः किमितीतिवाच्यं, प्राचीनरीत्या व्याख्यानादत्र हेत्वनतरस्य वक्ष्यमाणत्वाच् च ॥३५॥ एवं च सूत्रवार्तिकभाष्याणां

न्यायायां चापि सम्मतेः शतत्रयं च द्वाविंशदितिश्रीधरसम्मतः । माध्याचार्या अपि प्राहुः प्रायः प्राचीनयुक्तके, अध्यायत्रितयादृष्टेः नैव नादृष्टकारिणः ॥३६॥ श्रुतिकाशिकाङ्कद्विरन्याचार्यसुदर्शनेः, 'उपेक्षिता इमेध्याया न वै ते आचक्षिरे' ॥३७॥ इत आरभ्याध्यायत्रयं प्रशिक्षमिति व्यासार्थेऽस्मिन्निमित्तमापि प्रायशो व्यवहियमाणत्वात् कैचिद्व्याख्यातत्वाच् च व्याख्यायते इतिवीरराध्याचार्यादिटीकायामपि प्रायः इत्यादिपदेन कचिद्व्याख्यानामालम्ब उक्तः २८॥ अध्यायत्रयैगीत्यमितिप्राहुःश्रवन्तनाः । श्रीमदाचार्यतत्पुत्रैरुच्यते तस्य हेतवः । तथा हि 'कोमार्जं जहत्' 'तत्रश्च पौण्ड्रव्यःश्रिता' 'विति सन्दर्भयोग्यतायाध्यायत्रयस्य प्रसिद्धतां प्रतिपादयति ॥२९॥ न चैतदर्थमेव ब्रह्मसुत्वेन पुनरेव तच्छ्रुतलोकपाठ इतिवाच्यं पुनः प्राप्तेव तस्य प्रशिक्षितत्वात् ॥३०॥ टीकायां तदव्याख्यानाच् च ॥३१॥ न च स्पष्टत्वान् न व्याख्यातमिति युक्तं पुनः पाठेन पूर्वाक्तस्मारकतया तस्य व्याख्येयत्वात् ॥३२॥ सर्वपुस्तकेष्वनुपलभ्यते च ॥३३॥ किञ्चमेकादशप्राशयसमाप्ती तच्छ्रुतलोकवैयर्थ्यं स्यात् ॥३४॥ अपि च 'पौण्ड्रे परिकीर्तितमि'तिवाच्यत्वात् पूर्वाश्रया एव तस्मात्ती 'तत्रश्च पौण्ड्रव्यःश्रिता'विविधबोधविरोधः ॥३५॥ तद्वैयर्थ्यं च ॥३६॥ अत एव गोपिकाभिरपि पञ्चाध्याय्यां विरहे सर्वलीलायुक्तयोग्येत्तद्विहीलानुगृहीतः प्रधानलीलात्वेत्येतस्याः । न च 'विषयजलाप्यादाव्यालक्षसार्ध'त्यत्र ताभिर्गतित्वात् कथं न लीकारोतीतिवाच्यम्, 'शुभमत्यालजादि'त्यभिप्रायात् सुदर्शन एव महिषुमुचितत्वात् ॥३७॥ श्रीनन्दरय श्रीगोवर्धनोद्भरणानन्तरं गोपसंवादेपि नागुवादः ॥३८॥ कंसवधोभेदे नारदेन नैतदनुवादः कृतः ॥३९॥ तृतीये श्रीमद्द्वैपयि नैतदुक्तम् ॥५०॥ अनुक्रमणिकाध्याये द्वादशेऽप्येतदनुक्तिः ॥५१॥ 'न मारतीमेकं यूपोपलक्ष्यत' इतिद्वितीयस्यब्रह्मव्यवधिविरोधश्च ॥५२॥ 'भवात् कल्पविकल्पेषु न विद्युदती'तिभगवत्प्रतिज्ञाविरोधश्च ॥५३॥ 'तोकेन जीवहरण'मित्यादिबदतः सदेखरत्वेन ज्ञानवत्साक्षाद्बोधाद्यस्यासम्भवश्च ॥५४॥ किञ्च द्वितीये ब्रह्मणा नारदं प्रति लीलान्तरकथनवत् सकर्तृकर्मकर्मोहनलीलाभाषान्यायवच्यत्वाच् च वाच्यैव तदनुपपत्त्या सा नैव कृतेतिज्ञापते ॥५५॥ तृतीयेपि भगवद्ब्रह्मसंवादेन वरदानोचरं भगवत्स्वरूपज्ञातुत्वं ब्रह्मण इतिदृश्यते ॥५६॥ न चैवमकार्यां चक्रे सः सकाम इति नः श्रुत'मितितृतीयवाक्यं 'न मारती मेक' इत्यादिवा विरुध्यत 'इतिवक्तव्यम्, इति नः श्रुतिमितिपरमत्त्वादितिकेचित् ॥५७॥ वस्तुतस्तु वैदिकसृष्टित्तिरेकेण लौकिकमाध्यायमार्गं सृष्टिमपि इच्छते ब्रह्मणोपि सनकासैनिषे तनुत्यागे नीहारोसत्त्याः प्रयोजनत्वं सत्कर्मणो ब्रह्मण इतितृतीयविवरण एव सितत्वाव-दोषः ॥५८॥ किञ्च शब्दाधेरचना नवीनैवोपलभ्यते ॥५९॥ अकूरसवनदिश्व नैयमत्र कृतं महत् ॥६०॥ स्तुतिश्च मायावादेन नाम्बत्र ब्रह्मणा कृता ॥६१॥ 'सानां निरोद्धं भगवा'निति चात्र न युज्यते तस्यसङ्कल्पनाहानेः ॥६२॥ न वा दृष्टं प्रकळं हेरेः ॥६३॥ न चाथेऽस्मात् किमत्र प्रसिता निविधानयं तथा येत् वकवत् विनङ्क्यती'ति(०-१-२-२-४)

भक्तसङ्कल्पपरिपूरणाय स्वसङ्कल्पत्याग इतिचक्रवर्त्युक्तं युक्तं विकल्पाक्षमत्वात् । तथा हि किं भक्तसङ्कल्पं भगवान् जानाति न चेति, आद्ये ज्ञात्वा स्वसङ्कल्पे निःप्रयोजने मानाभावः ॥६४॥ द्वितीये सार्वस्थदानिः ॥६५॥ न 'बैवमेवैव' लीलेतिवाच्यं प्रयोजकविहात ॥६६॥ यन् च दिष्टपदं कालवाचि 'कालो विद्यो'पीतिकोशात्, कालश्च लौकिको लीलासम्बन्धीति तदपि चिन्त्यं तथापि विस्वयानुपपादनात् ॥६७॥ 'जह्युषे च कंसाद्या' इत्यपि चिन्त्यं तत्र कंसाभावात् ॥६८॥ न च चाद्द्वारा सद्य एव वार्ताज्ञानमित्युक्तं 'हरिसुपुण्ड्रमिश्रद्' देवाश्चक्रुः, 'गलं तरसा वधुषु' इतिमन्त्रयाद् हरिवेगपैक्षया चाराणापिकवेगमाभावात् ॥६९॥ किञ्च, 'पूर्वोन्तरं' एवतो निरुद्धो मूर्धनं विनिप्याय्य विनिर्गतो बहिः'रिस्यसङ्गतं, अन्तरञ्च 'देहमध्ये' पवननिरोधे गच्छारे चकाशाभावेन मृत्युस्थानान्तरादेव पवननिर्गमस्य बन्धव्यस्तात् ॥७०॥ न च सुसप्रवेश एव तदिदियुक्तं द्वारा-न्तरद्वारापि निर्गमनसम्भवात् ॥७१॥ 'तरसा वधुषु गलं' इतिपूर्ववाक्यविरोधाच्च च ॥७२॥ द्वितीयेष्वर्थेषु 'गुप्तं वदामि ते' इत्यतः गुह्यत्वे कारणं चिन्त्यं कारणान्तरं तु प्रामेयं दूषितम् ॥७३॥ 'प्रातः परं विस्वयमि'त्यत्र पूतनादिमोक्षं कृतो न विस्वय इत्यपि चिन्त्यम् ॥७४॥ 'काप्यदष्टु'त्यत्र दर्शनाभावोपरकालिकं ज्ञानं सार्वस्थं विहितम् ॥७५॥ न च पूर्वश्लोकेऽष्टद्वारं वन इत्यन्वयः ॥७६॥ दुर्बोधात्वात् ॥७७॥ शब्दास्वास्वाच्च ॥७८॥ पूर्वश्लोकेपि तस्य तस्य सत्त्वाच्च ॥७९॥ अपि च 'स्निग्धस्त्वय्यदमन्वहं श्रुतेः'सीम वधुषु' इत्यत्र शनैर्बद्धौ कारणं चिन्त्यम् ॥८०॥ क्लिष्टयोजनयाभोतरकरणं स्थनुपदेवैव दूषितम् ॥८१॥ श्रीवलदेव-स्वाज्ञानकल्पनं चाल्यन्तायुक्तं पूर्वोत्तरप्रकरणे तददर्शनात् ॥८२॥ न च तस्य भगवत्सं-नेतिशब्दस्य 'अहो अमी देवतेषु'त्येव भगवैवैव तथाऽन्यमातरयात् ॥८३॥ किञ्च भगवता-भ्यस्त्वेन स्त्रीकारात् तद्व्यञ्जनानीचित्यम् ८३॥ नपि श्रीदामादिविद्योगदुःखाभावायेति युक्तं स्वस्य तत्कृतो नेति पर्यनुयोगार्हत्वात् ॥८४॥ बलेदेवस्यापि भगवत्त्वेन निरुक्त्याच्च च ॥८५॥ वर्णात्मकस्य कालस्य त्रुटित्वे कोषपरितिरितिचिन्त्यम् ॥८६॥ किञ्चन्द्रादीनां भावता-पमाने कृतेऽपमानजन्मेषुविशकृतो भगवत्स्वरूपविषयो मोहो भवतु नाम तत्र भगवतो ब्रह्मणस्तदभावात् प्रत्युत् तदपराधिचिकीर्षो न घटते ॥८७॥ किञ्च पूर्वार्धे स्वतो लीलेति-सिद्धान्तादपि दोष इत्यप्याहुः ॥८८॥ अपि च गोपीनां भगवति परमानन्दे सहजगुणार-सङ्गीकाराद् भगवतो गोपरूपत्वे तन्मातृणामवचनानर्हभावोदयापत्तिर्भवन्ते स्यात् ॥८९॥ असन्मते तु सुतरमिमां विगीतत्वं प्रकरणार्थभेदविरोधाच्च च ॥९०॥ एवञ्चयाथेयु प्रपञ्चवि-सरणपूर्वकभगवत्साक्षिरूपस्य स्कन्धार्थस्याभावश्च ॥९१॥ ब्रह्मणो निरुद्धस्यानिरुद्धतां विधाय पुनर्निर्गेषकरणे पिष्टपेषणपक्षे ॥९२॥ ब्रह्मणो राजसत्त्वेन तामसप्रकरणविरोधाच्च च ॥९३॥ अत एव नोपदेवपिष्टतैरपि प्रथमेशादाध्यायास्तत्र प्रकरणत्रयमित्यादितिस्यात्

गणितम्, 'तेवागमे पञ्चत्रिंशदित्युपरुह्यमानेऽरुचिरिति' हि गम्यते । एवं च नान्यादृशतदुक्तप्रका-रभिरिन्द्रियम् ॥९४॥ न च तैलस्योऽध्यायाः प्रक्षिप्ता इति किं नोक्तमित्वाच्यं चिरन्तनप्रसिद्धया द्वात्रिंशच्चानेपि के प्रक्षिप्ता इति 'तैरविचञ्चयात् ॥९५॥ एवमेव श्रीधरस्तामिभिरपि सौन्दर्यार्थज्ञानाद्वा व्यरुह्याता अध्याया इत्यपि वक्तुं शक्यम् ॥९६॥ अत एव द्वात्रिंशत् विश्वान्द्विपदद्वयस्वसाच्च चकारसाधैक्यम् ॥९७॥ न च चकारो भिन्नकमनोधनार्थं पूर्वोर्धं सामा-नाधिकरण्येन च योन्यत्र वैयर्थ्यविकरण्येनेतिवाच्यमप्रयोजकत्वात् ॥९८॥ भिन्नविभाकेनिर्देशेनैव तक्षमाच्च च ॥९९॥ अतिसुलभ इष्टद इतिविशेषणयोः पुनरपि सामानाधिकरण्याच्च ॥१००॥ न च योमानोपमेययोः सामान्यधर्मैक्येक्येदेवोपादानमित्यपि नियमः, प्रकृत एव सहस्राण्यष्टादशेतिपदत्रयेण तन्निर्देशात् एवा'एतनः संज्ञायामित्यात्वं नेत्यभिमुक्ताः ॥१०१॥ न च पूर्वोक्तविद्योविरोधवर्णने तत्र तत्राचार्यारणीकविरोधः । 'शब्दाभिसङ्गतीनां च स्याद्यत्र विरुद्धो'तिर्दृष्टं प्रतिज्ञायानास्यया तदुक्तं ॥१०२॥ न चानुकमणिगाध्यायेजामि-लोक्यानामुक्तिविरोधः, नरकेशु पश्चात्परकल्पस्य नरकवर्णनायानुकमण्येव तदनुकमणादविरोधात् १०३॥ अत्र तु सर्वत्रापि देशस्थैर्ब्रह्माण्येव तद्विगीता इति तदेव विगीतं माध्याप्यायादिसम्बन्ध-पर्यालोचनात्, ततो हि अनेक्य एवैवायुपलभ्यते ॥१०४॥ यच्च च भावीजननीन्दीकासमस्या सिद्धेऽविगीतस्ये विगीतत्ववाद एव विगीत इति तदपि न, साम्प्रदायिकानामेकवाक्यतयायामसम्बन्धिवारयानामेव विगीतत्वासम्पत्तेः प्रतिवादे निम्नहस्यानवाच्च च ॥१०५॥ यदपि श्रीद्वन्द्वने तद्दीक्षास्थानप्रसिद्ध्या च्यष्ट साधनं तच्चासाधीयः, इदानीं प्राचीनस्थानानां विश्वकलितत्वेनेदानीन्तनकालितलीलासुरागेन च पुराणान्तर-प्रसिद्धरुह्यान्तरीयलीलासुरारितया च स्थानानामिदृशिसिद्धिघातकत्वाभावात् ॥१०६॥ न च स्यात्त्रिंशतीरूपं पात्रादिव्यस्य कल्पनात् त्रियुगं च त्रियुगं त्रिपूर्वं इत्येते बहु ॥१०७॥ न चेदेवैक्यद्वितीयं यत् भावां भविष्यति प्रमितं श्रीधरेनां चेत् तै रूपं किं न संस्युतं स्तुतिर्मुक्तिपि यस्यास्ति स्तुतं तदनुसारतः ॥१०८॥ 'रुह्यक्षरं पूर्व'मित्वाक्यं चापि विरुध्यते ॥१०९॥ अत एव पुराणान्तरे 'भ्रमो'द्वादशसहस्रो द्वादशस्कन्धसम्मितः हयभीवन्नस्यविधा यत्र द्वावच्यन्ताया, गायत्र्या यत्र प्रारम्भस्तद् वै भागवतं विदुः, स्कन्धा द्वादश एताव कृष्णेन विहिताः शुभाः, द्वात्रिंशद्विंशते पूर्णमध्याः परिकीर्त्ता' इति । अत्र पूर्णपदस्यारस्याद् यथोक्तमेवाभिप्रेतम् । ननु तर्हि 'पञ्चत्रिंशोत्तराध्यायास्त्रिंशतीयुक्त ईश्वर' इति कथं कैश्चिदुच्यते, तत्रोच्यते, श्रीमद्भागवतस्याष्टादशपुराणगणनायां पञ्चमत्वस्य विजयनादे साधितत्वात् त्रयो सहस्र्यावाचकानां पूर्णप्रत्ययार्थाया 'आचतुरं हि मे पश्यते मिथुनायन्'इत्यादौ दर्शनात् पञ्चशब्दस्य पञ्चमे भागवते त्रिंशोत्तरा नाम द्वात्रिंशत्त्रि-शतीयुक्ता इतिव्याख्येयम्, नरकेशु तु कृत्याभयपि पूर्णार्थतामिच्छन्ति, ज्योतिःशक्ते धर्मशक्ते

रोषाच । “लक्ष्मत्रेण लोकस्य विद्या देवेन भाषिते”लम्बुदयपादसमाप्त्यप्यायस्य वाक्यात् । विजयत्रैलोक्याभ्युदयशुभनिश्चुम्भमनारुण्यपादत्रयशिशुध्वनेन स्कान्दोक्तदादशरुक्मन्त्रसमित्वरूप-पञ्चपुराणद्विष्याच । श्रीमद्भागवतपरमेश्वर वा तत् । तस्य देवीपुराणपरिचीयत्वान् । “अधिष्ठान्ति मनुष्यास्थां सर्वकामवैश्वर्यं”मिल्यादिदशरुक्मन्त्रोक्तभगवदाज्ञसमाहात्म्यविस्तारस्य देवीपुराणे दर्शनात् । अत एव “धयोक्तमृषिभ्यः” इति ऋषिप्रोक्तवरुणपुराणलिङ्गमपि युज्यते । “अष्टादश पुराणानि श्रुत्वा सत्यत्वमुत्तातु । अभ्यास्यपुराणानि मुनिभिः कीर्तितानि” इति सूतसं-हि-तायां वाक्यात् । शब्दलण्डे गङ्गेशोपाध्यायानां यो देवीपुराणे महाभागवतत्वव्यवहारः स तस्यो-पपुराणस्य महापुराणमूलकत्वेन तेषां तत्र अष्टादशितरायेन च साम्प्रयोगिकं बट्टचीयां चतुःपधि-व्यवहारवत्पूजायां एव ।

यसु, श्रीधरस्वामिना “अत एव भागवतं नामाऽप्यदिति न शङ्कनीयमि”खुक्तम् । तदपि पूर्वार्थ-भागवतव्यवहारविषयोपपुराणस्युदासपरम् । “पञ्चाधिकृत्या”दि लक्षणवाक्यस्य हेतुनेनोपन्यासात् । उक्तितरं चैतत् टीकाकारस्य । जैमिनिना वेदानां काठकजैतुनादिसमाख्यावद्येन पौरुषेयत्व-माशङ्क्य तसमाधानवदाचारमाध्वे स्मृतौनामप्राण्यमाशङ्क्य तन्निरासवत्सभूषाखननन्यायेनैतद्-रीकारणत्वावश्यकत्वात् ।

कश्चित्, “यदिदं कालिकाएवं च मूलं भागवतं विदुः” इति पुराणदानप्रास्ताविककालिका-पुराणवाक्यात्स्य भागवतत्वमाह ।

अपरस्तु, “तन्मूलं भागवतं स्तुतमि”श्वेयं पाठमङ्गीकृत्य पूर्ववदाह ।

तदयमपि तुच्छम् । अत्र सन्दर्भं “शैवं यद्वायुना प्रोक्तं वैश्वं वैष्णवं तथा । यदिदं कालिकाएवं च मूलं भागवतं स्तुतम् । सौरं च नारदीयं च मार्कण्डेयं च बह्विजम् । भविष्यं ब्रह्मवैवर्तं लिङ्गं चैव त्रयोदशम् । वामनं कौर्मि मात्स्यं च सप्तदशं च गार्हपत्यम् । स्कान्दमहादशं प्रोक्तं पुराणं च न संशयः” इति षैङ्गादिनां त्रयोदश-त्वादिकथनस्य बाधप्रसक्तः । अतस्तद्भागवताख्यमुपपुराणमतिरिक्तमेव । यस्मैपुराणे “ततो भागवतं प्रोक्तं भागवद्विषयमिति” इति लक्ष्यविश्वं “द्वदाति पूर्वमकाशं यस्तु भागवतं द्विजः । सर्वगाथविनिर्मुक्तः सश्रेयोविश्वितः । जीवित्वर्षशतं साम्रन्तले वैश्वसतं पदमिति” यदानपञ्चमुक्तं तज्ज्ञेयम् । न च शैवादिप्रक्रमपटात्कालिकाख्यस्य महापुराणवत् शङ्क्यम् । क्रमभेदात् । महापुराणगणनायां द्वात्रिंशत् कूर्मस्कन्दविष्णुमात्स्यादिषु ब्राह्मादिक्रमदर्शनात् । कूर्मपुराण-प्रथमाध्याये चोपपुराणगणनायां द्वादशत्वेनास्य गणनात् । “आयं सनत्कुमारोक्तं नारसिंहं ततः परम् । स्तुतीयं नान्दमुदिष्टं कुमारैणानुभाषितम् । चतुर्थं शिवभारुष्यं साक्षात्कीर्तयामासिपितम् । दुर्वाससोक्तमाश्वर्यं नारदीयमतः परम् । काण्डिं मानवं चैव त्रयोदशमसैरितम् । ब्रह्मण्डं वारणं चाथ कालिविद्भवमेव च । मोहेश्वरं तथा सायवं सौरं सर्वार्थसत्त्वदम् । पराशरोक्तमपरं मारीचं भार्गवाद्भवम्” इत्येवं वाक्यात् । सूतसंहितायां च “पततः कालीपुराणारुष्यं वासिष्ठं मुनिपुत्रवच” इति तत्रैव गणनाच । अत एव कालिकोक्तगणनायां सौरसिंहोऽपि सह्युज्यते । अतः पुत्र-

पुराणशिरःहृत्स्यविष्णुभोचरविष्णुरहस्यादिविदमानि शैवादीन्युपपुराणान्यतिरिक्तान्येवेति तत्रोक्तं भागवतं भिन्नमेवेति निश्चयः ।

यसु, “श्रीष्टपद्यं पीपीमायां हेमसिंहसमन्वितः” इति मात्स्यश्रीभागवतवैवेचसी बाह्वनेन लिङ्गेन देवीपुराणमेव भागवतत्वेनोक्तयाम् । तदवयवसङ्गतम् । सिंहपदस्यानेकाकीर्त्तवात् ‘सिंहस्तु राक्षिभेदे भृगुधिप’ इत्यनेकार्थकोशाभिधानात् । श्रीष्टपद्यं च सिंहं सूर्यसत्त्वात् । हेन्र एव फलार्थं यत्कस्मन्भवत्यापि शक्यवचनत्वात् । भीमस्यादिपदवदेकदेशप्रयोगस्यापि शक्यवचन-त्वेनाऽत्र सिंहासनास्यापि शक्यवचोपाच । अत एव स्कान्दे “लिखित्वा तच्च यो दद्याद्बहु-र-त्समन्वितः”मित्युक्तम् ।

स्तुतस्तु, श्रीभागवतपुराणसङ्घातं सम्भूतमित्य वाच्यप्रयोजने । “दानं दानस्य माहात्म्यं पादादि-वि-निबोधत” इति प्रतिज्ञाय “ब्राह्मं दशसहस्राणीं शारभ्य” “चतुर्लक्षं उदाहृतम्” इत्यनेनाऽष्टादश-न्तर्गतत्वेन प्राप्तद्विकमुक्त्या “तथाऽष्टादशसहस्रं श्रीभागवतमिष्यते” इत्यनेन सङ्घातं, “इदं भगवता पूर्वं”मित्यनेन सम्भूतं, “आदिमध्यावसाने”त्यादिना वाच्यं, “कैवल्यप्रयोजनं”मित्यनेन प्रयोजनं चोक्त्याऽऽ “प्रोष्टपद्य”मित्यनेन दानतमहात्म्ये उच्यते । तथैव मात्स्येऽपि, सङ्घोक्तिपुरा-सरमिदमुच्यते । देवीपुराणे च “लक्ष्मत्रेणे” इति वाक्यात्सङ्घातकमते न चोपाऽवसरः ।

केचित्, देवीपुराणस्युदासाय भागवतशब्दं विधिनोद्विदाकृष्णार्हीनादिशब्दबहुदमाहः । ता यथापि कल्पनात् साचीयसी, तथापि “इदं भगवतं पूर्वं ब्रह्मणे नामिषङ्कते । सिताय भवभीताय कारुण्यसम्पन्नप्रकाशितम्” । “इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितं”मिल्यादिवाक्येषु योगस्य रूढेश्च प्रतिभानान् प्रतीतिवत्पिपेति प्रतिभाम् ।

या तु कैवाचिदन्त्यजनुजातसद्वातानां सकलप्रमाणमौलिकत्वैवदफळभूते श्रीमद्भागवतेऽर्वा-चीनस्यसङ्घातं, सा तु, “यथो वेदस्य कर्तारो मुनिमानुषिनिश्चाराः” इति तथागतप्रतीतकारिकोक्त-सरणिनुसन्ती मायमिकनतमध्यम्यासे । यदि तथा स्यात्, महान्तः प्रामाणिका निवध-परायिः शस्त्रसन्धेयु तसाम्प्रति न दयुः ।

कानि सम्मतिरिति चेत् । अवबेधि—प्रथमं तावच्छङ्खुचार्याकृते—चतुर्दशमतिलिके “परमहंसपरमो भागवते पुराणे कुण्डेनोद्भाषयोपदिष्ट” इत्युक्तम् । पादासहस्रानामटीकायां वचनाभ्येव तत्र तत्र लिखितानि तथोपदेशासाहस्यार्थीक्यायां समाप्ती श्रीभागवतवचनं लिखितम् । तथा मन्मत्सरप्रदीपनाम्नि प्राचीनगौडकृते स्मार्तनिकष्ये “शतशोऽथ साहस्रैश्च किमन्यैः शास्त्रसहस्रैः । गृहे न तिष्ठते यस्य शास्त्रं भागवतं कलौ । कथं स वैष्णवो वेदः शास्त्रं भागवतं कलौ । गृहे न तिष्ठते यस्य ऋषिपञ्चादयिको हि सः” इत्यादिविस्तान्द-चनैर्गृहे श्रीभागवताभावे दोषं प्रदर्श्य कलिदोषतः पावित्र्याय कतिचिच्छ्रीभागवतवचनानि लेखनानियुक्तानां भूयांसि श्रीभागवतवचानि लिखितानि । तथा हेमाद्रितत्तदानखण्डकाल-निर्णयादिषु कलिचर्मनिर्णये च “कलि समाजयत्यार्यां गुणज्ञाः सरमासीनः, कीर्तनादेव कृण्वस्य मुक्तवचनः परं ब्रजेति”त्यादीन्युदाहृतानि । एवं प्रक्रियाकौमुदीकृते रामचन्द्राचार्यस्य

पुत्रेण नृसिंहाचार्येण च कालनिर्णयदीपिकाविवरणे 'श्रीभागवत' इत्युक्त्वा "आचार्यं मां विजानीयादिति"ति । देवपूजाप्रकरणे चायो विष्णुः सितरूपदीप्तसुतनुः कृष्णः कृतास्त्रामणिर्दंसाधैरिस्त्रत्र "कृतं त्रेता द्वापरं च कलिद्विस्तेषु केशवः । नामावर्णिभिर्भाकारो नैवासी विधिनेत्यते" इत्यादीनि लिखितानि । तथा विद्यानिवासमहाचार्यकृते सारचरित्रमीमांसाख्ये स्वातंत्रिनिकषे 'देव-विर्भूतासन्तानां पितृणां न किङ्करो नायमृणी च राजनि'ति, "व्यव्योपमुक्तस्त्रगन्धे"त्यादीनि च सम्मल्यर्षं लिखितानि । तथा मधुसूदनसरस्वतीरिषि भक्तिरत्नसूत्रे श्रीभागवतवचसंस्थोपनिषद्भाषिणो भगवद्गीतायाः सप्तमाध्यायस्याख्याने च जीवे प्रतिबिम्बपक्षे "नैवात्मन प्रसुर्य"मिति सप्तमस्कन्धीयं वाक्यं लिखितम् । अन्यान्वयमपि च तीर्थसुकविष्णुपुरीनाम्नापि भक्तिरत्नकल्पं नवधा भक्तिरूपेणाप्य श्रीभागवतीयान्येव तत्र तत्र प्रदर्शितानि वचांसि । एवं काश्मीरदेशीयेन क्षेत्रेन्द्रनाम्ना क्षेत्रेन्द्रप्रकाशाख्ये स्मार्तेन निकषे "व्यव्योपमुक्तेत्या"दीनि लिखितानि । तथा च रचितेनाऽप्यन्य-दीक्षितेनापि शिवतत्त्वविवेके "कर्णां पिपाथ निरयादि"त्यादीनि चतुर्थस्कन्धीयानि लिखितानि । तथा निर्णयसिन्धौ धामनजयन्तीनिर्णयेऽप्रमस्कन्धीयं "श्रोणायां श्रवणद्वादशरामि"त्यादि लिखितम् । भगवद्भास्करे, ब्राह्ममयूले मांसनिषेधकं "न दद्यादामिर्षं श्राद्धे" इति सप्तमस्कन्धीयमल्लेखि । दिनकरो-पोते चैकादशीनिर्णये "न कामकर्मबीजानां"मित्येकादशस्कन्धीयमल्लेखि । भट्टोजिदक्षितकृतार्था चतुर्विंशतित्व्याख्यायामाचार्यकाण्डे तर्जणोत्तरं पूजानिर्णयेऽपि 'भागवतेऽप्यत एवोक्तमि"त्युक्त्वा "मूर्त्त्याऽभिमतयाऽऽत्मनः" इति, "उद्धासाद्यहने न स्तः" इति चोक्तम् । अतएव प्राचीनार्थाचीन-नानादेशानिबन्धकर्तृभिराहतमपि ये न पश्यन्ति ते चतुर्थस्कन्धीयं तमा इति दिक् ।

नमस्त्वमेवमहादशान्तर्गतम्, तथापि, पूर्वोक्तः पूर्वोपरभावविरोधः कर्षं परिहर्य इति चेत् ? उच्यते । पूर्वोपरभावस्याविवक्षितत्वात्परिहर्य इति । न चाविवक्षितत्वे मानाभावः शङ्क्यः।स्कान्दे काशी-खण्डेऽष्टाविंशत्याध्याये गङ्गामाहृत्ये "पदा भार्गवो राज्ञ क्व क्व भार्गवीर्यी तदा । यदा विष्णुस्तपस्तेपे चक्रुःष्वरिणीतते" इति देव्या पृष्ठे "सन्देशेऽत्र न कर्तव्यो विशालाक्षि सदामले । श्रुवो स्मृतौ पुराणे च कालत्रयमुदीर्यते । भूतं भव्यं भक्त्वापि संशयं मा वृथा कृष्याः" इति शिवेनोत्तरदाना-लात्कल्पस्याविवक्षितत्वमिष्यात् । अत एव पूर्वोपरभावस्यापि तथाच सिद्धिः । एकत्र दृष्टः शास्त्रार्थोऽप्यत्रापि तथेति न्यायात् । किञ्च, पूर्वोपरभावस्य विवक्षितत्वे पुराणान्तरस्यापि बहिर्भाव-प्रसक्तिः । तथा हि । मार्कण्डेयपुराणारम्भे तान्त्रिकं "भागवत्सारसाध्यायं व्यासेनोक्तं महात्मना । पूर्णमस्तमलाक्ष्मिर्नानाशास्त्रसमुच्चैरि"त्याद्युक्त्वा, "तदिदं भारताख्यानं बहुष्वं बहुविस्तरम् । तस्वतो ज्ञातकामोऽहं भगवन्त्समुपागत" इति चोक्तानि । व्यासशिष्यजैमिनिना कृतेन प्रश्न-उत्प्रेक्षेण पुराणावतारकथा दृश्यते । सा च भारतीचरमाविवलमन्तरंगासङ्गता सुतेन मार्क-ण्डेयपुराणस्याष्टादशान्त्यो बहिर्भावमावहति । तथापिपुराणारम्भे "सूतं त्वं पृथितोऽस्मामिः सारासारे बदल नः । येन विज्ञानमात्रेण सर्वज्ञत्वं प्रजायते" इति शौनकप्रश्ने "सारासारे हि भगवाविष्णुर्व्यय ईश्वरः" इत्याद्युक्त्वा, पुराणमवतारं तत्र द्विधा सारं बदन् प्रसन्नतो प्रपन्त्ये

"मांसारं प्रवक्ष्यामि सर्वगीतोत्तरोत्तरम् । कृणोऽयमर्जुनायाऽऽहे"ति प्रतिज्ञाय "द्वैवी शेषा गुण-मयी" "यस्यं जाप्रति भूतानी"त्यादीनि कतिचिपद्याचयेवोक्तवान् । अर्थमात्रोक्तौ तु पद्यानि न वदेत् । अतो भारतेचरभावित्वमात्रेणस्यापि सिध्यति । एवं च पुराणत्रयबहिर्भावेऽष्टादशानां पूर्वभावाभावादष्टादशपुराणानि च वाक्यस्यैवाऽऽसङ्गतत्वाप्रतिष्ठं । ननु सूतोच्यनुवादबद्धिदं गोगबलेनादावेवावादि, प्राक्कल्पीयवावादीति - ननु भारतेचरत्वसिद्धिः, तथा सति वाक्यस्यापि नासङ्गतिरिति चेत्, तर्हि प्रकृत्येऽपि तौल्यात्परिहत एव भवत विरोध इति न ते वक्तुमवकाशः । नन्वपरितोषासङ्घतेरेत्यवकाश इति चेत्, न, प्राक्कल्पीयस्यासपरितोषानुवादस्यात्रापि शाक्यवचनात्, इदमपि त्वदीत्योक्तम् । अन्यथा तु "अष्टादश पुराणानि कृतवति" - ल्यष्टादशपुराणानि कृत्येत्येकं, परं सत्यवतीसुविशेषणम् । न च क निबन्धसम्भवः "राजनि सुधि क्लृब," इत्यत्र क्लृब इति योगविभागादितिः । तथासति योऽष्टादशपुराणरक्षकः स भारत-कर्तेति पूर्वापरभावमन्तरेणापि भूताथर्थादोपपत्तिरिति न किञ्चिदेतत् । उक्तकाशीखण्डवैक-वाक्येनैव निर्णयस्य जातत्वात् ।

अत एव "अधीतान्द्वारादी पितुर्देवापानदाहमि"ति "कलौ नष्टदशमिष पुराणांकोऽनुदितः," इति वाक्यद्वयमपि सङ्गच्छते । द्वापरदौ पाठस्य कल्यादी शुकेन प्रचाररूपस्योदयस्य विशदी-भायात् । "लोकस्याजगतो व्यासश्चकेः सारवतराहित"मिति तु काञ्चनोक्त्याख्यातप्राप्येवातो न कोऽपि शङ्कालेशः ।

यत्तु, "अष्टादशपुराणानि अद्य व्याकरणाणि च । ज्ञाया सत्यवती सुनुश्चके भारतसंहिता"मिति भविष्यप्रमयाप्यववाक्यम् । तत्तु, शतकोटिप्रतिलस्रापुराणान्तराष्टादशसजातीयवाच्यत्वं दम्बरम् । व्याकरणादिकर्षयत् । नानानिषधतुद्ग्रहशब्दनामानिभार्षस्य भारत उपनिबन्धनीयत्वेन तज्ज्ञानस्यावश्यकत्वात् । न तु सकर्तृकतैव्यपरम् । शतकोटिप्रतिलस्राहानेनैव चारितीयनैतज्ज्ञान-नस्यावश्यकतया तत्कथनन्युपयोगात् । असर्वज्ञत्वापादकत्वात् । तथाप्युपुराणत्वेन वक्ष्यमाण-राशिपरं भाति । अथवायमासक्तिदोषो 'सर्वान्येव पुराणानि कथितानि नरर्षभ । द्वादशैव सहस्राणि प्रोक्तानिह महर्षिभिः । पुनर्द्विजैः यतानीह व्याख्यानेर्बहुभिर्भूय । यथा स्तानन्दं तथा चेदं भविष्यं कुन्दनदम् । प्रह्लादं शतसाहस्रं श्लोकानां ज्ञानमेव हि । भविष्यमेव ऋषिणा लक्षार्द्धं सङ्गृह्या कृत'मित्युक्त्वा पुराणदर्शनप्रसङ्गदर्शनात् । न चेहोक्तयोः स्तानन्दमभिव्यक्त्योर्मेहापुराणत्वं शङ्क्यम् । महर्षिप्रोक्तल्लिङ्गविरोधात् पुराणरक्षकाविरोधाच्च । स्तानन्दमेकाशीतिसहस्रकम् । शतमेकं तथेति । चतुर्विंशद्विषयं च तथा पञ्चशतानि"वेत्यादिवाक्यात् ।

किञ्च, श्रीभागवते निर्दुष्टिमिसङ्ग्रेऽपि वेदानां चतुर्थकरणमेवोक्तं, इतिहासपुराणापाठकमेव च सूचयित्वा वेदानां शास्त्रिकं ततो भारतकरणं चोक्त्याऽनिर्दिष्टरुकां । न तु पुराणसमन्वित-छन्दोऽष्टादशस्याप्यभिभागः । पूर्वोक्तमेव तेनाऽपि ज्ञायते । कानिचित् पूर्वं कृतानि कानिचिन्नेति ।

यत्तु कर्त्तव्यं, श्रीभागवतमष्टादशपुराणातिरिक्तम् । वेदेतिहासपुराणरचयितुरन्यातवित्त-प्रसादस्य व्यासस्य वित्तप्रसादजनकत्वादित्याह-तत्र हेतुरस्य साध्यं मासु । अन्या द्वादश-

स्कन्धसमाप्तिस्य पुराणसङ्ख्यासम्भूतिमिलादिना ऋषादिपुराणसङ्ख्यागणनावसरे दशाष्टौ श्रीभागवतमित्यस्य गणनस्य “एवं पुराणरन्दोहक्षतुल्लेख उदाहृतः । तन्नाष्टादशसहस्रं श्रीभागवतमित्येत । इदं भगवता पूर्वं ब्राह्मणे नामिपङ्कजम्” इत्यत्र तत्रेति सप्तम्या इदमथ विरोधापातात्, तस्मिन्नेव स्कन्धे सप्तमाध्याये “सर्गोऽस्याये”त्यादिनोक्तस्य महापुराणसामान्य-लक्षणस्य द्वितीयस्कन्धस्य “अत्र सर्गो विसर्गश्चे”त्यस्य श्रीभागवतलक्षणस्य च विचारे प्रतीयमानस्य सामान्यविशेषभावस्य बाधप्रसक्तया तद्विरोधापत्तेश्च । न च “द्वापरे समनुप्राप्त” इत्यादि-प्रथमस्कन्धस्य सन्दर्भविरोधः । “जिज्ञामित सुसम्पन्नमपि ते महद्दुःखम् । कृतवान् भारतं यत्वं सर्वार्थपरिच्छृणितम् । जिज्ञासितमधीतं च यत्तद्भ्रूलसनात्मनम् । तथापि शोचस्यात्मानमकृतार्थं ह्य प्रभो” इति नारदोक्तौ भारतकरणाद्भ्रूलजिज्ञासास्थयानामाभेयोक्तात्तदनुवादके “अस्यैव मे सर्वमिदं त्वयोकमिति”वाक्येऽपि तेषामेव परामर्शेनाष्टादशधाराकरणस्य श्रीभागवतपूर्वभावित्वात्तेः ।

एवं च द्वादशस्कन्धेऽस्य पञ्चमत्वेन गणनामत्वादि पुराणानि भारतं च कृत्वाऽपरिगुष्टो नारदोपदेशेनेदं चकार । ततः परिगुष्टोऽप्येवमाधिकारिणामर्थे तत्तद्योग्यान्वयानि चकारेति ज्ञायते । एतेनैवेतिहासपुराणानामिति बहुत्वस्योपपत्तौ बाधान्तराणामपि निरासेऽतिरेककल्पनं भागवतान्तरस्योच्छेदकल्पनादिकं च प्रतिषेध विरोधादिप्रासादादुपेयमिति सुधीभिरवश्येयम् ।

प्रकृतमनुसरामः । अतः पुराणेषु कालत्रयस्य सङ्कलीकृत्य रूपनाऽपुराणभारतयोः पूर्वो-परभावस्याविषक्षितत्वात्सुस्तकान्तरेषु अष्टादशपुराणानां कर्तविते षाट्दशानाम् नाष्टादशविद्भिर्भावोऽस्ये-ल्ल्याष्टादशान्तर्गतत्वेनेव श्रीभागवतस्य बुद्धिमद्भिन्नुसन्धेयमिति शुभम् ॥

तत्त्वदीपप्रकाशेन यः पन्था दृष्टिगोचरः ।

कृतस्तेन पथाऽस्माग्री रक्षा शङ्का निरकृता ॥

इति श्रीमद्ब्रह्मसंहार्यचरणनलिनाज्ञातोचमद्भ्रूवीपीताम्बरतनुजपु-
पोत्तमकृतावतारवाद्भावल्यां श्रीभागवतस्वरूपविवेक-
शङ्कानिरासवाद्ब्रह्मयोद्देशः समाप्तः ॥

श्रीमद्भागवतप्रमाणभास्करः ।

श्रीमद्ब्रह्मचरणान्नवा विलिखामि संशयच्छेदम् ।

निखिलप्रमाणमूर्द्धनि भागवते सन्दिहानानाम् ॥ १ ॥

ननु केचन भ्रान्ताः भागवतं वीरुपेयमेव वदन्ति । केचन देवीपुराणं कालिकापुराणं वा । उनयत्र भोगव्रतप्रयोगात् । भगवत्या इदं भागवमिति देवीपुराणे प्रथमश्लोक एव प्रयुक्तत्वात् । ‘यदिदं कालिकाख्यं तु मूर्द्धं भागवतं विदुरे’ति कालिकापुराणे च भागवतपदप्रयोगात् । तथैव ‘पराशरोक्तमपरं तथा भागवतद्वयमिति कूर्मपुराणवचनाच्च । किञ्च, पुराणदानप्रस्तावे मत्स्य-पुराणेऽपि भागवतदानस्य हेमसिद्धिसमन्वितवस्तुक्तं तेषामि देवीपुराणमेव तद्विलयगम्यते । अन्यथा सिद्धसमन्वितत्वं न वदेद्युः ।

किञ्च, श्रीधरस्वामिनाऽपि संशयमेवोक्तं भागवतं नाग नाम्पदिति शङ्कनीयमिति । अथ च प्राचीननिबन्धकारैरपि प्रमाणत्वेन कुत्रापि न लिखितानि भागवतपद्यानीत्येतेर्द्वैतुमिच्छयात्वं निश्चीयत इति चेत्—

उच्यते । अहो निखिलपुराणादिप्रमाणगणनदिनकरनिकरिणप्रकाशेऽपि महामोहान्धकाराद्-तचेतस्मागलक्षयत्वम् । तथाहि— न हि भागवतनिर्णयो लौकिकपुत्रया भवति केनचित्पौरुषेयमित्यु-त्वेन तस्य वीरुपेयत्वम् । उपपुराण(लक्षण)म् । यथा तत्सपुराणनिर्णयस्तथा श्रीभागवतस्यापि पुराणोक्तलक्षणैरेव निर्णयः कर्तुं शक्यो नाम्पथा । तथा च प्रथमं मत्स्यपुराणे सकलपुराणानां लक्षणकथनपूर्वकमुपस्कृतसहितं दानमुक्तम् । तत्र भागवतस्यापि दानकथने—

‘यत्राधिकृत्य गायत्रीं वर्ण्यते धर्मवित्तरः ।

वृत्रासुरवधोपेतं तद्भागवतमुच्यते ।

लिखित्वा तत्र यो द्वापद्विमसिद्धसमन्वितम् ।

प्रोष्टपथां पौर्णमास्यां स याति परमं पदमि’त्युक्तम् ।

न हि वीरुपेयत्वे तादृक् दारुणत्वं सम्भवति ।

नारदीयेऽपि,

‘तुलसीकाननं विष्णोर्यया प्रियतमं बद्ध ।

पुराणं च शुक्रप्रोक्तं तथा तुलसिचन्दनमिति ।

पारे च

‘अन्वरीपञ्चकप्रोक्तं निलं भागवतं श्रुणु ।

पठस्व स्वमुखेनापि यदीच्छसि भवक्षयमिति ।

स्कन्धपुराणे च ब्रह्माणं प्रति भगवद्वाक्यम्—

‘सम्भविष्यामि कल्या सत्यवत्यां पराशरात् ।
वेदार्थं चैव वक्ष्यामि सर्वेषां हितकाम्यया ॥
ब्रह्मत्वं फरिष्यामि सर्वदुस्त्वयमित्तये ।
दर्शयिष्यामि वेदार्थं भारतव्यपदेशतः ॥
वेदशास्त्रासु नद्यासु वेदार्थो भारते कळी ।
दृश्यते नात्र सन्देहः कर्तव्यः केनचित्कवित् ॥
भारते भगवद्गीता श्रुत्यै संशयापह्ला ।
श्रुतिकल्पतरोः साक्षात्फलं भागवतं विदुः ।
गीताधींस्तरिपाहं वक्ष्यामि च विशेषतः ।
तेन रूपेण वेदार्थं यद्वक्ष्यामि तथैव तत् ॥
तयोर्न मन्यते मूढः स पापण्डी नराधमः ॥
भविष्यति कळी सृष्टिरासुरी ब्राह्मणेभ्यः ।
ते हि वक्ष्यन्ति वेदार्थमन्यथा हि यथेच्छया ।
कृष्णद्वैपायनाख्यो हि सम्भविष्यामि सर्वथा ॥
इत्युक्त्वाऽनं स भगवांसत्रैवांस्तरवीपते’ इत्युक्तम् ।

अत एव व्यासचरणैरपि श्रुतिकल्पतत्फलरूपत्वेनैवोपक्रमितं ‘निगमकल्पितरोरि’त्यत्र । एवं चैतावद्यमानोऽच्छुद्धधर्मवत्सं श्रीभागवतस्यैवोक्तं न तु देवीपुराणादौ क्वचिद्गुहं श्रुतं वा । तादृशे श्रीभागवते पीरुपेयवं देवीपुराणवं वा वक्तुं कर्तं तत्र जिह्वा चलति । चलने वा छिन्ना ततो कथं न पतति ।

अन्यत्र हरिवंशेऽप्युक्तम्,

पुराणास्ते पुराणेषु ऋषयः सम्प्रचक्षते ।
श्रुयते चास्य चरितं वेदेभ्यपि पुरातनम् ॥
महापुराणाभ्युक्तिं परं तस्य न विद्यते ।
यथास्य देवदेवस्य चरितं स्रष्टमवावजि’ति ।

अस्यार्थस्तु—पुराणाः प्राचीनाः ऋषयः । तं भगवतं लोकवेदप्रसिद्धं पुराणेषु सम्यक् प्रचक्षते । अथ च वेदेभ्यपि अस्य चरितं पुरातनं श्रूयते । तथापि महापुराणां श्रीभागवतत्परमुक्तं कुत्रापि न विद्यते । तत्र हेतुः प्रयुतीति । सृष्टिक्रममारभ्य । अपवात्, महापुराणाभ्युक्तिं महापुराणमारभ्यैव प्रारम्भासमाप्तिपर्यन्तं साक्षाद्भगवच्चरितं सर्वेण स्वयन्तु अन्यत्र खण्डशो निरूपणं महापुराणे सामस्येन साधनफलसहितं यादृशं भगवत्कृत्यं श्रुत्युक्तं वसति तादृशमेवोक्तमिति भावः । अत एव सर्वपुराणानां मध्ये श्रीभागवतं तु महापुराणम्, दशलक्षणयुक्तत्वात् । सामान्यतः पुराणं,

‘सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥’ इत्युक्तम् ।

इदं तु ‘अत्र सर्गो विसर्गश्चेत्यादिदशलक्षणयुक्तवान्महापुराणमित्युच्यते । लक्षणोक्त्येण धर्मोक्त्येण च महत्त्वम्, तदर्थोमयनपीति युक्तमेव महापुराणत्वम् । एतेनापि देवीपुराणपीरुपेयवादिशङ्का निरस्ता लक्षणाऽप्रवेशात् । न च पुराणस्य पञ्चलक्षणत्वस्यैव नियमादस्य तु दशलक्षणत्वात्कथमष्टादशपुराणापत्तौत्कमिति वाच्यम् । अधिकं तत्रानुप्रविष्टमिति न्यायाख्यै पञ्च लक्षणानि सिद्धान्त्येव, पञ्चाधिकानि जानामीति तदुक्त्यै एव सिद्ध इति महापुराणत्वं सिद्धम् । पुराणत्वं तु खतः सिद्धमेवाधिकलक्षणेन परं महत्त्वं सम्पन्नमिति समस्तपुराणेष्वप्यधिकोक्त्यै निरूपितः । एवं सति सुहृत् महापुराणाध्वृतीति ।

एवं सति पुराणास्तं, पुराणेष्वित्यत्र—समित्युपसर्ग उक्त इति न सङ्गच्छत इति चेत्, न; ते ऋषयस्तु जीवास्तत्कल्पानुसारेण भगवच्चरितं खज्ञानानुसारेण सम्यगेव कथयन्ति, महापुराणकथनं तु भगवता साक्षात्समाधौ लोलासहितं शस्त्ररूपमनुभाष्य स्तस्वरूपेणैव कृष्णद्वैपायनेन कारितमिति तदुक्त्यैः सर्वाधिको निरूपित इति सर्वमनवयम् ।

किञ्च, अथारशपुराणन्तर्गतत्वं पुराणे सिद्धं ननु कश्चित् येनाऽन्यथा भवेत् । तथाहि वाराहपुराणे—

‘ब्राह्मं पापं वैष्णवं च शैवं भागवतं तथा ।
तथाप्यनारदीयं च मार्कण्डेयं च सप्तम् ॥
आग्नेयमष्टमं प्रोक्तं भविष्यं नवमं तथा ।
दशमं ब्रह्मवैवर्तं लैङ्गमेकादशं तथा ॥
वाराहं द्वादशं प्रोक्तं स्कान्दं चात्र त्रयोदशम् ।
चतुर्दशं वामनं च कीर्त्तयिष्ये पञ्चदशं स्यूतम् ॥
मात्स्यं च गारुडं चैव ब्रह्माण्डमष्टादशं तथे’ति ॥

मात्स्यपुराणे च सूत्रचनम्—

‘पुराणानि दशाष्टौ च साम्प्रतं तदिदोष्यते ।
नामस्तानि वक्ष्यामि श्रुत्युष्वपि सित्तमाः ॥
महाणामिहितं पूर्वं मात्स्यं त्रे मरीचये ।
ब्राह्मं द्वादशं प्रोक्तं स्कान्दं चानुपरिचितं तमि’त्यारभ्य ब्रह्माण्डपुराणपर्यन्तं,
‘राजसूयसहस्रस्य फलमाप्नोति मानवः ।
हेमधेन्या युतं तत्र ब्रह्मलोकफलद्रमि’त्यनेन ।

तत्र मध्ये ‘यत्राधिकृत्य गायत्रीभि’त्युक्तलक्षणसहिता भागवतगणना कृतेति, तदन्तःपातितं सिद्धमेवेति भावः ।

विष्णुपुराणे च—

ब्राह्मं पादं वैष्णवं च शैवं भागवतं तथा ॥
 तथास्यनारदीयं च भार्गवकण्डेयं च सप्तमम् ॥
 अग्नेयमष्टमं चैव भविष्यं नवमं स्मृतम् ॥
 दशमं ब्रह्मवैवर्तं लैङ्गवैकादशं स्मृतम् ॥
 वाराहं द्वादशं चैव स्कान्दं चात्र त्रयोदशम् ॥
 चतुर्दशं यामनकं कौमं पञ्चदशं तथा ॥
 मात्स्यं च गारुडं चैव ब्रह्माण्डं च ततः परमि'ति ॥

ननु भागवतस्य महत्त्वं ग्रन्थाधिक्यादेव कथितं भवेदिति चेत्, न; हत्वेदान्तीमेव निर्णात-
 मन्पर्यं नानुसन्धसि । तथाहि—

“पुराणास्तं पुराणेषु पुराणं यं प्रचक्षते” इत्युपक्रम्य,

“महापुराणत्वमिति परं तस्य न विद्यते ।

तथास्य देवदेवस्य चरितं स्रग्भाषजम् ॥”

इत्युक्त्याद्भागवतप्रभावस्य महत्त्वं कारणत्वं नान्यत्वेति सर्वमयदात्तम् ।

अन्वयः, एतत् एकस्य न्यूनधिकभावैर्नैव महत्त्वोक्तौ समस्तपुराणेभ्यस्त्ववशा स्यात् । यत्रैव
 ग्रन्थाधिक्यं तत्रैव महत्त्वं पर्यवस्यतीति । अत एव साक्षाद्भागवता यदा सभाषी सर्वे ज्ञापितं
 तदा, तदनुभूय व्यासचरणैर्निरूपितमिति भगवत्सम्बन्धैर्नैव महत्त्वं नान्यजन्ममिति सर्वं सुस्पष्टम् ।
 किञ्च, यथा पुराणानां स्थापिष्टान्देवसम्बन्धित्वेन नाम प्रसिद्धं ब्राह्मं पादं वैष्णवं चेत्यादि,
 तथा भागवतस्यापि भगवत्सम्बन्धित्वेनैव तथात्मनिलत्वं विस्तरेण ।

यत्र पुराणदानप्रसन्नते सिद्धसमन्वित्वेन दानकथनादेवीपुराणत्वमुच्यते । तत्रापि श्रुत्वा
 निर्णयः प्रकल्पानुसारी कर्तव्यः । न भोजनसमये सैन्धवमानयेत्युक्तेऽन्नानयनमुच्यते । किन्तु
 लक्षणमेव । तथा च मत्स्यपुराणे समस्तपुराणानां दानं कथितम्, तत्र यथा, समस्तपुराणानां
 तत्तदुपस्करसहितं दानं कथितम्, तथा भागवतस्यापि हेमसिद्धसमन्वित्वं दानमुक्तम् । नैतावता
 सिद्धदाम्येण देवीपुराणत्वं वक्तुं शक्यम् । यतः पूर्वं यत्राधिकृत्य गायत्रीमंत्रियुक्तलक्षणकथनेन
 निश्चयं कृत्वाऽप्रे दानमुक्तम् । तथा सति सिद्धपदस्याप्येव द्वाऽभिप्रायः । तथाहि— हेमः सिंहा
 यत्र चतुर्धरपि पापेषु तादृशं सिंहासनं, तेन समन्वितम् । एतेन तत्र श्रीभागवतपुस्तकं प्रतिष्ठाप्य
 पूर्वा कृत्वा दानं कुर्वतीति विधिर्निर्दिष्ट इति भावः ।

नन्वास्तान्यन्तरं श्रीधरस्वामिना संतंशयमुक्तं भागवतं नाम नान्यदिति । तत्राप्युच्यते । अहो
 निखिलपुराणदिप्रमाणसादृशमनिकरमाश्रयत्वात्पितस्य बालकृत्स्नस्यैव तव खगतिरपि विसृता, यत-
 र्स्वगुल्मपाश्र्वमवलम्बित्वात्तुमिच्छति । रे मूढ श्रीधरस्वामिमिति त्वाद्दशानामेव मुखमर्दनायै निःस-
 र्दिधतया तयोक्तम् । नहि वेदानां प्रामाण्यविचारोपक्रमेणैवाऽप्राप्त्यर्थं भवति । तदा तु मीमां-
 सकाः समस्तवेदोच्छेदका एव भवेयुः । यद्येदानीं अमत्सया तस्समयेऽपि कल्किकालजनितमहा-
 मोहविहितासुरावेशभान्तानां बहूनां भविष्यतीति तेषां निःसर्दिधत्वज्ञापनाय प्रमाणपूर्वकं तयो-
 क्तमिति सर्वमवदात्तम् ।

यद्योक्तम्, प्राचीननिबन्धेषु श्रीभागवतवचनानि नोपलभ्यन्ते तत्राप्युच्यते । एतावत्कुतः
 साक्षाद्भागवतं पूर्णं ब्रह्मणि द्वेषपरिवेष्टितेव बुद्धिर्विदिता भवति । यतो वैकुण्ठादागतस्य साक्षा-
 न्नाशयणमुष्णाद्ब्रह्मणा प्राप्तस्य, ततोऽपि नारदादिभिः परंपरया मुच्यमागतस्य भागवतस्य निबन्धेषु
 कायश्चित् पौरुषेयत्वं साधनीयम् । तत्त्वेवमलौकिकपदार्थस्य लौकिकत्वं भवति । श्रुत्वा, यत्र-
 वचनानि न सन्तीत्येतावन्मात्रेण भागवतस्य लौकिकत्वं वदसि । तत्र तावद्विचारय निबन्धेषु
 केषां धर्माणां विचारः कृतो वर्तते । यदि वदसि प्रवृत्तिर्माणांम् । नहि भागवते प्रवृत्तिधर्मो,
 किन्तु निवृत्तिधर्मो । तत्रापि परमधर्मो इति न तद्वचनविषयास्ते निबन्धा इति न लिखितानीति,
 नैतावता तथात्वं भवितुमर्हति । पूर्वमेवाऽनैकप्रमाणेन सिद्धत्वात् । किञ्च, निबन्धेष्वपि सन्ति
 वचनानि । तत्र प्रथममखिलप्रमाणमूर्तानि हेमाद्रौ तत्रखण्डारभे,

‘हीशूदद्विजबन्धूनां श्रयी न क्षुण्णिगोचरा ।

इति भारतनाह्वयानं कृपया मुनिना कृतमिति प्रथमस्कन्धपथमुदाहृतम् ।

तथा च प्रतापमार्तण्डेऽपि भक्तिप्रतज्ञे । अन्वेष्यपि निबन्धेषु वैष्णवनिबन्धेषु च बहूनि
 सन्तीति किमनोऽपिचिं भाष्यम् ।

नन्वेवं प्रमाणीः श्रीभागवतस्य महापुराणत्ववदलौकिकत्वमहादशपुराणान्तर्गतत्वं च साधितम् ।
 परन्तु,

‘अष्टादशपुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः ।

भारताह्वयानमखिलं चक्रे तदुपबृंहितम् ॥

इत्युक्त्याऽऽदशपुराणाऽन्तरं भारतं कृतमिति निरूपितम् । भागवते तु भारतानन्तरं विष्णु-
 श्रुद्धौ नारदोपदेशे समाधावनुभूय भागवतं कृतमित्युक्तम् । एवं सति भारतानन्तरंकरणेऽष्टादश-
 पुराणमन्यथासिद्धं न सम्भवति, तन्मध्यपातित्वे तदनन्तरकृतिर्न सम्भवीति चेत् ? उच्यते,
 श्रीभागवतनैक्यरूपेण भूमी प्रकटम् । प्रथमं नारायणमुखात्प्रकटं सूक्ष्मभूतम् । ततो ब्रह्मसूत्रास्-
 कमेव । ततो नारदद्वारा । एवं परंपराप्राप्तं तत्तत्कल्पेषु । तन्नाम्यकल्पेषु व्यासोऽपि जीव एव ।
 भगवत्परिब्राज्यपरि तत्तत्कल्पानुसारी विभूतिरुपाण्येव । व्यासोऽपि स्थापिकारानुसार्यैव श्रीभाग-
 वतं निरूपितवान् । भगवतः स्वरूपाज्ञापनात् । अत एवाप्रे भगवतो न प्रसादः । यदा पुनर्मंगवा-
 न्साक्षात्स्वयं पूर्णस्वरूपाविर्भावो कृत्वा भक्तानामानन्ददानार्थं सारस्वतकल्पीयां लीलां कृत्यान्
 तत्परिब्राज्यकं श्रीभागवतं प्रकटयितुकामः साक्षात्स्वरूपात्मकः कृष्णद्वैपायनो व्यासः स्वयमेव
 प्रकटीभवत् । ततः पुनः समाषी सर्वं खचरित्रं ज्ञापितव्यंसादा । पुनरिदानीं व्यासचरित्रेण
 निरूपितम् । इयं यथा भारतकरणेऽपि गीतार्थो न रक्तेो जातः यदा पुनः,

‘अपश्यत्पुरुषं पूर्णं मायां च तदुपाश्रयम् ॥

पुरुषो मायया बद्धो मोचनं भक्तिहेतुकम् ॥

इति समाधावनुभूतं तदा गीतार्थोऽपि स्फुरितः । अत एव तद्विस्तारत्वेन भागवतम् । एवं
 सति भागवतस्यापि पूर्वं स्थापिकारानुसार्यैव ज्ञानं जातम्, न तु यथार्थस्वरूपम् । पश्चाद्भागव-

कृपया सारस्वतकल्पानुसारिचरित्रस्य यया स्वरूपं तादृशं ज्ञानं जातमिति तद्विस्तारेण पुनः
काचितमिति न कश्चिदपूर्वपक्षावसर इति सर्वमनवयम् ।

इदानीमपि श्रीभागवतं सर्वैः साधिकागनुसारेणैव व्याख्यायते । श्रीमदस्मदाचार्यैर्ब्रह्माख्यातं
तत्सारस्वतकल्पानुसारेणैवेति सर्वं सुखम् । अत एव नारदेनापि व्यासं प्रति तथैवोक्तम् ।

‘यथा धर्माद्यक्षाधी मुनिवर्षानुवर्णिताः ।

न तथा वासुदेवस्य महिमा ह्यनुवर्णिता’ इति ।

तेन समाधानमुभूतस्यैव कथनम् । विशेषकथनं तदेवानुवर्णनम् । वर्णनं तु पूर्वमपि कृतमे-
वेदानीं विस्तारतो वर्णनमेवानुवर्णनमित्यर्थः । अत एवाऽन्विक्रियत्सर्गकथनम् । अनेनाष्टादशान्तर्ग-
तमेव भागवतं पुनर्विस्तरेणानुवर्णितमिति न किञ्चदनुपपन्नम् । तथा चात्र पूर्वोक्तानि स्कन्दपुरा-
णोक्तानि ब्रह्माणं प्रति भगवद्वाक्यान्पुनस्तुष्टेयानि । ‘सम्भविभ्यामि कल्पे’स्वार्थेऽप्युक्त्वा ‘अवं स
भगवानि’स्वन्तम् । तत्र वेदार्थप्रदर्शनं ब्रह्मसूत्रकरणं गीतासौंदिह्यस्तरेण भागवतकथनं स्वकर्तृकमेव
प्रभुः कथयति नान्यकर्तृकमिति यक्ष्यामीति क्रियया ज्ञायते । अत एव नारदेनापि ‘न तथा
ह्यनुवर्णित’ इत्येवोक्तं न द्रष्टव्यम् । यतो भगवद्भाषितमेव तज्ज्ञातं भवति नान्यथेति । एवं सति
बीजरूपेण तादृशं भागवतं कर्षं वक्तुं शक्यमत एवापरितोषः । भगवता ज्ञापिते तद्विस्तारकथन-
मेवानुवर्णनमुच्यते इति सर्वमवदातम् ।

इति श्रीमद्भागवतप्रमाणभास्करो नाम निर्णयः संपूर्णः ॥

॥ श्रीभागवतप्रतिपदमभिवरणांशुभूतितृते नमः ॥

सागरस्थ श्रीमद्भागवतप्रयुक्तानां
दुर्जनमुखचपेटिका

पं० कन्हैयालालविरचितया
प्रहसिकाव्याख्यया सहितानां ।

—०—+०—+०—+०—

॥ श्रीहरये नमः ॥

श्रीमद्भागवतत्रयमपुराणं विष्णुसामिभम् ।

कलौ यत्कीर्तनाज्ञान्यत्साधनं परमार्थदम् ॥ १ ॥

पाण्डाकुलकल्मषाः कुकृतिनो निन्दन्तु ये वैदिकान्

तेषां भागवते प्रतीपमतिता युक्ता हि तन्मूलके ।

तद्वाचक्ष्वेदनिषेवणास्तधिपणा ये देवसर्गे स्थिता

मा भूवधिति मे विचाररचना पीयूषपाचः श्रुतिः ॥ २ ॥

तत्र तावकेनचिद्भूतपनामकवाशीनाथेन श्रीमद्भागवतस्य महापुराणेऽनार्थत्वमुद्घातितम्, तत्रि-
राकारोप्यतस्तस्य भेदस्यादनादियेवाक्यत्वं गङ्गाधरभट्टाः प्रतिजानति । तत्र महाभाष्यादिसम्पत्
ग्रन्थादौ मङ्गलमाचरति शिष्यशिक्षार्थं श्रोतृवक्त्राणामस्युदधार्थं च श्रीहरय इति । हरति
दुःखनीति हरिः, श्रिया युक्तो हरिः श्रीहरिः, तस्मै गुरुरूपिणे नमः । गुरुरूपिण एव हरेर्दुःख-
दूरीकरणसमर्थत्वात् । ‘जनानामुपकाराय गुरुरूपी जनार्दनः । हरो रुधे गुरुत्वात् गुरो रुधे
न कश्चन’ इति देवीभागवते इति ॥ नहि केवलभागवतपदं शाक्तभागवतपदं भवितुमर्हति,
भागवतपदस्य वैष्णवपरत्वेनैव व्यवहारात् । ‘एतानां परमभागवतान्नामानी’त्यादौ तथादर्शनात् ।
नहि शाक्तिकेषु कश्चिदपि भागवतपदं श्रूयते । तस्माद्दर्शनमाहकमानेनैव भागवतपदं प्रसिद्धभागवत-
परमेव । किञ्च, रुद्रियोगगुणहरति इति न्यायात् केवलयोगिकाथो न तत्र युक्तः । पुराणेषु
श्रुतं भागवतपदं प्रकृतभागवतमेव गमयति । श्लोक इति । या विश्वं वितनोति पाठयति या संहरति
कल्पक्षये इत्यादिमश्लोक एव संहरतीति । हन्-हरणे, इति भौवादिकत्वाद्हरतीति प्राप्तम् ।
‘स्वाकीपुलाक’ इति एकस्मिन्नपि तण्डुलादौ परिचिते एकापकज्ञानं जायते । एवमिहापि
सर्वमपि “प्रथमघारा एव मक्षिकापाते प्रासान्तरे तु छर्दिरेव” इत्यपि ज्ञेये सर्वमप्रतिबद्धमिति भावः ॥
देवीभागवतप्रतिपादनश्लोके संहरति तावदशुद्धम् । तेन स्वाकीपुलाकन्यायेन सर्वमपि
तादृशमिति ज्ञेयम् ॥

१ दवं चपेटिका अन्यथा, रामचन्द्राश्रमस्य चान्या, प्रहसिकासाक्षरेणैव रामचन्द्राश्रमस्य दृष्टकृत्या
वीकृतत्वात् ।

तथाहि न तावत्पञ्चलक्षणानि दशलक्षणान्यतिवर्तन्ते ।
यतो, पञ्चलक्षणतया श्रीभागवतस्य तत्त्वमपेयात् ।
अष्टादशपुराणानि कृत्वेति वचनात् कृत्यान्तमपि तु
कनिवन्तं कर्त्तव्यं विरोधोऽपीयानपि ॥ ३ ॥

तदनेपोपादयन्त आहुः—तथा हि न तावदिति । यत्नेकोऽपि पुराणं पञ्चलक्षणमिति लक्षणपादश्लक्षणस्य श्रीभागवतस्य कथं पुराणत्वमिति ? तत्रोच्यते, गन्धकती घृष्टीति लक्षणे जलक्षितिप्राणभृतां चतुर्दशैयुक्त्या चतुर्दशगुणशक्तिव्येऽपि न व्यभिचारः । असाधारणस्यैव लक्षणकत्वात् । दशलक्षणे भागवते प्रकृते लक्षणानां सत्त्वात्सर्गादिरूपाणामधिकसत्त्वे बाधकाभावात् । न हि “सर्गश्च प्रतिसर्गश्च बंधो मन्वन्तराणि च । वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणमि”त्यत्र तावन्मात्रमेव नियम्यते । किन्तु, गन्धसत्त्वाद्भ्रूम्यां पुराणेषु पञ्चलक्षणत्वं विधीयते । पञ्चलक्षणानि दशलक्षणेषु न हीयन्ते । अपञ्चमात्रलक्षणेऽपि भागवते दशलक्षणानां सत्त्वात् । इदोर्नैकप्रतीतेः । श्रीभागवतस्य तत्त्वं पुराणत्वम् । किञ्च, कोशलक्षणमपि प्रायिकम् । औपम्यः फलपात्रांशाः इति यावत् । शीतादिनाप्त्येवधिना विना दर्शनात् फलपात्रान्तस्त्वान्यत्रापि सत्त्वात् । नामपक्षे तु तत्रापि तद्वक्तुं शक्यत्वाददोषः । किञ्च, पञ्चलक्षणं पुराणजातमित्यपि नियमाभावः । भविष्यम्पुराणयोः ब्रतकर्मणोरैव विस्तृतत्वात् । विष्णुपुराणेऽपि बंधोऽप्यपि पञ्चलक्षणेः भारतादिचिन्तित्वात्सैव प्रायिकमेवेति निश्चयः । किञ्च, ब्रह्मवैवर्ते कृष्णखण्डे समासितदेशे । “सर्गश्च प्रतिसर्गश्च बंधो मन्वन्तराणि च । वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥ तदल्पपुराणानां लक्षणं तु विदुर्बुधाः । दशाधिकं लक्षणं च महतां परिकीर्तितम्” इत्युक्तेर्न शक्यकलङ्कः कश्चित् । न च महत्सु स्कान्दपात्रादिषु तत्त्वमन्वयेति निश्चयेते कथं तेषां तथाश्चमिति वाच्यम्, पञ्चलक्षणत्वमेवाप्येति अप्रतिज्ञातत्वात् ॥२॥

ननु “अष्टादशपुराणानि कृत्वा सत्यतीक्ष्णतः । भारताख्यानमखिलं चके तदुत्पुंक्षितम्” ॥ इत्युक्तेः, श्रीभागवतस्य तु “कृतव्याभारतं पर्यन्तं सर्वांगपरिवृंहितमि”त्याद्युक्त्या भारतोत्तरत्वमायाति । कथमष्टादशान्तर्गतत्वम् ? तथाहुः—अष्टादशेति । “राजयुधि युधि कृञ्” इति सूत्रे कृञ् इति योगविभागात्कनिप्, तुकि च कृते कृत्वेति सिद्धम् । किञ्च, स्कन्दमहास्यपुराणयोः प्राचीन-पुस्तकेषु कर्तेति पाठान्न दोषः प्रसक्तिः । किञ्च, “अष्टादशपुराणानि, अष्टौ व्याकरणाणि च । ज्ञात्वा सत्यतीक्ष्णुश्चके भारतसंहिताम्” इति भविष्यध्यायाम्पायाद्भारतेऽष्टादश-पुराणार्थतापर्यस्य सत्त्वात् । पूर्वापरभावोऽर्थकृतः, ननु पाठकृतः । तेषामानिदिसिद्धत्वस्य मात्स्ये “पुराणं सर्वैशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणोदितम् । नित्यं शब्दमयं ब्रह्म शतकोटिप्रविष्टम् ॥ अनन्तरं च तन्मन्त्रो वेदस्यस्य विनिर्गताः । पुराणमेकमेवासीत्सिन्धुन्यापन्तरंऽनघ । इति कीर्तनाद्देवेऽपि पुराणेतिहासानां महतो भूतस्य निःशसितत्वेऽनादित्वव्यापनत्वात् । भार-तेऽपि—“यदिहास्ति तदप्यत्र यन्नास्ति न तत्कश्चिदि”त्युक्तेरप्युक्तोऽर्थः सिद्धः ॥ ननु

यदि च देवीभागवतमात्रवचसा श्रीभागवतसाष्टादशान्तर्गतत्वमलीकभावमनुभव-
तेत् । तदा द्वादशस्कन्धे पुराणान्युपक्रम्य, “इदं वै ब्रह्मणा पूर्वंमि”ति श्रीभागवत-
वाक्येन देवीभागवतस्यैव तत्त्वं च न स्यात् ॥ ४ ॥

भारतीयानां तु कल्पान्तरीया, श्रीभागवतीया तु साख्यनकल्पपीया, अतो न विरोधः ।

भारतेऽपि निर्दिष्टोत्तरं व्यातो भागवतं चकारेति भागवतोत्कर्ष एवमर्थवाद एव स्यादिति चेत्, अष्टादशपुराणानि भारतं च पूर्वमेव सिद्धम् । परन्तु व्यासस्य परितोषार्थं सर्वेणानुत्तरे स्फुरद्भामभूतिनिहालप्युष्पते । किञ्च, पाठकूलपीर्यपीर्यस्त्रीकारे भविष्यमार्कण्डेयासिंपाभादीनामपि तेषां स्यात् । तथाहि मार्कण्डेयारम्भे जैमिनिवाक्यम्—“तदिदं भारताख्यानं बह्वर्थ-परिगमितम् । तस्यतो ज्ञातुकामोऽहं भगवंस्वामुपागतः” इत्युक्तेः । भारतीचरत्वं मार्कण्डेये-ऽप्यागतम् । “पीतासारां प्रयस्यामि सर्गगीतोत्तरसत्तम्” इत्युक्तेः । अत्रिपुराणेऽपि तथाव्याप-
वितम् । “गीता सुगीता कर्तव्या किन्मैः शास्त्रमिच्छेः । या स्यं पद्मनाभस्य सुखपद्मादि-
निःसृताः” इत्युक्तेः पात्रस्यापि तथायं भवेत् । किञ्च, भारतीचरत्वं भारती “वेदशाखा
पुराणानि वेदान्तं भारतं तथा । कृत्वा सम्मोहलम्पुडोऽभवद्वाज्म मनागपि” इति । तथाप्यष्टा-
दशब्रह्मिणीयमागतममयोर्भेदतो दोषः परिहृतोऽपि तादृश इत्यलम् ॥ ३ ॥

ननु देवीभागवते—“अष्टादशसहस्रं वै पुण्यं भागवतं किल” ॥ “श्रीमद्भागवतं पुण्यं सर्वदुःखीवनानाशनम् । धृत्वा भागवतं पुण्यं तुष्यते भवसङ्कटात् ॥ पञ्चलक्षणसंयुक्तं विद्यावि-
दित्ताम्बितम्” इत्यादिचनेः देवीभागवतस्यैव पुराणत्वमित्यत आहुः यदीति—“इदं भागवता
पूर्वं ब्रह्मणे नागिपङ्कजे । स्थिताव भवमीताय कारुण्यात्सम्प्रकाशितम्” ॥ इत्यादिवाक्य-
कदम्बेन देवीभागवतस्य तत्त्वमनादीशम् । किञ्च, देवीभागवते—सूत उवाच “शृण्वन्तु
सम्प्रवक्ष्यामि पुराणानि मुनीश्वराः । भद्रं मद्रयं चैव ब्रह्मयं वचसुद्वयम् । अनापलिङ्गकूर्मा-
पुराणानि विदुर्बुधाः” ॥ इत्यत्र व्याख्यानं—“अष्टादशसहस्रं तु पुण्यं भागवतं किल” इति
भागवतमुक्त्वा, तदर्थे “तथैवोपुराणानि शृण्वन्तु मुनिततमाः” इत्यादिना माहेश्वरं भागवतं वाशिष्ठं
च सविस्तरमिति भागवतद्वयस्य कण्ठलेखोक्तत्वात् । तस्यैव कथमस्याप्यल्लापः । किञ्च, “सत्र
भागवतं पुण्यं पञ्चमे वेदसम्मितम्” इति देवीभागवते पञ्चमभागवतस्य वेदसम्मितत्वमुक्त्वा,
तस्य तु पञ्चमत्वं नोक्तम् । ततः श्रीमद्भागवतस्य पञ्चमत्वं समायाति । तथाहि द्वादशे—“ब्राह्मं
दशसहस्राणि पावं पञ्चोन्वयति च । श्रीवैष्णवं त्रयोविंशत्तुर्विंशति शैवकम् ॥ दशाष्टौ
श्रीभागवतं नारदं पञ्चविंशतिः” इत्युक्तेः । श्रीमद्भागवते तु भागवतमेकमेवोक्तम् । तस्यैव देवीभाग-
वतस्याप्यल्लापः सम्भवति ॥ ४ ॥

ननु भारते भीमेषु श्रीशुकस्य मुक्तिरुक्ता परीशिशुककसमागमो नोक्तः । किञ्च, विष्णु-
पुराणे—“मायामोहनात्मकपुरवस्य विष्णुशरीरादुपपन्नस्य बुद्धावतारत्वमुक्तम् “मायामोहलस-
पोऽप्यै बुद्धो दनुसुतोऽभवत्” इत्यादिविरोधात् भागवतं प्रमाणमित्यत आहुः—भारतीये ।

शान्तिपूर्वणि, अपि, अत एव बृहद्रामनपुराणे श्रुतिभिर्निर्गुणब्रह्मसाक्षात्कारेऽर्थांते श्रीबृहदान्वनलीलाप्रदर्शने भूयस्तत्स्वरूपोपभोगप्रार्थने “कल्पे सारखते प्राप्ते ब्रजे गोप्यो भविष्यथ” इति हरिवाक्यम् । मात्स्येऽपि, “सारखतस्य कल्पस्य मध्ये ये स्युर्नारायणः । तद्दत्तान्तोद्भवं लोके श्रीभागवतमिष्यते” इति । एवं महाभारतभागवतयोर्विरोधा-
न्तरं च परिहरणीयम् ॥ ५ ॥

कल्पान्तरिया नाम बाराहकल्पिया । शान्तिपूर्वणि शुकमुक्तिरुपनेन । अपीति । परी-
क्षिच्छुकसम्बन्धेनापि । किञ्च, भारते शुकमुक्तिरुका, सा जीवन्मुक्तिरूपेति तर्हीकायासुक्तम् ।
अन्यथा “अथै श्लोकसहस्राणि अथै श्लोकशतानि च । अहं वेदि श्रुको वेत्ति सन्नयो वेत्ति
वा न वा” इति भारत एव विशेषः प्रसज्जेत । ननु जीवन्मुक्तस्य कथं परोपदेशादिकं
सम्भवति इति चेन्न, सनकारिदिसम्भवात् । किञ्चाप्यथा, शुकजातकस्योनिर्निर्गुणकस्यैवा-
नुपपत्तिश्च । तदुक्तम्—“श्रीमद्भागवतं शुकसायगलितं पृथ्वीधरखलामिना । सुव्यक्तं क्विपतं
गणेशकविना गणोक्तित्जातकम्” इति । “नारायणं पश्यन्ने वसिष्ठं शक्तिं च तन्पुत्रप्राशरं च ।
व्यासं शुकं गौडपदं महापन्तं गोविन्दोऽप्योत्तरमथास्य शिष्यम् ॥ श्रीशङ्कराचार्यमथास्य पप्रपादं
च हस्तामलकं च शिष्यम्” इति गुरुवरपर्यायं मुक्तिः परीक्षिण्येनतमनुबुद्धिरुपदेशश्च
न सम्भवति । “आत्मारामाश्च मुनयो निर्रम्या अष्टपुरुषे” इति भागवत एव तत् समाधानात् ।
भारते तक्षकदम्भस्यापि परीक्षितराज्ञो राज्यासकस्य निर्वाणवर्णनं भागवतोपदेशमनुभाषयति ।
किञ्च, “छायां खपुत्रसदृशीं सर्वतो नन्वां मम । दृश्यसे त्वं च लोकेऽस्मिन्मथसादा-
म्यामुने” इति भारत एव छायाशुककोपोक्त्यात्तद्विहीचपरो(१)मुक्तो व्यासभार्यसम्भूतोऽणी-
सम्भूतो यः स च जीवन्मुक्तः तेनैव भागवतं कथितं ननु छायाशुकेन । रा वै निवृत्तिनिरत
इत्यादिषु तदर्थनात् । “ततोऽगदात्त्रयं साक्षात्पितुर्देवायस्य मे” इत्यत्र साक्षात्पितुरित्युक्तेः ।
“स कृत्वा शुककन्यायां ब्रह्मदत्तमजीजनत्” इत्यनेन च छायाशुकः धृष्टद्विर्देवः । भागवत-
नेव सारखतकल्पीयम् । तत्र मानमाहुः—अत एवेति । बृहद्रामनपुराणे उत्तरभागे श्रुत-
ब्रह्मसाब्दादे श्रुतीनां वाक्यम् । “नारायणादिरूपानि ज्ञातयामासाभिरश्च्युत । सगुणं ब्रह्म सर्वेदं
वस्तुबुद्धिर्न ते पुनः । तद्रूपं दर्शयामासं निर्गुण प्रकृतेः परम्” ॥ ततः श्रीबृहदान्वनचन्द्रः
स्वीकृत्य श्रीबृहदान्वनं दर्शयामास । तत्र कोटिकन्दर्पदर्परखलरूपदर्शनक्षमितात्तःकरणः
प्रत्याह—“आगामिनि विरौक्षो तु जाति संश्रयंमुहाति । कल्पं सारखतं प्राप्यं ब्रजे गोप्यो भवि-
ष्यथ” इति हरिवाक्याच्छ्रुतिरूपानुषंगिकार्थं सारखत एवावतीर्णस्तदर्थं तं तस्मिन्नेवावतीर्णं
भावः । ननु “अयं तु ब्रह्मणः कल्पः सविकल्प उदाहृतः । यथा पुरस्ताद्ब्रह्माख्यासे पाद्यं कल्प-
मयो श्रुत्यु” इति भागवतोक्तेः सारखतकस्यो भागवते न प्रतीयते इति चेन्न, “बाराह
इति व्याख्यातो यन्नासीच्छूकरो हरिः” इति तदुक्तं ताम्ब्रामस्यैव तत्परत्वं न तु सर्वस्य । ननु
“कल्पं सारखतं प्राप्य ब्रजे गोप्यो भविष्यथ” इति तत्कथनको गिरिराज खण्डे एवासु इति

नाप्यन्यद्भागवतं नामाशङ्कनीयमिति शङ्का, येन, सकलाचार्यसम्मतस्य श्रीभागवत
शान्त्याभाभो मवितुमीधे ॥ ६ ॥

चेन, “रूपतरस्य कल्पस्य वृत्तान्तमधिकूला चे”त्यादिना ब्रह्मवैवर्तस्य तत्कल्पविषयत्वमुक्तम् ।
मात्स्ये पुराणेषु च खलकल्पव्यवस्थानुक्तत्वेऽपि मात्स्यस्यैव व्यवस्थापकत्वमास्ताम् । विरोधा-
न्तरं चेति । विष्णुपुराणादीनामित्यर्थः । यदुक्तं पुराणागन्तरे—“भायोमहेनात्मकपुरुषस्य बुद्ध-
त्वम्” । श्रीभागवते तु “बुद्धो नाम्ना जिनसुतः कीदकेषु भविष्यति” इति । तदपि कल्पभेदेन
समाभेयमन्यथाऽऽशशालमात्रस्यैव परपरविहृतत्वात् हेतुत्वं स्यात् । तथाहि—वैष्णवेषु पुराणेषु
विष्णोः सृष्टिभवनित्युच्यते । शैवशाक्तिकतौरागपत्यादिसु तत्तदेवैवम् इति । किन्तु, देवीभागवते
महाशिवरोधः, देवीकृतवृत्रभोक्तया सर्वपुण्येभ्यः स्मृतिभ्यस्तत्रैवैवम् च वेदेभ्यश्च । ऋग्वेदे
माथपदिने च “द्वयं हन्ति वृत्रहा शतक्रतुः”, तैत्तिरीयेऽपि “इन्द्रो वृत्रं जज्ञिनात्”, “इन्द्रो
वृत्रं हत्वा”, “इन्द्रो वृत्राय वज्रमुधच्छदति”त्यादिदेवविरोधाद्देविरुद्धा स्मृतिर्नोदेयेति देवीभागवतं
वैदिकानादेयमिति फलति ॥ ५ ॥

ननु, श्रीधराचार्येणैवाप्यन्यद्भागवतमिति नाराङ्कनीयमित्यनेनैव वैष्णवाभिमतभागवते शङ्कास्तद्वा-
वत्योक्त्यात्, न निर्मूला प्रसिद्धिरिति न वैष्णवाभिमतं भागवतं प्रमाणमित्यत आहः—नाप्य-
न्यद्भागवतमिति । तत्रनाशङ्कनीयदेवतः सकलाचार्यसम्मतस्येति । तत्र श्रीशङ्कराचार्याणां
गोविन्दाष्टके श्रुत्यामसोहि” इति यशोदा ताडनशैशवसम्प्रासमित्युक्तंमैशानुकीयाः पुराणागन्त-
रेऽप्रसिद्धा सिद्धति । शङ्कराचार्याणामस्मिन्नेव भागवते सम्मतिरित्यादिना सम्मतिरित्यादिना
सर्वाचार्यसम्मतिः रामचन्द्राश्रमकृततुर्जनमुखचर्पेदिकायामस्तीति नेह तस्यते । ननु श्रीधरेण
कथमाशङ्कितमिति चेच्छ्रुत्यु । देवीपुराणरभे—“नमस्कृत्य शिवां देवीं शर्वं भागवतं तथा । पुराणं
सम्भरस्यामि यथोक्तमृषित्तमे” इति पाठेन तस्यैव भागवतत्वं केचिच्छाक्तिका मन्यन्ते ।
तस्मिन्नासामैनेकोक्तक्षणाभावात्मात्स्यविरोधात्तद्भागवतं नाशङ्कनीयमिति श्रीधराभिप्रायः । ननु
तत्रत्यभागवतपरस्य का गतिः । शर्वविशेषणत्वेन चरितार्थकम् । यदा, भागवतं भगवतोऽसौ
व्यासं पुराणाचार्यक्याचथाशब्देन सम्बन्धयेत्तदेव युक्तमिति । किञ्च, आदित्यपुराणपरतया ।
“ततो भागवतं प्रोक्तं भागवद्वयमिभूयितम्” इति सूक्तमकाय वस्तु भागवतं द्विजाः । जीवैद-
र्षयतं सामन्तदेवैवसतं पदमि” इति । यदन्यत्र चोपपुराणेष्वेतत्परतया भागवतपदम्, तदेव
निरस्यते । यदि शङ्कामात्रस्यैव वस्तुकोलङ्घनं स्वीकुर्ये, तदा तु, “यस्यो वेदस्य कर्तारो मुनि-
भण्डनिशाचराः” “वेदं काजसुरकृतम्” इति शङ्कणः राक्षादेवं पौरुषेयमिति तार्किकादीनां
शङ्का समाधानानां जागरूक्यात्तत्रापि तथात्वं किं न भवेत् ? किञ्च, संशोधितपुस्तकेषु
नाप्यन्यद्भागवतमिति पाठान् चोच्यम् ॥ ६ ॥

गायत्र्यर्थप्रतिपादकत्वं गायत्र्युद्गारकत्वञ्च श्रीधरीयभावदीपिकाप्रकाशे व्यवसा-
यितं तत् एवावधीयताम् ॥ ७ ॥

ननु मात्स्ये—“यत्राधिक्यस्य गायत्रीं वष्यते धर्मवित्तरः” इत्यादिना भागवतलक्षणमुक्तम् । गायत्रीछन्दसारम्भस्तु देवीभागवत एव मन्थात्तदेव भागवतमित्यत आहुः—गायत्र्यर्थेति । गायत्र्या च समारम्भो । गायत्रीपदं । गायत्रीप्रतिपाद्यार्थपरम् । शब्दार्थयोरेक्येव प्राधान्यम् । यथाऽऽ-
कृष्टीयया हंसवलावलावेवापस्तम्बसूत्रम् । तेषां चासत्येनेति पाठात् । अन्यथा । “गायत्रीभा-
ष्यरूपोऽयं श्रीमद्भागवताभिधः” इत्यनेन विरोधः । यत्राधिक्यस्य गायत्रीमित्यत्राधिकाराब्द-
उत्तरोत्तरान्वयवाची । यतो मात्स्येऽस्मिन्प्रकरणे “वराहकल्पवृत्तान्तमधिकृत्य पराशरः । यत्राह
धर्मान्स्त्रिंशत्कालदुर्गं वैष्णवं विदुः ॥ यत्राधिक्यस्य माहात्म्यादित्यस्य चतुर्मुखः । भविष्यचरित-
प्रथमं भविष्यं तदिदोऽप्ययते” इत्यादिषु प्रस्थापितार्थस्यैवाधिकाराशब्देन निरूपणात् । तत्र,
प्रकृतभागवत एव घटते तद्गायत्र्युक्तपदात् । किञ्च, देवीभागवतेऽपि प्राचीनपुस्तके “सर्व-
वैतन्यरूपां तामावां विधां च धीमहि । यया म्यासमिदं सर्वं बुद्धिं सा नः प्रचोदयात्” इति
पाठेन छन्दोऽलक्षणस्यानन्वयात् । किञ्च, अधुना त्रिपादपाठेऽपि पञ्चशरःपदिश्रान्तिरूपगयत्री-
लक्षणभावो द्रुपदिह्वरः । यदि मूलमन्त्रेऽपि तथेति चेन्न, अत्र छन्दसः पारिभाषिकत्वमेव । अन्यथा
त्रिपादत्वमज्ञापितः । किञ्च, पराशरस्मृतौ “अथमकमिति वैवात्र वासिष्ठस्याप्यमुच्यते । देवतोमा-
पतिर्वैत्र छन्दश्छिद्रुप्रकीर्तितम्” इति तत्रानुबुद्धत्वेऽपि त्रिबुद्धुक्तिर्नान्यथा घटते । श्रीधरीयप्र-
काशे सागरस्यबाहकृष्णगुरुचरणविरचिते विशदतया प्रतिपादितपदात् । तत्र जन्माद्यस्य यत् इत्यनेन
सविधुर्देवस्य परमिति, वरेणमित्यस्य स्त्रादिति, भर्म इत्यस्य धात्रा स्त्रेन, सदेव्यादित्यतीत्यपादस्य विव-
रणमिति रीत्या वर्तते । न च देवीभागवतं धीमहि प्रचोदयादिति पदद्वयघटितत्वेन प्रतिगोक्तोक्त-
कृतो न गुरुत्वे, यतो गायत्रीद्वयं सर्वत्र तयोपेष्टकथायदिति बाध्यम् । यत्र यत्किञ्चिद्गायत्रीस्यपद-
घटिता ध्वलादिसम्भन्तानुकरूपगायत्रीति लक्षणं बाध्यम्, न तु धीमहि प्रचोदयादिति पदद्वय-
घटिता निश्चये पदस्य तत्र नियमदर्शनात् । यद्वा, कालापर्यन्तं, ब्राह्मणं त्रिभुवा राजन्यं जगत्या
वैश्यायथा सर्वेषां च गायत्रीमुक्तम् । तत्र तेषु मन्त्रेषु तां सवितुर्वरेण्यस्य विद्यामहं वृणे हुमतिं
विश्वजन्त्याम् । यामस्य कण्ठो अहुह्रस्वपीना१सहस्रधारां पयसा महीं गानत्र सवितुर्वरेण्यस्येति ।
विश्वारूपानि प्रतिमुञ्चते कविः प्रासादीन्द्रं द्विपदे चतुःपदे । विनाकमन्थस्यसतिता वरेण्यो
अनुप्रमाणमुक्तो विराजतीत्यत्र च गायत्र्या त्रिबुद्धुगत्या त्रयाणामुपपत्त्यायम् । गायत्र्यामविशेषो
वा मुञ्चतिद्विषपरेषु चेति । यत्किञ्चिद्गायत्रीमन्त्रस्य पदमादायैव गायत्रीत्वव्यवहारस्य पराशरेणो-
क्तत्वात् । क्षत्रियगायत्री वैश्यागायत्रीति प्रसिद्धे । वैदिकेऽनुष्ठानमन्त्रे तथा दर्शनाच्च ।
तस्मादत्रापि धीमहीति पदमादाय तत्राह्वारे दोषाभावः । अर्थपक्षे तु श्रीमद्भागवत एव लक्षण-
सम्भवः । धियो यो नः प्रचोदयादिति । य इति पुलिङ्गनिर्देशात्तदेव ब्रह्म हृदा य इति पुलिङ्ग-
विवरणम् । “यो देवः सविताऽस्माकं धियो धर्मादिगुरोरे । प्रेरेपत्स्य तद्गर्गह्वारेऽण्येषुपास्यहे”

अपि च वृत्रासुरवधोपलक्षितस्य भागवतत्वं तु वृत्रासुरस्य परमभक्तत्वादिति
अनुसन्धत्स्य । न चासुरस्य देवीभक्तत्वं दृष्टं तत् एव श्रीमद्भागवतमेव तद्विषय-
मिति गम्यते ॥ ८ ॥

हयग्रीवब्रह्मविद्याऽत्राऽपि श्रीनारायणवर्मरूपा पृष्टस्कन्धे चकास्तीति न, तदभावप्रयुक्तं
श्रीभागवतस्य लक्षणानन्वितत्वं वक्तुं केनापि शक्यते नाम ॥ ९ ॥

इति स्मृतेश्च । किञ्च—“अर्णोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थविनिर्णयः । गायत्रीमाध्यरूपोऽस्ती श्रीम-
द्भागवताभिधः” इति गारुडोक्तलक्षणस्यैव घटितत्वात् । जन्माद्यस्य यतः इत्यादिसूत्रवि-
षयणदर्शनात् । अथवा गायत्र्या च समारम्भ इति गायत्रीमन्त्रं पठित्वा समारम्भः कार्य-
इत्यर्थः । “अथवा हृदयं कुर्याद्गायत्र्या तुसमाहितः, तन्मपत्वात्पुराणस्येति” पात्रवचनात् ॥ ७ ॥

ननु वृत्रासुरवधोपेतमिति लक्षणस्य श्रीमद्भागवतवात्कार्थ्यं कथम्? कंसासुरवधस्य तदवतार-
पदात्तदेव बाध्यम्; देवीभागवते तु राकलागमप्रतिपादितदेवीकर्तृकवृत्रवधकथनाद्भागवतव्येव
घटकत्वप्रतिरिक्तत्वं आहुः—अपि चेति । वृत्रासुरस्य परमभक्तत्वं तु चित्रके कथानके सुव्य-
क्तम् । वृत्रघ्नतचतुष्टयश्लोकान्कस्तुतापि परमभक्तत्वं दर्शितम् । देवीभक्तत्वमिति देव्या भक्तो
मर्दितो भङ्गवातोरनिद्वयात्, कप्रसवे कियान्न लोपे साधुः । दृष्टं शाखेडु इति शेषः । देवीभा-
गवत एव इन्द्रोदशशक्त्या वृत्रवधः पश्यते, नवम्यत्र । अत इदमेवप्रमाणम् । तदुपमेवोक्तम्
ननु “या देवी माहिषं जघे मूर्धं वृत्रासुरं तथा । साद्य रकासुरं हत्या स्त्रातुष्यं ते प्रयच्छतुः”
इत्यादित्यपुराणमन्त्रस्य प्रमाणमिति चेन्न “वृत्रप्राणहारे देवि नारायणि नमोऽस्तु ते” इति
मार्कण्डेयेन नारायणशक्त्यामेव वृत्रवधोपदेष्टात् । तत्र पृष्टस्कन्धे “मत्सेज उपबुद्धितः”,
हरेर्धीचेस्तपसा च तेजितः”, “निर्गोर्ऽप्यसुरेन्द्रेण न ममरोदरहृतः । महापुरुषसन्नद्धो
योगमाया चलेन च” इत्यादी श्रीमद्भागवत एव प्रमाणतयाऽन्तरतीत्युक्तम् ॥ ८ ॥

ननु हयग्रीवब्रह्मविद्या येनेति लक्षणव्याप्यत्वात्कं भागवतमिति चेन्नडाहुः—हयग्रीवेति ।
पृष्टस्कन्धे “तामेवाधिगतो दध्वङ्क”, “अभिम्यां ब्रह्मनिष्कलम्” । यद्वा । “अञ्जरो नाम तयोरेमरतां
व्यपत् । दप्यङ्कडायथर्वे दधीमेयं मदात्मकम्” विश्वरूपाय यद्पदात्तत्वात् यत्स्वमाधुपुनः ।
इत्युक्तः । अपि च, “अबस्य शीर्षां प्रयदीमुत्पाचे” इति वेदप्रसिद्धिः । “विपामेतां ब्रह्मविद्यां वरत
शिरोत्रं विधिर्वैश्वतु चीर्णम्” इति मण्डूकोक्तम् । हयग्रीवब्रह्मविद्या स्त्रीदेवता भवितुं नार्हति,
येन मन्त्रः पुंदेवताः । प्रोक्ता विद्या स्त्रीदेवता मता इति विरुध्यते । पदक्षरिता दधीचिना
ब्रह्मशानुकं तद्वयग्रीवब्रह्मविद्याशब्दाबाध्यम्, श्रीभागवत एव ॥ ९ ॥

पुराणान्तरे हि “प्रन्योऽष्टादशसाहस्रो द्वादशस्कन्धसम्मितः । हयग्रीवब्रह्मविद्या यत्र
वृत्रवधस्तथा । गायत्र्या च समारम्भस्तत्रैव भागवतं विदुः ॥ स्कन्धा द्वादश एवात्र कृत्स्नेन
विद्वानः शुभाः ॥ द्वात्रिंशत्त्रिंशत् पूर्णमध्यायाः परिकीर्त्ताः” इति । न च श्रीभागवते
पञ्चत्रिंशत्त्रिंशत्तमध्यायाः इति वक्तव्यम् । “द्वात्रिंशत्त्रिंशत्तं च यस्य विलसच्छाखा” इति
श्रीमन्नीर्योक्त्रकासुरवधादध्यायत्रयस्य प्रशिक्षित्वात् ॥ १० ॥

अम्बरीषशुकप्रोक्तमित्यत्र चाम्बरीषश्च भक्तत्वात् । श्रीमद्भागवतस्य पठनमेवाभि-
प्रेतमिति लक्ष्यामहे । शुक्राय प्रोक्तमिति समासस्तु क्रिष्टः ॥ ११ ॥

हेमसिंहसमन्वितमिति तु सिंहासनपरमित्युक्तेरन्यत्र व्याख्यातम् । यदि देवीभा-

नतु भागवतेऽध्यायत्रयाधिक्याद्द्वात्रिंशत्तं पूर्णमध्यायाः परिकीर्त्ता इत्यनेन विरोध
इत्यत आहः—पुराणान्तर इति । अघासुरवधाध्यायत्रयस्येति । अघवधवत्सहरणमक्रस्तुति-
रूपाणां त्रयाणां भागवतविरोधात्प्रशिक्षित्वं द्वात्रिंशत्त्रिंशत्तं च यस्येति श्रीधरोक्तेरस्मिन्पञ्चत्रिंशत्तदर्थ-
खण्डनं विरोधदर्शनं च खकृतजयमाज्यायां समर्पितमस्तीति तदेतेनात्र विश्रुतम् ॥ १० ॥

नतु पाषे—“अम्बरीषशुकप्रोक्तं नित्यं भागवतं श्रुयुः” इत्युक्तलक्षणान्वितत्वात्कथमष्टादशशा-
न्तर्गतमिति, यतः, शुकैः प्रोक्तमिति विप्रहेऽपि द्वितीयदीनां भागवतत्वे द्वादशस्कन्धत्वमकल्या-
घातः । देवीभागवतं तु—“व्यासेन कृत्वाऽथ श्रुतं पुराणं शुक्राय पुत्राय च पाठितं वै” इत्युक्तेरिति
लक्षणसमन्वय इत्यत आहः—अम्बरीषेत्यादि । अम्बरीषशुकापेति प्रोक्तं पाठितमिति
चतुर्थ्यां समासस्याप्रोतेः । बलिहितरक्षिणमहापलाशकृतिविकृतिभाव एव प्रवृत्तेः । अत एव धर्माय
नियमो धर्मनियम इति परस्परभाष्ये शक्यामिप्राय इति कैयटः । अथवासादादपस्तु षष्ठीसमास
इत्याकरोऽपि मानम् । सुष्ठुपा चतुर्थ्यादियोगिभागस्य क्रिष्टत्वात् । शुकैः प्रोक्तमिति तु कर्तृक-
रणयोः कृता बहुलमित्यनेनास्तदिधः । यस्तु, शुकैः प्रोक्तमित्यर्थं द्वितीयदीनां भागवतं स्यादिति
स्युक्तम्, तदपि न प्रन्यत्येन विरोधात् । अन्यथा सर्वपुराणेषु सूतशौनकयोरेवोपक्रमसम्बन्धादस-
त्त्वात्, ब्रह्मणामिहितं मरीचये ब्राह्मं नारायणेन नारादाय प्रोक्तं ब्रह्मवैवर्तमित्यादिरित्या वर्णन-
समञ्जसं स्यात् । किञ्च, “स संहितां भागवतं कृत्वाऽऽनुकृत्य चात्मजम् । शुकमभ्यापयामास निवृ-
त्तितरितं मुनिः” इत्यनेन सर्वस्य भागवतत्वं चतुर्थ्यासमासपक्षेऽपि सङ्गतम् । परीक्षिच्छुकसम्-
न्वादे योऽन्ती व्यसेन बर्णितः” इति स्कान्दात् । “परीक्षिच्छुकसम्बादः श्रीमद्भागवताभिः”
इति पम्बात् । “प्रब्रह्मदारदपराशरपुण्डरीकस्यासाम्बरीषः” इति भेकडु गणितत्वात् । श्रीमद्भा-
गवतमेवायाति ॥ ११ ॥

नतु “मौद्गल्यपां पौर्णमास्यां हेमसिंहसमन्वितम् । लिखित्वा तथ यो ददाति” इत्युक्त्या हेमसिंह-
साहित्यं पौर्णमासी च तिथिश्च देवीभागवतमेव गम्यति । यतो यदैवतपुराणदानेन तदैवतवाह-
नतिथ्योरुक्तत्वात्तथा वाराहं हेमगरुडं माल्यं हेममस्त्युक्तमित्यत आहः—हेमसिंहेति । अन्यत्र
श्रीभागवतसङ्गानिरासवादे नामैकदेशे नामग्रहणमित्युक्तं । यथा सत्यमादादिषु सत्येति यामिति

तथाभिधानादिव्यक्त किरातेऽपि, “हेमसिंहयुते चेति वैष्णवाय ददाति यः । कृष्णेन सहसा
सुख्यस्य पुमान् लभते सुवर्ग” इति पात्रमाहात्म्यात् । “अष्टादशपलैः कुर्वीद्विमसिंहासनं विप्रे”
इति सर्वपुराणचक्रवर्तिन्यात्, हेमसिंहासनं, युक्तं ब्रह्मादिबाराहान्तानां वैशाख्यादिपौर्णमास्यो
दानकालाः, तत्कालो भाद्रमासस्य दानं विधीयते । न तु देवोतिथिचनेन शैववैष्णवविधिषु ह्य-
गुरुवादिदानस्य शिवरात्रिजन्माष्टमाद्येऽनुक्तः । वैष्णवे धेनुदानोक्तः । न तदैवतवाहनतिथ्यो-
र्नियमः । ननु कोऽयं द्वेषः देव्या भागवतेन येन सर्ववैव खण्डनं क्रियते, तत्राहः—यदी-
त्यादि । इत्यादिपुराणान्तरेण गुरुवाराप्रनारदस्यान्दान्दान्द्वाराहजन्मवैवर्तमास्यभिने शैवपुराणे ॥ “भग-
वत्यास्तु दुर्गायाश्चरितं यत्र विद्यते । तसु भागवतं प्रोक्तं न तु देवीपुराणकम्” इत्युक्तेरित्यादी,
तत्पक्षेऽपि नास्माकं क्षतिः । विष्णुमाहात्म्यस्य वेदसिद्धत्वात् । तत्र श्रीपुराणोत्तमेः प्रह्लादाख्ये वादे
विधिकम् । परन्तु, देवीभागवते—“इदमखिलकथानां सारभूतं पुराणं निखिलगमनसुखं स्वगमा-
नुषिदम् । पठति परमभावात् यः श्रुणोतीति ज्ञात्वा । स भवति धनवान् वै ज्ञानवान्मानवोऽप्युक्तः” इत्युक्तेः ।
पठस्त्वापदेय प्रकरणभङ्गः सम्बादभङ्गोऽभिप्रायभङ्ग कल्पितत्वमनुमापयतीति । अल्पम् । विशेष-
जिज्ञासायां मानुषानां रामकृत्यचरणानां विजयवाद एव दृष्टव्यः । श्रीमद्भागवतमाहात्म्यप्रतिपाद-
कानि वचनानि इहोपष्टम्भकानि कानिचाण्डाल्यन्ते । तत्र नारदीये ब्रह्मदीनानामनुमानप्यथ्ये,
“मरीचे श्रुयु वक्ष्यामि वेदव्यासेन यक्तुतम् । श्रीमद्भागवतं नाम्ना पुराणं वेदसम्मितम् । तदष्टा-
दशसहस्रं कीर्तितं पापनाशनम् । सुरपारम्पर्यरूपोऽयं स्कन्धैर्द्वादशभिर्द्युतः ॥ भगवानेव विप्रैश्च
विश्वरूपी समाहितः । तत्र तु प्रथमस्कन्धे सूतर्षीणां च सङ्गमे न, व्यासस्य चरितं पुण्यं गण्ड-
वानां तथैव च” इत्यादि । गारुडे—“अथोऽयं ब्रह्मसृष्ट्यां भारतार्थनिर्णयः । गायत्रीभाष्य-
रूपोऽस्ती श्रीमद्भागवताभिः । पुराणानां सारभूतः साक्षाद्भगवतोदितः” इति पाषे—“प्रन्योऽष्टा-
दशसहस्रो द्वादशस्कन्धसंयुतः । परीक्षिच्छुकसम्बादः श्रीमद्भागवताभिः ॥ पुराणेषु च सर्वत्र
श्रीमद्भागवतं परम् । यत्र प्रतिपदं विष्णुर्गीयते बहुधर्षिभिः ॥ इति सङ्कल्प्य मनसा श्रीमद्भागव-
ताभिधम् । जन्माप्यस्य तथेति श्रीमद्ब्रह्मसुभावादेत्” इति । अन्यत्र च स्कान्दाहात्म्ये—“यद्दै भागवतं
शक्तं भगवत्प्रमुच्यते । पादादिजानुपर्थन्तं प्रथमस्कन्ध उच्यते” इत्यादिना “द्वादशं त्वमाहं
स्यादाश्रयं सुनिरूपितमि” इति । तेन निरोधो द्वादशाथं इति प्रत्युक्तम् । स्कन्धपुराणे भागवतमा-
हात्म्ये—“कृतकृत्या वयं सर्वे हरिभक्तेः प्रदर्शनात् । श्रीभागवतमाहात्म्यकथायाः समुद्रीणणात्”
इत्यादीनि तानि बोध्यानि । या तु देवीमाहात्म्यप्रतिपादनसङ्केतं तन्निन्दकानां निन्दा तदीयवचनैरेव
दर्शिता, सा तु न वैदिकानां सम्प्रता, वेदे तु पुरुषाराधनभेषोपलभ्यते काण्डत्रये ॥ न तु महा-
काव्यपचर्चनं मकारपञ्चकस्यातिनिषिद्धस्य स्तुतिस्मृतिपुराणेषु महापातकेषु गणनात् । तेषां मते
“पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा यावत्पतति भूतले । उत्थाय च पुनः पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥
पेये चापेया बुद्धिः पापशङ्का च भैद्युने । भव्ये चाभक्ष्यता बुद्धिः कथं देवीं समर्चयेत्”
इत्यादिकौलचारप्रकरणे तत्रसारादितिचवचनानां कथनादेयत्वाभावादिति सूचकस्यापि तत्र-

भागवतस्य दाने हेमसिंहदानस्य साहित्यं पुराणान्तरेऽभवेद्भवतु को, विरोधो नः, विष्णोः, सर्वाधिवाक्यं तु प्रहस्तादिग्रन्थेषु व्यक्तम् । देवीभागवतं तु पदस्कन्धात्मकमेव प्राक् प्रसिद्धं तदग्रिमस्य प्राचीनपुस्तकेष्वल्पाभादतो द्वादशस्कन्धत्वासिद्धेः प्रकृतवचसामविषय इत्यलम् ॥ १२ ॥

वेदिति भयान्नातिप्रकाशितम् । “स्रशक्तत्वं गोपयन्तः श्रोत्रनासादिहीनवत्” इत्युपमन्युवचनं प्रयुक्त बाधकं शाक्तत्वं निषिद्धाचाररूपं गोपयन्तः स्वयं तन्मार्गप्रवृत्ता भूत्वा ये, तेभामेव निन्दा न तु वैदिकानाम् । “अन्तः शाक्ता बहिः शैवा” इत्यादि रूपा हि ते । न च, दक्षिणमार्गप्रथंसावचनानि मया लिखितानि “दक्षिणाद्युक्तं वामं वामास्त्रिद्वान्तमुच्यते । सिद्धान्तात्पुं परं कौलं कौलापरतरं नहि” इति तत्सम्मतवान्ये तत्पदवीमाशुक्लतां तादृशत्वमेव वैदिकाचारप्राप्त्युखलस्य तेषां भूषणत्वात् । “वैदिका पशवः प्रोक्ता दीक्षाहीनो मरः पशुः” इत्युक्तेः । “अलिपिशित-पुरन्ध्री भोगपूजारतोऽहं बहुविधकुलभारभसम्भामितोऽहम् । गुरुचरणतोऽहं शैरीमाश्रितोऽहं पशुजनविमुखोऽहं भैरवोऽहं शिवोऽहम्” इत्युक्तेः । न चोपन्यस्तवचनेषु तथात्वं न शक्यत इति वाच्यम् । “समयाचारविज्ञानविभागज्ञानवर्जिताः” इति तद्विखितवाक्ये त्वस्य कुटन्वात् । तथाहि शाक्तानां समयाचारतन्त्रे—

“यानि ज्ञानि च शास्त्राणि कथितान्यागमस्य च । तानि तानि च कथ्यन्ते समयाचारणानि वै ॥ १ ॥
आचारः कथितस्तेषु मयाप्यारतः स च । तस्याचारस्य नाम्नापि कुलाचारः प्रकीर्तितः ॥ २ ॥
आचारे द्विविधो तत्र वामदक्षिणभेदतः । पञ्चमुद्रादिसिद्धितो यामाचारः प्रकीर्तितः ॥ ३ ॥
पञ्चमुद्रादिरहितो दक्षिणाचार उच्यते । पूजाद्रव्यं प्रवक्ष्यामि पूवकापीष्टसिद्धये ॥ ४ ॥
मयं मांसं तथा मत्स्यं मुद्रा मैथुनमेव च । मकारः पञ्च सुमग्रे कर्मणां शान्तहेतवे ॥ ५ ॥
या सुरा सर्वतन्त्रेषु कथिता दिवि दुर्लभा । तस्या नाम भवेद्वैदिके तीर्थे सञ्ज्ञानमुक्तिदम् ॥ ६ ॥
पशूनां भक्षययोग्यानां मांसं देवि विनिर्मितम् । देवीतन्त्रेषु विधिवत्स्तोत्रैः शुद्धिप्रद्व्यते ॥ ७ ॥
मांसस्य भक्ष्ये ये मत्स्याः कथिता रुचिरोच्छ्रिताः । ते रहस्ये मया प्रोक्ता गीताः सिद्धिप्रदायकाः ॥ ८ ॥
गुडादिमये निक्षिप्य कुर्मन्ति घृतिवर्द्धनीम् । मुद्रां तां विबुधाः प्राहुः चणकादींश्च भर्जितान् ॥ ९ ॥
या रोडिका पोल्का च सापि मुद्रा प्रकीर्तिता । भगलिङ्गस्य योगेन मैथुनं यद्भवेन्नियमे ॥ १० ॥
तस्य यत्राम भवेत्पञ्चमं परिकीर्तितम् । पञ्चमे देवि सर्वेषां मम प्राणो भवेन्नियमे ॥ ११ ॥
पञ्चमेन विना देवि चण्डीमन्त्रं वृथा जपेत् । यदि सर्वमकारेषु आश्रितं च कुरुते क्रिये ॥ १२ ॥
तस्य सिद्धिः कथं देवि शक्तिमन्त्रं जपेत्कथम् । पञ्चमेन विना देवि मुक्तिर्मुक्तिः कथं भवेत् ॥ १३ ॥
पञ्चमेन चूर्णां देवि यदानन्दो भवेद्भुवम् । तत्राम मोक्षं विदुषामनुधानां च पातकम् ॥ १४ ॥
आनन्दः परमं ब्रह्म मकारस्तस्य सूचकाः । विशेषतोऽत्र देवेशि पञ्चमे परमं पदम् ॥ १५ ॥
भगस्य स्मरणे पुष्यं भगस्य दर्शने तथा । भगस्य पूजने पुष्यं भगस्य मैथुने महत् ॥ १६ ॥

भगस्य पञ्चमे देवि यत्सुखं मम जायते । न तत्सुखं जपैर्होमैर्न दानैस्तपसा तथा ॥ १७ ॥
अवश्यं पञ्चमे कुपीच्छामिमात्रे महेश्वरि । पञ्चमस्य कृते पुष्यं कृतमक्षयतां ब्रवेत् ॥ १८ ॥
ज्ञानार्थं देवतानां च रहस्यं परमं श्रुषु । येन ज्ञानेन देवेशि देवता सुप्रसीदति ॥ १९ ॥
त्रियो रजश्च प्रथमं यस्मिन्कथसि जायते । गृहीयाच्छाशु सुमगे ब्रह्मादीनां च दुर्लभम् ॥ २० ॥
स्वयम्भुक्तुसुपं नाम देवतानां च प्रीतये । ततः स्वदेवतानां च प्रकृषीत्वानमुत्तमम् ॥ २१ ॥
वाञ्छितं लभते देविं सत्यं सर्वं वचनाने । जीवति भर्तारं क्रीणां कारयेत्परैः ॥ २२ ॥
तस्या भगस्य यद्भयं कुण्डद्रव्यं प्रकीर्तितम् । विषवा मैथुणाज्जातं गोष्ठद्रव्यं महोत्तमम् ॥ २३ ॥
कुण्डगोष्ठोद्भवद्रव्यं पडास्त्रायेषु चोत्तमम् ॥ इति एवमिवाः समयाचारदर्शितास्तेषां च वैदिकागम-
वाङ्मत्वेव । वैदिकशास्त्रं तु “वेदोऽखिलो धर्ममूलकम्” इति मनुवचनतद्विरुद्धार्थानां पापण्डत्वमेव ।
तदुक्तम्, “न वेदवाहं पुरुषं पुण्यशोऽपि शङ्कर । सङ्गच्छति महादेवं धर्मो वेदाद्विनिर्मव” इत्यु-
क्त्यामे— “कपालं भाङ्गलं शाकं भैरवं वृषपथिमम् । पञ्चरात्रं पाशुपतं तथायानि सहस्रदाः ।
सुद्रा तान् चतुर्भे(ः)कुञ्जोः शास्त्रचोदितम् । पतन्ति नरकं शोरे बहुकालरुपुनः पुनः” इति कूर्मे
गीतमश्वसुनिप्रक्रमे हरिहराभ्यां मोहशास्त्राणि कृतानीत्युच्यते । वाराहे हरगीतायां “पद्येद-
बाधं कर्मस्यञ्चक्रमुदिस्य पश्यते । तद्गुणितप्रदं नृणामिह लोके परत्र च ॥ सत्येन मुच्यते
जन्तुः सत्यं नारायणात्मकम्” इत्यादि कृतादिषु विष्णुपूजनं निरूप्य “कलौ महत्कृतमार्गेण
बहुरूपेण तामरेः । ईर्ष्यते देवपुद्गवा च परमात्मा जगदरतः” । ततो ब्रह्मविष्णुब्रह्माण्डमभेदं
बोधयित्वा “कथं सृष्टिर्भविता नरकेषु च को वसेत्” इति प्रकरणे युगत्रये मुक्तिरूपा । कलौ
विरलानामेव सेव्येषु त्वं च रुद्रेति मोहनार्थं रुद्रस्यागमशास्त्रकरणम् । तत्र “वेदमार्गविनिर्मुक्ता-
स्तेषां मोहार्थमेव च । तपःसिद्धान्तसञ्ज्ञानमिर्मता शास्त्रं तु दर्शितम्” इत्युपसंहतनागममार्गी-
यानामेव निषिद्धमुच्यते । शयकानां तु तत्र किं वाच्यम् । न च पञ्चरात्रस्य वैष्णवाभिमतस्या-
प्यागमस्यत्वेन वैष्णवानां निन्द्याऽऽगता इति वाच्यम् । तत्र भारते वैष्णवागमानां प्रशंसाकृते-
र्न दोषः । तथाहि, मोक्षधर्मं “साङ्ख्ययोगः पञ्चरात्रं वेदादप्यकमेव के”स्वादिप्रकरणे— “पञ्चरात्र-
विदो ये तु यथाक्रमपरायणाः । एकात्मभावोपगततोऽहं हारं प्रविशन्ति हि” इति पठ्यते । तत्रार्थं
भावः । वामागमे तु निषिद्धाचरणस्यैव सरथास्त्रिन्यत्वम् । पञ्चरात्रे तु निषिद्धाचाररूपनिन्दावीजाभा-
वात् । अत एव अपराकं वैद्वान्यनः— “नशाऽप्युपगतान्शोडान्कालान्कालान्दिशश्चरान् । एता-
न्टद्वाऽप्यं पश्याः स्मृत्वा ज्ञानं समाचरेत्” इत्युक्तम् । तस्मात्निषिद्धाचारवचनेन तेषां निषिद्धत्वम् ।
ननु वैदिकमते तेषां निन्दा, तेषां मते वैदिकानामिति त्वय एव दोषः, इति चेद्दोऽसि वेद-
मन्तरा तेषां निर्वाहभावात्, “कृत्वा तु वैदिकं कर्म तत्साक्षिभ्यमाचरेत्” इत्युक्तेः । य एवमपि
न मनुते तदा तु जैनादित्युत्पत्तापसा न विषदात्पदमित्यत्र ॥

दुष्टाः प्राहुरनार्थमार्थमपरे शिष्टाः पुराणोत्तमं

उक्तार्थरहस्यं दर्शयन्तः शिष्टाचारप्राप्तं प्रथमपर्यवसाने मङ्गलमवतारयन्ति दुष्टा इति । तत्र जीवा द्विविधा ब्रह्मासुरभेदात् । "द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च । दैवो विस्तरतः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे श्रुणु" इति भगवद्भुक्तः । तत्रासुरा मरणजन्यरूपे भयवशादेव पतिताः प्रावाहिकास्ते च स्वभावतो दुष्टाः शिष्टानां भागवतपरायणानामुत्कर्षमसहमानाः पुराणान्तरैभ्यो विचक्षणलक्षणं श्रीमद्भागवतं कथयन्तोऽनार्थमिदमिति वदन्ति । निष्कारणपरद्रोहोऽसाहचर्यम्, तत्त्वम् । ते च काशीनायादय एव । यतः, सर्वैस्मत्ते श्रीमद्भागवते कुचोर्षं कुर्वन्ति । ननु देवी-भागवतं खण्डयन्तो भवन्तोऽपि तादृशा इति चेन्न; प्रथमं निष्कारणं तैरेवतिरस्कृता लोका इति । ननु जिघृक्षया द्रुष्टामहे । तथाहि । अष्टादशपुराणैभ्योऽस्य पुराणस्य विलक्षणा गद्यपद्यमयी भारती भासतेतारम् । अत इदं व्यासकृतपुराणपदवीं नारोदुर्हति इत्याहुः । अपरे शिष्टा आर्षमाहुः । यदि किंलक्षणा गद्यपद्यमयी भारती भवाद्दन्देवानां प्रियायनवाद्याऽऽर्षपदवीं नाधिगच्छेत्तर्हि बहूनां स्रोत्रपाठानां विचित्रकवितान्वयेन पुष्करप्रादुर्भावादीनां चातिकठिनत्वेन तत्त्वं कथं भवेत् ? किञ्च, यदि शास्त्रार्थगाम्भीर्येण ह्ये ? तर्हि गीता सप्तशत्यादिसकाशात्, भागवते किं गाम्भी-र्यादाधिक्यं येनानार्थं सम्भवेत् । यदि नैवं पुराणान्तरमिति वदन्ति । तर्हि सर्वैषै-तादृशं निष्पुत्राणमिति तदपलापभावे कथमस्वापलापः । तत एव कमलाकरादयो शिष्टा निबन्धेषु प्रमाणयन्ति । किञ्च, यदि देवीभागवतं प्रमाणं चेत्तर्हि स्मार्तास्ते लिखेयुः । किञ्च गङ्गेशेन देवीभक्त्यापि देवीभागवत्वेन देवीपुराणमेव लिखितं तत्रोक्तमेव । यदि भास्करेण लिखितमिति भवान्प्रतिपद्येत, तर्हि श्रुत्य, भास्करस्य वाममार्गीयत्वेनाशिष्टत्वं प्रसि-द्धम् । तस्य तत्राप्रवृत्त्याच्च उक्तार्थेऽस्यानायम् । यदि दिक्करसम्भवा गृह्यते । तर्हि, दिनकरेण गायत्रीलक्ष्यसारम्भ इति पाठः पठितः स च न शिष्टसम्मतः । अतोऽस्याप्राप्रवृत्त्याद्यत्र सम्मतः तिष्ठतीति दिक् । शिष्टैस्तु पुराणेषु पुराणगणनायां भागवतवत् गणितं तत्रापि व्यवसामाहुः—पुराणोपपुराणयोर्येणनक्रमनियतम् । यथा मत्स्यपुराणे पुराणगणनायां शैवपुराणं नोक्तं पाप्मो-रत्तल्लभे शैवमुक्तं शैवपुराणे वायुपुराणं नोक्तं, आदिलेऽपि शैवं नोक्तम् । एवं च भागवतद्वय-श्रवणं कस्मिंश्चिपुराणे महापुराणगणनायां कस्मिंश्चिपुराणे उपपुराणगणनायाम् । यदाऽऽदित्य-पुराणदेवीपुराणकालीपुराणानामपि तत्र भागवतत्वश्रवणात्सुदुःखिः । न तु देवीभागवतस्वीका-रणस्य प्राचीनैश्वर्यप्रसिद्धेः दीर्घं भागवतं देवीभागवतं मूलं भागवतमिति श्रवणमपि तावपर्यम्, तत्परतयैव योग्यम् । प्रतिपदोक्तत्वादतत्परमित्यपि कश्चित्सिद्धावपि नास्माकं क्षतिरित्युक्तमेव । स्कान्दपाभनारदीयमहावैवर्तविष्णुशिववावादीनां महापुराणेषु गणितानामपि पुराणोपपुराणयोः उपपुराणेषु गणनं दृश्यत एवेति न कश्चिद्गृह्यकलङ्ककः । अपरे इत्यनेन दैवा जीवा उक्ताः । दैवासुरविभागयोर्भगवता दैवानां प्रवेत्तव निरूपणम् । लक्षणं तु "अमयं सत्त्वसंशुद्धि"दिसा-दिना दर्शितम् । परद्रोहादिशुश्रूषवे सति सात्त्विककर्मज्ञानयोगादिबन्धव्यस्तित्वं तत्र फलति । तेऽपि

श्रीमद्भागवतं वदन्ति भगवच्छात्रं सुमुखाजुषः ।

श्रीमगोपीजनवल्लभाङ्गिरसिका ये दैवजीवोचमाः ।

साक्षाच्छ्रीपतिमूर्धुरत्र भवतां नः श्रेयसे सर्वदा ॥ १ ॥

इति श्रीमन्मुद्रलुप्तमिन्विंशत्यवतंसवैश्वानराचार्य्योत्रायानुष्ठानस्यप्रचारकभट्टजगन्नाथमहा-
त्मजहंसनन्दनन्दनोपासनलक्ष्मणघण्ट्याचार्य्यकविकुलालङ्कारशिरोमणिगोरोलाका-
न्यययशोऋषसंवाख्यसम्प्रसन्नचार्याचार्य्यश्रीभगवद्भागवतचरणीपोसत्सिद्धान्त-
श्रीयोगेश्वरनन्दनधरचरणशरणभक्तिरसरसनन्दकृतार्थशास्त्रिगङ्गाधरभट्ट-
विरचितेयं सङ्क्षिप्ततुर्जनमुखचपेटिका सम्पूर्णतमाप ॥

त्रिविधा । कर्मनिष्ठा ज्ञाननिष्ठा भक्तिनिष्ठा । कर्मनिष्ठास्तु, "एवं बहुविधा यथा वितता ब्रह्मणो मुते" "बहुशिष्टाश्चतस्रो वांति ब्रह्मसनातननि"त्यादिनिर्दिशिताः । ज्ञाननिष्ठास्तु, "बहूनां जन्म-नागन्ते ज्ञानवानां प्रथमे" "ज्ञानं लभ्या परं शान्तिमचिरेणाधिगच्छति" इत्यादिना दर्शिताः । भक्तिनिष्ठास्तु—"माहात्मनस्तु मां पार्थ दैवं प्रकृतिमाश्रिताः । भजस्यन्ममसो हाव्या भूत्यादि-मन्ययम्" ॥ तेऽज्ञाननिष्ठा भक्तिनिष्ठाः श्रेष्ठाः—"उदाराः सर्व एवैते" "नीलात्मैव मे मतः" "तप-स्त्रियोऽधिको योगी शान्तिमन्यश्चाधिको मतः ॥ कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवाञ्जन" योगिनामपि सर्वेषां मद्भक्तेनाम्तरामना श्रद्धावान्भजते" इति । सा च माहात्म्यज्ञानपूर्वकखेदरू-पात् फलति । भक्तेत्यपि भेदद्वयम् । मयोदात्मभगवदुत्तरहृत्पुष्टिस्त्रेदेदात् । तत्राद्यास्तु दर्शिताः । द्वितीयस्तु "भूय एव महावाहो" इत्यारभ्य "अहं सर्वस्य प्रभयो मतः सर्वं प्रवर्तते । इति मया भजन्ते मां बुधा भाषसन्मत्प्रताः । नञ्चित्ता मद्गतप्राणाः" इत्यादिनिष्ठास्वरूपं निरूप्य "सोपामेवातु-कर्मार्थमहमज्ञानजं तमः । नाशयायामभवायस्यो ज्ञानदीपेन भास्यता" इत्यनेनानुग्रहमार्गीया दर्शिताः । तत्रादिनाम् । अपरे शिष्टाः ॥ आर्षं प्राहुरित्यनेनाभिमतं दर्शितम् । शिष्टत्वं श्रुतिसृष्ट्य-लक्षणाचारवत्वे सति परद्रोहादिशुश्रूषव्यमिति । द्वितीयकथास्यानामभिवर्तनमाहुः—सुमुखाजुषः । पुराणोत्तमं श्रीमद्भागवतं वदन्तीति । इदं हि महापुराणम् ॥ "दशार्थिकं लक्षणं च महता परि-कीर्तितम्"त्युक्तः । पुराणोपपुराणेषु श्रेष्ठमेतत् । अत एव अष्टादशतो वृषगवद्युक्तिः । वृषग-वृषयुक्तिश्च युगपत्कथं वदते इति चेत् ? शैवादिपुराणानां पुराणोपपुराणत्वात् अष्टादशान्त-बननन्तार्त्तवदित्यनेन । आर्षशास्त्र्य तादृशात्वात् । ऋषीणाञ्चिन्त्यैश्वर्येण न कश्चिद्भ्रातः । "नैषा तर्कणं मतिरनपनेये"ति श्रुतेश्च । भक्तिज्ञानवैराग्यमाप्रतिपादकत्वेन पारमर्षसमर्षविषयत्वेन शुद्धादित्मस्यप्रतिपादकस्यसुसमाभ्यस्त्यत्वेन व्यासस्य परितोऽवजनकत्वेन पुराणोत्तमत्वं स्पष्टमेव । तृतीयकथास्यास्तु साक्षाच्छ्रीपतिकल्पमेव प्राहुः । "भगवानेव विद्मन् विवरूपी समाहितः" इति नारदीयोक्तः । श्रीमगोपीजनवल्लभाङ्गिरसिका इत्यादि । स्पष्टम् । श्रीभागवतं पुराणं नः श्रेयसे भूयादित्याशीर्षिकं । खन्मन्तद्वत्त्वमभिलषितम् ।

श्रीमद्भागवतं हरेस्सुन्दरवेर्षिम्बं पुराणैः स्तुतं
पापध्वान्तनिवारणं भयहरं हृत्पद्ममुद्राटकम् ।
तस्मिन्मत्सरिणो बुद्धकृशिशो जल्पन्ति किं तेन हि
प्रत्यक्षं न प्रमाणयन्ति सुहृदो ये राजहंसाः द्विजा ॥ १ ॥

प्रक्षिप्तस्तस्य चपेटिकायाः स्वादुर्जनानां मुखभङ्गनाय ।
ततो मयैवा रचिता प्रहस्तिका सिद्धिर्पतोऽस्यां मुनिबाणकल्लेन ॥ २ ॥

शास्त्रिगङ्गाधरकृतः कृष्णगोविन्दशर्मणः ।
लेखे यस्खलितं तन्न सन्तः संशोधयन्तु मे ॥ ३ ॥

इति सर्वशास्त्रसम्बन्धशास्त्रिगङ्गाधरमहात्मजकण्ठयत्नात्कविरचिता
दुर्जनमुखाचपेटिकायाश्चाथ प्रहस्तिका समाप्ता ॥



श्रीकृष्णायनमः
श्रीमद्भागवतविरचितः
श्रीमद्भागवतनिर्णयसिद्धान्तः

यस्यैव नेत्रसन्धिषु घनवारिवाहः
किं तेन वा सपदि तीक्ष्णकरत्र पश्येत् ।
भानुधराचरविकाशकरः प्रदीप्तो
त्यक्त्या स्वमेव परिराजति विश्वमध्ये ॥ १ ॥
दुष्कर्मजन्मपुरितोऽप्यजातपीडा-
सन्तसारासनतया यद्दि वाऽमृतस्य ।
नाऽऽस्वाद्यते मधुरता नहि तन्मृदुत्व-
मास्वादहीनरसनस्य पुनरिदम्ब्यः ॥ २ ॥
सर्पाः सदा वृशति चेतप्रलयशयेहं
शम्भोर्न तेन मरणं भविता कदाचित् ।
सोऽसौ समश्चरतरं पुनरेव सर्पा-
दन्तप्रपातजननदनघातनेन ॥ ३ ॥
तद्वस्तुधासमसु निम्मैल नित्यसचः
रत्नाकरोऽहमिह भागवताख्य एव ।
सुष्येन्न सूर्यशनकाचिरकालतोऽपि
खद्योतनीपनमथाधिकमस्य कुर्यात् ॥ ४ ॥
तथापि व्यासरचितं श्रीमद्भागवतमृतम् ।
एतदुद्भागवतैऽस्माभिरज्ञानं व्याधिशास्त्रैः ॥ ५ ॥
मोहान्धकारान्धतमा जना ये
करैर्हृद्विभ्रन्दकलानिधिस्तु ।
प्रमील्यनेत्रे परमार्थरूपं
पश्यन्तु ते भागवताख्यरत्नम् ॥ ६ ॥

व्यासकृताष्टादशपुराणपरिगणनपरेषु “ब्राह्मं पात्रं वैष्णवं चै”त्यादिषु पुराणवाक्येषु भागवतं नाम
पुराणमेकमेव परिगणितम् । लोके तु श्रीमद्भागवतदेवीभागवताद्युक्ती द्वौ प्रसिद्धौ, तत्र कतरो
व्यासकृताष्टादशपुराणान्तर्गत इति जिज्ञासार्था श्रीमद्भागवताख्य एव तथेति पुराणान्तरवचनै-
र्निर्णीयते । स्कान्दे श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये “परीक्षिच्छुकसम्वादो योऽसौ व्यासेन वर्णितः । प्रयो-
ऽष्टादशसाहस्रः सोऽसौ भागवताभिध” इत्युक्त्या, “मरीचे शृणु वक्ष्यामि वेदव्यासेन यच्छतम् ।
श्रीमद्भागवतं नाम पुराणं वेदसम्मितम्” इति नारदीयोक्त्या, “चकार संहितामेकां श्रीमद्भागवतीं
परामि”ति वक्ष्यमाणपात्रोक्त्या च श्रीमद्भागवतस्य व्यासकृतत्वं स्पष्टमुक्तम्, व्यासकृतत्वादेव
चाष्टादशान्तर्गतत्वं सिद्धति, व्यासकृतत्वान्म “अष्टादशपुराणानां कर्ता सख्यवीर्युतः” इत्यादि-
वचनसिद्धत्वात्, अष्टादशव्यतिरेकानाम्युपपुराणत्वेन व्यासान्यकृतत्वस्याप्याप्त्युपपुराणानां मुनिभिः
कृतानि “अष्टादशपुराणानि श्रुत्वा सङ्क्षेपतो द्विजा” इति कौर्मोक्त्या, “अन्यान्पुपुराणानि
कथितानि महर्षिभिः । अष्टादशपुराणानि श्रुत्वा सङ्क्षेपतो द्विजा” इति स्कान्दसौरसंहितोक्त्या,

एवमाज्ञापितास्तेन शिवेन मुनयः पुरा ।
श्रुत्वा सत्यवतीसूतोः पुराणं सकलं मुदा ॥
अन्यान्यपि पुराणानि ऋकूः सारतरणि वै ।

इति पराशरोक्त्या च सिद्धत्वाच्च । न च “स्कन्धा द्वादश एवाव कृष्णेन मुनिना कृता” इति देवीभागवतोक्त्या, देवीभागवतस्यापि व्यासकृतव्यति वाच्यम्, द्वयोर्भागवतयोर्न्यासकृत्ये व्यासकृतपुराणानामष्टादशत्वचतुर्लक्षश्लोकत्वयोर्हानिप्रसङ्गात्, द्वयोरेकस्याष्टादशत्वयतिरेक्यासांन्यकृतत्वहानिप्रसङ्गात् । नचैवं देवीभागवतवचनाप्राण्यप्रसङ्गः, तस्य शिष्यद्वारा व्यासकृतव्यति-
त्वाथर्थान्तरपरताया एवागत्या स्वीकार्यत्वात् ॥

न च देवीभागवतवचनमुह्यार्थानुरोधेन श्रीमद्भागवतव्यासकृतत्ववचनान्येवार्थान्तरपरताया नीयन्तामिति वाच्यम्, एकानुरोधेन बहूनामन्यथा नयनस्याप्यन्यत्वेनैकस्य देवीभागवतवचनस्यैव पुराणान्तरसंज्ञायत्नीमस्योक्तकादादिवचनसंशयेन श्रीमद्भागवतव्यासकृत्येन बोधकेन भारतोत्तरमसंशुद्धे व्यासो भागवतं चकारेत्यदिश्रीमद्भागवतवचनेनाविरुद्धत्वायाऽर्थान्तरपरत्वेन नेतुमुचितत्वात् । किञ्च, पापे श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये श्रीमद्भागवतकथाश्रवणाय समागतानां परिगणनप्रसङ्गे “वेदाग्नानि च वेदाश्च मङ्गलास्तपानि संहिताः ॥ दशसप्तपुराणानि षट्सहस्रानि तदा ययुरि” इत्युक्तम् । तत्र व्यासकृतपुराणानामष्टादशत्वादष्टादशेति ऋकस्ये सप्तदशश्लोकिः, श्रोतव्यस्य श्रीमद्भागवतस्याष्टादशत्वं गमयति, तस्याष्टादशान्तरगतत्वे देवीभागवतस्याष्टादशान्तर्गतत्वे वाधादशानां श्रोतुत्वसम्भवेन श्रोतुमागतानां पुराणानामष्टादशत्वात्कर्मिणीत्वप्रसङ्गात् ।

एवं पापे “दशसप्तपुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः । नाशवान् मनसस्तोषं भारतनापि भासिनि । चकार संहितामेतां श्रीमद्भागवतीं पुराणि” इति सप्तदशश्लोकिरपि श्रीमद्भागवतस्यैवैतां संहितानि ति निर्दिष्टस्याष्टादशत्वं गमयति । देवीभागवतस्याष्टादशत्वेऽष्टादशपुराणानित्युक्तिर्नानिर्जल्पप्रसङ्गात् । किञ्च, नारदीये ब्राह्मदीन्यष्टादशपुराणानि प्रसङ्गे कृष्णेन तेषामनुक्रमणिका दर्शिता तत्र—

तिरिञ्चे श्रुतु, वक्ष्यामि वेदव्यासेन ऋकृतम् ।

श्रीमद्भागवतं नाम पुराणं वेदसंमितम् ॥

तदष्टादशसहस्रं कीर्तितं पापनाशनम् ।

सुरपादपरूपोऽयं स्कन्धैर्द्वादशभिर्भुतः ॥

भगवानेव विप्रेन्द्र विश्वरूपी समाहितः ।

तत्र तु प्रथमे स्कन्धे सूतर्षिणां समागमे ॥

व्यासस्य चरितं पुष्यं पाण्डवानां तथैव च ॥

इत्यादिना द्वादशानां स्कन्धानामनुक्रमणिका प्रोक्ता, तस्याश्च श्रीमद्भागवत एवोपलम्भमानत्वात्सत्येवाष्टादशत्वं गमयति, न तु देवीभागवतस्य तत्र तस्यनुपलम्भात् ।

किञ्च,

“वेण्वारं नारदीयं च तथा भागवंतं शुभम् ।

गारुडं च तथा पापं वाराहं शुभदर्शने ॥
सारिवकानि पुराणानि विज्ञेयानि शुभानि वै ।

इत्युक्त्या,

सत्त्वार्थमे मात्स्यकौर्म्ये समाह्वर्यथुं चाहः सारिवकं मध्यमं च
विष्णोः पुराणं सत्त्वोत्तमे गारुडं चाहुरार्यो” —

इति गारुडोक्त्या च भागवतस्य सारिवकपुराणत्वमुक्तम् । अन्यानि विष्णोः प्रतिपादकानि सर्वाणि तानि सारिवकानि इति चाहुरिति गारुडोक्त्या, “सारिवकेषु पुराणेषु माहात्म्यमधिकं हरेरिति कौर्म्योक्त्या च सारिवकपुराणानां विष्णुपरत्वमुक्तमते विष्णुपरमेव भागवतमाष्टादशान्तर्गतं न तु देवीभागवतम् । किञ्च, स्कान्दे प्रभासखण्डे “चतुर्भिर्भगवान् विष्णुर्द्वाभ्यां ब्रह्मा तथा रविः । अष्टादशपुराणेषु शेषेषु भगवान् शिवः” इत्युक्तम् । स्कान्दे सौरसंहितायां च “कथ्यते दशभिर्विप्राः पुराणैः परमेश्वरः । चतुर्भिर्भगवान् विष्णुर्द्वाभ्यां ब्रह्मा प्रकीर्तितः ॥ एकेनाग्निस्त्वैकेन भगवान्-
श्चण्डमास्करः” इत्युक्तम् । ततोऽपि विष्णुपरमेव सारिवकोत्तमं, भागवतमाष्टादशान्तर्गतं न तु देवीभागवतमिति निश्चीयते ॥

अत्र प्रत्यवतिष्ठमाना देवीभागवतपक्षपातिनो यदाहः—श्रीमद्भागवतं न पुराणम् दशलक्षणत्वात्, पुराणानां पञ्चलक्षणव्यतिथयादिति, तत्र; ब्रह्मवैवर्ते कृष्णखण्डे चरमाध्याये—

“सर्वंश्च प्रतिसर्गंश्च यंशो मन्थतराणि च ।

बंशानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम् ।

एतद्वत्पुराणानां लक्षणं च विदुर्मुधाः ।

महतां च पुराणानां लक्षणं कथयामि ते ।

दशाधिकं लक्षणं च महतां परिकीर्तितम्” ॥

इति वचनेन दशलक्षणव्यापि पुराणवसिद्धेः । उक्तं चैतच्छ्रीभागवते—“दशभिर्लक्षणैर्भुक्तं पुराणं तद्विदो विदुः । केचित्स्त्रक्षिपं ब्रह्ममहदहम्पव्यवस्थे” इति । यथाहः—श्रीमद्भागवते नारद उवाच—
“कृतवान्भारतं यत्स्वमि” इत्यादिना भारतोत्तरमसंशुद्धो व्यासः श्रीमद्भागवतं चकारेत्युक्त्या श्रीमद्भागवतस्य भारतोत्तरत्वं प्रतीयते, तच्च श्रीमद्भागवतस्याष्टादशान्तर्गतत्वे—

अष्टादशपुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः ।

भारताख्यानमखिलं चक्रे तदुपबृंहितम् ॥

इति मात्स्यवचनेन भारतपूर्वकबोधकेन विरुध्यते । अतो न श्रीमद्भागवतमाष्टादशान्तर्गतमिति । तत्र, देवीभागवते तृतीयस्कन्धे—

“वेदशाखापुराणानि वेदान्तं भारतं तथा ।”

कृत्वा सम्मोहसम्भूद”

इत्यादिना भारतोत्तरं सम्भूदो व्यासो देवीमाहात्म्यं ज्ञातशक्तित्युक्त्या देवीभागवतस्यापि भारतोत्तरत्वं प्रतीयते । तच्च देवीभागवतस्याष्टादशान्तर्गतत्वपक्षेऽप्युक्तमात्स्यवाक्येन विरुध्यते इति लक्षणदोषेऽपि दोषस्तुम् एव । यदि चोक्तं मात्स्यवचनं पुराणानि चतुर्लक्षानि भारतमेकलक्षं

रामायणं लक्ष्मणादसङ्गम् । एवं सपादाः पक्षेते लक्षा मर्षे प्रतिष्ठिता इति सङ्ख्या प्रकरणात् । सङ्ख्येयस्वरूपमात्रपरम्, न तु सङ्ख्यानपेक्षितकर्मपरम् । अतो भारतेत्तरव्यपश्यन् वचनस्य बाधकम्, स्वार्थपरान्यपरयोः स्वार्थपरस्यैव प्राबल्यादिशुच्यते । यदि वा भारतकृतिर्मनसा पश्चात्कृतिस्तु वागीन्द्रियेणेति भेदादविरोध इत्युच्यते तदास्मयश्लेषेऽपि न दोषः । यच्चाहुः— भारते युधिष्ठिरे प्रति भीष्मेण शुक्रस्य मुक्तिर्का सा च विदेहमुखिरेव भारतेऽपि युक्तम् ।

श्रीमद्भागवते तु तद्विरुद्धः शुक्रपरीक्षितस्मव्द उच्यते, अतः श्रीमद्भागवतं भारतविरुद्धत्वाद्भ्रमागमिति, तत्र, भारते हि शुक्तिमुखा, —

छायां खपुत्रसदृशां सयंतोत्तमगां सदा ।

द्रक्ष्यसे त्वं च लोकेऽस्मिन्प्रसादान्महात्मने ॥

इति शुक्रप्रतिनिधिसद्भाषो दर्शितः । शुक्रप्रतिनिधेश्च परीक्षिकालेऽप्यनुवृत्तिसम्भवात् सम्बादात्पुपत्तिरिति कुतः श्रीमद्भागवताप्रामाण्यम् ?

अन्यथा, भारतदेशीभागवतादौ शुक्रस्य भार्यपुत्रादिव्यवयमपि कथं प्रमाणं स्यात् ? यच्चाहुः विष्णुपुराणे मायामोहननामकपुरुषस्य विष्णुना ह्यशरीररत्नानि तस्य बौद्धावतारस्वयम्कम्, श्रीमद्भागवते तु बुद्धो नाम जिनस्तुतः कीटकेषु भविष्यतीत्युच्यते, अतः श्रीमद्भागवतविष्णुपुराणयोर्बाधप्रमाणमिति, तत्र, पुराणानां भिन्नभिन्नकल्पवृत्तान्तरवत्स्य मात्स्यादिवृत्तत्वात्कल्पभेदे च वृत्तान्तभेदसम्भवात् बौद्धावतारवृत्तान्तभेदो विरुध्यते ।

अन्यथा “मया मोहस्वरूपोऽसौ बुद्धो दनुदुष्टोऽभवत्” इत्यादिवचनं “बुद्धो नाम जिनस्तुतः कीटकेषु भविष्यती”ति गारुडवचनं च प्रमाणं न स्यात् । यच्चाहुः—

यत्राधिकृत्य गायत्रीं वर्णते धर्मविस्तारः ।

बृहत्पुरवधोपेतं तद्भागवतमिष्यते ॥

इत्यादि मात्स्योक्तौ गायत्र्यधिकारो देवीभागवत एवास्ति न श्रीमद्भागवत इति शंभुविशेषस्य मन्त्रविशेषस्य वा गायत्रीपदमुद्रवार्थस्यैव प्रत्यक्षदर्शनात् । गायत्रीघटकधीमतीति पदस्य गायत्रीपद-लक्ष्यार्थस्योभयत्रापि सत्त्वात्तच्च धीमहि प्रचोदयादिति पदद्वयमेव गायत्रीपदलक्ष्यार्थः । स च देवीभागवततारम्भ एवास्ति न श्रीमद्भागवततारम्भ इति वाच्यम्, एकपदस्यापि गायत्रीपदलक्ष्यत्वे बाधकाभावेन पदद्वयलक्ष्यत्वात् आग्रह्यकल्पसिद्धेः । तत्सु—

गायत्रीमायूरुपोऽयं द्वादशरत्नसंयुतः ।

अन्योऽष्टादशसाहस्रः श्रीमद्भागवताभिः ॥

इति गौरीतन्त्रचरनसामानार्थत्वात् गायत्र्यर्थ एव गायत्रीपदलक्ष्यत्वमर्थमिति । गायत्र्यर्थश्च विष्णु-प्यानम् । न तु शिवशक्तिसूर्यादिप्यानमिच्छाभेदे गायत्र्यर्थनिरूपणाभ्याये निर्णीतम् । विष्णुध्यानं तु श्रीमद्भागवतप्रथमश्लोक एव वर्णयते, न तु देवीभागवते प्रथमश्लोके । शक्तिप्यानस्यैव तत्र वर्णनात् । यच्चाहुः—

सारस्वतस्य कल्पस्य मन्वे वै येऽन्तरामराः ।

तद्बृहत्पातोद्भवं लोके तद्भागवतमुच्यते ॥

इति मात्स्योक्तौ सारस्वतकल्पात्मकं भागवतम् । तस्य लक्षणं श्रीमद्भागवते नास्ति, तत्र सारस्वत-कल्पात्पुत्रैरतो न तदष्टादशानन्तर्गतमिति । तत्र । यतो मात्स्यीयं सारस्वतकल्पव्यापक्यं न भागवतलक्षण-परत्वे “यत्तदीशानकल्पस्य वृत्तान्तमधिकृत्य च वशिष्ठायास्मिना प्रोक्तमाग्नेयं तदग्रचक्षते” इत्या-दिगार्हपत्यकल्पपरत्वात्कथा नामपि लक्षणपरस्यैव वक्तव्यत्वेनाग्नेयादेर्यथासादिकल्पोपेक्षितविशेषा-ष्टादशवह्निर्भोगप्रसङ्गात् । किन्तु, मात्स्यीकल्पवर्णनार्थान्यायस्य सङ्कीर्णसाविक्रमजातसतमसकल्पभेदेवा-न्यत्रदिमानि पुराणवर्णनान्यायस्यानि सारस्वतादिकल्पभेदेत्वात्कथामन्यपि परस्परविरुद्धवृत्तान्तवादिनां पुराणवचनानामप्रामाण्यनिरासया भिन्नभिन्नकल्पवृत्तान्तविषयकप्रतिपादनपरत्वेन एव । एवं सति मात्स्यव्याख्येरेव पुराणानां यद्योक्तलक्षणादिमानसिद्धभागवतत्वादि विशेषाणानां प्रति नियतकल्पस-म्बन्धस्य विधिरिहितस्य प्रतीतिर्विहास भागवतादौ सारस्वतकल्पोत्पत्त्येवास्ति । यच्चाहुः— “द्वित्रि-शशिनाशं च यस्य विलसच्छाखा” इत्यादि पद्मोत्तया भागवतस्य द्वान्त्रिंशदधिकं शतत्रयसङ्ख्या अख्यायाः प्रतीयन्ते । व्याख्यातास्तु श्रीधरस्वामिनिश्चे ३५धिका । अतो न श्रीमद्भागवतमष्टादशा-न्तर्गतमिति । तत्र । अद्यत्पुराणार्थमात्रकथायावत्प्रत्यक्षसिद्धत्वेन श्रीमद्भागवतानन्तर्गतास्त्रिद्विदिति म-ध्ववृद्धमाचार्यवदः । “अन्योऽष्टादशसाहस्रः श्रीमद्भागवताभिः । पञ्चत्रिंशत्तराण्यावत्त्रिंशती युक्त इत्यती”-इतीतीतन्त्रचरनसामान्यत्वात्तदधिकशतत्रयसङ्ख्यापक्षोऽपि प्रमाणवति सन्त्ये । यच्चाहुः—

हृदयप्रियवत्सविका यत्र हृदयवत्स्था । गायत्र्या च समारम्भस्तद्वा भागवतं सिद्धुः ॥

इति श्रीधरस्वामिनिखिलितपुराणवचनोक्त्या हृदयवत्प्रवृत्तया श्रीमद्भागवते नास्तीति । तत्र यतः श्रीमद्भागवते पटशतके अश्वद्विरा दन्वृत्तवर्णनो नारायणवर्णनपदिदेशेऽयुक्तम् । तत्र हृदय-वृत्तवर्णन एव हृदयप्रियोऽश्वद्विरात्, नारायणवर्णनं प्रवृत्तया, नारायणस्य प्रवृत्तत्वात् । यदा, पश्च-मकल्पे “भद्राद्यर्चये साक्षाद्भागवतो वातुदेवस्य प्रियां तदुं धर्ममयी हृदयोर्भिषानां परमेण समाधिना सन्निधान्येदमभिमृग्युत्तुपधापति ३० नमो भगवते धर्मोपायवत्तिसौधनाय नमः” इत्यादि गवधावनेन हृदयप्रियरूपस्य प्रवृत्तयो मन्त्रकथा विधा दर्शिताऽस्ति । इयं विधा देवीभागवते-ऽप्यष्टमस्कन्धे प्रतिहता ।

यच्चाहुः—अत एव भागवतनामान्यदिति नाराङ्कनीयमिति श्रीधरोक्त्या भागवतं नामान्यदिति पक्ष ऐतिहासिद्ध इति लभ्यते । ऐतिहासिद्धत्वादेवाद्यापि प्रतिद्विमर्हतीति, अत्र, ऐतिहास्यबाधप्रमाण-स्यात् सत्युत्पत्त्या दर्शितस्य जगत्सकलत्वे ऐतिहास्युत्पत्त्येऽपि । यच्चाहुः—

“अन्वरीयशुक्रप्रोक्तं गिन्से भागवतं श्रुयु” इति पाठेऽन्वरीयं प्रति गौतमवचनेन शुक्रप्रोक्तत्वं भागवतविशेषणमुक्तम् । तच्च देवीभागवत एवास्ति, न श्रीमद्भागवते, यतः प्रोक्तमित्यस्य पाठि-तमित्येवार्थः । प्रवचनशब्दास्याप्याप्यनार्थकत्वप्रसिद्धेः । पाठितं तु शुक्राय व्यासेन देवीभागवत-मेव, “व्यासेन कृत्वाऽथ शुभं पुराणं शुक्राय पुत्राय महात्मने यत् । वैराग्यशोभाय च पाठितं वै विज्ञाय चैवागणितम्भवात्” इति देवीभागवतोक्तम् । श्रीमद्भागवतं तु शुक्रसम्बादरूपं न शुक्राय शुकेन वाच्यापितम्, सम्बादस्यापनत्वायोगादिति तत्र “अन्योऽष्टादशसाहस्रो द्वादशरत्नसंयुतः । परीक्षितचुक्रसम्बादः श्रीमद्भागवताभिः ॥ पुराणेषु तु सर्वेषु श्रीमद्भागवतं परम् । यत्र प्रतिपदं विष्णुर्णयते वडुधर्मिभिः ॥ इति सङ्कल्प्य मनसा श्रीमद्भागवतमिष्यते । जन्मावस्य यत्क्षेति

धीमहान्तमुपावदेद्" इत्यादि पूर्वोपरपाधवचने बोधितानां परिक्षिष्टकसम्पादत्वविशेषोपानां देवीभागवते कथमपि सम्भव्यासम्भवेनाम्बरीषशुकप्रोक्तमिति पाधवचनस्य देवीभागवतपरव्यायोग-
च्छुकप्रोक्तवत्य च शुकपि शुकनेन वा प्रोक्तवत्परस्य शुकमध्यापयामास निवृत्तिरितं युनिः । स
तमध्यापयामास महाराजं परिक्षितमिति श्रीमद्भागवतवचनेन श्रीमद्भागवतैः अपि सम्भवात् । यद्वाहुः—

“ल्लिखित्वा तत्र यो द्वाद्वाद्देमसिंहसमन्वितम् ।

प्रोष्टपचां पीर्णमासां स याति परमां गतिम्” ॥

इति मात्स्यवचनोक्तेः । सिंहो देव्या एव बाहनम्, न तु भगवतः बाहनं च यत्तत्र तदेव
तदीयपुराणदाने दातव्यम्, पीर्णमासी च देव्या एव तिष्ठति भगवतः, अतः इदं मात्स्यवचनं
देवीभागवतदानपरमेव न श्रीमद्भागवतदानपरमिति । तत्र, मात्स्येथ्यावादिदाने मात्स्येवद्वाद्वाह-
नस्यैव देवत्वेन बाहनमेव देयमिति नियमासिद्धेः । गौरीतन्त्रे श्रीमद्भागवतदानप्रस्तावे “अष्टादशतुल्यैः
कुण्डिमसिंहासनं प्रिये” इत्युक्त्या सिंहपदेन प्राह्वत्वाच्च पीर्णमासी च देव्या एव नान्यस्यैस्त्रय
न किञ्चिन्मनस्तसि सर्वेषां पुराणानां प्रायेण पीर्णमासां देवत्वोक्तेः । यद्वाहुः—व्यासकृष्णप्रपञ्चनेः
पदानि वाच्यमिति च सुगमार्थानि, श्रीमद्भागवते तु दुर्गमार्थान्यते न श्रीमद्भागवतं व्यासकृतमिति ।
तत्र, सर्वेतेन स्वतन्त्रेणैव न्यासेन सुगमस्यैव दुर्गमस्यापि ग्रन्थस्य सुकरत्वेन दुर्गमत्वस्य व्यास-
कृतत्वाभावासाधकत्वात् । अन्याया यत्र पदे वाक्ये वा तत्र मन्दमतेः क्लेशस्तस्य सर्वस्य व्यासकृत-
त्वाभावाप्रसक्त्या भारतादौ पुष्करप्रादुर्भावविग्रन्थस्य दुर्गमतरस्य नितरां व्यासकृतत्वाभावाप्रसङ्गात् ।

यद्वाहुः—नव्याशिवपुराणे उत्तरभागेऽष्टादशपुराणान्युक्त्वा तन्नामनिर्वचनप्रसङ्गे भगवत्वाश्च
दुर्गोपाश्वरितं यत्र वर्तते, तच्च भागवतं प्रोक्तम् । तत्र देवीभागवत एवासि न श्रीमद्भागवते इति । तत्र,
श्रीमद्भागवतैः अपि दशमस्कन्धे भगवत्या दुर्गोपा अवधारस्य वर्णितत्वेनोक्तविशेषोपानप्रपञ्चनात्,
ननुक्तवचनस्य यत्र दुर्गोचरितं प्राधान्येन वर्णयते तद्भागवतमित्यर्थः । उक्तवचने प्राधान्येनेति पदा-
ध्याहारस्याप्यसकत्वासिद्धेः । न च दुर्गोचरितस्य भागवतात्प्राधान्यस्य प्राधान्येनेति पदमप्याह-
रित्वम् । अध्याहारोऽपि कालिकापुराणादिसाधारणपरिहारात्, द्वास्तुरववादिदुर्गोचरितस्या-
साधारणत्वानपेक्षयाः सुवचत्वाच्च । किञ्च, देवीपुराणकशाब्देन कोऽर्थो विवक्षितः न तावत्
देवीपुराणसङ्गो ग्रन्थविशेषस्तस्य गायत्र्यधिकारादिभावात्तत्रमन्दस्यैव भागवतत्वाप्रसक्त्या निषे-
धस्यैवध्यातः । दुर्गोचरितवचनमात्रेण प्रसक्त्यभ्युपगमे कालिकापुराणस्यापि प्रसक्तत्वेन निषेधाह-
तया तदनिषेधस्य निर्बीजत्वप्रसङ्गात् । नापि देवीवर्णनं यत्रास्ति तदित्यर्थः । विधिविधेयवैक-
वियवत्प्रसङ्गात् । नापि यत्रान्यान्युपहितया देवी वर्णयते तदित्यर्थः । देवीभागवतमित्यस्यैव देवी-
पुराणमित्यत्रापि देव्याः प्राधान्यस्यैव प्रतीयमानत्वेनानुपहितयायाः शब्दावबोधात् । यदि च
यत्र प्राधान्येन देवी वर्णयते, तदत्र देवीपुराणशब्दार्थ इत्युच्यते । तदा देवीभागवतस्य देवी-
पुराणत्वेन निषेधविषयस्य विधिविषयत्वात्तुपरया प्रासङ्गिकदुर्गोचरितवतः श्रीमद्भागवतस्यैव
विधिविषयत्वं पर्यवस्यति, तस्माद्भागवतमेवाष्टदशतन्मूर्तं न देवी भागवतमिति सिद्धम् ॥

श्रीमद्भागवतं येन पुराणार्णवशोधनात् । दामोदरेण रूपेण निर्णीतं तं हरिं नमः ॥ १ ॥

इति श्रीदामोदरविरचितं श्रीमद्भागवतनिर्णयसिद्धान्तः समाप्तः ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

नेतोपाह्वमद्वै श्रीरामकृष्णशर्मविरचितः
श्रीमद्भागवतविजयवादः ।

श्रीमद्गिरिधराधीशापादाब्जुजरजःकणाः ।

प्रतीदन्तु सदा भक्तस्यान्तान्तसुखाब्धयः ॥ १ ॥

सुन्दरमरविश्वसुति वृन्दारकवृन्दवन्द्यसुखकन्दम् ।

शिरसा सुकुन्दचरणद्वन्द्वं यन्मामहेऽप्रमदम् ॥ २ ॥

पाखण्ड्यारणेन्द्राणां दारणे सिंहसत्रिभान् ।

श्रीमदाचार्यवर्षाणां चरणान्प्रणमाम्यहम् ॥ ३ ॥

निजोद्गमविनिर्भुतप्रलययुक्तिपाखण्ड्यवद्-
प्रखण्डमहिमोद्धतिप्रसरतीतिदिग्गण्डलात् ।

प्रजेन्द्रद्वयद्वयमखिलविशेषभावस्फुर-
रप्यतापनिगमामासं हृतभुमिन्द्रवर्षाणां नमः ॥ ४ ॥

कुतर्कनिकराटपीद्वयकृदानुमूर्तिः परा
शुकार्यवचनामृतामृत्पिस्तुधांशुभूतिषेरा ।

रसाद्रजजनयिकपापतिविहारभावोद्भवा
सुवैड्यमुखाभुजो जयति भारती सरवरा ॥ ५ ॥

श्रीमद्गिरिधरचरणागिरिधरभावान् गुरुननिशम् ।

गोपालचतुर्वर्षानुपतिपदंयशामुदा वन्दे ॥ ६ ॥

श्रोपुत्रोत्तमचरणान्भगवद्वत्सनामजात्रमामि ।

वेदान्तप्रभ्रमानुपुद्गन्त्या विश्वसद्वन्त्याः ॥ ७ ॥

श्रीमद्भागवताभिषः सुरपतिः सन्नाडुदारभ्रवाः
कामभोधमदादिद्विजयते सिंहासने राजते ।

तस्मात्तद्विजयामिधानममुनाभूते प्रणम्याथ तं
ग्रन्थं संशयवशवृन्दपरहो श्रीरामकृष्णः सुधीः ॥ ८ ॥

श्रीमद्भागवतामृतमृत्सिंहिरवा हरेर्निन्दका
दोषप्रामवराहगतंनिचयेऽनेष्यादिनः शेरते ।

तद्वाक्यप्रकरैकमोहितपियो हंसा यथा मानसा
माश्र्वयति मे विचाररचना विद्वग्मुखे मोदताम् ॥ ९ ॥

श्रीमद्भागवतामृतसलिका विद्वत्सभाभूषणः ।

सिद्धन्तविजयवादैः सन्मकू परधनुं मरुतं सन्तः ॥ १० ॥

अथ वेदवेदान्तसारस्य निखिलपुराणकवचवर्तिनः श्रीमद्भागवतस्तोत्रार्क्यमहाह्वानाः स्वमनीषया
यत्किञ्चिपुराणं भागवतत्वेन कल्पमानाः बहुविधवादिनो विवदमाना आहुः—

५ त-००-लि-००१.

तत्र, गङ्गेशोपाध्यायाः—“नमस्कृत्य शिवां देवीं शर्वं भागवतं तथा । पुराणं सम्प्र-
बक्ष्यामि यथोक्तमृषिभिः पुरा” इति देवीपुराणाद्यप्येव भागवतपदादेवीपुराणमेव भागवतमि-
त्याहुः, तत्र रमणीयम्; “यत्राधिकृत्य गायत्रीं वर्ण्यते धर्मवित्तरः । वृत्रासुरवधोपेतं
तद्भागवतमित्यने” “सारस्वत्यस्य कल्पस्य मध्ये ये स्मन्तुरामराः । तद्वृत्तान्तोद्भवं
चैतपुराणं परिकीर्तितम्” इति मास्योक्तलक्षणस्य “भृन्धोऽष्टादशसहस्रो द्वादशशतम्
परिचितः । हयग्रीवब्रह्मविद्या यत्र वृत्रवधस्तथा । गायत्र्या च समारम्भस्तद्दे भागवतं विदुः”
इति स्कान्दोक्तलक्षणस्यासम्भवात् । देवीपुराणसमाप्तौ भागवतपदानुल्लेखाच्च । “सर्गाधीशोर्धकं
शास्त्रं ब्रह्मब्रह्मनिनिःसृतम् । तेनापि नरशाईलु क्रीर्तितं नरत्वाहनम् । प्रज्ञा दक्षप्रजापतये
शिधो ब्रह्मणे चोक्तवान् । लक्ष्मणायै लोचस्य शिवा देवैर्न भाषिता” इति देवीपुराणस्याभ्यु-
दयपादसमाप्त्यध्यायनार्कये लक्षसङ्ख्याकत्वेन देवीपुराणस्याष्टादशसहस्रसङ्ख्याविरोधाच्च । देवी-
पुराणस्य विजयलैलोक्याद्युदयनिष्ठुम्भशुम्भमयनाख्यपादत्रयविशिष्टत्वेन द्वादशसहस्रधर्मसमित्व-
रूपलक्षणस्याभावाच्च । “नमस्कृत्य शिवां देवीं शर्वं भागवतं तथा । पुराणं सम्प्रबक्ष्यामि यथो-
क्तमृषिभिः पुरा” इति वचने भागवतमिति पदस्य श्रवणविशेषणत्वात् । “वैष्णवानां यथा
शुभम्” इति द्वादशस्कन्धवाक्यात् । “भस्मोद्भूतितदेहसु जटामण्डलमण्डितः । अहं ध्यायामि
तं विष्णुं परमात्मानमन्ययम् । विष्णोराधनाथार्थं व्रतचर्यां पितामह” इति गारुडद्वितीयाध्याये
रुद्रवाक्याच्च । न च भागवतपदस्य प्रस्तुतपुराणविशेषणत्वं शङ्क्यम्, तथापदेन न्यवधानात् ।
अथवाऽस्तु भागवतपदस्य प्रस्तुतपुराणविशेषणत्वम्, तथापि “यत्राधिकृत्य” इत्यादिलक्ष-
णात्प्रान्ततया न श्रीमद्भागवतस्य पदवीमधिरोहं तदर्थं, प्राचीनदानसागरस्मार्तनिबन्धकारस्य,
तत्पुराणोपपुराणसङ्ख्याबहिष्कृतनिन्दितकर्मयोगात्, पाण्डवशाखाउगतं विविष्य देवीपुराणं न
निबद्धमन्त्रेयुक्त्वा देवीपुराणस्याप्रामाण्यमङ्गीचकार । वस्तुस्तु तस्योपपुराणत्वं सर्वसम्प-
त्म् । न चाष्टादशोपपुराणसङ्ख्यायां देवीपुराणं न श्रूयत इति बाध्यम्, उपपुराणानामाष्टादश-
सङ्ख्यातोऽप्यधिकत्वात् ।

केचित्तु, “यदिदं कालिकाह्वयं च मूले भागवतं स्मृतम्” इति हेमाद्री पुराणदानप्रस्ताये
कालिकापुराणवचनात्कालिकापुराणं भागवतमित्याहुः, तन्मूलमित्यपि पाठ इति च । तदध्यापा-
तरमणीयम् । तत्रैव कालिकापुराणे, “शैवं यद्वायुना प्रोक्तं वैरुक्तं वैष्णवं तथा । यदिदं कालि-
काह्वयं च मूले भागवतं स्मृतम् । तौरं च नारदीयं च मार्कण्डेयं च बह्विजम् । भविष्यं
ब्रह्मवैवर्ते लैङ्गं चैव त्रयोदशम् । वामनं कौर्म मात्स्यं च सतदशं च गारुडम् । स्कान्दमहादशं
प्रोक्तं पुराणं च न संशयः” इति लैङ्गादीनां त्रयोदशत्यादिकथनस्य “भागवतम्” इतिपदस्य
कालिकापुराणविशेषणत्वे विरोधापत्तेः । तस्मात्कालिकापुराणतो भिन्नमेव भागवतमुपपुराणम् ।
एतेन यदिदं कालिकाह्वयं तन्मूले भागवतं स्मृतम्” इति पाठमङ्गीकृत्य, तन्मूले तस्य कालि-
कापुराणस्य मूले भागवतं देवीभागवतमित्यर्थो निबन्धकारैर्दक्षितः । यथा शुभपुराणान्यायै-

कल्पात्महापुराणानिर्गतानि, तथैवं भागवताद्व्युत्पन्नमिति यावत् । तच्च भागवतं वैष्णवं तन्मूले
भविष्यं नार्हति । देव्युपपुराणस्य देवीपुराणमूलकत्वं एव सामञ्जस्यत् । शैवोपपुराणानां शैवेभ्य
एव, वैष्णवोपपुराणानां वैष्णवेभ्य एवोपपत्तिदर्शनादिति देवीभागवतत्वेन तन्मूलमित्युक्तिः परास्ता ।
विशदतया परास्ता भविष्यति च ।

तदुपपुराणं भागवतं किमिति जिज्ञासायां यदादित्यपुराणे “ततो भागवतं प्रोक्तं भागद्व-
विभूषितम्” इत्युक्त्वा “यदादित्यं तूर्यमकायं यस्तु भागवतं द्विजः । सर्वेषामपिनिर्मुक्तः सर्वदोष-
निर्वाहितः । जीवेदंशतं साममन्त्रे वैवस्वतं पदम्” इति यथानकालमुक्त्वं, तदेव बोध्यम् ।

कश्चित्तु, कालिकापुराणसहचरित्वेन देवीभागवतपरमित्याह । इतरस्तु देवीभागवतं निर्दु-
माह । अयं विचारश्च विस्तरतो निरूपणीयोऽपि ।

न च “शैवं यद्वायुना प्रोक्तम्” इत्यादिमहापुराणप्रक्रमपाठात्कालिकापुराणस्य महापुराणत्व-
मिति पाष्यम्, क्रममेतात्, महापुराणगणनायां सर्वत्र कूर्गस्कान्दविर्युक्तस्यपदिक्रमदर्शनात् ।
कूर्गपुराणं त्र्यम्भास्येव चोपपुराणगणनायां द्वादशसहस्रं कालिकापुराणस्य गणनात् । “आयं
सनकुमारोक्तं नारसिंहं ततः परम् । तृतीयं नारदमुदिदं कुमारभाषितम् । चतुर्थं शिवधर्मोक्तं
साक्षात्नारदभाषितम् । दुर्वाससोक्तगार्धयं नारदीयमनः परम् । कपिलं मानवं चैव तथैवोशन-
सेवितम् । ब्रह्मण्डं वारुणे चाथ कालिकाह्वयेव च । माहेश्वरं तथा साम्बं तौरं सर्वार्थसङ्ग्रहम् ।
पराशरोक्तमपरं मारीचं भार्गवाह्वयम्” इत्येव वाक्यात् ।

अत्र कश्चित् “पराशरोक्तमपरम्” इत्यत्यभि “तथा भागवताह्वयम्” इति कल्पितवान् ।
तदुक्तम् । मारीचगार्धयरोपपुराणापत्तेः । एकस्य भागवतस्य निवेश एकस्य न्यूनतायां सप्त-
दशत्वापत्तेः अनेकेषु पुस्तकेषु “मारीचं भार्गवाह्वयम्” इत्येव पाठात् । सूतसंहितायां “सतः
कालीपुराणह्वयं यासिंहं मुनिङ्गुह्यः” इत्युपपुराणत्वेव गणनात् । अतएव कालिकापुराणोक्त-
गणनायां तौरनिवेशोऽपि सङ्गच्छते । अतः पुष्करपुराणशिवरहस्यविष्णुधर्मोत्तरविष्णुरहस्यशैवा-
दीन्त्युपुराणानि भिन्नाभ्येति तत्रोक्तं भागवतं भिन्नमेवेति निश्चयः । तस्मादादित्यपुराणमपि न
श्रीमद्भागवतपदवीमधिरोहं नर्हति । मास्योक्तलक्षणानामात्वात् । एतेनादित्यपुराणस्य भागव-
तत्वं बर्तन्तो निरस्ताः ।

यत्तु भास्कराचार्योः, “सर्वचैतन्यरूपां तां विद्यामायां च धीमहि । बुद्धिं यां नः प्रचोद-
यात्” इति देवीभागवतप्रारम्भश्लोकप्रिपदागायत्रीरूप उपपत्तेः । स्कान्दे “ह्यग्रीवब्रह्मविद्या यत्र
वृत्रवधस्तथा । गायत्र्या च समारम्भस्तद्दे भागवतं विदुः” इति स्वयंते । विष्णुभागवते “जन्मा-
वस्य यतोऽप्युत्पत्” इत्यारम्भश्लोके शाईलुकिश्रिते “गायत्र्या च समारम्भस्तद्दे भागवतं विदुः”
इत्यस्यानन्ययादिति मित्युक्तभागवतपरमिदं लक्षणं न सम्भवति । “यत्राधिकृत्य गायत्रीं वर्ण्यते
धर्मवित्तरः । वृत्रासुरवधोपेतं तद्भागवतमित्यने” इति मास्योक्तलक्षणोऽपि गायत्रीमन्त्रेऽप्युत्पत्ति-
पत्तिर्दिष्टव्या । यत्तु “तस्यं परं धीमहि” इति गायत्र्यन्तर्गतपदचिदित्यन्तर्गतस्यसमानार्थकत्वात्
गायत्र्यारम्भोपपत्तिरिति, तच्च; गायत्र्यन्तर्गतपदानां गायत्रीप्रतिपाद्यलक्षणश्च सर्वत्र सुकृतमत्याऽसा-

धारणधर्मरूपलक्षणस्याभावान्नाद् देवीमानवतायश्च एवोपलभ्यमानवतात् । “सारस्वतस्य कल्पस्य वृत्तान्तो यत्र वर्णयते । गायत्रीछन्दसाऽऽरम्भस्त्राद्भागवतमुच्यते” इति दिनकरलिखितवचने गायत्रीछन्दस एव गायत्रीप्रारम्भकथनान्देवीभाववचनेनैव, न विष्णुभागवतम्, एवञ्चैतद्वचनामुपसारेण “गायत्र्या च समारम्भः”, “यत्राधिकृत्य गायत्रीम्” इत्यत्रापि गायत्रीछन्दसा यत्रारम्भो गायत्रीछन्दोऽधिकृत्याऽरम्भो वेत्यर्थ एव ।

किञ्च, “हयप्रीवन्नक्षत्रविधा यत्र वृत्रवधस्य च” देवीभागवत एव विलारसो रूपगादिष्यु-भागवते न तथा निरूपणम् । अल्पनिर्णयणेऽपि सारस्वतवृत्तान्तस्य देवीभागवत एवोपलभ्यमानवतो मात्स्यपुराणोक्तकलभागवतलक्षणानां देवीभागवतपरत्वमेव । “प्रीछपचां पौर्णमासां हेमसिंह-समन्वितम्” इति मात्स्यश्रीमद्भागवतवचनयोः सिंहावाहनत्वेन लिङ्गेन देवीविषयतया देवीभा-गवतमेव वक्ति ।

किञ्च, विष्णुभागवतं हि भारतोत्तरं दशलक्षणलक्षितं निर्मितमिति श्रूयते । मात्स्यस्कान्दयोः “अष्टादशपुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः । भारताऽऽश्रम्यमानवखिलं चक्रे तदुपबृंहणम्” इति, “चक्रे भारतमाख्यानं वेदार्थैरुपबृंहितम्” इति य क्रमेण पठयते । तेनाष्टादशपुराणवहिरूर्ध्वतः सिद्धे कथं महापुराणदानप्रकरणस्य क्रोड्येण विष्णुभागवतस्यावसर इति । “अन्वरीपञ्चकप्रोक्तं निलं भागवतं शृणु” इत्यत्र श्रुत्वाप प्रोक्तमिति विग्रहे देवीभागवतनाटयने विषयः । तस्मादेवी-भागवतं महापुराणं, विष्णुभागवतमुपुराणमिच्छात् ।

तत्र, विचारधासः “यत्राधिकृत्य” इत्युक्त्वा श्रीमद्भागवतपरतयैवास्य लक्षणस्य युक्तत्वात् । उत्तरोत्तरानुवृत्ततया सार्धबोधकथरूपाधिकारलक्षणस्यार्थ एव सम्भवत् । तथा छन्दसो वक्तु-मशक्यत्वात् । “अथ शब्दानुशासनम्” “अथ योगानुशासनम्” इत्यादवाप्तमातेः शब्दस्य योगस्य च विचारवत् । एवं च, “गायत्र्या च समारम्भः” इत्यत्रारम्भोऽधिकार इत्यर्थः । “अथेत्यर्थं शब्दोऽधिकारार्थः” इति महाभाष्ये ‘अधिकारः प्रस्तावः’ इति कैयटे । “प्रारम्भः” इति विरणकारैराम्भाधिकारयोः पर्यायत्वावबोधनात् । “सारस्वतस्य कल्पस्य वृत्तान्तो यत्र वर्णयते । गायत्रीछन्दसाऽऽरम्भस्त्राद्भागवतमुच्यते” इति दिनकरलिखितवचनस्य तु पुराणान्नाऽनु-च्छेदादप्रसिद्धत्वाच्च निर्मूल्यमेव भाति ।

अस्तु, समूलता वा, तथापि; गायत्रीछन्दसेत्यत्र गायत्रीमन्त्रेणैवर्षासातुद्रूलैव; छन्दः-शब्दस्य वेदपरत्वात् । तत्रैवपि गायत्र्यः सम्भवन्ति । तस्माद्वचने तदुल्लेखः । यथापह्येण छन्दः-परत्वमुच्यते, तर्हि; “अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतायैवितिनिर्णयः । गायत्रीमाध्यरूपोऽस्ती वेदार्थ-परिवृंहितः । पुराणानां साररूपः साक्षाद्भागवतोदितः । द्वादशस्कन्धसंयुक्तः शतविच्छेद-संयुक्तः । मन्थोष्टादशसाहस्रः श्रीमद्भागवताभिः” इतिगण्डपुराणवचनस्य विरोधो दुर्वारः । पात्रे श्रीमद्भागवतमाहात्म्य एकोनविंशत्याध्याये “अर्थो यो ब्रह्मसूत्राणाम्” इत्यारभ्य “श्रीमद्भाग-वताभिः” इत्यन्तं गारुडसमं पठित्वा “हयप्रीवन्नक्षत्रविधा यत्र वृत्रवधस्तया । गायत्र्या च समा-

१ विष्णुभागवतं हि भारतोत्तरं दशलक्षणलक्षितस्य भागवतस्य निर्माणं श्रूयत इति भ्रान्तः पाठ इति ये प्रतिभाति ।

रम्भस्तद्वै भागवतं विदुः” इत्युक्तम् । अत्र “गायत्रीमाध्यरूपोऽस्ती” “गायत्र्या च समारम्भः” इत्युक्तेषु विरोधो दुष्परिहरः । “गायत्रीमाध्यरूपोऽयं द्वादशस्कन्धसंयुक्तः । मन्थोष्टादशसाहस्रः श्रीमद्भागवताभिः” इतिहररीतीतलस्य विरोधश्च दुष्परिहरः । अत एव “मन्थोष्टादशसाहस्रो द्वादशस्कन्धसंयुतः । परिक्षिच्छुक्तसम्भारः श्रीमद्भागवताभिः” । पुराणेषु च सर्वेषु श्रीमद्भागवतं । यत्र प्रतिपदं विष्णुर्णयते ब्रह्मपरिभिः । इति सङ्कल्प मनसा श्रीमद्भागवताभिधम् । जन्मा-वस्य यत्रश्वेति धीमतीत्यतपुरावदत्” इति पात्रोक्तं देवीभागवते कथमप्यसम्बन्धमत्रैव सङ्ग-च्छते । “श्रीमद्भागवतं नाम पुराणं वेदसम्मितम्” इति नारदीयवचने वेदसमितत्वकथनेन वेदमूलभाष्ययाः समारम्भस्य युक्तत्वात् । “अथथा हवनं कुर्वीद्गायत्र्या सुसमाहितः । तन्मय-त्वापुराणस्य परमव्यासः तत्परः” इति पात्रे पठय्यावश्रीभागवतमाहात्म्ये सप्ताहश्रवणविधिप्रसङ्गे गायत्रीमयत्वेन प्रातिपादनात् ।

किञ्च दिनकरवचने गायत्र्यारम्भसमिन्ध्याहृतसारस्वतकल्पवृत्तान्तवर्णनरूपलक्षणकथना-श्रीमद्भागवत एव तदुपलम्भः । “ब्रह्मानन्दमयो लोके व्यापिषिणुकुण्डसञ्ज्ञितः । तल्लोकवासी तत्रत्यैः स्तुतो वेदैः परापरः” इत्यादिवेदस्तुत्यनन्तरं प्रसन्नेन भगवता खल्लोकादिप्रदर्शनोत्तरं “आमानिति विरञ्चो तु जाते सृष्ट्यर्थमुद्यते । कल्पे गारुडते प्राप्ते ब्रजे गोप्यो भविष्यथ” इति बृहद्भागवतपुराणस्यवेदाकाङ्क्षितवर्दाननाक्येन सारस्वतकल्पवीदशमचरित्रस्य स्पष्टं प्रतीयमान-तया श्रीमद्भागवत एव सम्भवेन तदारम्भे गायत्र्यर्थस्येवोपलभ्यमानत्वात् । एतेन सारस्वतकल्पी-यकया श्रीमद्भागवते नास्तीति परास्तम् । अयं विचारस्तु निगुणतयाऽपि स्फुटीमविष्यति ।

किञ्च, श्रीमद्भागवते प्रथमं “नूत जानासि भद्रं ते भगवान् सार्वभौ पतिः । देवक्यां यदु-देवस्य जातो यस्य चिकीर्षया” इत्यादिना श्रीकृष्णचरितस्यैव सुहृदयतया पृष्ठस्थात्स्यैव दशमे स्फुटतरनिरूपणेन सूतेनोत्तरादानादशमे चरितस्य सारस्वतकल्पीयत्वात् । तत्र गोपीनां स्तुतिरूप-स्य बृहद्भागवते निरूपणात् । गायत्र्याश्च वेदमूलतया वेदसारस्य श्रीमद्भागवतस्यारम्भेऽवस्यम-वेश्मणीयत्वात् ।

यत्तु, गायत्र्यार्थकत्वे गायत्रीप्रतिपाद्यब्रह्मणः सुलभतयाऽसाधारणधर्मरूपलक्षणस्यासम्भ-व इति, तत्र; गायत्र्याऽधिकारस्याप्यत्राणुलभ्यादत्रैवोपलम्भत्वात् । लक्ष्यतावच्छेदकसमनियतरूपा-साधारणधर्मस्य विषयमानत्वात् । तथाहि—“गायत्री वेदमाता, वेदत्रयार्थप्रतिपादिका, तदर्थः श्रीमद्भागवते प्रथमं बीजार्थं निरूप्यते । यथा वेदस्तया श्रीमद्भागवतमेकबीजत्वात् । अतो गायत्र्यर्थनिरूपणेन वेदविरोधो वेदादौर्बल्यं च परिहृतम्” इति श्रीमदाचार्यचरणोक्तेन वेदव-त्तामाप्यं गायत्र्यारम्भेणैवेति वक्तव्यम् । गायत्रीछन्दसारम्भे नैवादश उक्तव्यः सिध्यति । निर्विजं वाक्त्रसवार्थे भगवदुपस्थानं कुर्वाणो व्यासो गायत्र्यर्थमाह ‘तत्’ पदं व्याचष्टे, ‘सत्सं परम्’ इति । ‘तत्सत्यनिष्ठाचक्षते’ इतिश्रुतेः परस्यैव त्रिकालावाच्यत्वात् । ‘मयाः परतरं नान्यत्’ इति सूतेषु । ‘सत्विदुः’ इति व्याचष्टे ‘जन्माधस्य’ इत्यादि । ‘तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सन्भूतः” इतिश्रुतेराध्यासाकाशस्य यतो जन्म इति । अथनोपलक्षणविधया स्थिति-

प्रलयी बोधौ । तौ वरेण्यमर्गःशब्दाभ्यां सूचितौ । “वरेण्यम्”इत्यस्यार्थगृह—“तेजोविरमृदां यथा क्षिप्रमयो यत्र त्रिसर्गो मृषा” इति । ध्यानविषये भगवति जडजीवधर्मौणां मायिकत्वात्त्रिसारकरोण, माया, तत्कार्यसम्बन्धलेशाभावाद्दर्शनीयं सुन्दरमिति । यश्च निर्दोषः स एव वरेण्योभयम् । भर्गोःशब्दं व्याचष्टे—“धाम्ना स्नेन सदा निरस्तकुहकम्” इति । एतेन भर्जयस्त्रिलिखामण्डिवाचिति भर्गोःशब्दः सान्तो व्याख्यातः । “देव”पदव्याख्यातमानह—“खराट्” इति । खरूपानन्द एव स्मृत इति । “यिषो यो नः प्रचोदयात्” इति व्याचष्टे—“तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये” इति । “यः” इति गायत्र्यन्तर्गतस्य प्रहणमिति श्रीमदार्याचरणोक्तानुसारेणोक्त इति ।

केचित्तु, तत्सन्निर्देशस्यैस्त्वस्यार्थो ‘जन्माद्यस्य’ इति । ‘धामं वरेण्यं परम्’ इत्यभिधानात् ‘वरेण्यम्’ इत्यस्य व्याख्यानं ‘परम्’ इति । ‘भर्गः’ इत्यस्य व्याख्यानं ‘धाम्ना स्नेन सदा निरस्तकुहकम्’ इति । भर्गः सकलदुरितमञ्जनत्रयोतीरूपम् । ‘तत्’ पदार्थव्याख्यानं ‘खराट्’ इति । ‘यिषो यो नः प्रचोदयात्’ इत्यस्य व्याख्यानं ‘तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये’ इति प्रोचुः । अन्ये तु, ‘तत्’ पदस्य प्रतिपदं ‘यः’ इति, ‘वरेण्यं’ पदस्य प्रतिपदं ‘अभिन्नः’ इति, ‘भर्गं’ इति पदस्य प्रतिपदस्वरूपं ‘तेजः’ इत्यर्थः, ‘देवपदस्य प्रतिपदं ‘अस्य’ इति, ‘धीमहि’ इत्येव, ‘यिष्य’ इति पदस्य प्रतिपदं ‘कवयः’ इति, ‘प्रचोदयात्’ इत्यस्य प्रतिपदं ‘आदिकवयः’ इति, ‘प्रचोदयात्’ इत्यस्य प्रतिपदं ‘तेने’ इत्याहुः ।

वीरराघवाचार्यास्तु ‘जन्माद्यस्य यतः’ इति सन्निवृत्तपदाद्यं उक्त इति, ‘यः’ इति पदेन ‘तत्’ शब्दार्थश्च सूचितः । ‘सूरयः’ इत्येनेन वरेण्यशब्दार्थ उक्तः, उक्तं हि सावित्रीविरचणे “वैरेणं वरेण्यं न तु वरा ध्यातार ईरिताः”, ‘तेने’ इत्यादिना देवशब्दार्थ उक्तः, ‘घोतनः सर्वमात्राणां घोटमानः स्वयं सदा’ ‘अज्ञानमण्डलं तुघनम्’ इति, तत्रोक्तं यन् खण्डयन्, दोषखण्डनेन, घोटकः प्रकाशकः ‘जन्मादि’ इत्येनेन देवशब्दार्थ उक्तः, जगत्प्रापो हि तल्लीला; ‘धाम्ना’ इत्यादिना भर्गोःशब्दार्थ उक्तः, ‘भर्गोःस्नेनः समाख्ययातम्’, ‘भर्जयस्त्रिलिखं कष्टम्’ इति च तत्रोक्तम्; ‘खराट्’ स्वतंत्रः, प्रेरकत्वेन धीयचोदनम्; “यिषो धीर्बुविकाधेदा भेरणं तु प्रचोदनम्” इति हि तत्रोक्तम्; एवं प्रदर्शितया रीत्या गायत्र्युपक्रमत्वसिद्धिरित्याहुः ।

सर्वेनेषु पक्षेषु श्रीमदार्याचरणोक्त एव सम्यक् । एवं च गायत्र्यर्थविचारस्यैवात्र सुलभतया ‘जन्माद्यस्य यतश्चेति धीमही ह्यन्तमुपगमदत्’ इति पूर्वोदाहृतपाठवचनस्य प्रतिपदोक्तत्वेन जगत्कतया ‘गायत्रीमाय्यस्त्रोऽसी’ इत्याद्यन्वेषामपि वचनानामानुगुण्येन च ‘यन्नाभिलक्ष्य गायत्री’ ‘गायत्र्या च समारम्भः’ इति वचनयोः समावेशः श्रीमद्भागवत एव न देवीपुराण इति प्रमाणानुसारिणो विभावयन्तु ।

एतेनारभञ्छोके शार्दूलविक्रीडिते गायत्र्यारम्भस्यान्वयादिशुभभागवतपरिमिदं लक्षणं न सम्भवतीति निरस्तम् । अत एव “गायत्रीभाष्यरूपोऽयम्” इति हरणैरितन्नवचनसमानार्थत्वाय गायत्र्यर्थ एव गायत्रीपदलक्ष्यत्वमर्हति ।

गायत्र्यर्थस्य विष्णुध्यानं, न तु शिवशक्तिसुपीदध्यानमित्येव गायत्र्यर्थनिरूपणाध्याये

निर्णीतम् । विष्णुध्यानं तु श्रीमद्भागवतप्रथमश्लोके एव वर्धते, न तु देवीभागवतप्रथमश्लोके । शक्तिध्यानस्यैव तत्र वर्णनादिति दामोदरशास्त्रिण आहुः ।

“अन्तस्तदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्रुतः” इति भगवदुक्त्या, “परं ब्रह्म परं धाम” इति कृष्णसखयाक्ये षष्ठसंख्येन बोधितस्य श्रीकृष्णस्य गायत्र्यां ‘तत्’ पदेन बोधितत्वात् । तच्छब्दस्य प्रसिद्धार्थकत्वेऽपि “अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः (प्रसिद्धः) पुरुषोत्तमः” इति भगवदशक्याच तथा । तत्पदप्रतिनिधीभूतस्यस्यपदेन “सस्य प्रतिष्ठितः कृष्णः सखयत्र प्रतिष्ठितम् । सत्यासत्यौ हि मामतः” इति भारतीयोगपर्वण्युक्त्याच, भागवत एवाभिधानात्सख्य श्रीमद्भागवतावप्ये ध्यानमिति वा बोध्यम् ।

यत्तु ब्रह्मिद्, गायत्र्यर्थश्च विष्णुध्यानं न तु शिवशक्तिसुपीदध्यानमित्युक्तस्तु नास्तिकत्वमूलिकैरेव । भैरवाग्रणीयानां ‘भनो रुद्रः’ इति श्रुतेः । प्रपञ्चसारादिसर्वैतन्नपुराणादिषु शिवशक्तिसुपीदध्यानार्थोक्तत्वाच्च । स्वदुःखान्नमोप्रेयवाक्यं तु “यिषो ये स्वनपेक्षं स्यादस्ति ह्यनुमानम्” इति न्यायशास्त्रवचनमेवेत्याह ।

तदितिचन्द्रम्, आप्यवदीक्षितग्रन्थे श्रिततत्रविरचिके “विष्णुसंज्ञम्” इति श्रुतिः, “कविद्वेषं सविदुर्भगं विष्णुशान्तिं जगौ । तत्तथ विष्णोरेवाभौ गायत्र्याः...” इति कारिकायां ‘विष्णुसंज्ञम्’ इति श्रुतेः । बृहद्योगिन्याज्ञवल्क्येनापि “हिरण्यमर्गं पुरुषं व्योम्नि तद्विष्णुसंज्ञितम् । ‘भ’ इति भासयति लोकात् ‘र’ इति रज्ज्वनेन प्रजाः । ‘ग’ इत्यागच्छतेऽज्जलं भरायाद् ‘भर्ग’ उच्यते” इति कथनाच्च भर्गाह्ये विष्णुरेव ।

किञ्च, एतच्छ्रुतिस्यैस्त्वैकवाक्यतया “अथ भर्गो देवस्य धीमहीति सविता वै देवस्ततो योऽस्य भर्गस्तं चिन्तयामि । अथ भर्ग इति यो ह वा अमुष्मिन्नादित्ये निहितस्तारकोऽयिषिण रहस्यमिति भर्गो भर्जयति चैप भर्गो ह्ययो भासिमितिर्वेष भर्ग इति रुद्रो ब्रह्मवादिनेोश्च ‘य’ इति भासयतीमँल्लोकान् ‘र’ इति रज्ज्वयतीमानि भूतानि ‘ग’ इति गच्छन्त्यसि प्रागच्छत्यसि सादिमाः प्रजात्तास्ताद्भर्गः । स्यमानात्स्यर्षः । सवनात्सवित्ता ।” इति मेधायोगिबृहन्नानपि विष्णोरेव प्रहृतात् । आदित्ये वर्तमानस्य भर्गाह्यस्योऽशिक्षित्त्वेन च हरेरेव निश्चयात् ।

एवं शारदाम्ये “य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्यमयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यमन्ध्रम्, आप्रणस्तस्यैव एव सुवर्णस्य यथा कृपायाः पुण्डरीकमेवमशिक्षिणी” इत्यत्र हेवम् ।

मनुः—“यस्य त्रैवापिकं भक्तं पर्याप्तं भृत्लक्ष्मणेन । यस्तु शैवः, अन्तस्तद्वर्गोयिचरणे दिक्चनस्य पुण्डरीकोपमावोधनार्थत्वात्तृतीयनयनस्य सुकुम्बित्वेन तदुपमाया अभावात् तृतीयानात्र इति जगद, तन्मन्दम्; दिव्यस्योपमावोधकत्वं तदा स्यादिति नीलकण्ठत्रिजोचनत्वसाधकमित्यन्वाये षण्ण्यतरे वा स्यात् ।

मनु तैत्तिरीयाणां महोपनिषदि “आदित्यो वा एष तन्मण्डलं तपति” इत्यनुवाके “य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्यमयः पुरुषः” इत्यादिनाऽन्तर्थाभिगमिभाषय तदप्रमाणत्वाके “आदित्यो वै तेजः”

इत्यादिनाऽऽदित्यस्य विभूतिलम्बिभाष्य, “ए एव पुरुषः एव भूतानामधिपतिः” इति भूतपतित्वेन तं निर्दिश्य तदभिमानुवाक्ये “सर्वो वै रुद्रः इत्यादि, “हिरण्यवाहव अम्बिकापतय उमापत्वे” इत्युपसंहारेण तत्र शिवाकारतानिर्णयसाधकमिति चेत्, न; “क्षरः सर्वोर्ण भूतानि” “पादोऽस्य विष्वा भूतानि” “भूतप्रामः स एवायम्” “भूतानां योऽय्ययः पितः” इत्यादिवत् प्राणिमात्र-वाचकत्वाभावात् नालकण्ठादिरूपं लिङ्गम् । आभरणेण प्रतमात्रवाचकत्वपरिच्छिन्नैश्वर्यबोधकत्वेन परमैश्वर्यविशदकत्वेनालिङ्गत्वमेवेत्युभयपि तदगमकत्वात् । “सर्वो वै रुद्रः” इत्यादिनां तु न वाक्येषुत्वम् । “आदित्यो वै तेजः इत्यनुवाक्यात्” इत्युपनिषदि समाप्तिबोधनात् ।

यद्यु, अन्तर्यामिन्नाखणे “एव आत्मन्तर्धाम्भ्युत्” इति कथनाज्जाबालोपनिषदि “एतानि ह वाऽश्रुतस्य नामधेयानि” इति शतहृद्रीयप्रशंसावाक्येनाऽश्रुतपदस्य शिवपरतानिर्णयकत्वमिति, तन्न; शतहृद्रीयस्याश्रुतनामत्वेऽपि अश्रुतपदस्य शिवनामत्वाभावात् । अतस्त्रिलोकनादिसाधकस्य पदत्वाभावादक्षिद्वयविशिष्टो विद्युरेव । अत एव मैत्रायणीयश्रुतौ “अग्निणी” इति निरुपमस्य द्वित्वविशिष्टस्य बोधनाद्विद्युरेवाऽख्यन्तर्धाम् । “व्येयः सदा सविदुपमण्डलमध्यवर्ती नारायणः सरसिजासनसज्जिह्वः । केयूरानमकरकुण्डलवक्रिकरीटी हारी हिरण्यवपुर्धृतशङ्खचक्रः” इति वाक्यात् । तथा च भारतेऽख्येयपर्वणि पापैर् अति भगदाक्यम्, “तन्मण्डलस्य मां ध्यायेज्जो-मूर्तिं चतुर्भुजम् । उद्भुल्यं च जपेन्मन्त्रं चित्रं तब्रह्मरिखलि । गायत्रीं च यथाशक्ति जप्त्वा सूर्यं (कं) च कामकम्” इति । एवं च “आदित्यान्तर्गतं मण्डलसीनं रुक्मानं पुरुषं परम् । व्येयज्जपेचदित्येतन्निष्कामो मुष्यते द्विजः” इति । तथा “आदित्यमण्डलान्तस्यं परं ब्रह्माधि-दैवतम् । छन्दो निवृ(चु)त्स्वादु गायत्री मया दृष्टा सनातनी ।” इत्यादिषु भगवानेव । एतेन भगवानेव न शिवशक्तिसूर्यादयो गायत्रीरूपाः इति बोध्यम् । तस्मादादित्ये वर्तमानं भर्गास्यं भगवत एव रूपम् । किञ्च, आपाततः शिवप्रतीतावपि “रुमिमेयो सितः सोमः सोममयं हुताशनः । बह्मिमेयो सितं सत्यं सत्यस्यान्तःस्थितोऽश्रुतः” इति मैत्रायणीयोपनिषदि । योगि-वाङ्मक्येऽपि सूर्यान्तःसोममुमासदित्युक्त्वा सर्वोन्तःश्रुतो भगवानेवोक्तो व्येयत्वेन भगवाने-वाह्यत इति निराबाधः पन्था इत्युवाच । ततश्च भर्गास्ये विद्युरेवेति स्थिते मैत्रायणीयश्रुतौ भर्गं इति रुद्र उक्तस्यायामभिप्रायः—भार्गमिर्गतिर्यस्य हीतो भर्गो भर्जयतीति वैष भर्गं इति भर्गेश्चन्द्रव्युत्पत्तिदर्शनेन भर्जयति भासयति संहरतीति व्युत्पत्त्या भगवति संहराकर्तृत्वबोधाय रुद्रपदापादानम् ।

यदा, “अथ भू इति भासयतीमंछोकां र इति रजयतीमानी भूतानि, भू इति आगच्छेद-जन्तम्, भरणार्द्रमं उच्यते” इत्युक्तम् । तस्माच्छिवपरत्वेन गायत्रीव्याख्यानमसङ्गतमेव ।

यद्यु, “विष्णुसंज्ञितम्” इति श्रुतेः शिवपरत्वाप्याययीक्षितेः “सर्वे देवाः प्रवशन्ति” इत्य-यर्षेशिवावचनत्वात् “शिवपरत्वादि भ्रूयतःशरीरादि णटादि च अधितिष्ठति शिवस्तस्यादिष्ट्य-रुद्र उदाहृतः” इति वासुसंहितावचनात् “भगवानमसद्वात्राजिर्षिर्लवाच्छिवः श्रुतः । खाग्री खमस्य यत्सर्वं विष्णुः सर्वप्रवेशनात्” इति वैज्जिनिहाकिबोधकत्वात्पादित्युपदस्य शिववाचकत्वे सिद्धे विष्णुसंज्ञामितिश्रुतेः शिवपरत्वम् । आदित्यान्तर्गतस्य च विष्णुस्य शिवपरमेवैत्युक्तम् ।

तन्न, “विष्णुसंज्ञम्” इतिश्रुतौ “व्योधि तद्विष्णुतश्चित्तम्” इति श्रुतौ च सञ्ज्ञाबोधनादत्र विष्णुशब्दस्य योगिकत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात् । योगरूढशब्दानां भगवदेकतानत्वात् । मैत्रायणी-यरुद्रशब्दस्य रूढत्वस्य गमकत्वाभावात् । “व्येयः सदा” इति, “तन्मण्डलस्यं मां ध्यायेत्” इति, “रुमिण्डले स्थितः सोमः सोममयं हुताशनः । बह्मिमेयो सितं सत्यं सत्यस्यान्तःस्थितोऽश्रुतः” इत्याद्यनेकत्रचनेरग्निणी इति द्विचचनेन चादित्यान्तर्वर्ती नारायण एव । “व्येयः सदा” इति वाक्ये नारायणपदात्तस्य रूढत्वम् । णत्वात्तस्य योगिकत्वकल्पने “पूर्वपदात्सञ्ज्ञा-याम्” इति णत्वात्तापत्तिः । सोमपदत्वोभासद्विषय शिवस्य प्रहणे तदन्तर्वर्तिभावगत एव निश्च-यात् । न चादित्ये शिवस्य केवलस्यैव स्थितिवैकन्येति वाच्यम् । “जगत्कारणातपन्नः शिवया मुनिपुङ्गवाः । सा तस्यापि भवेच्छक्तिस्तया हीनो निरर्थकः । न शिवेन विना शक्तिर्न क्षति-रहितः शिवः । उमाशङ्करयोरेक्यं यः पश्यति स पश्यति । उमाधैविप्रहः” इत्यादिसूतसंहिता-वचनेः केवलत्वाभावात्मुमासद्विषय सर्वत्र स्थित्वैकन्यत्वात् । तथाच सोमान्तर्वर्तिनारायणस्य सूर्यं वर्तमानत्वास एव ।

यद्यु, भारताख्येन “भगवन् वैष्णवा धर्माः किं कलाः किं परायणाः । कर्षं स्वमर्षनीयो हि मूर्तयः काश्च तेऽनघ । कर्षं वैखानसा ब्रूयुः कर्षं वा पाञ्चरात्रिकाः । एवमेव पुराहृत् वैष्णवं धर्मंशासनम् । श्रुता मे मानवा धर्मो इति त्मेयो विविच्य सः । युष्मदीयात्परार्थनीम्पुण्याक्यस्य येऽश्रुतः” इति वेदानसमाख्यरात्रिकाणां धर्मस्य पृष्टव्येन वैदिकेतरविषयत्वम् । “यमनुरवद-त्रेणत्रम्” इति श्रुतेर्याज्ञवल्क्यस्युत्प्रेक्षया मनुश्रुतेः प्रबलत्वं चेत्साह ।

तद्यु, “पुराणे धर्मशास्त्रे च योऽशः श्रुत्वा विरुद्धे । स तत्रार्थस्तु विज्ञेयः” इति पराशरपुराणवचनेन वैदिकरूढे तन्मध्यवहारात् “विष्णुसंज्ञम्” इति, “रुमिमेयो स्थितः सोमः” इति श्रुतिविरुद्धपुराणवचनेन शिवस्य गायत्र्यर्थकत्वाभावात्साञ्जिकत्वेन वैदिकैरनादरणीयत्वात् । यस्मिंश्चे तन्नस्य वेदाशुक्लत्वं तत्र तन्म्यपि प्रामाण्यमिति निश्चयः । एकं साङ्ख्यं च योगं च वेदारण्यकत्वेन च । परस्परान्तर्येतेनापि पञ्चरात्रं च कथ्यते । एवमेकातिनां धर्मो नारायणपरा-त्मकः” इति मोक्षधर्मोक्तैः । पञ्चरात्रस्य प्रामाणिकत्वे योऽशः श्रुत्वा विरुध्यते स व्याघ्रः । तत्र-विशेषास्तु शुद्धाद्वैतमातेण्डप्रकाशे निरूपिताः ।

एवं सति “वैदिके सर्वैरुद्देशेन वैद्यः” इति गीतावाक्येन “सर्वे देवा वयदामानन्ति” इति वेदार्थस्य भगवतोऽप्यन्त्यस्य वैदिकत्वासादिदधत्वात् ।

किञ्च, “श्रुता मे मानवा धर्मा” इत्युपसंहारावचनार्थं यदि गायत्र्यर्थ उक्तः स्यात्, तदा, याज्ञवल्क्यसमकक्षाणां “तन्मण्डलस्यं मां ध्यायेत्” इति वचनानां “तन्मण्डलं ध्यायेत्” इत्या-नुत्तरवाक्यानां नैर्बल्यं सम्भाष्येत, तत्पुसंहावचनार्थं, मनुश्रुतौ च शिवपरत्वेनाः कुत्रापि नोक्त इति कर्षं साक्षात्प्राम्यर्षिप्रतिपादकानां “विष्णुसंज्ञम्” “रुमिमेयो स्थितः सोमः” इत्या-दिपूर्वदित्युक्तिरिष्टस्यनुकूल्यां याज्ञवल्क्यस्य भारतस्य च वाक्यानां नैर्बल्यं स्यादित्याहवादिनां विषयेनात्मकम् ।

किञ्च, “इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः परो दिव्यः सनुषोर्णो गल्मान् । एकं सदिप्रा बहुधा वद-
न्वल्बि यं मातरिभानमाहुः” इति बहुचर्चसंहिताश्रुतेः, “तदेवाग्निस्तापुस्तासुरैस्तदुचन्दमाः ।
तदेव शुक्रममृतं तद् ब्रह्मा तदापः स प्रजापतिः । स ब्रह्मा स शिवः स हरिः सः शक्रः परमः
खराद् । अप निलो देव एको नारायणः । ब्रह्मा च नारायणः शिवश्च नारायणः । शक्रश्च
नारायणो ब्रह्मशादित्वाश्च नारायणो वसवोऽश्विनौ च नारायणः । सर्वे ऋषयश्च नारायणः
काञ्च नारायणो दिशश्च” इति तैत्तिरीयानारायणोपनिषदि श्रयमाणत्वात् । “त्वामेवान्ये शिवो-
क्तेन मांगेण शिवरूपिणाः” इत्यादिश्रीमद्भागवतदशमस्कन्धेन सर्वरूपवर्तिनश्चयाद् ब्रह्मेव भगवान्
प्रतिपाद्यते । अत एव “पुराणेषु च सर्वेषु तत्सोपे हरिस्ताया” इति श्रीमदाचार्यचरणौक्तम् ।
एतेन निर्णयेन कौमार्यदिष्टु “तदेकाक्षरमव्यक्तं तदादित्यगतं परम्” इत्यादिवाक्यं शिवं प्रकृत्य
पठितम् । तथा राजवंशाजुक्तीर्त्तने गायत्र्या हरिणम्यं पुरुषसुधासमानस्य बहुमनसो रावः शिवो
रविमण्डलादाविर्भूय “साम्यं रूपमददीयत्” इत्युक्तम् । आदित्यपुराणे च गायत्र्याः परमं तत्त्वं
शिवः” इत्युक्तम् । सुन्दरीतापिन्यां प्रथमे “शैवेयं भगवती त्रिपुरा” इति प्रकृत्य तदधिष्ठानत्वेन
शिवं च प्रकृत्य द्वितीयादिखण्डेषु गायत्रीविकरणे पञ्चमखण्डे उक्तम् । “तस्मात्तुभ्यते कामः
कामं कामी शिवो मतः । कृणोऽयं कामदोऽयं बरेण्यं भगं उभ्यते” इत्यादि च व्याख्यातम् ।
तादृशाधिकारिणस्तस्य सार्यक्यादिति दिक् ।

भर्गःशब्दस्तु सान्त एवेति । तस्य सिद्धित्तु “श्रुजी भर्जने” इत्यस्माद् “पुजिन्वृत्तिभ्यः कुश्च”
इत्युदात्तस्येणासुनप्रत्यये कर्वाण्तादेशे बोध्या । न च “अत्रत्यपाके भवेद्भ्रातुः” इति योनि-
याङ्गवन्त्यस्युत्तिविरोध इति बाध्यम् । आर्थिकार्थमादाय तदुक्तेः । यदा यच्छ्लेषस्यैवान् रूपम् ।
असुनप्रत्ययस्तु “सार्वाधातुभ्योऽस्तुन्” इत्यनेनैव सिद्धः । कुर्वन् छान्दसत्वादिति विद्यारण्यप्रश-
तयः सान्तमेवाङ्गीचक्रुः ।

यत्तु केचित्छेलाः, अत्रत्यपाके इतिधातोर्णिवि “अत्रजोरोपधयोः इति रमागेने स्थानपट्टीनिर्दे-
शाद्रोपधयोर्निचूतौ भर्जेरित्यस्मात् “अकर्तारं च कारके सञ्ज्ञायाम्” इति बाह्युक्तत्वात्सर्वैरपि
घञ् “नेत्यादिर्नित्यम्” इत्याद्युदात्तरारे “भर्गो” इत्यदन्तप्रयोगसिद्धिः । अत एव भर्गाख्यं
तं चिन्तयामि” इति श्रुतिप्रयोगः । “तद्भर्गाख्यं किमपि परम्” इति साम्बन्धेत्वेरपि । तथा, यो
भर्गो नः प्रचोदयात् । तपदं च उतसपष्टीकमहीकृत्य तस्य सवितुर्देवस्य बरेण्यं धीमहीत्यन्वय
वदन्तः शिवपरमन्, शिवस्य च परमपुरुषत्वम्, अन्यथा सवितुर्देवस्य ब्रह्मवाचकत्वे य इति
पुंलिङ्गपदेन निर्दिष्टस्य कर्तुरनन्वयापत्तेरिच्छाद् ।

तत्र, सान्तपक्षे भर्गाख्यप्रयोगस्य शक्यत्वादिवात्पररूपेण सिद्धेः । “कः सविता का
सावित्री” इत्युक्तस्य “द्वितीयापारे भर्गमयः” इति तत्त्वकात्वात्साधनप्रयोगस्तु धुवोदरोदित्वा-
त्सिद्धः । तस्मादेकान्ततो नादन्तत्वसिद्धिः । अस्तु बाऽदन्तत्वे “तसवितुर्वैरेण्यमित्येवासावादिः
सविता स वा एव प्रवर्णनीय आत्मकामेनेलाङ्गैर्भग्यादिनोऽप्य भर्गो देवस्य धीमहीति सविता वै
देवस्ततो वाऽस्य भर्गाख्यसत् चिन्तयामीत्याङ्गैर्भग्यादिनोऽप्य भिन्नो नः प्रचोदयादित्याहुः” इति

भैरवाग्नीयश्रुतिविरणवाक्येन तमिति द्वितीयापारं भर्गाख्यं चिन्तयामीत्यन्वयोचेन भर्गशब्दस्य
प्रथमान्तकल्पनाया भर्गपदस्य तृतीयापदान्त्वकल्पनायाश्चास्तत्त्वबोधनात् । भर्ग इत्यत्र द्विती-
यायाः “सुप्तं सुष्टुक्” इति स्वादेशसिद्धेः । तदित्यत्र अगो लुक् । सान्तपक्षेऽप्युभयत्र लुक् ।
वस्तुतस्तु “एवं प्रवर्णनीयः” इत्यनेन प्रवर्णनीयकथनेन “सवितुर्देवस्य बरेण्यं तद्भर्गो धीम-
हीति यः सविताः नः भियः प्रचोदयात्” “योऽस्य भर्गाख्यः” इत्युक्त्वा तस्य सवितुर्देवस्य
बरेण्यं भर्गो धीमही” इति च श्रुतिसिद्धान्त्यः ।

ननु “तदक्षरं तसवितुर्वैरेण्यम्” इति श्लोकात्परं, याजुष्यब्राह्मणे प्रथमाष्टकेऽपि “तसवितुर्वै-
रेण्यम्” इत्याह, प्रसूत्या इतिनिरूपणात्सवितुर्वैरेण्यमित्येवान्वयो न भर्गशब्दोऽप्युच्यते इति चेत्,
न; बरेण्यवाय तथोक्तं द्वितीये फलायं तदिति प्रसूत्या इत्युक्त्वात्; तस्मान्नैत्रायणीयश्रुत्यनु-
रोधादन्वयो निरावाध इति दिक् ।

यच्च, सवितुर्देवस्य ब्रह्मवाचकत्वे ‘यः’ इति पुंलिङ्गनिर्देशानुपपत्त्या परमपुरुषः शिवो माह
इति । तद्व्याख्यादेशे शोभते, न तु विचारेण । “एक एव नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानः”
इति । “पुरुषो धे नारायणोऽस्काभयत” इति । “तसवितुर्वैरेण्यमित्येवौ न आदित्यः सविता”
इत्यादिश्रुतिषु “परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्” “मसः परतरं नान्यत्” “पुरुषः स
परः पार्थ” “अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथिनः पुरुषोत्तमः” इत्यादिस्थितेषु पुंलिङ्गपददरीनात् ।
“सवनासविता” इति भैत्रायणीयश्रुतेः । “अहं संपत्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते” इति गीता-
वाक्यादिसिद्धजगत्कर्तृत्वबोधकसवितुर्पदेन पुरुषोत्तम एव । याङ्गवन्त्येनाऽपि तथा विद्युत्त्वात् ।
तस्मादत्र सवितुर्शब्दो यौगिकः । “आदित्यमण्डलान्तस्यम्” इत्यादिचकनानां तु तत्र ध्येय-
भगवत् एव सविद्युदेव बोधनात् । अत एव “सविता देवता” इति श्रुतिः । “विचामित्र ऋषिः
छन्दो गायत्री देवता रविः” इति भरद्वाजस्युतिरपि व्याख्याता । किञ्च, सर्वोत्कल्याणव्यापकः
सूर्योदिरूपेण निरूपणम् ।

यथा, “पुरः रक्षितकामादाय रविरेतस्य देवता, तदन्तर्विधिमामादाय शिवः सोमोऽस्य देवता
सर्वान्तरविचारे तु भगवानेव देवता” इति श्रीमत्पुरुषोत्तमचरणोक्तेः सर्वसङ्ग्रहो बोध्यः । इदं
च “रविभ्यो” इति स्मृतित्वचनान्न कपि शाङ्कवाकाश इति दिक् ।

गायत्र्याः शक्यादिरूपकल्पनापि तत्रास्तुरोभिर्निति तदनुसारिपुराणवचनान्यपि तथा ।
यत्सांगेयवाक्यं, तत्तु “विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्” इति न्यायास्तावकत्वमेवेत्याह,
“तदसद्वत्तं विरोधे तु” इति सूत्रे “औदुम्बरीं वेद्येत्” इति ज्योतिषोमे सद्दो मण्डपस्य मन्थे
काचिदौदुम्बरी शाखा निरुक्तये । तत्र “औदुम्बरीं सर्वां वेद्यितव्याम्” इति वाससा वेद्यं
सम्पत्तेः । “औदुम्बरीं स्पृष्ट्वोद्ग्रायेत्” इति श्रुतम् । तत्र किं कार्यमित्यपेक्षयां पूर्वाधिकरणेऽह-
कादिसूत्रेः प्रामाण्यस्य साधितत्वात्सादा अपि प्रामाण्यसाधनेवेद्यं कार्यमिति प्राप्ते प्रत्यक्षश्रुति-
विरुद्धा स्मृतिर्नारणीया । श्रुतिप्रामाण्यस्य श्रुत्यनुमानसापेक्षत्वात् । प्रत्यक्षश्रुतिमनाहस्य तस्या
आदरे हेतुत्वात्तदिति स्मृतिपारे सिद्धान्तितम् । तथा च पूर्वोक्तश्रुतिसिद्धस्य पुरुषोत्तमप्रतिपादनस्य

जाकरूक्त्वेन द्वितीयपादमर्गपदान्वयस्य सित्तत्वेन तद्विहाय शिवसूचीदीनां गायत्र्यर्चनप्रतिपादनं पुराणतन्त्रचनानामनामदारणीयत्वात्तदनुवारितृतीयपादान्वयस्याप्यनारणीयत्वात् । आश्रयवाच्यं तु प्रत्यक्षश्रुतिमूलकत्वात्साध्यप्रमाणमेवेति तस्य स्तानकत्वकपनं प्रत्यक्षश्रुत्यालोचनादिति दिक् ।

तस्मात्पुरोक्तमो भगवानेव गायत्र्यम् । तत्रक्ष "सम्प्राहीनोऽश्रुतिर्नित्यमनहः सर्वकर्मसु । यदप्युक्तमेते कर्म न तस्य फलभावात्मेव । परिहाय्यापि वेदांशीन् कर्मणि विहितानि च । गायत्रीमात्रमाश्रित द्विजो भवति निर्भयः । गायत्रीहीनवेदास्तु साङ्गा अपि च निष्कलाः" इत्यादिश्रुतयो गायत्र्युत्कर्षबोधनेन तदर्थमगवदुत्कर्षबोधिकाः । तथा च श्रुत्या श्रुत्या च कर्मणि जनोऽयमनुतिष्ठति । विदुषः कर्मसिद्धिः स्वात्तया नाविदुषः कश्चित्" इति गीतोक्तेरिदं निरूपितमित्युक्तम् ।

यद्, हयग्रीवब्रह्मविद्या देवीभागवत एव न विष्णुभागवते । हयग्रीवनामाहुरो देवी भागवतप्रथमस्कन्धे प्रसिद्धस्तेनोपासिता ब्रह्मप्रतिपादिका विद्या ऋदिवस्यो मन्त्रः, सा विद्या यत्र कर्ते तद्भागवतमित्यर्थः । स दैत्यस्तुद्रोपासिता विद्या चेत्सुभयमपि तत्रैव प्रथमस्कन्धे दर्शितम् । "जपकोशधरं मन्त्रं मायावीजामकं मम" इत्यादिनेत्याह, तन्न, वेदैकसमाधिगम्यस्य ब्रह्मणः प्रतिपादकत्वं मायावीजस्य न सम्भवति । यतो मायावीजप्रतिपाद्यं भ्रष्टेति कापि वेदे न श्रूयते । न च "पञ्चप्रेतासनरुद्धां परब्रह्मरूपिणीम्" इति तन्न उक्त्यात्तद्विपादकवीजस्य ब्रह्मप्रतिपादकत्वमिति बाध्यम् । वेदैकशरणान्तं वेदविद्वत्तत्रात्प्रामाण्यम् । अतु प्रामाण्यम्, परन्तु प्रत्यक्षश्रुत्यपेक्षया तस्योदुन्दरीषेष्टन्यायेन न्यायवदनादरणीयत्वात् । हयग्रीवब्रह्मविद्येवन्न श्रीमद्भागवते पञ्चमस्कन्धे "भद्राक्षवर्णं साक्षाद्भागवतो धातुदेवस्य मियां तत्तुं धर्ममीं हयशीर्षामिधानां परमेण समाधिना सन्निधाप्येदमभिगुण्णत उपधानन्ति ॐ नमो भगवते धर्मात्मात्मविशोधाय नमः" इत्यादिगद्येन हयग्रीवब्रह्मणो मन्त्ररूपा विद्या दर्शिता । देवीभागवतेऽप्यष्टमस्कन्धे दर्शितेति दामोदरशास्त्रिणो व्याचक्षुः ।

तत्र कश्चित्, शारदातिलकादिषु "महाः पुंदेवताः प्रोक्ता विद्याः ऋदिवताः पुनः" इत्यादिगद्यैः ऋदिवलमन्त्रेणैव विद्यावदप्रयोगो न पुंदेवैश्चित् प्रतिपादनात्, कश्चिपुंदेवत्वमन्त्रे तथा प्रयोगस्तु गौणः, नच गौणार्थमाद्य तत्र चनस्य विष्णुभागवतपरत्वं कल्पयित्तुमुचितम्, उक्त्यारूप्योपापसोदरित्याह, तन्न; शारदातिलके "मन्त्रविद्याभिभागेन द्विविधा मन्त्रजात्यम्" इति पूर्वोक्तनिरूपणात्, ऋदिवतयोर्मन्त्रविद्ययोर्जातिशब्दत्वेन व्यवहारो बोधितः । एवं च "द्वारदासक्षरं सन्त्रे" इत्यादौ पुंदेवत्वेऽपि विद्याप्रयोगः साक्षात्सम्बन्धेन बोध्यः । तथा च श्रीमद्भागवतद्वितीतरस्कन्धे "सन्त्रे ममास मगवान्, हयशीर्षानाम साक्षात् यद्गुरुपस्तपनीयवर्षः । रुन्देभयो मखमयोऽखिलदेवतात्मा वाचो बभूवुरुशतीः ऋसतो नमस्ते" इति वेदात्मकत्वेन वेदप्रवर्तकत्वेन प्रतिपादनाद्ब्रह्मग्रीवब्रह्मणो मन्त्रस्य विद्या सञ्ज्ञा बोध्या ।

यद्वा, श्रीमद्भागवते षष्ठस्कन्धे "स चाधिगतो दयङ्गभिन्नां ब्रह्मनिष्कलम् । यद्वा अक्ष शिरो नाम तयोर्भक्तौ व्यधात् । दयङ्गायर्वेणस्यैर् वर्मामेवं मदात्मकम् । विश्वरूपाय यदादापन्न्या यत्त्वमाधात्तः" इत्यत्र श्रीधरेर्याख्यातम् ।

एवं ह्यत्र प्रसिद्धा कथा । "निशाम्यायर्वेणं दक्षं प्रवयंन्नक्षत्रविधयोः । दयङ्गं समुपागम्य तन्तुचतुर्याभिर्नो । भगवन्देहिहो विद्यामिति श्रुत्वा स चाग्रणीत् । कर्मण्यवसितोऽद्याहं पश्चाद्दक्ष्यामि गच्छताम् । तयोर्निर्गतयोरेवं शक आगस्य तं मुनिम् । उवाच भिषजोविद्यामवादीर्चिनोर्मुनि । यदि मत्वाक्यमुल्लङ्घ्य ऋचीपि सहस्ये ते । शिरसिन्ध्यां न सन्देह इत्युक्त्वा प्रपयो हरिः । इन्द्रे ते तथाऽभ्येस्य नासत्यान्तुर्द्विजम् । तन्मुखादिन्द्रगदितं श्रुत्वा ताञ्चतुः पुनः । आवां तव शिरसिन्ध्यां पूर्वेमन्त्रस्य मस्तकम् । सन्धास्यावसतो ब्रूहि तेन विद्यां च नो द्विज । तस्मिन्निद्रेण संछिन्ने पुनः सन्ध्याय मस्तकम् । निजं ते, दक्षिणां दत्त्वा गमिष्यावो यथागतम् । एतच्छ्रुत्वा तयोवाच दयङ्गायर्वेणस्तयोः । प्रकर्म्यन्नक्षत्राणां च सक्तौ तस्यराङ्गितः" इति । ततश्चायमर्थः । एतच्छ्रुत्वा, दयङ्ग् निष्कलं शुद्ध ब्रह्म अधिगतः । पाठान्तरे तु नितरां कृतं भवति धनं येन तं प्रवयं चाधिगतः ज्ञातयान् । ततोऽङ्गिभ्यां प्रादादित्यनुपगतः । उपदिदेशोऽर्थः । कथम्भूतं ब्रह्म ! अक्ष-शिरसा प्रोक्त्यादक्षशिरोनोम प्रसिद्धम् । तयोर्मन्तौ जीवन्मुक्तां व्यधादिति । तथाच श्रुतिः "अब्रह्म शीर्षां प्रपटीतुवाच" इति । मदात्मकं वर्मं नारायणकवचमधिगत इति पूर्वस्यानुपगतः । यथसाम्येष्टे प्रादात् । किं तद् यथष्टा निष्कलपुत्राय पुत्राय प्रादात् । कीदृशम् ? यत्वं ततो विश्वरूपादवाः धृतवानसि । तदेवं विद्यायां सारं वाचं याचध्वमित्यर्थ इति । अत्र निष्कलमित्यनेन "तस्यु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः" इति श्रुत्युक्तं गृहीतम् । तदेव ब्रह्मविद्यापदमित्येयम् । तदेवाधिष्ण्यां प्रादात् । तदेव स्वप्ने, इत्यादिना निरूपितम् । अत एव मदात्मकं कर्म-लुक्तम् । नारायणस्य शुद्धब्रह्मात्मकत्वेन तदादिपादककवचस्य तदात्मकत्वेन असविद्यात्मकं नारायणकवचं दयङ्गायर्वेणहयग्रीवप्रोक्तब्रह्मविद्यारूपम् । अत एव टीकाश्लोकेऽपि ब्रह्मविद्यापदे-नोपादानम् ।

किञ्च, "जपनेकाक्षरं मन्त्रं मायावीजामकं मम" इति देवीभागवतश्लोकेन मन्त्रत्वेन निरूपणात् । श्रीभागवते तु षष्ठे सप्तमाध्याये "धुरदिशं श्रियं युतामीशानस्यापि विषया । जच्छि-वाऽहामहेन्द्राय वैष्णव्या विषया विद्युः" इति । न कुतश्चिद्वयं तस्य विद्यां धारयतो भवेत्" "एतां विद्यां पुरा कश्चित्" इत्यादिषु विद्यापदोपादानेन प्रतिपदोक्तस्यातिदेशिकेन बाधायोगात् । एतेन शारदातिलकवचनं प्रापिकं तत्रैकविषयं चेति बोध्यम् । एतेन हयग्रीवब्रह्मणोपोपदिष्टा विद्येयोर्यपि बोध्यः ।

किञ्च, "हयग्रीवब्रह्मविद्या यत्र वृत्रवधस्तया" इति साहचर्येण हयग्रीवप्रोक्तब्रह्मविद्या सहकृतो यत्र वृत्रवधो "महापुरुषसन्नद्धः" इत्यादिवचनबोधितस्तया वृत्रवधसहचरितहयग्रीवब्रह्मविद्या नारायणकवचात्मिका यत्र तदेव श्रीमद्भागवतमिति परस्परसाहचर्यिदं फलितम् ।

यद्वा, हयग्रीवब्रह्मणोर्विद्या । इन्द्राज्जने श्रूयमाणत्वेन हयग्रीवविद्या या नारायणकवचरूपा, ब्रह्मविद्या वेदस्तुरिगरूपा "ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्ता पुत्रवन् गोसा । स ब्रह्म-विद्यां प्रतिष्ठामयवीयं ज्येष्ठपुत्राय प्राह" इत्यादिश्रुतिः ब्रह्मविद्याशब्दो ब्रह्मविचारपरो, न तत्रोक्त-विचारपरो, येन शारदातिलकाननाज्ञातो भवेत् ।

यद्वा, हयमीनो भगवान् ब्रह्मविद्या वेदस्त्यादिरूपा । बहुवचनं तु “सैषा भार्गवी वारुणी विद्या” इत्याद्यनेकोपनिषदो सङ्ग्रहाय । श्रीमद्भागवतस्य वेदसम्मितत्वेन वेदात्मकहयमीनवर्णनस्यावश्यकत्वात् । ततश्च ब्रह्मविद्यासङ्घचारितो भगवानो भ्राष्ट्रो न दैत्यः । तस्माद्ब्रह्ममीनब्रह्मविद्या श्रीमद्भागवत एव न देवीभागवते इति निर्दिष्टं विमानयनं वेदानुसारिभिः ।

यथादित्यपुराणदृष्ट्यापि देवीभागवतमेव महापुराणम्—तथाहि—आदित्यपुराणे रक्तासुरवध-प्रस्तावे “आजमे महियं दैत्यं क्रूरं वृत्रासुरं तथा । साऽप्य रक्षासुरं हत्वा खरायते तं प्रदास्यति” इति वचनम् । अनेन वचनेन देवी भागवते स्वसम्पत्तिर्दृशिता । न हि देवीभागवतातिरिक्तसर्व-पुराणे देवीकृतो वृत्रवधः कचिदप्यस्ति । इन्द्रकृतस्यैव तस्य सत्त्वात् । केवलं देवीभागवत एव देवीकृतः सोऽस्ति । तद्ब्रह्मेण देवीभागवते स्वसम्पत्तिर्दृशितेति युक्तमेवेत्याहुः । भास्कराचार्यो अपि “वृत्रासुरवधोपेतम्” इति लक्षणे देवीकृतो वृत्रासुरवधो ग्राह्य इत्याहुः ।

तत्र, वेदसम्मितत्वकथनेन वेदानुसृतवृत्रासुरवधस्यासाधारणधर्मरूपलक्षणत्वेन युक्तत्वात् । वेदे वृत्रासुरवधः स्पष्टं निरूप्यते । तथाच, क्रान्तं संहितायां षष्ठाष्टके षष्ठाध्याये “वृत्रं हनति वृत्रहा शतक्रतुर्ब्रह्मेण” इति धूमते । बाजसतेनियामपि संहितायामस्ति । तैत्तिरीयसंहितायां “इन्द्रः शत्रुभयसम्भवश्रीप्रोभावभिसम्भवत् । स इदुमात्रगिण्डमानं विश्वबुधं त । स ह्यौलोकानवृ-णीत् । तद्बृत्रस्य वृत्रत्वम् । तस्मादिन्द्रो विभ्यत् । स प्रजापतिमुत्पाद्यवच्छुम्भेऽजनीति । तस्मै वज्रं दत्तिका प्रापच्छदेतेन जहि” इत्यारभ्य “इन्द्रो वृत्रमहं ते देवा वृत्रं हव्या” इत्यादि “इन्द्रो वृत्रं जप्तिवान् । इन्द्रो वृत्रं हव्या” इत्यादि “इन्द्रो वृत्रमहं तस्य शीर्षकासुदोऽन्वस-द्रोणकलशोऽभवत्” इति “इन्द्रो वृत्रमहं सोऽप्यं विपत्ता सा यन्मेधं यज्ञीयश्च देवमासीत्” इति “इन्द्रो वृत्रमहं तस्य कर्नानिका परापतत् तदाऽनमभवत्” इत्यादि । अत एव श्रीमद्भाग-वते “वैश्राष्ट्रिण्यैः सखामिहृदुवा नमैर्मुदा कुसुमेरभ्यर्चयत्” इति श्लोकेन स्पष्टं वेदरूढत्वं बोधितम् । वृत्रहन्त्यवीर्यप्रकाशका मन्त्रास्तु “वैश्राष्ट्रिण्यं शवसे पूतनाद्याच च” इत्याथाः श्रीधरा ऊचुः ।

तथाच “हृषीवब्रह्मविद्या यत्र वृत्रवधस्तथा । गायत्र्या च समारम्भस्तथा” इति लक्षणस्यायमभिप्रायः । हृषीवब्रह्मविद्येयनेन भगवान् प्रतिपाद्यस्तत्रप्रतिपाद्यकोपनिषद्भागः क्रौडी-कृतः । यद्वायं वेदे वृत्रवधत्वात्लक्षणणेन धर्मकाण्डः स्वीकृतः । “गायत्र्या च समारम्भः” इत्यनेन वेदस्य मूलं बोधितम् । तेनादिगव्यावसानेऽपि वेदाद्यो बोधितः । अत एव “वेदाद्यैरुप-बृंहितम्” इति गारुडे गीयते । नैतादृशो विचारो देवीभागवते विद्युः श्रीमद्भागवत एतेत्यस्य लक्षणस्यात्रैवं समन्वयो बोध्यः । हयमीनब्रह्मविद्यासङ्घकृतवृत्रवधस्येन्द्रकृतत्वात्स्यैव सम्भव इत्युक्तं प्राक् । आदित्यपुराणे देवीकृतवृत्रासुरवधोऽपि देवीभागवतलक्षणैः ततोऽपि देवीकृतवृत्रासुरवधो यत्र तद्भागवतमिति लक्षणाऽभावाच्च देवीभागवतस्य वृत्रासुरवधोपेतत्वमिति लक्षणम् ।

यत्स्वन्मत्तं च तत्रैव पुराणदानप्रस्तावे “ददाति सूर्यभक्ताय यस्तु भागवतं द्विजः । सर्व-पापविनिमुक्तः सर्वस्याधिविजितः । जीवद्दर्मशतं सप्रमत्तं वैश्वखतं पदम्” इति पठितम् । अत्र च स्वसम्पत्तभागवतं गृहीतुमुज्जितम् । जीवद्दर्मं वचनं देवीभागवतपक्ष एव स्वरसतः सङ्गच्छते ।

प्रथमश्लोक एकादशाद्वादशशोश्च सविस्तरं गायत्रीविधानसङ्ग्रहनामादेः कथनात् । सूर्यस्य गायत्री-देवतात्वात् । तद्भागवतपक्षे वैकुण्ठं गच्छेदित्येव वदेदिति ।

ततु, भगवदेव भणितम् । आदित्यपुराणे “यदुक्तं भगवता पूर्वं पुत्राय मनवे द्विजाः । तदहं सम्प्रवक्ष्यामि शृणुष्वं गदतो मम” इति प्रतिज्ञाय “सर्गश्च प्रतिसर्गश्च” इति पञ्चकपुराणलक्षणं निरूप्य “क्तोपपुराणानां खिलबाह्यत्वं स्पष्टम् । ब्राह्मं पुराणं तत्राद्यम्” इत्याद्यदशोपपुराण-निरूपणे वायुपुराणोक्त्वा “ततो भागवतं प्रोक्तं भागवदयविभूषितम्” इति लक्षयित्वा “ददाति सूर्यभक्त्या” इत्यादिनाऽऽदित्यपुराणस्य भागवतत्वकोपनिषदपुरःसरं दानफलमेवनात् । “सूर्यभक्त्या अन्ते वैश्वखतं पदम्” इत्यादिसूर्यसम्बन्धस्यैव स्पष्टं प्रतीतेः । इतरथा देवीभक्त्या देवीलोकं गच्छे-दित्युक्तं स्यात् । देवीभागवते गायत्रीविधानसङ्ग्रहनामादेः कथनं गायत्रीरूपसङ्किदेवताकत्वेन, न सूर्यदेवताकत्वेन ।

किञ्च “भागवदयविभूषितम्” इति लक्षणं देवीभागवते नास्त्येव किन्त्वादित्यपुराण एव । द्वादशसर्गसम्बन्धवत्तदेवीभागवतस्य । आगृहे तु महापुराणत्वभङ्गः । तस्मादादित्यपुराणत्वकं भागवतम् । “यदिदं कालकाल्यं च मूढं भागवतम्” इति कालिकापुराणोक्तगणनायापु-पुराणत्वेन निविशते ।

यतु “सारस्वतस्य कल्पस्येति मात्स्यवचनादिपि देवीभागवतमेव महापुराणम् । अत्र शेषं प्रकरणद्वयम् । ऋषय ऊचुः “पुराणसङ्ख्यानां चक्षुः सूत विस्तरतः क्रमात्” इति मुनिप्रभोत्तरं “ब्रह्मणाऽभिहितं पूर्वं यथाऽपि” पञ्चकल्पवृत्तान्ताश्रये पाठं, वराहकल्पवृत्तान्ताश्रये वैष्णवं, केतकल्पवृत्तान्ताश्रये वायवीयमित्येवं तत्ताकल्पवृत्तान्ताश्रयाणि पुराणान्युक्त्वा तदनन्तरं “यत्रा-धिकृत्य गायत्रीं वर्णते धर्मवित्तरः । वृत्रासुरवधोपेतं तद्भागवतमित्यन्ते” इति । “सारस्वतस्य कल्पस्य मध्ये वे ये स्युर्नगराः । तद्ब्रह्मन्तोद्भवं लोके तद्भागवतमित्यन्ते” इत्युक्त्वा ततोऽन्या-न्यपि महापुराणान्धेव तत्कल्पवृत्तान्ताश्रयाणि दर्शितानि । एषादुपपुराणकथनार्थं “उपमेदा-न्वयव्यक्तम्” इति प्रतिज्ञाय पञ्चपुराणाभारसिंहं निर्गतम् । एवं नन्दितास्माऽऽदित्य सङ्ख्याकान्यु-क्त्वाऽन्योपपुराणान्यपि महापुराणान्येव एव निर्गतानीति । “अष्टादशसंख्यतु घृष्टं पुराणं यत्र-दरुते । विजातीयं द्विजश्रेष्ठस्तदेतेभ्यो विनिर्गतम्” इति वचनेन सूत कफिरुकारः । ततश्च “सर्गश्च त्रिसर्गश्च चंशो मन्त्रतराणि च” इत्यादि पुराणलक्षणान्युक्त्वा “सात्त्विकेऽपि च कल्पेऽपि महात्म्यपथिकं हरेः । राजसेषु च कल्पेऽपि महात्म्यं ब्रह्मणो निदुः । तददद्रेक्षे महात्म्यं ताम-सेषु शिवस्य च । सङ्कीर्णेषु सरस्वत्याः पितृणां च निगम्यते” इति वचनेन पुराणप्रतिपाद्यहरि-मन्त्राऽभिहरसरस्वतीपितृणां सम्बन्धात्कल्पानां सात्त्विकराजसतामसःसङ्कीर्णत्वमेदं दक्षात्तुर्विद्यमुक्त्वा-यामिति । तत्र कल्पानां तत्सदेवतासम्बन्धानां तु तत्कल्पप्रतिपाद्यतत्सपुराणप्रतिपाद्यसम्बन्धेदेवताह-नेनैव बोध्यम् । अन्यप्रकारस्य कचिदिपि पुराणेष्वनुपलब्धत्वात् । तत्रैवं सति “सारस्वतस्य कल्पस्य मध्ये ये ध्युर्नगराः । तद्ब्रह्मन्तोद्भवं लोके तद्भागवतमित्यन्ते” इति वचनं भागवतस्य लक्षणप्र-तिपादकं प्रतिपादितम् । तदर्थस्तु यथा गण्डव्याऽयं गारुडः । यथा वाराहकल्प इत्यत्र “वरा-

हस्याऽयं वाराहः" इति व्युत्पत्तिः प्रसिद्धा । तद्वदेव सरस्वत्या अयं सारस्वत इति विग्रहः । "सरस्वत्यास्ताथा कल्पो गौरीकल्पस्यैव च" इति कल्पनामसु सरस्वतीकल्पत्वेनैव कथितत्वाच्च । मत्स्यपुराण उपाख्याध्याये "सङ्कीर्णेषु सरस्वताः पितृणां कल्प उच्यते" इति वचनेन तथैवोक्त्वात् । ब्रह्मविष्णुब्रह्माणां कल्पवत् गौरीलक्ष्मयोः कल्पवच्च सरस्वतीकल्पस्याऽर्घ्यप्राप्तत्वाच्च तादृशसारस्वतकल्पसम्बन्धिने ये देवमनुष्यास्तद्ब्रह्मन्तस्योद्भवं उत्पत्तिर्मातृपुराणं भागवतं विदुः, तद्ब्रह्मन्तप्रदर्शकं यत्पुराणं तद्भागवतसम्बन्धकमिति यावत् । अथ च तत्तद्वेदानामाविर्भावयाश्रया ये कल्पास्ते तत्तन्नाम्ना व्यवहियन्ते । एतच्च तत्तन्नामकल्पाश्रितेषु पुराणेषु तत्तदेवताया मुख्यत्वेनोपेक्षितप्रदर्शकत्वाव्येष्टैस्मौक्यकल्पादितकर्मपुराणादिषु सर्वत्र प्रसिद्धमेव । तथाच मुख्यत्वेन सरस्वत्या आविर्भावप्रतिपादकं पुराणं यत्तद्भागवतमिति रहस्यार्थः । सारस्वतकल्प इति पदेनैव कल्पस्य सरस्वतीसम्बन्धे बोधिते तस्य सङ्कीर्णत्वम् । "सङ्कीर्णेषु सरस्वत्याः" इति वचन-
नक्षत्रप्रेरणायं विनापि गृह्यागतमेव । अस्तिश्च वचने भागवतपदेन विष्णुभागवतस्य महणं कथ्या-
नुपेक्षमेव । तस्य मुख्यत्वेन सरस्वत्याविर्भावस्याऽसत्त्वात् । विष्णुभागवते द्वितीयस्कन्धे "पात्रं
कल्पमयो घ्राणु" इति वचनेन क्षमुत्तरेणैव स्वस्य पात्रकल्पकथाश्रयस्योक्त्वात् । तद्विरोधाच्च ।
नच पात्रकल्प एव सारस्वतः । सारस्वान् समुद्रः, तस्माज्जातं कमलं सारस्वतम् । तस्य कल्प
इति व्युत्पत्त्येति वाच्यम् । "पात्रकल्पस्य वृत्तान्त्राश्रयं यस्माद्बुद्धाद्वैतम् । तस्मात्पात्रं समाख्या-
तम्" इति पूर्वोदाहृतशिवपुराणवचनेन एवदेव "यदा पात्रमभूद्वैतप्रथमं जगत् । तद्ब्रह्मन्तस्य
तद्व्यापकमित्युच्यते बुधैः । पात्रं तत्पञ्चपञ्चाशदहस्त्राणां हि कथ्यते" इति मत्स्यपुराणवचनेन "सार-
स्वतस्य कल्पस्य मध्ये ये स्युर्नराऽमराः" इति वचनेन पात्रकल्पसारस्वतकल्पयोः पुत्रकथनत्वात् ।
किञ्च सारस्वतकल्पपात्रकल्पयोरेकत्वे पात्रकल्पस्य प्रतिपादकं पुराणं पात्रं भागवतं चेत्वेव वदेत् ।
किञ्च पात्रकल्पस्य वृत्तान्तमित्यभिप्रेत्यपात्रार्थं ये प्रसिद्धा लोकविश्रुता इति न्यायेन पूर्वै बुद्ध्याहृतं
पात्रशब्दं विहायाऽप्रसिद्धं सारस्वतशब्दं पात्रशब्दस्य वाचकं कृत्वा सारस्वतपदप्रतिपत्तकल्पने प्रयोज-
नऽभावः । किञ्च "सरस्वत्यास्तथा कल्पः" इत्यादेः पूर्वोक्तसारस्वतपदिहकस्यैव वचनसमूहस्य
विरोधाच्च । नच पात्रकल्पसारस्वतकल्पयोः प्रयत्नत्वे त्रिशदकल्पेषु मत्स्यपुराणप्रतिपाद्यार्थे कीर्ति-
तेषु सारस्वतपदेन पात्रस्य महणं न स्यादिति वाच्यम् । प्रभासखण्डे त्रिशदकल्पेषु विष्ण्वजक-
ल्पाविचकल्पानां महणेषुपि तेषां कल्पानां यथा मास्त्याऽन्तिमाध्याये न महणं, तथा पात्रस्याऽपि
न महणमित्यस्य तुल्यत्वात् । यदि तेषां पर्यायत्वेन कुत्रचिदन्तर्भावः कियते तर्हिस्याऽपि कुत्रचिद-
न्तर्भावोऽस्तु । अत एव विष्णुभागवतस्य प्रबन्धटीकाकारेण पितृकल्प एव पूर्वोपनिंते परमसोद्भव-
पितृकल्पपदेन पात्रस्य सङ्ग्रहो वैदित्य इत्युक्तम् । पुराणकल्पकथनप्रस्तावे सारस्वतकल्पपात्र-
कल्पयोः पुत्रकथनकरणेन सारस्वतपदेन पात्रस्य सर्वथा न महणम् । वस्तुतस्तु त्रिशदकल्पा
ब्रह्मणश्चिन्तित्यात्मकाश्चिन्तितपिषु प्रतिपादादिभूत्वाचने । भूः भुवः स्वः इत्यादयश्चित्रकल्पाः ।
पात्रादयश्च बाणपुराणोक्तदिनकल्पा ब्रह्मणः प्रतिदिवसेभूत्वाचने । इति दिनकल्पपितृकल्पानां
सुतरां भेदात्पितृकल्पेषु दिनकल्पानां पात्रादीनां न महणमिति सिद्धान्तः ।

यसु, विष्णुभागवतपुराणन्तः पात्रकल्पकथाश्रयत्वेऽपि श्रीकृष्णजन्मखण्डहीन सारस्वतकल्प-
मन्वचनेन तस्य दशमस्कन्धे सत्त्वात् "सारस्वतस्य कल्पस्य मध्ये ये स्युर्नराऽमराः" इति वच-
नस्य विष्णुभागवतविषयोऽस्तीत्याहः । तदसत् । श्रीकृष्णजन्मखण्डस्य सारस्वतकल्पभवत्प्रति-
पादकानां वचनानां निर्मुक्त्वात् । समूहत्वेऽपि यस्मिंपुराणे यस्य कल्पस्य प्रथमतः प्रतिपादनं
तत्कल्पप्रतिपादकमेव तत्पुराणमिति नियमः । सर्वपुराणेषु तथा दृष्टत्वात् । तथाच श्रीकृष्णजन्म-
खण्डस्य दशमस्कन्धे विद्यमानत्वेऽपि प्रथमतस्तत्कथाया अभावात्पात्रकल्पकथायाः प्रथमतो विच-
मानत्वं स्वैरेवोक्तत्वाच्च न सारस्वतकल्पस्येति वचनस्य विष्णुभागवतं विषयः ।

किञ्च, श्रीकृष्णजन्मखण्डस्य यथा दशमस्कन्धे कथनं, तथा सर्वपुराणेषु तत्कथनं वर्तत एवेति
सर्वपुराणानां तद्वचनविषयत्वं स्यात् । तथाच सर्वपुराणानि भगवत्प्रपादवाच्यानि स्युः । तस्मा-
त्सारस्वतस्य कल्पस्य यत्र प्रथमतः प्रतिपादनं स एव तद्वचनस्य विषयो कल्पस्योदाहरणं च देवी-
भागवतमेवास्ति, इति देवीभागवतं तद्विषयो वक्तव्य इति ।

किञ्च, शिवपुराण उमातंहित्यां "ब्रह्मणा संस्तुता सेयं मधुकिटभनाशने । महाविषया जग-
दानी सर्वविषाधिपतिता । द्वादश्यां कालमुत्सृज्य शुक्रार्थं समभूयुव" इतिवचनात्काल्पानुश्रुक्रद्वादश्यां
देव्या उद्भवः । तदिन एव सारस्वतकयोद्भवः । तदुक्तं हेमाद्रौ कल्पश्राद्धप्रकरणे नागरखण्डे
"सारस्वतसु द्वादश्यां शुक्रार्थं पाल्गुनस्य च" इति । तथाच सरस्वत्याः कल्प इत्यर्थकस्य
"सारस्वतस्य कल्पस्य मध्ये ये स्युर्नराऽमराः" इति वचनस्य सर्वथा देवीभागवतविषयो न
विष्णुभागवतमिति बोध्यम् ।

किञ्च, तस्य महणेन तस्य हरिमाहात्म्यप्रतिपादकत्वात्तदश्रितकल्पस्य सात्त्विकत्वमेवाऽऽप्यस्त्यति
"सारिकेषु च कल्पेषु माहात्म्यमधिकं हरेः" इति वचनात् । तसश्च "सङ्कीर्णेषु सरस्वत्याः"
इति वचनेन, सारस्वतकल्प इति नाम्न च, परमहंस्य सामग्रेय कर्तव्या स्यात् । अतो विष्णु-
भागवतं विहाय देवीभागवतमेवास्य वचनस्य विषयोऽस्तीत्याऽपि वक्तव्यस्तस्मात् "सारस्वतस्य
कल्पस्य" इति वचनदेवीभागवतमेव महापुराणम् । अस्ति चात्र सरस्वत्याविर्भावप्रतिपादकं वच-
नम् । तदुक्तं देवीभागवते प्रथमस्कन्धे "तत्त्वास्तु सार्वभौकं शक्ती राजसी तामसी तथा ।
महालक्ष्मीः सरस्वती महाकालीति तावयः । तासां तिसृणां शक्तीनां देहाःश्रीकारलक्षणः ।
सृष्टयश्च स समाख्यातः सगैः शास्त्रविशारदैः" इत्याह ।

तद्वदमराः । यतो मैत्र्यपुराणोक्तपुराणलक्षणविचारेण तदुक्तकल्पविचारेण बृहद्भामनपुराण-
सन्दर्भविचारेण च "सारस्वतकल्पस्येति वचनं श्रीमद्भागवतस्यैव विषयो न देवीभागवतस्येति ।
तथाहि—मत्स्यपुराणे "कालेनामहणं दृष्ट्वा पुराणस्य ततो द्विजाः । व्यासरूपमहं कृत्वा संहरामि
युगे युगे । चतुर्लक्षप्रमाणेन द्वारे द्वारे सदा । तदद्यादशधा कृत्वा भूलोकेऽस्मिन्प्रभासते ।
अथाप्यमर्च्यलोके तच्छतकोटिप्रसिद्धम् । तदर्थं हि चतुर्लक्षे सङ्केपेण निवेदितः । पुराणानि

१. उत्तरपङ्कः । २. मत्स्यपुराणोक्तकल्पविचारेण बृहद्भामनपुराणसन्दर्भविचारेण लक्ष्यविचारेण तदुक्त-
सारस्वतस्यैवास्तिः स्व-पुस्तके पाठः ।

दशाष्टौ च सम्प्रतं तदिहोच्यते । नामस्तस्मान्नि बक्ष्यामि शृणुष्वभ्युपसत्तमाः । ब्रह्माण्डविहितं पूर्वं यावन्मात्रं मरीचये । ब्राह्मं तदशासाहस्रं पुराणं परिकीर्तितम् । एतदेव यदा पञ्चमभूद्विर-
णमं जगत् । तदुक्तान्ताश्रयं तद्व्याघमिभ्युच्यते बुधेः । पापं तु पञ्चपञ्चाशत्सहस्राणीह पठ्यते ।
यादाहकल्पवृत्तान्तमधिकृत्य पराशरः । यथाह धर्मानखिलाणु तदुक्तं वैष्णवं विदुः । त्रयोविंशति-
साहस्रं तत्प्रमाणं विदुर्बुधाः । श्वेतकल्पप्रसङ्गेन धर्मान्यापुरिहाऽज्ववीत । यत्र तदायवीयं स्याद्-
द्रमाहात्म्यसंयुतम् । चतुर्विंशत्सहस्राणि पुराणं तदिहोच्यते । यत्राधिकृत्य गायत्रीं कथ्यते धर्मवि-
खरः । वृषासुरवधोपेतं तद्भागवतमुच्यते । सारस्वतस्य कल्पस्य मन्ये ये स्फुरन्नाऽमराः । तदुक्त-
ान्तोद्भवं यच्च पुराणं परिकीर्तितम् । अष्टादशसहस्राणि पुराणं तद्वकीर्तितम् । यथाह नारदो धर्मान्-
वृहत्कल्पाश्रयैस्त्रिविह । पञ्चाविंशत्सहस्राणि नारदीयं तदुच्यते । यत्राधिकृत्य शकुनीन् धर्माऽधर्म-
विचारणम् । व्याख्यातं जैमिनिप्रभे पश्चिभिर्मन्त्रादिभिः । मार्कण्डेयेन कथितं तत्सर्वं विस्तरेण
तु । पुराणं नवसाहस्रं ब्रह्मं तदिहोच्यते । यत्तदीशानकल्पस्य वृत्तान्तमधिकृत्य च । वशिष्ठा-
ऽभिज्ञाना प्रोक्तमग्नेयं तद्वकीर्तितम् । तत्र षोडशसाहस्रं सर्वकृतफलप्रदम् । यत्राधिकृत्य माहा-
त्म्यामादित्यस्य चतुर्मुखः । अधोरकल्पवृत्तान्तप्रसङ्गेन गति स्थितम् । मन्ये कथयामास भूतभ्र-
मस्य लक्षणम् । चतुर्विंशत्सहस्राणि तथा पञ्चशतानि च । भविष्यचरितप्रामं भविष्यं तदिहोच्यते ।
रथन्तरस्य कल्पस्य वृत्तान्तमधिकृत्य च साविर्गना नारदस्य कृष्णमाहात्म्यसंयुतम् । यत्र ऋषवा-
हस्य चरितं कथ्यते सुदुः । तदष्टादशसाहस्रं ब्रह्मवैवर्तमुच्यते । यत्राभिहितमप्यस्यः प्राह देवो
महेश्वरः । धर्माऽकाममोक्षाद्यर्माग्रसमधिकृत्य च । कल्पान्ते लिङ्गमित्युक्तं पुराणं ब्रह्मणा स्वयम् ।
तदेकादशसाहस्रं फाल्गुन्यां यः प्रपच्छति । महावाराहं तु पुनर्महात्म्यमधिकृत्य च । विष्णु-
नाऽभिहितं शोष्ये तद्वाराहमिहोच्यते । मानवस्य प्रसङ्गेन कल्पं च मुनिसत्तमाः । चतुर्विंशत्स-
हस्राणि तत्पुराणमिहोच्यते । यत्र माहेश्वरान् धर्मानधिकृत्य च पशुमुखः । कल्पे तत्पुरुषे ब्रूवे
चरितैरुपबृंहितम् । स्कान्दं नाम पुराणं तदेकाशीति निगमते । सहस्राणि शतं चैकमिति मयैषु
पठ्यते । त्रिविक्रमस्य माहात्म्यमधिकृत्य च चतुर्मुखः । त्रिविक्रम्याद्यच्च धामनं परिकीर्तितम् ।
पुराणं दशसाहस्रं कूर्मकल्पायुगं शिवम् । यत्र धर्माद्यर्कामाना मोक्षस्य च रसतले । माहात्म्यं
कथयामास कूर्मरूपी जनार्दनः । इन्द्रशुभ्रमसङ्गेन ऋषीणां शुकसन्निधौ । सप्तदशसहस्राणि
लक्ष्मीकल्पाऽनुपसङ्गिकम् । छुतीनां यत्र कल्पदौ प्रवृत्तयं जनार्दनः । मत्स्यरूपी च मन्ये
नरसिंहोपवर्णनम् । अधिकृत्याऽनैकसकल्पं चतुर्मुखः । तन्मात्म्यमिति जानीधं सारस्वत्याणि
चतुर्विंशत् । यदा च गारुडे कल्पे विशाण्डं गरुडोद्भवम् । अधिकृत्याऽज्ववीत कृष्णो गारुडं तदि-
होच्यते । तदष्टादश चैकं तु सहस्राणीह पठ्यते । ब्रह्मा ब्रह्माण्डमाहात्म्यमधिकृत्याऽज्ववी-
तुनः । तत्र द्वादशसाहस्रं पुराणं दिशतानि च । भविष्यार्णां च कल्पानां श्रूयते यत्र विस्तारः ।
तद्ब्रह्माण्डपुराणं तु ब्रह्मणा ससुदाहृतम् । इति । अत्र “यत्राधिकृत्य गायत्रीम्” इति श्लोकस्य
शेष्या श्रीमद्भागवतपररत्नस्य पूर्वं निश्चितत्वेन तदुक्तस्य “सारस्वतस्य कल्पस्य” इति श्लोकस्य
देवीभागवतबोधकत्वमर्थजरतीयं कथं भवेत् ?

किञ्च, “यत्राधिकृत्य” इति श्लोकोक्तमर्थयत एव “सारस्वतस्य” इति श्लोकोक्तमर्थवत्त्वम् ।
तत्र “पुराण”मिति पदेन बोध्यते । किञ्च गरुडस्याऽयं गारुडः वाराहस्याऽयं वाराह इतिवत्
सारस्वत्या अयं सारस्वत इति व्युत्पत्तिप्रदर्शनेन, सारस्वत्याः सङ्कीर्णं माहात्म्यसारस्वतस्य सङ्की-
र्णवाराहरत्नप्रतिपादनं देवीभागवत एवेति युक्तिर्न साधयसी । वैष्णवपुराणस्य वाराहकल्पवृ-
त्तान्तसाधयेन वाराहपुराणस्य मानवकल्पवृत्तान्तान्ताश्रयवेन योग्याऽयोग्यात् । श्वेतवृहदीशा-
नाधोरथन्तरकूर्मलक्ष्मीसहस्रकल्पादिषु सर्वत्र योग्याऽयोग्यात् । “सारस्वत्यास्ताया कल्पः” इति
वचनस्य विचारोऽप्ये स्मृटीमभिव्यधति ।

किञ्च, देवीभागवतस्य सङ्कीर्णत्वे त्वदुक्त्या समागते व्याप्तकृताऽष्टादशपुराणवहिरर्माबापयोः ।
तामससात्त्विकराजसमेदेनैकैकपदस्य प्रतिपादानात् । पाप्मोत्तरखण्डयशिवोभासव्यादे द्विकल्पा-
रिशाप्याये । “भास्यं कौर्मं तथा लङ्गं शैवं स्कान्दं तथैव च । अग्नेयं च पडेतानि तामसांनि
निबोध मे । वैष्णवं नारदीयं च तथा भागवतं शुभम् । गारुडं च तथा पार्श्वं वाराहं शुभदर्शनम् ।
सात्त्विकानि पुराणानि विज्ञेयानि शुभानि वै । ब्रह्माण्डं ब्रह्मवैवर्तं मार्कण्डेयं तथैव च । भविष्यं
धामनं ब्राह्मं राजसानि निबोध मे” इति वचनैः । तथाच हरिःमाहात्म्यस्य सात्त्विकत्वेन तत्प्रति-
पादकश्रीमद्भागवतस्य च सात्त्विकत्वेनाऽनिश्चयःऽप्यष्टादशपुराणगणनायामङ्गीकरणीयत्वात् ।
देवीभागवतस्य तु भवतैवाष्टादशपुराणवहिरर्माबासवनात् । यतस्तस्य सङ्कीर्णस्य प्रतिपादानात् ।

किञ्च, यद्भवता वैष्णवपुराणेषु सार्विकत्वं शैवपुराणेषु तामसत्वं, वैष्णवपुराणमतेन, शैव-
पुराणेषु सात्त्विकत्वं, वैष्णवपुराणेषु तामसत्वं, “दश शैवपुराणानि सात्त्विकानि विदुर्बुधाः । ताम-
सानि च चत्वारि वैष्णवानि प्रचक्षते” इति स्कान्दे, शैवपुराणमतेनेत्येवं प्रकारेण प्रतिपादितम् ।
तेनाप्यष्टादशपुराणवहिरर्माव एव साधितो देवीभागवतस्य । यतो दशसात्त्विकानि, चत्वारि ताम-
सानि, चत्वारि राजसानि पुराणवलयजनेन ज्ञेयम् ।

किञ्च, सारस्वतकल्पस्य सङ्कीर्णत्वकथनं मत्स्यपुराणकल्पायुकीर्तन उपात्त्याऽप्यायविरुद्धम् ।
तथाहितं “प्रथमः श्वेतकल्पस्तु द्वितीयो नीललोहितः । वामदेवकल्पोऽस्तु ततो राथन्तरः
परः । रौरवः पञ्चमः प्रोक्तः षष्ठः प्राण इति स्मृतः । सप्तमोऽयं वृहत्कल्पः कल्पदंष्ट्रम उच्यते ।
सहस्रोऽय नवमः प्रोक्त ईशानो दशमः स्मृतः । व्यान एकादशः प्रोक्तस्तथा सारस्वतोऽपरः ।
त्रयोदश उदानस्तु गारुडोऽय चतुर्विंशः । कौर्मः पञ्चदशः प्रोक्तः षोडशोऽयं प्रजापतिः ।
षोडशो नारसिंहस्तु धामनस्तु ततोऽपरः । अग्नेयोऽष्टादशः प्रोक्तः सोमकल्पस्तथाऽपरः ।
मानवो विंशमः प्रोक्त उदानः चत्वारः । वैकुण्ठश्चाऽपरस्ताडलक्ष्मीकल्पस्तथाऽपरः । चतु-
र्विंशतिः प्रोक्तः सात्त्विककल्पाऽष्टकः । पञ्चविंशतितोऽन्यो वाराहस्तु तथाऽपरः । सप्तविंशोऽय
वैराजो गौरीकल्पस्तथाऽपरः । माहेश्वरस्ततः प्रोक्तस्त्रियुगो यत्र धातितः । पितृकल्पस्तथैवाऽप्यो
या कुडुवैराजः स्मृतः । इत्येवं ब्रह्मणो मांसः सर्वपातकनाशानः । आदिवेवाऽह्नि माहात्म्यं
यस्मिन् यस्य विधीयते । तस्य कल्परातं नाम विहितं ब्रह्मणा पुरा” इति । तत्रैवाऽप्ये “सङ्कीर्ण-

स्तामसाश्चैव राजसाः सात्त्विकास्तायाः । रजस्तमोमयास्तद्ब्रह्मव्यस्य उदाहृताः । सङ्कीर्णेषु सरस्वत्याः पितृणां व्युत्थिरुच्यते । व्युत्थिर्माहात्म्यम् । “अग्निः शिवस्य माहात्म्यं तामसेषुपत्नयैः । सात्त्विकेष्वधिकं तद्ब्रह्मिणोर्माहात्म्यमुच्यते । तर्थाय योगसंसिद्धा गमिष्यन्ति परां गतिम्” इति ।

अत्र सङ्कीर्णोदयः पञ्चकविक्रामकालखण्डय उदाहृता इत्युच्यते सिद्धम्—भेतो, नीलदेहिहितो, वामदेव इतित्रयः सङ्कीर्णाः । रथन्तरो, रौरवः, प्राण इति त्रयस्तामसाः । शूहृत्, कदर्पः, सखा इति त्रयो राजसाः । ईशानो, व्यानः, सारस्वत इति त्रयः सात्त्विकाः । उदानो, गारुडः, कौर्म इति त्रयो रजस्तमोमयाः । एवमवशिष्टेषु नारसिंहमारभ्य पितृकल्पपर्यन्तेषु पञ्चदशसु विभागो बोध्यः । एवं पञ्चदश्यात्मको ब्रह्मणो मासः ।

अत्र केचिच्छिष्टास्तु सत्त्वस्य निवेशक्रमेण “रजःसत्त्वतमोमयाः” इति तेन गारुडस्य सात्त्विकत्वम् । तेन गारुडकल्पोक्तुत्तान्तबोधकगारुडपुराणस्य पात्रो सात्त्विकत्वेनोप्यमानत्वात् । इतरथा केनाऽपि प्रकारेण गारुडस्य सात्त्विकत्वमयं सैव सिध्येदित्याहुः । एवमुद्देशानिरूपणक्रमेण सङ्कीर्णोदियु सरस्वत्यादीनां माहात्म्यनिरूपणाद्विद्योर्माहात्म्यं सात्त्विकेषुच्यते । मास्य एव सङ्ख्याक्रमणिकाप्यायेऽपि “सात्त्विकेषु तु कल्पेषु माहात्म्यमधिकं हरेः । राजसेषु तु माहात्म्यमधिकं ब्रह्मणो विदुः । तद्ब्रह्मेस्तु माहात्म्यं तामसेषु शिवस्य च । सङ्कीर्णेषु सरस्वत्याः पितृणां च निगद्यते” इत्युक्तम् । न चैतद्ब्रह्मचक्रमातुरोधारसारस्वतस्य सङ्कीर्णत्वमिति वाच्यम् । एतद्ब्रह्मचरस्य सङ्कीर्णोदियु प्रतिपाद्यत्वरूपप्रदर्शनपरत्वात् । अन्यथा पूर्वोदितवचनेषु सङ्कीर्णोदिक्रमोद्देशस्य तद्गुणान्तक्रमस्य च बाधापत्तेः ।

किञ्च, यथा “अजाः शर्करा उपदधात्य” इत्यत्र “तेजो वै धृतम्” इति वाक्यशेषस्य निर्णायकत्वेन धृताऽऽजोपधानम् । तथाऽत्र वाक्शवशेषोक्तमस्यैव प्राहात्म्यम् । किञ्च, सात्त्विकादिक्रमङ्गीकारे चतुर्णामेव प्रथमे चतुर्भिश्चिंशत्सं समावेशस्य क्रिष्टत्वापत्तेः । रजस्तमोमयप्रतिपादनस्य “त्रयस्य उदाहृताः” इत्यस्य विरोधो दुर्बलश्च स्यात् । एतेन सात्त्विकत्वजसतामसमेतैश्चातुरिभ्यमुक्तवान् इति पराह्वम् । न च रुद्रमहात्म्यस्य तामसकल्पित्वेन श्वेतकल्पप्रज्ञेन “धर्मनां वायुरिहाह्ववीत् । यत्र तद्वाक्कीर्षं स्वाह्वद्गमाहात्म्यंस्युत्तम्” इति वचनविरोधः श्वेतकल्पस्य सङ्कीर्णत्वेनाऽङ्गीकारादिति वाच्यम् । “सात्त्विकेष्वधिकं तद्ब्रह्म” इति वचने “तद्ब्रह्म” इति पदेन, “महात्म्यमधिकं हरेः” इति, “अधिकं ब्रह्मणो विदुः” इत्युक्तेश्चाऽधिकपदोपादानेन, तद्ब्रह्मेः शिवस्य चेत्यत्र तद्ब्रह्मोपादानानियतृणां, चेत्यत्र चकारेण चाधिक्येन सरस्वत्यादीनां माहात्म्यबोधनेनाऽन्येषामपि माहात्म्यबोधनात् । न च सङ्कीर्णोदियु चतुर्णां देवानां माहात्म्यबोधनाद्रजस्तमोमयेषु कस्याऽपि माहात्म्याऽनवबोधनात् “रजस्तमोमयाः” इतिपदं विशेषणत्वेन योजनीयमिति वाच्यम् । “रजस्तमोमयास्तद्ब्रह्म” इत्यत्र तद्ब्रह्मोपादानवैक्यर्थ्यापत्तेः । “त्रयस्य उदाहृताः” इति त्रिंशत्सं सङ्ख्याकत्वेनाऽनुपपत्तेः । रजस्तमोऽपि तद्ब्रह्मादीनां माहात्म्यबोधनस्य प्रात्याऽनुक्तसिद्धेः । तस्माद्वाक्शवशेषोक्त्याऽतुल्यप्रकृतस्य जागरूकतया सारस्वतकल्पस्य सात्त्विकत्वे निष्प्रतिबन्धके सिद्धे तस्य सङ्कीर्णत्वकथनं गगनकुसुमायमानमेव । एतेन ‘सारस्वतकल्पः

इति पदेनैव कल्पस्य सारस्वतसम्बन्धे बोधिते तस्य सङ्कीर्णत्वं “सङ्कीर्णेषु सरस्वत्याः” इति वचनेनैव श्लेषेण विनाऽपि गृह्यातमेव । अस्मिन् वचने भागवतपदेन विद्युत्भागवतस्य प्रथमं कव्यानुजोपमेवेति निरस्तम् ।

किञ्च, हेतुदितिभक्त्येषूपेक्षयमाना दिनमप्यकल्पा भिन्नाः । तथा च—“सरस्वत्यास्ताया कल्पः” इति वचनेन सरस्वतीकल्पो भिन्न एव । यथा पुराणान्तरो क्वापि मयूरकल्पः । तथाच वाराहपुराणे मेघवाहनकल्प उक्तः प्रागितिहासे रुद्रगीतासु यत्र भगवान् “स्वं च रुद्र महाबाहो मोहशशाङ्गिणं कारय । अतथ्यापि वितथ्यापि दशोयस्य महासुज” इत्यादिस्रमार्हातवान् । रुद्रश्च तस्मिन्निहाय “गां वह” इति प्रार्थितवान् । तदा भगवान् मेघो भूत्वा कल्पमेकं रुद्रमवहत् । स मेघवाहनकल्पः । तस्य त्रियुक्तोपेक्षयगणनात्तस्मिन् ब्रह्माण्डकारणाऽनुक्तेश्च, वराहपुराणलक्षणे महावाराहकल्पाश्रितत्वकथनादेवं सति दिनमाप्यकल्पमायाति । एवमप्यत्राऽपि बोध्यम् ।

यद्यत्र तत्तद्देवतानामादिर्भावाश्रया ये कल्पाले तत्तन्नामा व्यवहियते । एतश्च तत्तन्नायककल्पाश्रितेषु पुराणेषु तत्तद्देवताया एव मुख्यत्वेनोत्पत्तिप्रदर्शकत्वात्पेक्ष्यकल्पश्रितकूर्मोदियु सर्वत्र प्रसिद्धमेवेत्युक्तम् ।

तदपि न साधोयः । अथोरकल्पवृत्तान्तबोधके भविष्येऽवोरापरपर्यायशिवस्य मुख्यत्वेनाऽऽविर्भावैः माहात्म्ये च प्रतिपादनैरे “यथाऽपिभूत्सुल माहात्म्यादिवल्य चतुर्मुखः । अथोरकल्पवृत्तान्तप्रज्ञेन” इत्यादि भास्यवाक्येनाऽऽदिवल्यमाहात्म्यप्रतिपादनस्य बोधनात् । एवं लक्ष्मीकल्पाऽनुगकर्तृपुराणे लक्ष्म्याः प्राधान्ये महात्म्ये च वर्णनीये शिवस्य प्राधान्येन महात्म्यस्य वर्णनात् । तथा च कूर्मपुराणे पूर्वभागे चतुर्थोऽध्याये “कुतः सर्वमिदं जातं कस्मिन् लक्ष्म्येभ्यः । नियन्ता कश्च सर्वेषां वदस्य उरुषोत्तम । ह्युत्वा नारायणो वाक्ययष्टीर्णां कूर्मरूपधृक् । प्राह गमरीत्या वाचा भूतानां प्रभवऽस्यवी । क्वल उवाच । माहेयरः परोऽप्यकल्पतुम्बुहः सनातनः । अनन्तश्चाऽप्येवमेषश्च नियन्ता विश्वतो मुखः” इत्यारभ्य “निशान्ते प्रतिबुद्धोऽस्ते जगदादिरनादिमान् । सर्वभूतमरोऽप्यकादन्तर्गामीश्वरः परः । प्रकृतिं पुरुषं चैव प्रविश्याऽऽशु महेश्वरः । शोभयामास दोगीनं परेण परमेश्वरः” इत्यादिना चोक्त्वा, “यथानात्थोऽन्यमानाश्च तथा पुंसः पुरातनात् । प्रादुरासीन्महद्बीजं प्रयाणपुरुषामकम्” इत्यादिना सृष्टिरुक्ता, ततः पञ्चदशाऽन्यान्तसुप्रभिमानो दशमित्यथायैरीश्वरगीतीकता, शिवमाहात्म्यं पञ्चस्ररुक्ता चोक्तौ मुख्यतया शिवमाहात्म्यं प्रतिपादितं, न लक्ष्म्याः, इति लक्ष्मीनामककल्पत्वेन लक्ष्म्याः प्राधान्येन प्रादूर्भूतो माहात्म्यं चेति श्रमादेशोक्तमिति ज्ञेयम् ।

यत्तु, विद्युत्भागवते द्वितीयस्कन्धे “पापं कल्पमयो श्रुषु” इति वचनेन लसुत्सुनैव सस्य पापकल्पकथाश्रयव्यसुक्तमिति जगदा । तच्चिन्त्यम् । श्रीमद्भागवते “अयं तु ब्रह्मणः कल्पः सत्त्वकाल (सविकल्प) उदाहृतः”, “पापं कल्पमयो श्रुषु” इति वचनं कल्पिते कल्पे द्वितीयस्याऽपि भारत । वाराह इति विह्वलतो यथासीत्पूक्तो हरिः” इति त्रयाणां कल्पानां निरूपणात् । केवल्यप्राप्तस्याऽभावात् । तत्र “चायं तु” इति द्वितीयस्कन्धश्लोके एतत्पूर्वं “पूर्वस्यादौ परार्द्धस्य

ब्राह्मो नाम महानभूत् । यत्र कल्पेऽभेद्या शब्दब्रह्माभक्पुरात्" इत्यनेन ब्रह्मकल्पवृत्तान्तस्य निरूपणम् । ततश्च द्वितीयस्कन्धान्ते पात्रं कल्पमयो शृण्वन्ति प्रतिज्ञाय तृतीयस्कन्धे पात्रनि-
रूपणोपरं बाराहकल्पानिरूपणे "अयं तु कथितः" इत्यनेन बराहकल्पनिरूपणम् । बाराहकल्प-
निर्वचनं "यत्रास्तीत्" इत्यादिना, ततो बाराहावताराप्रश्ने बाराहावतारनिरूपणमिति बाराह-
कल्पकथा निरूपिता ततश्च । द्वादशसमाप्तौ कल्पनाम कथनेन "सारस्वतस्ये"तिवोधितवृत्ता-
न्तनिरूपणमिति ज्ञेयम् । एवञ्च, ब्राह्मपात्रबाराहकल्पानां ब्राह्मपात्रवैष्णवपुराणप्रसिद्धानामनुवाद-
मात्रमिति निश्चयः । केवलपात्रकल्पस्यैव कथेति निश्चये प्रयाणां निरूपणविरोधः । न च
प्रयाणामेव कथा सम्पूर्णा श्रीमद्भागवत इति वाच्यम् । सङ्गतेर्निरूपितत्वेन प्रयाणां समाप्तिबोधा-
नात् । एतेन "न च पात्रकल्प एव सारस्वतः" इत्याख्य "सारस्वतपदेन पात्रस्य सर्वेषां न
प्रहणम्" इत्यन्तं कथनं गगनकुसुमसौरस्यसदृशं काकदन्तपरीक्षाऽनुसारित्वात्परास्तम् ।

यदपि "विष्णुभागवतस्य पात्रकल्पकथाश्रयत्वमिति" तदपि निरस्तम् । "पात्रं कल्पमयो
श्रुत्वा" इत्यत्राऽधोपदैवैष्यर्थोच्यते । यदपि श्रीकृष्णजन्मखण्डस्यैव सारस्वतकल्पमन्वलेन तस्य
दशमस्कन्धे सप्तत्वात् "सारस्वतस्य" इति वचनस्य विष्णुभागवतं विषय इति शङ्काप्रत्यक्ष
"तदसदिति"त्याख्य "देवीभागवतमेव सदिति"वचनस्यः" इत्यन्तं खण्डनप्रत्यक्ष निरूपणं तदपि
शाश्वस्य निजशृङ्गाभिया विशालकन्दराप्रवेशवद्भ्राति । यतः "रथन्तरस्य कल्पस्य वृत्तान्तमधिकृत्य
च । सावर्णिना नारादाय कृष्णमाहात्म्यसंयुतम् । यत्र ब्रह्मवाराहस्य चरितं वर्णितं मुहुः ।
तद्ब्रह्मदशसाहस्रं ब्रह्मवैवर्तमुच्यते" इति मत्स्यपुराणवचनेन ब्रह्मप्रकृतिगणपतीश्रीकृष्णजन्मात्म्य-
खण्डचतुष्कविशिष्टब्रह्मवैवर्तपुराणस्य रथन्तरकल्पाश्रितवृत्तान्तबोधकत्वात् ।

यदपि "ब्रह्मणा संस्तुता" इति शिवपुराणस्थोमार्संहितावचनाफालगुणशुद्धद्वारादर्शनां देव्या
उद्भवः । तद्दिन एव सारस्वतकल्पोद्भवः "सारस्वतस्य द्वादश्याम्" इति हेमाद्रियुताचारखण्ड-
वचनात् । तथाच सरस्वत्याः कल्प इत्यर्थकं "सारस्वतस्य कल्पस्ये"ति वचनं सर्वेषां देवीभाग-
वतविषयो न विष्णुभागवतमित्युक्तम्, तदपि न; "युष्माकं बदरीचक्रमस्माकं बदरीगृहम्"
इति बाराहपुराणसम्बन्धसदृशात्वात् ।

किञ्च, भृङ्गकैटभनावाप तस्य उद्भवोक्तैः का व्यवस्था निश्चीयते । अत एव सप्तशतीप्रथम-
चरितस्य काली देवतेति कात्यायनीनतीक्ष्णविद्यु रङ्गुटम् । एतेन देवीभागवतप्रथमस्कन्धे महा-
लक्ष्म्यादीनां सर्ग उक्तः । ततश्च सरस्वत्याऽऽभिर्भावप्रतिपादकत्वमुक्तिमिति निरस्तम् । मुष्कत्वेन
सरस्वत्या आभिर्भावप्रतिपादकत्वमिति भवदुक्तिविरोधाच्च । मात्र सरस्वत्या मुष्कत्वेन प्रतिपाद-
नम् । अस्तु वा यथोक्तम् । परन्तु द्वादश्या विष्णुतियत्वेन निश्चयाद्बाराहपुराणे धरणीकृते
मार्गेशीर्षगारभ्योऽर्जुनासपत्न्यन्तानां शुद्धद्वाराशीकमेण मत्स्यकूर्मवपुहःशुद्धवामनपरशुरामाद्यो-
श्रीकृष्णबुद्धकैकिकपद्मनाभनारायणदेवताकाः प्रसिद्धाः । तत्र वृष्टिसिद्धद्वाराश्वीने वृष्टिदेवे-
ताकत्वेन फाल्गुनशुद्धद्वार्याः प्रसिद्धत्वात् ।

१ द्वादश्यामिति क्युलकम् । २ वीदेति ख्युलकम् ।

किञ्च, योगवाहुत्वेन गोविन्दद्वादशीनेन प्रसिद्धत्वाच्च पद्मपुराणे, "कुम्भेऽर्के देवपुर्ये यदि
धनुषि गते ससरो कर्कटस्ये पुण्यार्के फाल्गुने मास्य शुभकृते शोमने शुक्रपक्षे । नेत्युद्गा-
न्यातिरेकादिह जलधिते द्वारशी विष्णुतीर्थं गोविन्दद्वादशीयं कलिकल्हवरा विष्णुसायुष्य-
दात्री" इति ब्रह्माण्डपुराणेऽप्यस्ति लक्षणम् । एवं फाल्गुनशुद्धद्वार्या अनेकप्रकारेण भग-
वत्सन्निधत्विधित्वाहेन्दुद्वयस्यैकस्य सम्बन्धस्याऽपि किञ्चिद्वार्यात् । तत्रोद्भूतसारस्वतकल्पस्य
सात्त्विकत्वेन तदधिष्ठातृभगवत्प्रतिपादकश्रीमद्भागवतस्य 'सारस्वतस्ये'तिवचनोक्तलक्षणं निरा-
वाधमिति सर्वेषैवाऽस्माकमेवैष्टिसिद्धिः । यच्च तस्य प्रहणे हरिमाहात्म्यप्रतिपादकत्वेन सात्त्विक-
त्वमेवाऽऽपत्तीत्यापत्तिर्दृष्टीता स्यात्सुकृदैविति प्रतिपादितमेव, तस्य सात्त्विकत्वमिति 'सङ्कीर्ण
सरस्वत्याः' इति वचनस्य न सारस्वतकल्पो विषय इति सिद्धम् ।

केचित्तु, मात्सीयं सारस्वतकल्पाकर्म न भागवतलक्षणपरम्, लक्षणपरत्वे "यत्तदीशान-
कल्पस्य वृत्तान्तमधिकृत्य च । वसिष्ठायाऽग्निना प्रोक्तमाग्नेयं तत्रप्रक्षते" इत्यादिमात्सीयकल्पान्त-
वाक्यानामपि लक्षणपरत्वस्य वक्तव्यत्वेनाऽऽभेदादेरीशानकल्पोक्तिविधुत्वात्तद्वाराहविर्भाप्रस-
ङ्गात् । किन्तु, मात्सीयकल्पवर्णनाध्यायस्य सङ्कीर्णत्वात्प्रिकाराजसकल्पभेदाव्याक्यवदिमानि पुराण-
वर्णनाऽऽप्यायस्वसारस्वतादिकल्पभेदाव्याक्यामपि परस्परविरुद्धवृत्तान्तवादिनां पुराणवचनानाम-
प्रामाण्यनिरासाय भिन्नभिन्नकल्पवृत्तान्तविषयप्रतिपादनपरत्वेन । एवं सति मात्स्याकाक्यैरेव
पुराणानां यथोक्तलक्षणवादिमानसिद्धभागवतत्वादिविशेषाणां प्रतिनियतकल्पसम्बन्धस्य विधिरस्ति
तस्य प्रतीतिर्बोहाज भागवतादीं सारस्वतकल्पोक्त्येवाऽस्तीत्याहुः । तत्रोक्तव्यवस्था व्य-
भाणवृद्धद्वानवपुराणसन्दर्भेण च सारस्वतकल्पोक्तवृत्तान्तस्य श्रीमद्भागवतविषयत्वे जागरूकेऽप्याः
कल्पनायाः प्रयोजनाऽभावः ।

परे तु, सरस्वतीतीरवास्तानां शृंगविमुनिनां 'को देवः श्रेष्ठः' इति 'कल्प एव सारस्वतकल्प'
इत्यपि वक्तुं वाक्यत्वेन भवदभिनते प्रमाणेऽभावे इत्येकया युक्त्या वादिनि प्रतिहते यथाकथ-
ञ्चिदुच्यन्तरथमनमभ्युच्चय इति उक्तलक्षणाऽऽभ्युच्चयेनैवोपन्यस्तमित्याहुः । अत्र, 'एवं सारस्वता
विप्राः' इति श्रीमद्भागवतवचनं मानम् । अस्या अपि कल्पनायाः किञ्चिद्वेन पूर्वोक्तमेव ज्ञायः ।

वस्तुतस्तु वृहद्भामनपुराणसन्दर्भेण तु कत्या अदि कल्पनायाः प्रयोजनाभावात्सारस्वतक-
ल्पवृत्तान्तः श्रीमद्भागवतोक्तः स्पष्टमेव प्रतीयते । वृहद्भामनपुराण उत्तरस्थाने खिले च शृङ्गब्रह्म-
सम्बन्धे ब्रह्मणो वाक्यानि "यद्यिदं सहास्रमपि मया तसं तपः पुरा । नन्दगोपत्रजखीनां पाद-
रेणुलक्ष्म्ये । तथापि न मया प्रासादास्तानं वै पादरेणवः । छलैतद्ब्रह्मणो वाक्यं शृणुः प्राहाय
सादरम् । वैष्णवानां पादरेणो शृणुते त्वदिदं परिपि । सन्ति ते बहवो लोके वैष्णवा नारादादयः ।
तेषां विहाय गोपीनां पादरेणुस्त्वयाऽपि यत् । गृह्यते संशयो मेऽत्र को हेतुस्तद्वद् भ्रमे । ततो
ब्रह्मा शृणुं प्राह विन्तयित्वा पुरातनीम् । कथां सर्वश्रुतीनां यदहस्यं परमाद्भुतम् । ब्रह्मोवाच ।
न क्विपो ब्रह्मसुन्दर्यैः पुत्र ताः श्रुतयः किल । नाह शिवश्च शेषश्च श्रीश्च तामिः समाः कश्चिद् ।
प्राकृते प्रलये प्राप्ते व्यक्तेऽन्यत्कं गते पुरा । शिष्टे ब्रह्मणि किमात्रे कालमायाऽतिरेऽप्यरे । ब्रह्मा-

नन्दमयो लोको व्यापिवैकुण्ठसम्भक्तः । निर्गुणोऽनाथानन्तश्च वर्तते केवलेश्वरे । अक्षर ब्रह्म परमं वेदानां स्थानमुत्तमम् । तल्लोकवासी तत्रस्यैः स्तुतो वैदेः परात्परः । चिरं स्तुतस्ततस्तुष्टः प्रोक्षं प्राह तान् गिरा । तुष्टोऽस्मि ब्रूत भोः प्राज्ञा वरं यन्मनसीस्त्वितिम् । श्रुतय ऊचुः । नारायणदिरूपानि ज्ञातान्यस्मात्स्मिन्त्युत । सत्पुत्रं ब्रह्म सर्वैर्दं वस्तुवृद्धिर्न तेषु नः । ब्रह्मेति पृथ्वतेऽस्माभिर्प्राप्तं निर्गुणं परम् । वाञ्छानोगोचरातीतं ततो न जायते तु तत् । आनन्दभावनमिति यद्ब्रह्मन्ति पुराविदः । तस्मां दर्शयाऽस्माकं यदि देवो वरो हि नः । श्रुवैतदर्शयामास तं लोकं तमसः परम् । केवलानुभवात्तन्नाममक्षरमप्ययम् । यत्र ह्यन्दायनं नाम वनं कामवृद्धैर्दुग्धैः । मनोरमनिक्कुञ्जाब्जं सर्वत्र कुसमाकारम् । यत्र गोवर्धनो नाम सुनिर्झररीयुतः । रत्नघटामयः श्रीमान् सुपक्षिगणसङ्घातः । यत्र निर्मळपानीया कालिन्दी ररितां वरा । रत्नबद्धोभयती ईसपभालिसङ्कुटा । नानारासरस्तेन्यत्र यत्र गोपीकन्दम्बकम् । तत्कन्दम्बकमप्यस्यः किशोररुक्वित्पुतः । दर्शयित्वेति तं प्राह ब्रूत किं क्वयापि वः । दृष्टो मदीयो लोकोऽयं यतो नास्ति परं वरम् । श्रुतय ऊचुः । कन्दर्पकोटिलोचन्ये त्वयि दृष्टे मनास्ति नः । कामिनीभावयामास स्मरक्षुम्भानसंशयम् । यथा त्वल्लोकवासिन्यः कामतत्त्वेन गोपिकाः । भजन्ति रमणं मत्वा चिकीर्षाऽजनि नस्तथा । श्रीमभगवानुवाच । तुल्यो भुवर्षदशैव शुद्धाकं सुमनोयः । मयाऽनुमोदितः सप्यक् सत्यो भवितुमर्हति । आगामिनि विरिधे तु जाते सुख्यर्षतुषुने । कल्पं सारस्वतं प्राप्य ब्रजे गोभ्यो भविष्यथ । पृथिव्यां भारते क्षेत्रे माथुरे मम गण्डले । ह्यन्दायनं भक्तिव्यामि प्रेष्यान् वो रासमण्डले । जारवर्णेण ऋषेर्दं सुदृढं सर्वतोऽधिकम् । मयि सभ्राण्य सर्वेऽपि कृतकला भविष्यथ । इत्यत्र स्पष्टं सारस्वतकर्मश्रीकृष्णलीलाया उक्तव्यासारस्वतकल्प-दृष्टान्तबोधकमन्त्रवैवाहीऽन्तर्गतश्रीकृष्णजन्मखण्डे प्रवेशमलममानाऽप्यकल्पेभ्यन्त्यकल्पवृत्तान्ताश्रयत्वाच्च कुत्रापि प्रवेशमलममाना श्रीमद्भागवतदशमे स्पष्टं प्रतीयमाना सारस्वतकर्मवृत्तयैवेति निश्चयते । “गोभ्यो गाव ऋचस्तथा (गिराभिजा एतास्तु) आभिर्भिन्नो न वै प्रभुः । भूमा-वतारितं सर्वं वैकुण्ठं स्वर्गावासिनाम्” इति कृष्णोपनिषच्छ्रुत्याऽपि । “गोप्यश्च श्रुतयो ज्ञेया ऋषिजा देवकन्याः । मुनिकन्याश्च राजेन्द्र न मातुष्यः कथञ्चन” इति पद्मपुराणवचनेन च व्यापिवैकुण्ठ-स्यैव, श्रुतयश्च भगवता प्रकटिततया गोपीनां च श्रुतिरूपात्त्वनाऽपि कायनाच्छ्रुतीनां च भगवता गोपीभवनस्य तसाहिलेन रमणस्य च सारस्वतकल्प उक्तत्वेन श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे कृष्ण-स्कन्धे “कृष्णं च तत्र चन्द्रोदिमिः स्तुमानं सुविस्मितम्” इत्युक्त्वा “मनोरथान्तं श्रुत्वो यथा ययुः” इति दृष्टान्तरीत्याऽप्युक्तव्याशमस्कन्धोक्तचरितस्य सारस्वतकर्मपीत्यनिश्चयात् ।

पयश्च ‘सारस्वत्यास्तया कल्पो गौरीकंपरस्यैव च’ इतिवचनस्य वेदात्मकसारस्वत्या इत्यर्थः । ततश्च वेदात्मकसारस्वतीरूपगोपिकाणां प्रारुर्भयो यत्र स सारस्व इति योगीप्यसकामतुङ्कृतः । श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे “स्तुत जानासि भद्रं ते भगवान् सारस्वतं पतिः । देवर्ष्यां वसुदेवस्य जातो यस्य चिकीर्षया । तन्नः शुभ्रभगवानामनर्हस्य्वाऽनुवर्णितुम् । यस्यावतारो यूनानां क्षेमया च भवाय च” इत्यादिना श्रीकृष्णचरितस्यैव मुख्यतया शौनकादिभिः प्रष्टव्येन सूतेन “एते

चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान्स्वयम्” इति श्रीकृष्णस्यैवाऽवतारित्वमूलपुरुषत्वबोधनेन, तद-वतारनिरूपणेन, तत्कर्तृकसुष्ठिररूपणेन, तद्गतानां माहात्म्यनिरूपणेन, मुख्यतया श्रुतिरूप-गोपिकामनोरथपृच्छयैऽवतीर्णस्य तच्चरितनिरूपणेन, तत्कर्तृक्रोपदेशनिरूपणेन, “सत्ये प्रतिष्ठितः कृष्णः सत्यमत्र प्रतिष्ठितम् । सत्यास्तलो हि गोविन्दस्तस्मात्सत्यो हि नामतः” इत्युपयोग्यवैवा-क्यात् “सत्यं परं पीतामि” इत्याद्यन्तशक्येन च सर्वत्र श्रीकृष्णस्यैव माहात्म्यनिरूपणेन तदु-पयोगिनारमरवृत्तान्तवर्णनेन “सारस्वतस्य कल्पस्ये” इति श्लोकस्य विषयः श्रीमद्भागवतमेव न देवी भागवतमिति सिद्धम् । एतेन मत्स्यपुराणमते देवीभागवतं महापुराणमिति पराक्षम् ।

यत्र, शैवपुराणमते देवीभागवतं महापुराणमिति । तथाहि—शैवपुराण उचरखण्डे मध्यमहे-खरमाहात्म्ये शिवाल्हम्बवरेण व्यासेन महापुराणानि प्रणीतानीत्युक्तयन्तरे तेषां नामान्यष्टादशोक्त्वा तेषां योगरूढानां नामां विवेचनं तत्रैव कृतम् । तथाच “यत्र वक्ताऽभवत्तण्डे ब्रह्मा साक्षा-च्चतुर्भुजः । तस्माद्ब्रह्मं तमाख्यातं पुराणं प्रथमं मुने” । “तण्ड” इति त्रुनिस्मोधनम् । “पञ्च-कल्पस्य माहात्म्यं तत्र यस्माद्बुद्धाद्भक्तम् । तस्मादाद्यं समाख्यातं पुराणं च द्वितीयकम् । परा-शरकृतं यत्र पुराणं विष्णुबोधकम् । तदेव व्यासकथितं पुत्रप्रियोभेदतः । यत्र पूर्वोत्तरे खण्डे शिवस्य चरितं बह्व । शैवनेतपुराणं हि पुराणहा वदन्ति हि । भगवत्याश्च दुर्गायाश्चरितं यत्र विद्यते । तत्तु भागवतं प्रोक्तं न तु देवीपुराणकम् । नारदोक्तं पुराणं तु नारीयं प्रचक्षते । यत्र वक्ताऽभवत्तण्डे मार्कण्डेयो महात्मनः । मार्कण्डेयं पुराणं हि तदाख्यातं च सप्तमम् । अग्नि-योगसदाश्रियं भविष्योक्तमैविष्यकम् । विवर्तनाद्भक्तस्तु ब्रह्मवैवर्तमुच्यते । लिङ्गस्य चरितोक्तत्वा-दपुराणं लिङ्गमुच्यते । वराहस्य च वाराहं पुराणं द्वादशं मुने । यत्र स्कन्दः स्वयं श्रोता वक्ता राधाश्रमणहेबरः । तत्तु स्कान्दं समाख्यातं यामनस्य तु यामनम् । कौर्मं कूर्मस्य चरितं मात्स्यं मत्स्यस्य कर्षितंतिम् । गण्डस्तु स्वयं वक्ता पत्तर्द् गण्डसम्भक्तम् । ब्रह्माण्डचरितोक्तशास्त्रज्ञाणं परिकीर्त-निम्” । अत्र कश्चिद्वक्तुसम्बन्धः, कश्चिःप्रतिपाद्यमुच्यतेवनात्सम्बन्धः प्रवृत्तिनिमित्तमिति स्पष्टमेव दर्शितम् । अत्र भागवतनाम्ने निवैचनवाक्यभेदतः । भगवत्याश्च दुर्गायाश्चरितं यत्र विद्यते । तत्तु भागवतं प्रोक्तं न तु देवीपुराणकम्” इति । अनेनत्र निवैचनवाक्येन भगवत्या इदं भाग-वतमिति श्रुत्यत्या प्रथमप्रतिपाद्यमुच्यतेवनात्सम्बन्धः प्रवृत्तिनिमित्तमिति स्पष्टमेव दर्शितम् । का सा भगवतीत्यपेक्षायामाह “दुर्गाया” इति । “तत्तु भागवतमिति । तुशब्दो निश्चयार्थः । तदेव भागवतप्रदनाथं प्रोक्तमित्यर्थः । न तु पुराणात्परन्तस्तासं विष्णुभागवतम् । महापुराणान्त-रंगेतामगवतमित्यर्थ इति शैवपुराणेन स्वमतं प्रदर्शितम् । कश्चिदेतपुराणान्तरमतेन जानीयात्त-ज्ञाहं । न तु देवीपुराणकम् । पुराणकमित्यत्र कल्पस्योऽप्यर्थकः, “अल्प” इति सूत्रात् । पुराणकमर्थं पुराणमुपपुराणमिति यावत् । देव्याः पुराणकं देवीपुराणकं यदिदमुक्तं तद्व्या-ज्य उपपुराणं नैवास्तीत्यर्थः । अनेन च वाक्येनाऽप्यस्य महापुराणवनिषेधे स्वाभिप्रेत्येवमुपपुराण-वनिषेधेन श्रीप्रदेवीभागवतस्यैव महापुराणत्वं बोधयति व्यासः । मुख्यत्वेन भगवतीचरितप्रति-पादकस्य महापुराणमप्ये कस्यचित्पुराणस्य अन्यस्याऽभावः । ननु नारदादिपुराणमन्त्रबन्धवि-
८ त०६० नि० ५०८

शुभागवतस्य महापुराणान्तर्गतत्वे निर्विक्रिते निश्चिते तद्वाङ्मगावतद्वयस्य मत्तभेदेन महापुराण-
कल्पनापेक्षया यत्किञ्चिद्भगवतीचरितस्याऽभिम्बन्धनेन ग्रहणेनाऽनेन वचनेन विष्णुभागवतनाम
एव निरुक्तिः कृतेति कुतो न कल्प्यते । कर्ते च तत्र विष्णुभागवते दशमस्कन्धे किञ्चिद्विध्य-
वासिन्ध्याक्षरितमिति चेन्न, तथा सति मुनेर्विष्णुभागवतविषय एव तत्पर्यसत्त्वे भगवत् इदं भागवत-
विलेखं व्युत्पत्तिं कुर्वीन्नहि केनचिन्मुनेः शिरसि भातः स्थाणितो यस्मात्साऽभिप्रेता युक्तां निरुक्तिं
लक्ष्या निष्प्रयोजनाऽनभिप्रेतां निरुक्तिं करोति । किञ्च “यत्र पूर्वोत्तरे खण्डे शिवस्य चरितं बह्व् ।
शैवमेतत्पुराणं तु पुराणज्ञा बद्धन्ति चे”ति वचनैर्बह्व् चरितस्य मुख्यचरितसम्बन्धरूपप्रवृत्तिनि-
तस्यैवाभिप्रेतस्यैव मुनेरवसीयते । मत्तभेदेन पुराणभेदकल्पना तु नात्रैव नवीनाऽस्ति । पूर्वोक्तयुक्त्या
नारदशैववाधादिलपुराणेष्वन्याऽपि सत्त्वात् । अस्तु वा गौरवम् । नहि तद्भगवत्सत्त्वात्पर्य-
मन्यथाकर्तुं कश्चिदीष्टे । तस्मात्पूर्वोक्तं तापयै विहायान्यथाऽर्थयोग्याऽन्यथाकारणं महासाहसमेव । ननु
लक्षणवाक्यमेतत् । ततश्च दुर्गाचरितं यत्र वर्तते तद्भागवतमित्यर्थः । तत्र न देवीभागवतं भवि-
तुमर्हति । तस्य तल्लक्षणलक्ष्यत्वे “न तु देवीपुराणकर्म”ति निषेधविषयत्वेन निषेधविधयोः समान-
विषयवाचकैः । किन्तु विष्णुभागवतमेवेति चेन्न, पूर्वोक्तनिर्दिष्टवचनप्रकरणस्यविरुद्धात् । किञ्च
लक्षणवाक्यमेतदिति पक्षेऽप्येतल्लक्षणस्य महापुराणोद्देशेनैव तस्माद्दुर्गापुराणस्य प्रसक्त्यभावादेवी-
पुराणकालिकापुराणयोरुपपुराणत्वस्य निश्चितत्वात्तत्रैव तल्लक्षणस्य प्रसक्तिरेव नास्तीति “न तु देवी-
पुराणकर्म”इति निषेधो व्यर्थ एव स्यात् । तस्मादेतद्वचनस्य पूर्वोक्तं एवाऽर्थः । किञ्च, लक्षणवा-
क्यमेतदिति पक्षे यत्किञ्चिच्चरितं प्रकृतं !, उत यावच्चरितम् ? यत्किञ्चिच्चरितस्य सर्वपुराणेषु तस्मा-
देवीपुराणमात्रनिषेधेन निर्वाहः । तस्मादेवीपुराणस्यैव निषेधस्तत्रास्याथावधारितं मुख्यत्वेन भगवती-
चरितमेव प्राह्यम् । तदा तव नामीर्धार्थसिद्धिः । मुख्यत्वेन विष्णुभागवते दुर्गाचरितस्याऽभावा-
न्मग्नैव त्वमीर्धसिद्धिः । निषेधविधयोः समानविषयस्वरूपं दूषणं नैव सम्भवेति । प्रकरणत्वतात्पर्ये
निषेधे तद्विधयेव निषेधप्रवृत्तेः । बुध्नमुखवोधोपेतव्यलक्षणं गायधर्मरन्ध्रमविशिष्टमिति तदतिप्रसक्तम् ।
तस्मात्पूर्वोक्तं एतद्बचनार्थं इति तद्वचनोद्देशेवाभावात् महापुराणं, न तु विष्णुभागवतमिति शिव-
पुराणमतम् । अत्र च नियमद्वयस्य पूर्वोक्तस्य सत्त्वादिशुभागवतविषये नियमद्वयाऽमावादिदं
शिवपुराणमतमेव मुख्यम् । अन्यपुराणान्तं लैकदेशीति नियमद्वयदर्शकत्व्यासावाक्येन स्पष्टमेव
बोधितमिति सुधियो विभावयन्तिव्याह कश्चित् ।

तदसङ्गतम् । अथादशपुराणगणनायां पठितस्य भागवतस्योऽपुराणत्वाऽप्रसक्त्या निषेधस्य
प्राप्तिपूर्वकत्वेन, निषेधाऽयोग्यात् । कालिकापुराणदेवीपुराणयोरुपपुराणत्वेन महापुराणत्वनिषेध-
वत् । यदि च देवीभागवत उपपुराणत्वाद्भाषणायां निषेधसिद्धिस्तदा “नमस्कृत्य शिवा
देवीं शैवे भगवतं तथा । पुराणं सम्प्रवक्ष्यामि वयोक्तृमृगितिः पुनः” इति देवीपुराणप्रारम्भपद्ये
भागवतपददृष्ट्वा दुर्गाचरितत्वत्वाऽपि निषेध इत्यस्य वक्तुं शक्यत्वात् । यत्क्षोभयं न निषेध्य-
प्रसक्तैः । तदा तु देवीभागवते महापुराणत्वप्रसक्त्या तस्यैव निषेधः । देवीभागवतस्य निर्धूल्यवा-
दिनस्तु नञ्चिति निषेधस्य पूर्वोऽन्वयिष्यं, यत्सत्तदुपपुराणमिति हेतुर्वापि तमुपपुराणकर्मिति विशेष-

णमिति वदन्तो “नमस्कृत्य” इति वचनबलाद्भ्रंशोपाध्यायानां देवीपुराणे यो महापुराणत्व-
पुस्तकरो भागवतत्वव्यवहारात् खण्डयति । केचिच्चैवमन्वये वदन्तो देवीभागवतस्योपपुराणत्वं
साधयन्ति । परन्तुवैमन्वये प्रक्रमणितोषो दुर्बलो यतस्तत्र विभावकत्वमेव दृश्यते । ततश्चायमर्थः
“विष्णोर्मोया भगवती यथा सम्मोहितं जगत्” इति श्रीमद्भागवतदशमस्कन्धोक्तभगवतीत्वबोधेनाय
भगवता इति तत्रैव प्रमुखा “अर्चयन्ति मनुष्यास्त्वा” “नामधेयानि कुर्वन्ती”स्युक्त्वा “दुर्गेति
भद्रकाऽलीति” इत्यादिनामस्मर्द्धितत्वेन ब्रह्मकुसुमितेन चोषा “दुर्गाया” इत्युक्तम् । तादृश्या-
धरितं यत्र, चकाराद्भगवतोऽपि यत्र चरितं तद्भागवतमित्यर्थः । तथा च भगवती च भगवौश्च
भगवती, भगवतश्चरितं भागवतमिति व्युत्पत्तिः । यदि वैकवचनान्तैव व्युत्पत्तिः, प्राधान्येन
भगवत्याक्षरितमित्युच्यते, तदा चकारवैधर्म्यम् । न च “यत्र पूर्वोत्तरे खण्डे” इतिवचनेन शिव-
चरितं बाह्यत्वेन यत्र तश्चैव यथा, तथा भगवत्या दुर्गायाश्चरितं यत्र तद्भागवतम् इति बोधश्च
चकार इति वाच्यम् । “न तु देवीपुराणकर्म”मित्यस्य निषेधव्यापत्तेः । न च देवीभागवतस्यो-
पपुराणत्वव्युत्पादनेन चारितान्येति वाच्यम् । महापुराणानामन्याप्रसक्त्या निषेधाऽप्रसक्तै-
रित्युक्तम् । ततश्च “द्वितीयकं भविष्यकर्म”ति पूर्वोत्तरं दृष्ट्वा ‘पुराणकर्म’स्यत्र कपलयः
स्वार्थेऽन्यार्थप्रत्ययसमासे नञ्चिति निषेधाभ्यवस्य छिद्रत्वाच्च तस्मादेवीभागवतस्यैव निषेधः ।
अस्तुतस्तु देवीपुराणपदोद्देशादेवीपुराणापद्ये भागवतपदसत्त्वात्प्राधान्येन दुर्गाचरितत्वत्वाच्च भाग-
वतत्वप्रसक्तौ तस्यैव निषेधः । न चोपपुराणत्वं तस्येति वाच्यम् । अन्यपुराणदृष्टोपपुराणत्वोऽपि
तत्र पुराणत्वेनैवोक्तत्वात् । अत एव गङ्गेशोभाष्यानां महापुराणव्यवहारः । न च दुर्गाचरित-
त्वत्वेन कालिकापुराणेऽपिप्रसङ्गः । तस्य देवीप्रतिपादकत्वेऽपि देवीपुराणपदेन व्यवहाराभावात् ।
भागवतपदाऽनुष्ठेवात् । “यदिदं कालिकास्यं च मूर्धं भागवतं स्मृतम्” इति कालिकापुराणे
भागवतपदोद्देश इति न अस्तिव्यम् । गणनाबाधापत्त्या कालिकापुराणाद्विज्ञानेव भागवत्स्योपपुरा-
णिकस्युक्तमसम्भ्रमात् । किञ्च, “भगवत्याधेति श्लोकेन तस्य महापुराणत्वे प्रसक्तं तस्य निषेधेनो-
पपुराणत्वनिषेधः । न च “इदं भागवतं पूर्वं ब्रह्मेण नामिष्यन्ते । स्थितय भवमीत्याय का-
रुण्यसासप्रकाशितम्”इति श्रीमद्भागवतवाक्यात् । “इदं भागवता प्रोक्तं चतुःश्लोक्या सत्यम्बुवे ।
नारदाय स वै महं कृण्णाय मुनये ह्ययम् । शुक्राय विष्णुराताय स तु राशेऽभिमतम्बुवे” इति
पद्मोत्तरखण्डवाक्याच्च, “भागवता प्रोक्तं भागवतम्” इति व्युत्पत्तेर्देशेनारदः “भागवतोर्दि
भागवतम्” इति व्युत्पत्तिः कथमिति वाच्यम् । “श्रीमद्भागवतस्याय श्रीमद्भगवतस्तथा । सूर्य-
मेकमेवाऽस्ति सच्चिदानन्दलक्षणम् । श्रीकृष्णासक्तभक्तानां तन्मायुर्वैप्रकाशकम् । समुज्ज्वलति
यद्वाक्यं विद्धि भागवतं च तत् । ज्ञानविज्ञानमन्त्रव्यङ्गं चतुष्टयपरं वचः । मायामर्दनलक्ष्यं यद्विद्धि
भागवतं च तत् । प्रमाणं तस्य को वेद ज्ञानन्तस्याऽध्वरात्मनः । ब्रह्मेण हरिणा तादृक्
चतुःश्लोक्या प्रदर्शिता । तदानन्त्याऽवगाहेन स्मृतितावहनक्षमः । त एव सति यो विप्रा
ब्रह्मविष्णुशिवाद्यः” इति स्कन्दपुराणस्य श्रीमद्भागवतवचनैर्भागवतः सूरुषं भागवतम् । भगवतो

भक्ता भागवतास्त्रेषामिदम्, भगवती माया तस्या व्यावर्तकम्, भगवता प्रोक्तमिति ज्युल्यत्वयो निरूपिताः । तथैव “भगवत्याश्च” इति श्लोकेः भगवतोऽस्मिन्निमित्तं व्युत्पत्तेः सत्त्वात् ।

वस्तुतस्तु योगरूढमिदम् । “इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसमितम् । उत्तमश्लोकचरितं चकार भगवात्पुत्रिः” “इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसमितम् । अर्धोत्तमवाङ्मयापरादौ पितृर्द्वैपायनादहम्” इति श्रीमद्भागवतप्रथमद्वितीयास्कन्धव्याख्यात् । “शुक्रोक्तं विश्वपुराणाय वदस्व ब्रह्मवादिनाम् । श्रीमद्भागवतं नाम दुनयां तमसः परम्” इति पाषोत्तरखण्ड उक्तत्वाच्च । अत्र भगवता व्यासिनः “तत्राऽभबद्भगवान् व्यासपुत्रः” इति श्रीमद्भागवतप्रथमस्कन्धाध्यायवाङ्मुक्तसेन प्रोक्तमिति योगस्य भागवतं नाम श्रीमद्भागवतं नामेति रूढेद्ये स्पष्टं प्रतीयमानत्वात् । एवञ्च शिष्यपुराणमतेनाऽपि देवीभागवतस्य महापुराणत्वं नैव सिद्धम् । एतेनात्र नियमद्वयस्य पूर्वेोक्तस्य सत्त्वादिष्ट्युभागतये नियमद्वयाऽयोगस्य च भागवदिदं शिष्यपुराणमतेनैव मुख्यं अन्यपुराणमतेनैव केशरीति नियमद्वयप्रदर्शकत्वात्सायनेनेन स्पष्टमेव बोधितमिति सुषियो विभावपत्स्थिति निरस्तम् ।

यद्यपि “शैवमादिपुराणं च देवीभागवतं तथा” इति पाश्चात्त्यचरनसम्प्रदायितया “नवरात्रे तु देवेशि दौर्ग भागवतं पठेत् । जपेत्सप्तशतीं चण्डां गियमेन समाहितः” इति दुर्गातरङ्गिणीश्रुतयामलवचनेन । तथा “देवीभागवतं नित्यं पठेत्तत्राद्या समाहितः । नवरात्रे विशेषेण श्रीदेवीप्रतिवे मुदा” इति महेश्वरकुरकृत “दुर्गाप्रदीप” श्रुतेदेवीयामलवचनेन च सम्राणस्य देवीभागवतस्य सर्वभोगपुराणमप्य एव विशेषे “तत्र भागवतं पुण्ड्रं पञ्चमं वेदसमितम्” इति प्रथमस्कन्धस्य महापुराणेषु पञ्चमदिदं पुराणमित्यर्थकस्य देवीभागवतोक्तवचनस्य निरालम्बतत्त्वात्प्रामाण्यवापेक्षेर्मन्ते तस्य विषयलाभान्नाप्रामाण्यम् । तद्वचनप्रामाण्यदपि देवीभागवतमेव महापुराणमिति ।

तन्निष्पत्त्यं । देवीभागवते स्त उवाच— “शृण्वन्तु सम्प्रवक्ष्यामि पुराणानि मुनीश्वराः । यथा-
छतानि तत्पेन व्यासास्तस्यवतीसुतात् । मह्यं भद्र्यं चैव ब्रह्मं वचतुष्टयम् । अनापलिङ्गकृ-
स्माह्वयं पुराणानि ध्रुवकं पृथक् । चतुर्दशसहस्रं च मात्स्यमाद्यं प्रकीर्तितम् । तामासहस्रहत्वं तु मार्कण्डेय महाद्वतम् । चतुर्दशसहस्राणि तथा पञ्चशतानि च । भविष्यं परिसङ्ख्यातं मुनिभि-
स्तत्परद्विभिः । अष्टादशसहस्रं तु वैष्णवं भागवतं पितुः । तथा चातुसहस्रातं पुराणं ब्रह्मसङ्घ-
कम् । द्वादशैव सहस्राणि ब्रह्माण्डं च शताधिकम् । तथाऽष्टादशसहस्रं ब्रह्मैवैवमुच्यते । अतुतं
वामनाख्यं च वायव्यं षट्शतानि च । त्रयोविंशतिसहस्रं वैष्णवं परमाद्भुतम् । चतुर्विंशतिसहस्रं
वाराहं परमाद्भुतम् । षोडशैव सहस्राणि पुराणमभिप्रायिकम् । पञ्चविंशतिसहस्रं नारदं परमं
मत्तम् । पञ्चपञ्चाशत्सहस्रं पराह्वयं विपुलं महत् । द्वादशसहस्राणि लिङ्गाख्यं चातिविस्तारम् ।
एकविंशत्सहस्रं गारुडं हरिमासितम् । सप्तैव दशसहस्रं पुराणं कूर्ममपि तत् । एकाशीति-
सहस्राणि स्कान्दाख्यं परमाद्भुतम् । पुराणसङ्ख्या सङ्ख्याता निखरेण नयाऽनघ । तथैवोपपुराणानि
शृण्वन्तु मुनिसत्तमाः । सप्तकुमारं प्रथमं नारदसिंहमतः परम् । नारदीयं शिषं चैव दुर्वाससमु-
त्तमम् । कपिलं मानवं चैव तथा औशनसेतिरम् । वारुणं कालिकाह्वयं च सायं नन्दीकृतं
शुभम् । तौरं पाराशरं प्रोक्तमादित्यं चातिविस्तारम् । माहेश्वरं भागवतं वशिष्ठं च सविन्मम् ।
एतान्युपुराणानि कथितानि महानिः” इत्याद्यादशमहापुराणगणनायां चतुर्थत्वेन भागवतस्य

निरूपणात् । उपपुराणगणनायां सप्तदशत्वेनोक्तेर्देवीभागवतस्य पुराणोपपुराणबहिर्भावापत्तिरपि
“पञ्चमं वेदसम्मतम्” इत्येतस्य वचनस्य श्रीमद्भागवतपरत्वेनैव सार्थकत्वात् । मात्स्यश्रीमद्भागव-
वतादौ ब्राह्मण्यष्टादशपुराणनिरूपणे पञ्चमत्वेन श्रीमद्भागवतस्य निरूपणात् । श्रीमद्भागवते
“ब्राह्मं दशसहस्राणि” इत्यारभ्य ब्रह्माण्डं द्वादशैव त्रिंशत्पञ्चाष्टादशपुराणगणनेोत्तरं “तत्राष्टाद-
शसाहस्रं श्रीमद्भागवतमित्यते” इत्युक्तम् । अत्र पञ्चमत्वेन निरूपितस्य “दशशष्टौ श्रीभागवतम्”
इति वचनस्यैवाऽनुवादः । तस्य भागवतान्तरसत्तदेहे “इदं भागवता प्रोक्तं ब्रह्मणे नामिदं ब्रह्मे”
इत्याद्युक्तम् । अत्र “इदम्” इति पदेन भागवतान्तरत्वादासो बोधितः । तत्र भागवतमिति श्लोक
इदं पदाभावादेवीभागवतोक्तपुराणगणनायां देवीभागवतस्य पञ्चमत्वाभावाच्च श्रीमद्भागवतस्यैव सङ्घट्ट
इति निश्चयः । ततश्च ब्रह्मवैवर्ते “ब्राह्मं पाञ्च वैष्णवं च रीषं लिङ्गं सगराख्यम् । ततो भागवतं
प्रोक्तम्” इत्यष्टादशपुराणगणनायां श्रीमद्भागवतस्य सप्तमत्वेन यथा निरूपणं, तथा देवीभागवते
पुराणगणनायां चतुर्थत्वेन निरूपणम् । पञ्चमत्वेन निरूपणं तु श्रीमद्भागवतं मात्स्यदिप्रोक्त-
गणनेति बोध्यम् । देवीभागवते तु पूर्वाऽपरविशेषाभेदे वक्तुं राक्षसमिति सुषियो विभावयन्तु ।
बहूनामनुष्ठस्य न्याय्यथावत्प्रवाराहसहस्रमाहस्यस्कान्दाः नारदः त्रिंशत्पञ्चाष्टादशपुराणगणनेन गि-
त्सेन प्रसिद्धस्य श्रीमद्भागवतस्याऽन्याथात्वेन वक्तुमशक्यतया दिशोक्तवचनस्य तत्परत्वेनैव व्याय-
रवाविति दिक् ।

वस्तुतस्तु “शैवमादिपुराणं च देवीभागवतं तथा” इति पाश्चात्त्यचरनस्य, “नवरात्रे तु देवेशि दौर्ग
भागवतम्” इति यामलवचनस्य “देवीभागवतं नित्यमिति देवयामलवचनस्य चैतज्जातीयकाना-
न्यत्रचरनानां च देवीपुराणपरत्वात् । “नमस्कृत्य शिवां देवीं शर्वं भागवतं तथा । पुराण
सम्प्रवक्ष्यामि यथोक्तमृषिभिः पुरा” इति देवीपुराणाद्यप्येव भागवतपदोपादानात् । न च तथा
पदेन श्यवधानेन भागवतपदं न पुराणविशेषणम्, किन्तु शर्वत्वेति पूर्वमुक्त्वाविति वाच्यम्,
शाब्दिकस्यवधानस्यवित्किंस्कारत्वात् । शर्वस्य भगवद्भक्तत्वेऽप्यत्र तथा प्रतिपादनस्य प्रयोजना-
भावादर्थोक्तिर्यथाच । पूर्वाऽपरानस्याष्टादशपुराणात्प्रतीत्यखण्डने तात्पर्यम् । अत एव श्रीपुर-
णोचमचरुणैर्भवत्या इदमिति व्युत्पत्तेः काल्पनिकवचनङ्गीकृत्य “नमस्कृत्य शिवां देवीमिति-
श्लोकस्य भागवतपदस्य शर्वविशेषणत्वेन समर्थनोत्तरं श्रीमद्भागवतस्य देवीपुराणोपजीवकत्वात् ।
“अनित्यत्वं मनुष्यास्तां सर्वदाभयंश्चरीमि”त्यादिदशसहस्रमभिप्रायस्य देवीपुराणे दर्शनात् ।
अत एव “यथोक्तमृषिभिः पुरे” इति कृषिप्रोक्तवचनमुपपुराणलिङ्गत्वमपि उच्यते । “अष्टादशपुराणानि
श्रुत्वा सखन्तीसुतात् । अन्याऽन्यपुराणानि मुनिभिः कीर्तितानि तु” इति सूतसंहितानाम्ब्यात् ।
शुन्दरखण्डे गङ्गेशोपाख्यानां यो देवीपुराण महाभागवतत्वव्यवहारः सत्यस्योपपुराणस्य महापु-
राणत्वमर्थकत्वेन, तेषां श्रद्धातिशयमेव च साम्प्रयोगिकानां चतुःषष्टिव्यवहारवत्पूर्वार्थ एवेत्युक्तम् ।
बहुभिः प्राचीनार्थोचननिबन्धकारैर्देवीभागवतस्य उत्राप्यनिरूपणानिर्मूलत्वमेव । भवतां तोषाय
समूहताऽस्तु, नास्माकमाश्रयो व्ययस्याया दर्शितत्वाविति दिक् ।

न च श्रीमद्भागवतेऽपि कस्यचिद्दिष्टिमुखस्य गोपदेवकृतत्वेन निर्मूलत्वशङ्कोदेतीति वाच्यम् ।
स्कान्दे श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये “परिच्छिन्नकत्वादादो वोऽस्ती व्यासेन वर्णितः । ग्रन्थोऽष्टादश-

साहस्रः सोऽसौ भागवताऽभिः” इत्युक्ते । “मरीचे शृणु वक्ष्यामि वेदव्यासेन यत्कृतम् । श्रीमद्भागवत नाम पुराणं वेदसमितम् । तद्वादशसाहस्रं श्रीर्तितं पापनाशनम् । सुरपाप-रूपोऽयं स्कन्धैर्द्वादशभिर्भुतः । भगवानेव विभ्रन्द विश्वरूपी समाहितः । तत्र तु प्रथमस्कन्धे सुतपूरीणां समागमे । व्यासस्य चरितं पुण्यं पाण्डवानां तथैव च” इत्यादिना द्वादशस्कन्धानामनुकर्मणिकारूपकनारदोक्तेश्च “द्वादशस्य पुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः । नातवामनसस्तोषे भारतेनाऽपि भागिनि । चकार संहितामेकं श्रीमद्भागवतीं पराभि”ति पाण्डवाक्याच्च व्यास-कृतत्वेन स्पष्टमुक्त्वात् । पात्रे चोत्तरखण्डे “इदं भगवता प्रोक्तं चतुःश्लोक्या ख्यम्भुवे । नारादय स वै महं कृष्णाय सुनये ह्यहम् । शुक्राय ब्रह्मराताय स तु राज्ञेमिमन्यवे” तथा “शुक्रोक्तं विष्णुराताय सदसि ब्रह्मवादिनाम् । श्रीमद्भागवतं नाम बुनध्वां तमसः परमि”ति । एतदेव लक्षणं वारहेऽपि परीक्षितः शापकथनसङ्गे श्लोकान्तरेणास्ति । तथा “प्रन्योऽष्टादशसाहस्रो द्वादश-स्कन्धसम्मितः । परीक्षिच्छुक्रस्तन्वादः श्रीमद्भागवताभिः । पुराणेषु तु सर्वेषु श्रीमद्भागवतं परम् । यत्र प्रतिपदं विष्णुर्गोवते बह्वर्षभिः । इति सङ्ख्येय मनसा श्रीमद्भागवताभिधम् । जन्माद्यस्य यतश्चेति धीमहन्तमुपावददि”त्यादिपूर्वापरापञ्चनबोधितानां भगवद्ब्रह्म-ब्रह्म-नारद-नारदव्यास-व्यासशुक्र-शुक्रपरीक्षिस्तम्वादत्यादिविशेषाणां श्रीमद्भागवत एवोपलभ्येन बहिर्मुखशङ्काया एवाऽनुदयात् । रामाश्रमात् दुर्जनमुखचपेटायां बह्विधयुकोऽहं तास्ततो ज्ञेया विस्तरमिधेति नानुशन्ते ।

श्रीमत्पुरुषोत्तमचरणस्तु श्रीभागवतस्वरूपविषयकशङ्कानिरासवादे केपाब्धिदन्वजवनजातस-ङ्गानां सकलप्रमाणमौलिभूतवेदफलभूते श्रीमद्भागवतंऽर्वाचीनत्वशङ्का, सा तु “त्रयो वेदस्य कर्तारो मुनिभागडनिशाचराः” इति तथाप्राप्रणीतकारिकोक्तसर्पिणमुसरतो माध्यमिकमतम-प्यास्ते । यदि तथा त्पात्तदा महात्तः प्रामाणिका निवन्धकर्तारः स्वस्वग्रन्थेषु सम्मति न दद्युः । काऽस्ति सम्मतिरिति चेत्, अवधेहि-प्रथमं तावच्छङ्कराचार्यकृते चतुर्दशमतविवेके ‘परमहंस-धर्मां भागवते पुराणे कृष्णेनोद्भवोपदिष्टः” इति पुराणनाम गृहीत्वोक्तम् । पाण्डसहस्रनामटीकायां वचनाभ्येव बहूनि तत्र लिखितानि । तथोपदेशशालक्याष्टीकायां समाप्तौ श्रीभागवतं लिखितमस्ति । तथा समन्वसप्रदीपनाञ्चि प्राचीनगौडकृते स्वर्णनिवन्धे “शतसोऽय सङ्ख्यैश्च किमन्यैः शास्त्र-सङ्घैः । गृहे न तिष्ठते यस्य शास्त्रं भागवतं कली । कर्मा राः वैष्णवो ज्ञेयः शास्त्रं भागवतं कळौ । गृहे न तिष्ठते यस्य श्रपचादधिको हि सः । इत्यादिसकन्दचर्चैर्गृहे श्रीभागवताऽयमं दोषं प्रदर्श्ये कलिदोषतः पावित्र्याय कतिविच्छ्रीभागवतवचमानि लेख्यानीत्युक्त्वा भूपतिः श्रीभागवतवचांसि लिखितानि । तथा हेमाद्रिततदानखण्डकालनिर्णयादिषु कलिचर्मनिर्णये च ‘कलिं सम्भाजयन्त्याधी गुणज्ञाः सारभागिनः । कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तवन्धः परं जनेत्” इत्यादीन्युदाहृतानि ।

१ तथा “प्रन्योऽष्टादशसाहस्रो द्वादशस्कन्धसम्मितः । परिक्षिच्छुक्रस्तन्वादः शृणु भागवतं च तत्” इति पाठोक्तिः ख्युल्लेके चतुर्थचरणमात्रव्याख्यातेन लब्धः ।

एवं प्रकृत्यात्कीमुदीकृता रामचन्द्राचार्यस्य पुत्रेण, नृसिंहाचार्येण च कालनिर्णयदीपिकावि-वरणे भागवत इत्युक्त्वा ‘आचार्यं मां मिजानीयदिति देवपूजाप्रकरणे चाप्यो विष्णुः सितरक्तपी-तासिततनुः कृष्णकृत्वाणामभिर्हंसचौरित्सत्र ‘कृतं त्रेता द्वापरं च कलिरिखेडु केशवः । नाना-वर्णाभिःकारो नानिव विधिनैक्यते”इत्यादीनि लिखितानि । तथा विद्यानिवासमहाचार्यकृतसम्भ-रितमीमांसायुगे स्मार्तनिवन्धे ‘देवार्थिभूतातद्वृणां पितृणां न किङ्करो नायमृणी क राजन्” इति, ‘स्वोपयुक्तमन्धे”त्यादीनि समल्यर्थं लिखितानि । तथा मधुसूदनसखरतीभिरपि भक्तिरसायने श्रीमद्भागवतवचचार्येणोपनिबद्धानि । तथा जन्माद्यस्य यत इत्यादिश्लोकत्रयस्य मधुसूदनसखर-तीकृता टीकास्ति । भगवद्गीतायाः सप्तमाऽध्यायव्याख्याने च जीवार्थविश्वन्धके ‘वैवात्मनः प्रयुरिःसितसमस्कन्धीयं वाक्यं च लिखितम् । अयान्म्यपि च तीरमुक्तदेश्यविष्णुपुरीनाम्नाऽपि मत्परत्वात्कल्यां नवधा-भक्तिनिरूपणाय श्री...वृत्तीयान्येव तत्र तत्र प्रदर्शितानि वाक्यानि ।

एवं काश्मीरदेशीयक्षेमेन्द्रनाम्ना क्षेमेन्द्रप्रकाशायुगे स्वनिवन्धे ‘स्वोपयुक्तं”त्यादीनि लिखि-तानि । तथा निर्णयसिन्धो व्यासनजयन्तीनिर्णयेऽष्टमस्कन्धीयं “श्रोणायां श्रवणद्वादश्या” मित्यादि-लिखितम् । भगवद्भक्तके श्राद्धमयूले श्राद्धे मांसनिषेधकं “न दद्यादामिषं श्राद्धे” इति सप्तमस्क-न्धीयमलेखि । मधुःजिदीक्षितकृत्यायां चतुर्विंशतितमस्योक्त्यायां चारकाण्डे तर्पणोत्तरं “पूजानिर्ण-येऽपि भागवतेऽप्येवमेवेकोमि”त्युक्तम् । “पूर्वाऽस्मिन्तयाऽऽयमः” इति “उदाहाऽऽऽहने न स्त” इति चोक्तम् । नागोजीभृतेनापि सप्तशतौष्याह्वयायां “वेदिकस्तास्त्रिको मिश्रः” इत्येकादशस्थवच-नमलेखि । अत एव प्राचीनाऽर्वाचीनानामादेशीयनिवन्धकर्तृभिर्निर्घटयति ये न पश्यन्ति ते चक्षुष्म-तोऽप्यन्या इति दिग्विस्तारः । एवञ्च श्रीमद्भागवतस्याऽनेकपुराणवचनैर्योऽसकृत्त्वेन निरूपणात्त-त्क्याऽनुवादेन चाप्रामाण्यशङ्काऽनुत्पन्नाऽद्विविधनिवन्धकारैरारादर्शनीयत्वेनोपेक्षितत्वगन्धाभावाच्च न कोऽपि शङ्कावकाश इति ।

न च श्रीचरैत एव भागवतं नामाऽप्यदिति न शङ्कनीयमिति कपमुक्तिरिति वाच्यम् । तत्र केपाब्धिचन्द्रादितरयेन पूजायै भागवतवचनहरोऽपपुराणपरत्वात् । उपपुराणस्य देवीपुराणस्य तथा प्रसक्त्या तन्निषेधात् । “यत्राधिकृत्ये”त्यादिलक्षणोपन्यासेन तद्विद्विबोधकोऽत एवैत्यो-क्त्यात् । युक्तं चैतत् । जैमिनिना वेदानां काठककौमुद्यादिसमाख्यावशेन पौरुषेयत्वमाशङ्क्य तत्समाधानवदाचारमाधने स्थुतीनामप्रामाण्यमाशङ्क्य तस्मिन्सकृत्पुण्यनिखननन्यायेन दृढीक-रणस्यावश्यवत्त्वादिति श्रीपुरुषोत्तमचरणैरेव समाहितत्वात् । एतेन देवीभागवतसमा निषेध-प्रतियोगित्वेन बोधिता श्रीचरैरिति निरस्तम् । “यत्राधिकृत्ये”त्यादिलक्षणवाक्यस्य हेतु-त्वेनोपन्यासात् । देवीभागवते तु “यत्राधिकृत्ये” इत्यादिलक्षणसमन्वयस्य यथाकथञ्चित्कै-चिदर्शितत्वात् ।

शिक्षते, देवीभागवतस्य सम्युक्ततया उपपुराणानि विविच्यन्ते । अष्टादशपुराणान्तर्गतवसाविका युक्तयो निरस्ताः । अथे च निरसनीयाः । तत्रोपपुराणानि सत्त्वक्षणाणि मास्य एव कापिचिद्-

भगवान् विष्णुरन्वय ईश्वरः" इत्याद्युक्त्या पुराणमवतारं तत्र द्वेषा सारं बद्रत्नसङ्गतो मन्थान्ते 'गीतासारं प्रवक्ष्यामि सर्वगीतोत्तरोत्तरम् । कृष्णोऽयमर्जुनापाह' इति प्रतिज्ञाय 'देवी शेषा गुण-मयी' 'यस्य' जाग्रति भूतानि' इत्यादीनि कतिचित्पद्यान्वेष्योक्तवान् । अर्थमात्रोक्तौ तु पद्यानि न वदेत् । अतो भारतीचरमाहित्यमात्रेणैवाऽपि सिद्धयति । एवञ्चाष्टादशपुराणानीति वाक्यस्यैवाऽस-ङ्गतत्वापत्तिश्च । अतः पौर्वापर्यं न विवक्षितमाष्टादशपुराणानि इति श्लोके इति बोध्यम् ।

यदि योगबलेनादावेवादिप्राकल्पीयं वाऽवादि इति नानेन भारतीचरत्वरत्नसिद्धिस्थेन वाक्य-स्याऽपि नासङ्गतिरित्युच्यते, तर्हि प्रकृतेऽपि तौल्यात्परिहृत एव भवता विरोध इति न ते वक्तुमवकाशः । ननु व्यासस्याऽपरितोषाऽसङ्गतेरिति चेत्, न, प्राकल्पीयव्यासापरितोषा-नुवादात्प्राज्ञपि शक्यवचनत्वादिदि पुरुषोत्तमचरणाः । एवमनङ्गीकारे पाद्यस्कान्दान्दानीयवा-रहादीनां श्रीमद्भागवतमाहात्म्यप्रतिपादकामसाष्टादशतो बहिर्भावात्पत्याऽष्टादशपुराणानीति श्लोकस्यैवाऽसम्भवापत्तेः ।

किञ्च, पात्रोक्तस्य 'दशसप्त पुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः । नातवाग्मनसस्तोषं भारतेनापि भागिनि । चकार संहितामितां श्रीमद्भागवतीं पराम्' इति वचनस्य सप्तदशपुराणोत्तरं भारतनिर्मा-णबोधकस्य विरोधापर्या 'अष्टादशपुराणानो'त्याऽष्टादशशब्दोऽष्टादशसमीपसप्तदशसङ्ख्या-परपौर्वापर्याऽभावाविवक्षापरो वेति ज्ञेयम् । न चात्र पाद्यवचने सप्तदशपदं लक्षणया अष्टादश-त्वबोधकमिति वाच्यम् । पात्रे श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये श्रीमद्भागवतकथाश्रवणाय समागतानां 'वेदान्तानि च वेदाश्च मन्त्रास्तत्राणि संहिताः । दशसप्तपुराणानि षडशाखाणि समायतुः' इत्युक्तौ सप्तदशपुराणानां कथनस्य विरोधापत्तेः । अथवा सप्तकण्ठसूक्तान्ताश्रये मात्वे तपुरुष-वृत्तान्ताश्रये च स्कान्दे 'अष्टादशपुराणानि' इत्यस्य वचनस्य सत्त्वाच्छ्रीमद्भागवतस्य तु साख्यतक-ल्पीयवृत्तान्ताश्रयस्य सत्त्वात् शङ्काश्लेषः । एतेन अवोरकण्ठवृत्तान्ताश्रयस्य भविष्यपुराणस्य 'अष्टादशपुराणानि अष्टौ व्याकरणानि च । हात्वा सत्यवतीसुतश्चक्रे भारतसंहिताम्य' इति वचनस्य न विरोधः । अत एव परस्परं पुराणेषु विरोधे कालभेदेनैव समाधानं सङ्गच्छते । अत एव विष्णु-पुराणे मायासोहान्तात्मकपुरुषस्य विष्णुना 'स्रशरीरात्प्रादितस्य बौद्धावतारवस्तुक्रमः । 'मायामोह-स्ररूपोऽती बुद्धो दनुसुतोऽनन्वत्' इति आश्रय उक्तम् । श्रीमद्भागवत्ते तु 'बुद्धो नाम धान्मि-सुतः कीटकेषु भविष्यती' इत्युक्तं न विरुद्धयते ।

यदा, भविष्यपुराणवचने व्याकरणसाहचर्याच्छतकोटिप्रवृत्तपुराणान्तर्गताष्टादशसजातीय-वाक्यसमूहस्य ग्रहणम् । नानाविधसुश्रवणवचनानाविधाऽर्थस्य भारत उपनिबन्धनीयतया तन्ना-नस्याऽऽन्यस्यकत्वात् । तेनाऽष्टादशपुराणानि न सक्तुं कानि । शतकोटिप्रवृत्तस्रज्ञानेनैव चारि-तायान्नैतज्ज्ञानस्याऽऽन्यस्यकतया तत्कथनानुपयोगात्सार्थताऽऽपदकत्वाच्च । ततश्चेतद्वचनैक-वाक्यतया शतकोटिप्रवृत्तपुराणान्तर्गताऽष्टादशसजातीयवाक्यसमूहं रूपगण्यष्टादशपुराणानि मनसि क्लृप्तेत्यर्थं वा । यथाग्रहेणाऽष्टादशपुराणानि व्यासकृतान्येवाऽऽसिन्द्ये गृह्यन्ते तदुत्तरं भारतमिति क्रम इत्युच्यते, तदस्तु; "ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः सिद्धा कर्मो

व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमितिहासपुराणं न्यायो मीनांसा धर्मशास्त्राणि" इति मुण्डक-श्रुतौ । "वाचा वै सत्राद् बन्धुः प्रज्ञायते । ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वान्निरस इतिहासः पुराणम्" इति "अस्य महतो भूतस्य निश्चसितमेतन्नवेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वान्निरस इति-हासः पुराणम्" इत्यादिबृहदारण्यकश्रुतौ "ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः आधर्वण्यश्रुतय इतिहास-पुराणं पञ्चमो वेदानां वेदः" इति छान्दोग्यश्रुतौ च "इतिहासपुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते" इत्याचनेकवाक्येषु चेतिहासपुराणयोः कर्मणः । दुर्बारः स्यात् ।

न च शब्दक्रमादर्पक्रमस्य वलीयस्वापुराणोत्तरमितिहास इति वाच्यम् । निःशसितक्रमाग्र-वन्मतया तदावक्तुमशक्यत्वात् । शब्दक्रमे षपि सति तथा कल्पनीयम् । अत्र त्वाष्टादशपुरा-णानीत्यस्यार्थो निरूपितदिशासम्भवक तथा बोधयतीति । अत एवेतिहासपुराणानीति गृह्यमाणे सङ्गत्वं भवति । अथवा "सर्वोप्येव पुराणानि कथितानि नर्यम । द्वादशैव सहस्राणि प्रोक्ताणिह महर्षिभिः । पुनर्बुद्धिं गतानीह आह्वयानिर्बुद्धिर्नृपैः" इति भविष्यपुराणप्रथमाध्याये सर्वपुराणानां पूर्वं द्वादशसहस्रश्लोकसङ्ख्याकत्वेन निरूप्येतेन द्वादशसहस्रश्लोकसङ्ख्याकश्रीमद्भागवतस्य पूर्वं प्रादुर्भावितावेनाष्टादशपुराणान्तर्गतत्वे सम्पन्ने भारतीचरं नारदोपदेशेन "न तथा वासुदेवस्य मदिग्यं शतवर्णिगतः" इति प्रथमस्कन्धवचनेन सामान्यतया श्रीमद्भागवतस्य पूर्वं निर्माणसिद्धेः पश्चात् "त्रिक्रियोगेन मनसि सम्पक प्रणिहिते मले । अपवस्तुरुषं पूर्णं मायां च तदुपा-श्रिताम् । तथा सम्मोहितो जीवः" इत्यादिसिद्धान्तं समाधातुं कल्प्याऽष्टादशसहस्रसङ्ख्याक-श्रीमद्भागवतस्य करणात् ।

न च भविष्योक्तवचने "महर्षिभिः प्रोक्तानि" इति श्लोकेनोपपुराणत्वबोधनार्थे यथा स्कान्द-नित्यादिना स्कान्दभविष्यपुराणोऽष्टादशपुराणोक्तकान्दभविष्यसङ्ख्यातौ भिन्नसङ्ख्याविशिष्टबोधनात् द्वादशसहस्रसङ्ख्याकत्वेन पूर्वं, पश्चाद्बुद्धिरिति कथनमुपुराणपरमेवेति वाच्यम् । "सर्वोप्येव पुराणानि" इत्यत्र सर्वोणीति कथनादेवकाराच्च पुराणोपपुराणानां सर्वेषां सङ्ख्यादः । "महर्षि-गवत्प्रासः" इत्यादौ महर्षिवचस्य व्यसोऽपि प्रसिद्धत्वेन व्यासकृतान्ताऽप्यकथितानि पूर्वं द्वादशसहस्राणि, पुनर्बुद्धिं गतानीत्यर्थेऽप्यत्र । अन्यस्य स्कान्दभविष्योस्तुपुराणत्वमेव सङ्ख्यानि-दात् । दृष्टान्तस्तु विवक्षितेकानदेशलेनाऽपि निवेदति । एवञ्च प्रथमस्कन्धे "लोकस्याऽऽजानतो विद्यांश्चे सान्तसंहिताम्" इत्यनेन पूर्वं सान्तसंहितानिर्माणविलयगम्यते । ततश्च "स संहितां भागवतीं कृत्वाऽनुक्रम्य चारमजम् । शुक्रमध्यापयामास निवृत्तिनिरतं मुनिम्" इत्यनेन सात्वत-संहितां भागवतीं भगवत्प्रधानां भागवत्प्रधानां वा कृत्वा । यदा पूर्वं पञ्चमत्वेन प्रसिद्धं भागवतं द्वादशश्लोकसहस्रात्मकं कृतमेव । तं भागवतीं भागवतस्यैव तद्बुद्ध्यात्मकाष्टादशसहस्रसङ्ख्याकां कृत्वा । यदा पूर्वं भागवतीं संहितां कृत्वा पश्चादनुक्रम्य प्रथममारभ्याऽनुक्रम्येत्स्येषां शब्दोदयः । अनुक्रम्येत्स्यस्य शोधविलेख्यं श्रीपरोदय ऊचुः । श्रीऽयासचरणां शोधनस्य न लौकिकसरणिः, किन्तु समाच्यतुभूतपदार्थानामनुक्रम्येत् तत्त्वात् ।

ननुतस्तु, बहुभिः शिष्टैः 'परजति बुधि कृञः' इति योगविभागात्कनपि कृत्वेति निष्पा-

याऽष्टादशपुराणानि यः कृतवान् स भारतं चक्रे इति व्याख्यातत्वाविर्देशेन कर्तृकर्मणोरिति पष्ठमा अनिलत्वात् । अत एव 'धार्तराजोदसुत्तम्' इति भण्डिरिति दीक्षिताः । यदि स्वामोदं गृहीत्वा धार्तरिति व्याख्यायते जयमङ्गलारीत्या तदेहाऽपि तदीत्येव विभूत्येति अध्याहारेण तेषां पुराणानां कृत्वा कर्तेति व्याख्यानादयथाऽन्यभ्योऽपि दृश्यन्त इति था कनिष्क, पृष्ठी तु न तदर्थ-मिति न दोषावकाश इति दिक् ।

दामोदरशाधिपणस्तु पूर्वोक्तशास्त्रमुपाय देवीभागवते तृतीयस्कन्धे "वेदः शाखाः पुराणाणि वेदान्तं भारतं तथा । कृत्वा सम्मोहसम्भ्रदोऽभवत् राजन् मनस्यपि" इत्यादि भारतोत्तरं सम्भ्रदो व्यासो देवीमाहात्म्यं ज्ञातवानित्युक्त्या देवीभागवतस्याऽपि भारतोत्तरत्वं प्रतीयते । तत्र देवीभागवतस्याऽष्टादशान्तर्गतत्वपक्षेऽप्युक्तमात्मव्याख्यानं विरुप्यत इति त्वपक्षेऽप्येव दोषस्तस्य एव । यदि वोकमात्मवचनं पुराणानि चतुर्लक्षणि, भारतमेकलक्षं, रामायणं लक्षपादसङ्ख्यं, "एवं सपादाः पञ्चैते लक्षा मूलं प्रतिष्ठिताः" इति सङ्ख्याप्रकरणस्यासङ्ख्येयस्वरूपमात्रपदम् । न तु सङ्ख्याऽनपेक्षितक्रमपरतो न भारतेऽन्यत्रमस्य वचनस्य वाचकम् । स्थाय्यप्राग्व्यस्योः स्थाय्यपरस्यैव प्राक्ख्यादित्युच्यते । यदि भारतपूर्वकृतिर्मनसा पश्चात्कृतित्तु बागिन्द्रियेणेति भेदाद-विरोध इत्युच्यते तदाऽऽत्मवचनेऽपि न दोष इत्याहुः ।

अत्र केचित्, मन्मते तदानीं ग्रन्थो नैव जातः । किन्तु जन्मेजयं प्रत्येवं वक्ताऽस्मीति ज्ञान-चक्षुषा ज्ञात्वा भारतापूर्वमेव देवीभागवतं कृतमित्यर्थस्य कल्पनात् । त्वन्मते तथा कल्पयितुं न शक्यते । अतः श्लोकीभागवतोपदेशस्य जायमानत्वात् । उपदेशपूर्वकं तज्ज्ञानाऽभावव्यवस्थां कल्पनीयत्वात् । यदि तत्रापि पूर्वं व्यासस्य ज्ञानमस्तीति स्वीक्रियते, तथा बह्व्यपानः सर्वोपर्य-वादः स्यात् । ततश्च ग्रन्थसारस्य भङ्गप्रसङ्ग इत्यास्तां तावदित्याहुः ।

तन्निवृत्त्यम् । जन्मेजयं प्रति वक्तव्यं न व्यासस्य, किन्तु वैशम्पायनस्य । यदि जन्मेज-यवैशम्पायनसम्वादात्मकं भारतं करिष्यामीति ज्ञानचक्षुष्टत्वं मन्मते । तदा देवीभागवतं करिष्या-मीति ज्ञानचक्षुष्टत्वेन देवीभागवतापूर्वं देवीमाहात्म्यज्ञानस्य सिद्धतया "सम्मोहसम्भ्रदः" इत्यस्य विरोधोऽनिवार्यः । कलाप्रत्यायार्थस्य च यदि तर्जिनीहाय पूर्व मनसा कृतिः पश्चाद्वाच्येतीति कल्प्यते, तदा दामोदरशास्त्रिभिरुक्तमिति न ततः कश्चिद्विरोध इति ज्ञेयम् । अष्टादशपुराणानी-त्यस्य योऽर्थस्तमनोचाम, विस्तारस्ततोऽवधेयम् ।

किञ्च, पापे श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये श्रीमद्भागवतकथाश्रवणाय समागतानां परिगणनप्रसङ्गे 'वेदान्तानि च वेदाश्च मन्नास्तत्राणि संहिताः । दशसप्त पुराणानि पदं शाखाणि समायुतः" इत्युक्ती सप्तदशश्लोकिः श्रोतव्यस्य श्रीभागवतस्याष्टादशस्यं बोधयति । तस्याऽष्टादशाऽन्तर्ग-तत्वे देवीभागवतस्याऽष्टादशान्तर्गतत्वेऽष्टादशानां श्रोतव्यत्वमेव श्रोतुमागतानां पुराणानां सप्तदशश्लोकेर्नर्बीजत्वप्रसङ्गात् । एवं पापे "दशसप्तपुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः । नासवान्म-नसलोपं भारतेनाऽपि भासिनि । चकार संहितामेतं श्रीमद्भागवतीं परम्" इति सप्तदश-

श्लोक्तिरपि श्रीमद्भागवतस्यैव "एतां संहिताम्" इति निर्दिष्टस्याऽष्टादशस्यं गमयति । देवीभागवत-स्याष्टादशत्वेऽष्टादशपुराणानीत्युक्तेर्नर्बीजत्वप्रसङ्गादित्यपि दामोदरशास्त्रिणा आहुः ।

अत्रापि, यत्तु, तेषामेव वचनेनैव विष्णुभागवतस्याऽष्टादशपुराणान्तर्गत्वं न सिद्ध्यति, किन्तु देवीभागवतस्यैवेति वार्धेपिकत्वं कुर्वाणो मूलमेव विनाशितवान् इति न्याय आपतितः । तथा हि—भारतं व्यासमुक्त्वाच्छ्रुतं, तत्र सन्दिहानः श्रोत्रकिर्माकण्डेयं प्रत्यागल सन्नेहं प्रष्टवान् । तथा मार्कण्डेयो मार्कण्डेयं पुराणमुक्तवान् । तदुक्तं मार्कण्डेयपुराणे "तदिदं भारताख्यानं बहयं श्रुतिविस्तरम् । तत्रतो ज्ञातुकामोऽहं भगवन्तपुरापसितः" इति । तथाच पूर्वोक्तवचनमध्ये षोडशश्लोक वक्तव्ये सप्तदशश्लोक्यादेवीभागवतमेव महापुराणम् । अन्यथा सप्तदशश्लोकेर्न स्यात् । तस्मात्तद्वचनप्राग्व्यादेवीभागवतमेव सिद्ध्यति । न तु विष्णुभागवतम् । भारतापूर्वं सप्तदशमश्री-यमाभवतसहितानिः (१) मार्कण्डेयमहादशमभयमितसिद्धमेव । विष्णुभागवतस्य भारतोत्तरं जायमानत्वेन तन्मध्ये तस्यावस्थानस्यलज्जामादित्येन खपनेनाऽपि दोषाभावादिति ह्यपि यो विभावयन्तिविति ।

सदमनोरमम् । अष्टादशसु पुराणेषु देवीभागवतस्य प्रवेशयैवं षोडशत्वे प्रतिपादिते पूर्वोक्त-त्याऽऽग्नेयस्याऽपि भारतोत्तरोपादानेन पञ्चदशत्वे सम्पन्ने देवीभागवतप्रवेशेऽपि षोडशस्यैव सिद्ध्या सप्तदशत्वासिद्धेः "अष्टादशपुराणानि कृत्वा" इति श्लोकस्यासङ्गतेः, तस्मात्पुराणानां प्रादुर्भावे वीर्थापर्यस्याऽऽलियक्षयेव निर्वहोऽप्यथा न सिद्ध्यतीति पूर्वोत्तरोपादानेन बोधयम् । किञ्च, भवदभिमत्या भारतापूर्वं षोडशस्य सिद्ध्याऽपि "रतोत्तरत्र प्रसिद्धस्य मार्कण्डेयस्य श्रीमद्भागवत-श्रवणायामनेन वाचकाऽनाज्ञात् । येन भवदभिमत्तं भवेत् । पञ्चपुराणे षडध्यायश्रीमद्भागवत-माहात्म्ये स्तृतीयाध्याये सनत्कुमारपद्यो पदा श्रीमद्भागवतकथामात्रम्याय समुपुण्यतदा "धृवा-दयः समाजग्मुः" इत्युक्तम् । तन्मध्ये दशसप्तपुराणान्यायदित्युक्तम् । अत्र च पष्ठाय्याये "आक्रुण्णिर्गामात्रिशदार्थोपिभ्रगते काले । नभगीतो नभस्ये च कथारम्यं शुकोऽकरोत् । परि-शिक्षुष्यान्ते च काले वर्षशतद्वये । शुद्धे शुचीं नभस्यां च भेजुजोऽकथयत्कथाम् । अस्मादपि काले याते त्रिंशद्वर्षशताधिकम् । ऊजुरुजं सिते पक्षे नभस्यां ब्रह्मणः सुतः" इत्युक्तम् । अत्र सनत्कुमारकथनसमये सकल्पपुराणानां पूर्वमेव सिद्धतया मार्कण्डेयपुराणस्याऽऽगमनेन कारणाभावे सिद्धे षोडशश्लोके वक्तव्ये सप्तदशश्लोकिर्देवीभागवतं महापुराणं बोधयतीत्युक्तिः खसन्तोपया, न विद्वद्व्यसन्तोपायेल्लम् ।

किञ्च, "वैश्वं नारदीयं च तथा भागवतं शुभम् । गारुडं च तथा पाथं वाराहं शुभदर्शिनं । सात्त्विकानि पुराणानि शुभानि" इत्युक्त्या । "स चाद्यमं माल्यकौर्मं समाह्वयं च आहुः सात्त्विकं मध्यमं च । विष्णोः पुराणं भागवतं पुराणं सत्रोत्तमे गारुडं चाह्वार्याः" इति गारुडोक्त्या च भागवतस्य सात्त्विकत्वं पुराणानां विष्णुराज्यसुक्तमते विष्णुराज्ये भागवतमहादशान्तर्गतं, न तु देवीभागवतम् ।

किञ्च, स्कान्दे प्रभासखण्डे "चतुर्भिर्मगवान् विष्णुर्द्वौर्न्यां त्रसा तथा रविः । अष्टादशपुरा-

गेणु शेषेण भगवान् भवः" इत्युक्तम् । स्कान्दे सौरसंहितायां च "कथ्यते दशभिर्विप्राः पुराणेः परमेश्वरः । चतुर्भिर्भगवान् विष्णुर्द्राव्यां ब्रह्मा प्रकीर्तितः । एकेनास्त्रितयैकेन भगवैश्चण्डमास्करः" इत्युक्तम् । ततोऽपि विष्णुपरमेव सार्विकोत्तमं भागवतमष्टादशान्तर्गतं, न तु देवीभागवतमिति निश्चीयते इत्यन्यामपि श्रीमद्भागवतस्याष्टादशपुराणान्तर्गतत्वात्पि कां युक्तिं दामोदरशास्त्रिणो भव्ये अजापां

अजापि यदिदमनुयते तदसत्, स्वमते भास्व्योकासार्विकराजसतामससङ्कीर्णपुराणे अथे अजापां व्यवस्था पूर्ववचनैस्त्वयोक्ता सङ्कीर्णपुराणां तु नोक्ता केयुःपुराणेष्वन्तर्भव इतिवदन् करिष्यामि कुत्रचिदिति चेन्मन्मतेऽपि भगवत्या विष्णुसक्तिवाभिधानेन मन्त्राभिधायित्रीं देवतां वन्दयानो दुर्गां दुर्वाषेष्वान्तमासुपुरं चेतिक्रमदीपिकोत्पकारेण विष्णुमन्त्राणां दुर्गाया अपिष्ठारत्वेन तयोरेक्याद्वा तदप्रतिपादकभागवतस्य वैष्णवेष्वेवान्तर्भावात् । अत एव "हरिद्रोम्यां रविद्रोम्यां द्राव्यां चण्डीविनायकी । द्राव्यां ब्रह्मा समाख्यातः शेषेण भगवान् शिवः" इति वचनं सङ्गच्छत इत्याह । तदसत् । भास्व्ये कल्पानुक्रमम् "सङ्कीर्णस्तामसाश्चैव राजसाः सार्विकसास्याः । रजस्तमो-

मोभ्यस्तद्ब्रह्मण्य उदाहृताः" इति कल्पायुक्तीचोपेक्षाध्यायव्याख्यात् । सङ्ख्यासुक्रमणिकाध्याये तु "सार्विकेण तु कल्पेण महात्म्यमधिकं हरेः" इत्यादिना सार्विकराजसतामससङ्कीर्णकल्पानामेवोक्त्या च प्राणेषु सङ्कीर्णत्वकथनम् । तामससार्विकराजसभेदेनैकैककल्पभेदेनाऽष्टादशसङ्ख्यासम्भवेन सङ्कीर्णस्य पुराणस्य नामापि नास्तीति विस्तरतोऽप्यनेव विचारः प्रत्यपादि ततोऽप्येवम् ।

किञ्च, देवीभागवतस्य सार्विकाऽन्तर्भावोऽपि खतः पूर्वप्रत्यक्षैरुद्धः । तत्र प्रहणेन तस्य हरिमाहात्म्यप्रतिपादकत्वात्तदाश्रितकल्पस्य सार्विकत्वमेवायास्यति । 'सार्विकैक्येण कल्पेण महात्म्यमधिकं हरेः' इति वचनात् । ततश्च 'सङ्कीर्णेषु सरस्वत्याः' इति वचनेन सारस्वतकल्प इति नाम्ना च पारमहंस्यसाम्भवे कर्तव्या स्यात् । अतो विष्णुभागवतं विहाय देवीभागवतमेवायं वचनस्य विषयः । अस्ति चात्र सरस्वत्याविर्भूतप्रतिपादकं वचनमिति ख्येव पूर्वमुक्तम् । ततश्च देवीभागवतस्य सरस्वत्याविर्भूतप्रतिपादनेन सङ्कीर्णसमर्पनेन विष्णोश्च सार्विकत्वसमर्पनेन सार्विकप्रतिपादनादेवीभागवतस्य सार्विकान्तर्भावप्रतिपादनस्य विरुद्धत्वात् । 'शैवेयं भगवती त्रिपुरा' इति सुन्दरीतापनीश्रुत्या शिवशक्त्यास्तामसत्वनिश्चयःसार्विकत्वं दूरापास्तम् । मम तु सर्वरूपत्वाद्भागवत एक्येऽपि न क्षतिरिति दिक् ।

यतु 'लिखित्वा तच्च यो दशाद्भिमसिंहसमन्वितम् । श्लोषपाचां पौर्णमास्यां स याति परमां गतिम्' इति भास्व्ये श्रीमद्भागवतवचनयोर्भवे सिंहाहनेनाऽस्ताराण्यधर्मेण देवीपुराणमेवाऽयं श्लोकस्य विषय इति गङ्गेशोपाध्यायः, देवीभागवतमिति भास्करारायादय आहः । ददप्यसङ्गतम् । सिंहपदस्याऽनेकार्थत्वात् । 'सिंहस्य राशिभेदे मृगाधिपे' इत्यनेकार्थकोशोऽभिधानात् । श्लोषपाचां च सिंहै र्यूसस्य सत्त्वात् । हेमि फलार्थे कालसम्बन्धस्याऽपि शक्यवचनत्वात् । भीमसेनादिपदवसिंहासनस्य बोधाच्च । 'अष्टादशराजैः कुर्याद्भिमसिंहासनं प्रिये' इति गौरीतन्त्रव्याख्यात् । एतेन 'हेमासिंहस्युतं चैतद्दैव्याय ददाति यः । कृणेन सहा सायुज्यं स पुण्ड्रभक्तं शुकम्' इति पात्रे पञ्चम्याश्रीमद्भागवतमाहात्म्यश्लोको व्याख्यातः । स्कान्दे तु 'लिखित्वा तच्च यो दवाद्वाद्वाहन्-

समन्वितम्' इत्युक्तम् । किञ्च श्रीमद्भागवते 'पुराणसङ्ख्यां सम्भूतिमस्य वाच्यप्रयोजने । दानं दानस्य माहात्म्यं पाठादेशे निभोषत' इति प्रतिज्ञाय 'भ्रातृ दशसहस्राणि' इत्यारम्भं 'चतुर्लक्ष उदाहृतः' इत्यन्तेनाऽष्टादशान्तर्गतत्वाय प्राप्तसक्तिमुक्त्वा 'तत्राऽष्टादशसाहस्रं श्रीभागवतमिष्यते' इत्यनेन सङ्ख्यां, 'इदं भागवता पूर्वम्' इत्यनेन सम्भूतिम्, 'आदिमध्यायसोमं' इत्यादिना वाच्यम्, 'कैवल्येकप्रयोजनम्' इत्यनेन प्रयोजनं चोक्त्वा 'श्रीशुक्लाम्' इत्यनेन दानतन्माहात्म्ये उच्यते । तथैव भास्व्येऽपि सङ्गोक्तिपुरस्सरमिदमुच्यते । देवीपुराणां च 'लक्षमात्रेण' इति वाक्यात् तावत्सङ्ख्याकम् । यद्यपि देवीभागवतं न तावत्सङ्ख्याकमुपलभ्यते तथापि यत्राऽधिक्येति लक्षणस्य श्रीमद्भागवतपरत्वेन निश्चयादानप्रतिपादकस्यापि श्रीमद्भागवतपरत्वात् । पात्रे श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये श्रीमद्भागवतस्यैव 'हेमसिंहस्युतं चैतत्' इति वचनेन श्रीकृष्णसायुज्यपदान्तस्योक्तत्वात्तदकत्वाच्यत्वात्तदाऽप्यपि वचनस्य श्रीमद्भागवतपरत्वेत्येव निश्चयः ।

किञ्च, भास्व्येष्वादिदाने मत्स्येष्वेवार्थान्तरस्यैव देयत्वेन वाहनमेव देयमिति नियमाभावात् । ब्राह्मदिवाराहन्तानां वैशाखायाः पौर्णमास्ये दानकालः । तत्र क्रमप्रातःश्रीमद्भागवतस्य दान 'प्रीत्यथा पौर्णमास्यां' इति गौरीतन्त्रव्याख्यातुरात्रोक्तमिहासनसमन्वितस्योक्तम् । सर्वपुराणचक्रवर्त्तित्वात् । एतेन श्रीमद्भागवतस्य वैष्णवपुराणत्वेन तद्दान एकादश्यादिकाले गरुडविवाहान्योग्यं युक्त इति परास्तम् । शैवल्लङ्कारे शिवारम्भादिकादलस्य नन्धादिवाहनस्यादशानादिति न कुतर्कसञ्चारः । अत्रेण पुनर्भौर्पौर्णमास्याः पारायणसमाप्ती तद्दानं, तदासदाचारदिव्याश्रत इति दिक् ।

यतु, श्रीमद्भागवतसदृशप्रबन्धो व्यासकृतोऽप्यो नास्तीति कथं व्यासकृतं श्रीमद्भागवतमिति, तदसङ्गतम्; भगवत्प्रसादजमित्वाऽऽलौकिकतमाधामुत्तमस्य प्राकट्यात् । काठिन्येनाऽप्यासङ्गतत्वे पुष्टरप्रादुर्भावादिदुर्गमतरप्रत्यक्ष व्यासकृतत्वाभावापत्तेः ।

यद्यपि, 'अन्वरीयशुक्रप्रोक्तं नित्यं भागवतं श्रुत् । पठञ्च खमुलेनापि यदीच्छसि भवक्षयम्' इति पात्रेऽन्वरीयं प्रति गौतमनाक्ये प्रोक्तमित्यस्याप्यपितमित्यर्थात्, 'व्यासेन कृत्वाऽयं श्रुतं पुराणं शुक्याय पुत्राय महात्माने यत् । वैराग्यशीलाय च पाठितं वै विज्ञाय वैभारणिस्त्वभावाय' इति देवीभागवतकोतेः । 'शुक्याय प्रोक्तम्' इति देवीभागवतपाठं विषय इति न श्रीमद्भागवतपाठमिति । तदपि न सत्यम् । स्कान्दे श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये 'परीक्षित्शुक्रसम्वादो योऽस्ती व्यासेन वर्णितः । भन्धोऽष्टादशसहस्रः सोऽस्ती भागवताऽभिवाचः' इति वाक्यस्य 'भन्धोऽष्टादशसहस्रोद्वादशसङ्ख्यसंयुतः । परीक्षित्शुक्रसम्वादः श्रीमद्भागवताभिवाचः । पुराणेषु तु सर्वेषु श्रीमद्भागवतं परम् । यत्र प्रतिपदे विष्णुर्गीयते बहुधर्मिभिः । इति सङ्कल्प्य मनसा श्रीमद्भागवताभिधम् । जन्मावस्य यतश्चेति धीमहात्तमुपादात् । इदं भागवता प्रोक्तं चतुःश्लोक्या खयम्भवे । नारादाय स वै महं कृण्याय मुनये ह्यहम् । शुक्याय ब्रह्मराताय स तु राज्ञेऽभिमन्यवे । शुकोके विष्णुः राताय सदसि ब्रह्मवादिनाम् । श्रीमद्भागवतं नाम बुधनां तनसः परम् । भन्धोऽष्टादशसहस्रोद्वादशसङ्ख्यसंयुतः । परीक्षित्शुक्रसम्वादः श्रुत् भागवतं च तत्' इत्याचनेकर्षपरपात्र-

वचनानां देवीभागवते कथमपि समन्वयासम्भवेन 'अम्बरीषशुकप्रोक्तम्' इति पाद्यवचनस्य देवी-
भागवतविषयाभावत्वात् श्रीमद्भागवतं शुकान् प्रोक्तमित्युपनिषद्विधप्रसिद्धा श्रीमद्भाग-
वतपरत्वस्य निरावधारत् ।

तथा च श्रीमद्भागवतेऽपि 'शुकमप्यापयामास निवृत्तिनिरतं मुनिः । स तमध्यापयामास महा-
राजं परीक्षितम्' इति ।

निश्च, पात्रे 'अम्बरीष नवं वरुणं फलमनं रसादिकम् । कृत्वा कुण्डोपभोग्यं हि सदा
सेव्यं हि वैष्णवैः' इति वचनेनाम्बरीषाय वैष्णवधर्मबोधनप्रसिद्धया श्रीमद्भागवतपाठस्यापि
वैष्णवधर्मबन्धादुपदेशो युक्तः ।

वस्तुतस्तु, 'शुकाय प्रोक्तम्' इति चतुर्थीसमासो दुर्लभः । 'चतुर्थी तदर्थाय बलिहितसुख-
रक्षितैः' इति सूत्रेण तादर्थ्यचतुर्थीसमासो वक्तव्यः । स च प्रकृतिविकृतिभाव एव । बलिरक्षितप्र-
ह्वणाञ्जापकात् । शूपाय दारु । नेह रन्धनाव स्थाली । 'अञ्जनासादयस्तु पृथ्वीसमासाः' इति
सिद्धान्तकीचुकोत्पद्यम् । इदं च तस्मिन् एव महाभाष्ये । तथा हि किञ्च चतुर्थीतस्य तदर्था-
मात्रेण समासो भवति । एवं अभितुमर्हति । चतुर्थीमात्रेण चेत् सर्वप्रसङ्गऽविशेषात् ।
सर्वत्र सर्वस्य चतुर्थीतस्य तदर्थात्रेण सह प्रसङ्गं भवति समासः प्रामोति । अने-
नाऽपि प्रामोति । रन्धनाय स्थाली । अहनननायोद्वेखलमिति । किं कारणम् ? अवि-
शेषात् । न हि कश्चिद्विशेष उपदीयते । एवं जातीयकस्य चतुर्थीतस्य तादर्थ्येन सह
समासो भवतीति । अनुपादीयमाने विशेषे सर्वप्रसङ्गः । बलिरक्षितास्य चानर्थक्यं वच-
नम् । यो हि महाराजाय बलिः स महाराजार्थो भवति । तत्र तदर्थं इत्येव सिद्धम् ।
यदि पुनर्विकृतिश्चतुर्थीतता प्रकृत्या सह समस्यते इत्येतल्लक्षणं क्रियते । विकृते प्रकृत्येति चेद-
ञ्जनासादीनामुपसङ्ख्यानं कर्तव्यम् । अस्मिन् हस्तविधेति । अर्थेन नित्यसमासवचनमित्यादि
विकल्पे सहस्रार्थं बहु वक्तव्यम्, विकृत्येति वक्तव्यम् । अञ्जनासादीनामुपसङ्ख्यानं कर्तव्यम् ।
अर्थेन नित्यसमासो वक्तव्यः । सर्वलिङ्गता च वक्तव्या । न वक्तव्यं यत्तावदुच्यते । विकृत्येति
वक्तव्यम् । न वक्तव्यम् । आचार्यप्रवृत्तिज्ञापयति । विकृतिश्चतुर्थीतता प्रकृत्या सह समस्यते इति ।
यदप्यं बलिरक्षितप्रह्वणं करोति । कथं कृत्वा ज्ञापकम् । यथाजातीयकानां समासे बलिरक्षित-
प्रह्वेनाऽर्थः । तथा जातीयकानां समासः । यदि च विकृतिश्चतुर्थीतता प्रकृत्या समस्यते । न
तदर्थात्रेण । ततो बलिरक्षितप्रह्वणमर्थवद्भवति । यदुच्यतेऽञ्जनासादीनामुपसङ्ख्यानं कर्तव्यम् ।
न कर्तव्यम् । अञ्जनासादयः पृथ्वीसमासा भविष्यन्तीत्युक्तम् ।

अत एव परंपराधिके धर्मोप नियमो धर्मनियम इत्यत्र च चतुर्थ्या तादर्थ्ये प्रतिपाद्यते ।
सम्बन्धसामान्ये तु पृथ्वी विधाय समासः कर्तव्यः । चतुर्थीसमासस्य प्रकृतिविकृतिभाव एव विधा-
नादिति कैयटः । विधानादिति प्रतीकानुवादाय तादर्थ्यस्य पद्यार्थवचनोपनाय त्वेवं प्रयोग इति
मातमत्र चतुर्थीयोगविभागो न भाष्यारूढः छन्दोपेति समास इत्यतिक्रान्तिरित्येवं व्याख्यातमिति
विकरणप्रत्यक्षं सङ्गच्छते । शब्देन्दुशेखरे तु रन्धनाव स्थालीत्यादावभिधानज्ञाभाव्यात्तादर्थ्य-
त्वेनैव तस्या भानं न सम्बन्धत्वेनेति पद्यमालास तत्र पृथ्वीसमासः । चतुर्थीसमासवर्णाप्य

प्रकृतिविकृतिभाव एवेत्युक्तम् । अञ्जनासादाद्युपकारत्वेन बोधे पद्यवचनेन समासोऽपीति व्यक्त्वे-
त्युक्तम् । एवं च प्रकृतिविकृतिभावाभावाच्छुकाय प्रोक्तमिति न समासः । शुक्लस्य प्रोक्तमित्यपि
न उक्त्युक्त्या । तस्माच्छुकेन प्रोक्तमित्येव समास इति विद्वद्भिन्नवचनम् । एतेन शुकाय
प्रोक्तमिति चतुर्थीयोगविभागस्तुषुपेति वा समास इति परास्तम् ।

न च साधनं कृतेतिवार्तिकेनात्र समास इति वाच्यम् । तस्य हितरक्षितप्रह्वेन चतुर्थीसमा-
सेतरवियवत्वात् । छान्दसवचकनं व्यक्तिक्रान्तिरिति बोध्यम् ।

किञ्च, पात्रे पद्यार्थश्रीमद्भागवतमाहात्म्ये "सदा सेव्या सदा सेव्या श्रीमद्भागवती कथा ।
यस्याः श्रवणमात्रेण हरिश्चितं समाश्रयेत् । मन्योऽप्यादशसाहस्रो द्वादशरत्नस्यसम्मतः । परी-
क्षिच्छुकसम्पादः शृणु भागवतं च तत् । तावत्संसारचक्रेऽस्मिन्धमते शौनकः (१) पुमान् । यावत्क-
र्णगता नास्ति शुक्रशालकथा क्षणम् । छोकार्दं श्लोकपादं वा नित्यं भागवतोद्भवम् । पठस्व
समुत्सेवेण यदीच्छसि परं गतिम्" इत्यादिवचनेः । स्कान्दे श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये "श्रीमद्भागवतं
शास्त्रं यत्र भागवतैरात् । फीर्यते भ्रूयते चापि श्रीकृष्णस्य निश्चितः । यत्र भागवतं शास्त्रं
श्लोकं श्लोकार्थमेव वा । तत्रापि भगवान्कृणो बह्वीनिर्विराजते । भारते मातुषं जन्म प्राप्य
भागवतं न वैः । युक्तं पापं पराधीनैरामवातस्तु वैः कृतः । श्रीमद्भागवतं शास्त्रं नित्यं वैः
परिषेवितम् । पितृमर्तुश्च भार्यया कुलपङ्क्तिस्त तारिता । विद्याप्रकाशो विप्रानां राज्ञां शत्रुजयो
विशाम् । धनं स्वार्थ्यं च शूद्राणां श्रीमद्भागवतानुद्भवेत् । पोषितामपरेषां च सर्ववाञ्छितपूरणम् ।
यतो भागवतैरात् वै को न सेवेत भागवतम्" इत्यादिवचनेश्चात्पुत्राणवचनेश्च श्रीमद्भागवतस्य
पठने सिद्धेऽम्बरीषशुकप्रोक्तमिति श्लोके श्रीमद्भागवतस्यैव पाठं विदधति । अत एव "अथवा
सर्वमेतद्वि श्रीभागवतमादरात् । पठनीयं प्रथमेन सर्वहेतुविवर्जितम्" इति । "पठेच्च नियमं कृत्वा
श्रीभागवतमादरात्" इति च श्रीमदाचार्यचरणीरुक्तम् । "विद्याप्रकाशः" इत्यादिषु फलबोधनं द्विजा-
तीनां त्रैविर्णकानामेव पाठेन, बीशूद्राणां तु श्रवणेनेति बोध्यम् । यदीपनिषदं ज्ञानं श्रीभागव-
तमेव वा । वर्णानामेव तद्वि स्थालीशूद्राणां ततोऽन्यथा" इति तृतीयस्कन्धनिबन्धे श्रीमदाचार्यचर-
णोक्तः । शङ्कराचार्यविरचितसङ्ख्यानमाभाष्ये शूद्रस्य सहस्रनाश्रः श्रवणेनैव फलोक्तः । स्पृतिकीचुको
स्कान्दवचने "रक्षितं शूद्रस्य शूद्राणां पुराणम्" इत्यादिविभिक्ष तथैव निर्णयोक्तेश्चेल्ले प्रसङ्गविकारेण ।
तस्मात्सकलपुराणसमस्या श्रीमद्भागवतमेवाद्यादशपुराणागतं महापुराणमिति सिद्धम् ।

इति श्रीवल्हमाचार्यचरणानामप्रसादतः ।

श्रीविद्वेदशपादाज्ञरूपावलमुपाधितः ॥ १ ॥

पुराणीसम्पादानां ग्रन्थानां युक्तिवृन्दतः ।

पुराणानां प्रचारेण विचारेण सुमेधसाम् ॥ २ ॥

श्रीमद्भागवते शङ्कासमुन्मूलनहेतवः ।

यदस्त्वत्तदल्लिखनमरुणामिभिः क्षुपीः ॥ ३ ॥

श्रीविठ्ठलेश्वरणाग्न्युजराजहंसो
गोपालनन्दनपदाम्बुजचञ्चरीकः ।
श्रीकृष्णचन्द्रचरणाम्बुजसेवनात्मा
विद्वत्कदम्बवचनानुगतार्थसार्थः ॥ ४ ॥
विद्यापयाभि विभुधान्प्रणिपत्य पूर्वं
ग्रन्थं निधाय निकटे विजयाभिधानम् ।
हेलोपहासविधयापि यदा कदापि
कञ्चित्क्षणं कुरुष्येः कृतार्थनीयः ॥ ५ ॥
यदत्र सदसद्रापि प्रमादाद्यत्रिरूपितम् ।
साधवः कृपया पूर्णा भूयन्तु शिशोर्वचः ॥ ६ ॥
न त्रेषात्र च मत्सरात्र च हटाश्रो शास्त्रवर्षात्र वै
लोभाद्याप्यनुवृत्तितो न च चमत्कारादियं मे कृतिः ।
किन्तु श्रीशुकशास्त्रसिन्धुरसिकलान्तःप्रमोदाय स—
चिन्तापद्मसुमार्जनाय विदुषां प्रीत्यै च भूयाश्चिरम् ॥ ७ ॥
श्रीमद्भागवतोत्कर्षो यथाथोऽयं निरूपितः ।
तेन प्रसीदतु श्रीमत्कृष्णः सत्तार्थरक्षकः ॥ ८ ॥

इति श्रीमत्सहजनिजकटाक्षपातप्रसिद्धतपालशब्दादकदम्बश्रीमदाचार्यचरणतनुज-
श्रीप्रभुचरणाम्बुजश्रीयदुनायकुलावतंसश्रीमन्त्रिरिधरचरणकोकनद-
परागवरागसनायनेतोपनामकरामकृष्णभट्टप्रणीतः
श्रीमद्भागवतविजयवादाः सम्पूर्णतमाप ।

वेदविष्णुपदाङ्के १९२४ इत्यर्थे फाल्गुने सिते ।
कृष्णवर्त्मतियौ रामकृष्णेनालेख्यशोधि च ॥ १ ॥



श्रीगोपालो जयति श्रीरामचन्द्राश्रमविरचिता दुर्जनमुखचपेटिका

वल्लवीवल्लभं नत्वा हुवे विद्वद्विनिश्चयम् ।
भागवताभिधे ग्रन्थे आर्पानार्पत्वसंशये ॥ १ ॥

भागवतमनाप्येति वदन्तः पृष्ठव्याः कथमनार्पत्वमिति, ग्रन्थे व्यासनामदर्शनात् । यो हि ग्रन्थं कृत्वाऽन्यस्य नाम लिखति सो हि प्रीत्या, यथा विचारण्येवैदभाष्ये माधवनाम लिखितम् । एवं धनादिलोगाद्वा । यथा बोपदेवेन हेनद्रिनारा । अत्र च व्यासनामलेखने ग्रन्थकर्तुः किं कारणम् । नापि धनादिलोभो नापि प्रीत्यतिशयः । किञ्च, यस्य स्वतः शक्तिर्नास्ति स धनादि दत्त्वाऽप्येन ग्रन्थं कारयति, नैतद्यासस्य युज्यते । किञ्च, ग्रन्थकारणं यशोर्थे लोभार्थे वा पण्डितस्य, व्यासनामलिखने तुभयं न सम्भवति । यदि ग्रन्थकर्तुर्नास्ति सत्यपि सन्देहः स्यात्तर्हि महाभाष्ये पतञ्जलिकृतत्वे तर्कादी गीतमकृतत्वे शारीरकादी शङ्कराचार्यकृतौ च सन्देहो दुर्बलः ।

किञ्च, माध्वेन विजयध्वजेन भागवते टीका कृता । तत्र तावदष्टी टीका अवलोक्येल्युक्तम् । हनुमद्गीका शङ्कराचार्यटीका चेत्याद्युक्तम् । किञ्च सङ्गच्छताम् । बोपदेवस्य पञ्चशती सम्प्रसारणां व्यतीता, शङ्कराचार्याणां सप्तदशशती व्यतिक्रान्ता । आचार्यादिटीका कुतो न प्रवर्तत इति चेत् । कठिनत्वादधिकार्यभाष्यस्य छुरिकावत् । किञ्च, आचार्यैर्गोविन्दाद्ये शृङ्खामत्सर्हिद्वि यशोदेल्याद्युक्तम्, युद्धक्षणस्य भागवतादप्यत्रादर्शनात् ।

किञ्च, “अष्टादशपुराणानां कर्ता सत्यवतीसुतः ।” इति वचनादपि व्यासकृतत्वं निश्चीयते । नच ब्रह्मवैवर्त्तऽष्टादशपुराणमेव गणितमिति वाच्यम् । तत्रोपपुराणमन्थे देवीपुराणस्य पुरगणितत्वात् ।

किञ्च, मत्स्यपुराणे पुराणदानप्रस्तावे भागवतस्य लक्षणयुक्तम् । ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रः इत्यादिना । अम्बरीषयुक्तप्रोक्तमिति पद्मपुराणे । नचैतदेवीपुराणं सम्भवति । अप्यवधीक्षितैः शिवतत्त्वविवेकादी सम्मतित्वेन भागवतं स्वीकृतम् । मधुसूदनसरस्वतीभिर्मर्मिकरसायने भागवतं व्याख्यातम् । विषयानैः पूर्वोद्भवसेन्द्रादिसरस्वतीभिर्मर्गवतं स्वयते । भद्रोचिदीक्षितैर्मर्गवतं स्वीकृतम् । तदपेक्षया बोऽयमधिको पण्डितो यो निन्देद्भागवतम् ।

वाममार्गगाः भागवतं द्विपन्ति । “विरान्तु शिवदीक्षायां यत्र दैवं सुरासव”मित्यादिना वामभर्गस्य भागवते निन्दितत्वात् ।

किञ्च, वाममार्गगा विष्णुमपि निन्दन्ति, “विष्णोर्नाम न गृहीयात् स्वश्रेष्ठोऽसौदलम्” इत्यादिना । वेदमपि निन्दन्ति—

“त्रयो वेदस्य कर्तारो मुनिमाण्डनिशाचरा” इति वदन्तः मांसाशिनो भागवतं निन्दन्ति—

“न दद्यादामिंश्च श्रद्धे न चाबाद्धर्मविदि”त्यादिना मांसमक्षणस्य भागवते निषिद्धत्वात् ।

द्वैतवादिनोऽपि भागवतं द्विषन्ति—“भयं द्वितीयाग्निनिवेशितः स्यादि”त्यादिना द्वैतदर्शनस्य भागवते निन्दितत्वात् ।

किञ्च, ते वेदमपि द्विषन्ति—वेदे ईश्वरो निर्गुण उक्तस्तो सगुणं वदन्ति । वेदे जीवेष्वरयो-
रैक्यमुक्तम्, ते तु पारमार्थिकं भेदं वदन्ति । वेदे आकाशो मनश्च जायत इत्युक्तम् । ते तु
अनात्मनस्त्वं वदन्ति । वेदे तु मायया जगदुत्पन्नमित्युक्तम्, ते तु परमाण्वदन्ति । इत्यादिवेदवि-
रुद्धार्थप्रतिपादकत्वात्, पाण्डुरविशेष एव ते, पाठग्राह्य त्रयीभेदे वा शब्देनेह कथ्यते, तं
खण्डयन्ति, ते यस्मात्पाण्डुरास्तेन ते स्मृता इति पाण्डुलक्षणस्य तेषु सत्त्वात् ।

किञ्च, माध्वसरस्वतीसमये केनचित्पण्डितेन भागवतप्रमाणमित्युक्तम् । तदा स्वामिभिरुक्तम् ।
अयं जारो भविष्यतीति विचारणीम् । तदा पण्डितैर्विचारिते स गोलक इति निश्चितम् ।

किञ्च, बोधदेवकृतप्रम्यगणनायां त्रयो प्रम्या उक्ताः, परमहंसप्रियास्वयीका, फलाह्वयप्रम्यः,
हरिणीलाह्वयश्च । यदि भागवतमपि तत्कृतं भवेत्तर्हि चत्वार इति वक्तव्ये त्रय इति कथमुक्तम् ?
वैषम्ये न बीजं पद्मानः । भागवते व्यसनात्ना लिखितं त्रिषु स्तनामेति ।

यसु, निबन्धेषु भागवतसम्पत्तिर्नास्तीत्युक्तम् । अत्रोच्यते । निबन्धेषु श्राद्धोपवासादिसकाम-
धर्मनिरूपणं क्रियते । भागवते तु श्राद्धादिनिरूपणं नास्ति ।

यसु, व्यासकृतपुराणान्तरस्य श्लोकानामुत्पत्तीसादस्यं भागवतश्लोकेषु न दृश्यते इत्युक्तम् ।
अत्राशुच्यते । धर्मशास्त्रेतिहासाचनन्तरं द्युत्पन्नदशार्थां परंप्रेमणा भागवतं कृतम् । अतः, तेषु
पुराणान्तर्वेदलक्षणमनुगीयते । यथा शङ्कराचार्यकृतबोडशाब्धेभ्यश्चभाष्यसादस्यं शारीरकभाष्ये
न दृश्यते, तर्हि शङ्कराचार्यकृतं न भवति ? तथा भागवतमपि ।

किञ्च, कर्मस्तनादरावीत्यभावाच्च तत्र सौष्ठवम् ।

अथ भागवतं नामान्यदिति न शङ्कनीयमिति श्रीधरस्वामिचन्द्रकृता प्रागस्तीति गम्यते ।
अन्यथा न शङ्कनीयमिति किमर्थमिति चेत्, उच्यते, नीमांसकवैशेषिकादिभिर्वैदप्रामाण्यं
साधितमिति प्राग्गैदाप्रामाण्यशङ्का स्थिता इति न स्वीक्रियते यथा, तथात्रापि स्वीकार्यम् । अथा-
स्तिकानां वैदाप्रामाण्यशङ्काभावेऽपि नास्तिकानां सा स्थितेति सप्तः समाधिः । यथा च भन्वादिधर्म-
शास्त्रेऽपि चौपैर्हिंसादिनिषेधात्, प्राक् तदनुष्ठानं स्थितमिति न स्वीक्रियते । तथा प्रकृतेऽपि ।

अथ विधिना चौपैर्हिंसादिनिषेधात्, प्राग् तदनुष्ठानं स्थितमिति न स्वीक्रियते । तथा प्रकृतेऽपि ।
अथ विधिना चौपैर्हिंसादिनिषेधात्, प्राग् तदनुष्ठानं स्थितमिति न स्वीक्रियते । तथा प्रकृतेऽपि ।
अथ विधिना चौपैर्हिंसादिनिषेधात्, प्राग् तदनुष्ठानं स्थितमिति न स्वीक्रियते । तथा प्रकृतेऽपि ।
अथ विधिना चौपैर्हिंसादिनिषेधात्, प्राग् तदनुष्ठानं स्थितमिति न स्वीक्रियते । तथा प्रकृतेऽपि ।
अथ विधिना चौपैर्हिंसादिनिषेधात्, प्राग् तदनुष्ठानं स्थितमिति न स्वीक्रियते । तथा प्रकृतेऽपि ।
अथ विधिना चौपैर्हिंसादिनिषेधात्, प्राग् तदनुष्ठानं स्थितमिति न स्वीक्रियते । तथा प्रकृतेऽपि ।
अथ विधिना चौपैर्हिंसादिनिषेधात्, प्राग् तदनुष्ठानं स्थितमिति न स्वीक्रियते । तथा प्रकृतेऽपि ।
अथ विधिना चौपैर्हिंसादिनिषेधात्, प्राग् तदनुष्ठानं स्थितमिति न स्वीक्रियते । तथा प्रकृतेऽपि ।
अथ विधिना चौपैर्हिंसादिनिषेधात्, प्राग् तदनुष्ठानं स्थितमिति न स्वीक्रियते । तथा प्रकृतेऽपि ।
अथ विधिना चौपैर्हिंसादिनिषेधात्, प्राग् तदनुष्ठानं स्थितमिति न स्वीक्रियते । तथा प्रकृतेऽपि ।

भागवतमिति, कुत इत्याकाङ्क्षायात् एव उक्त लक्षणवशादेव । अष्टादशशतसत्त्वद्वादशास्त्वन-
सम्भितत्वापयोरीसमारम्भादीनां प्रथमेन विनाऽसम्भवात् । उपोद्गातत्वेनाधिकारिनिरूपणेन प्रथ-
मस्यापि भागवतत्वमस्ति । यथा “अशोच्या नन्वशोचस्त्वमि”त्याभ्य भगवद्गीतत्वेऽपि, ततः
प्राक्तनस्य ग्रन्थस्योद्गातत्वेन गीताभ्यम् । तथा प्रथमस्यापि । “अन्यत्वं व्यक्ति”मापन्नमिति ।
“सहेष्वरात् सतोऽयमन्यत्वे हरिप्रियायावला” इति वचनाद्भगवतोऽपि निन्दकानां भागवतनिन्दने
कोऽस्तिभारः । “न वेद यो यस्य गुणप्रकर्षे स न सदा निन्दति नात्र चित्रम् । वने विराटा
करिडुम्बजायां मुक्तां परित्यज्य निभर्ति गुह्यानि” इति न्ययेन भगवतो भागवतस्य च निन्दकस्यो-
क्तेषु चतुर्थतर्मात्रो बोध्यः । इदानीन्तनाः कथयः स्वल्पमपि भाषाप्रलित्वं कृत्वा तत्र स्तनात्
निश्रान्ति । अयं तु अष्टादशसत्त्वहो कृत्वा न्योन्यादिना विनापि व्यसनात्ना निक्षिपन्न भ्रान्तः
स्यात् । “नहि प्रयोजनमनुदिश्य मन्दोऽपि प्रवर्तते” इति न्यागात् ।

किञ्च, निबन्धकारैराष्टादशपुराणानां च मध्ये यथैव नाम न लिखितं तस्यैवाप्रमाण्यं स्यात् ।
शङ्कराचार्यैरेतस्य बहूनां शास्त्रानां मध्ये यस्या नाम न लिखितं तस्या अप्रमाण्यं स्यात् । भग-
वत्सा इदमिति द्युत्पन्नसिखलेन देखीपुराणं भागवतं यदुच्यते । तर्हि गच्छतीति गीः इति द्युत्पन्नसि-
खलेन लघोःपुदरेरपि गीत्वं स्यात् । मनोरपस्यं मनुष्य इति द्युत्पन्नस्याऽस्त्वत्कारादेरपि मनुष्यत्वं स्यात् ।
अथ तत्र साक्षादिमत्यादिना लक्षणेन व्यवसाया यदि, तर्ह्यत्रापि, अष्टादशशतसत्त्वहो लक्षणेन
व्यवसाया बोद्धव्या ।

ननु “गायक्रीर्तिर्मुत्पन्नस्य पुण्यलोकेषु गीयते । तावद्वर्षसहस्राणि स्वर्गलोके महीयते ॥”
इति वचनात्स्वर्गप्राप्त्यर्थं व्यासनामनिक्षिपणे भागवतनिर्माणे च निःकृतमिति किं न स्यात् ? मैवम् ;
कीर्तिप्रयत्नेऽस्ति तादृकश्लोकास्वर्गमाप्तिरेतुत्येनायगम्यते । कीर्तिश्च व्यासनामनिक्षेपाद्भाषासत्यैव ।
ननु प्रम्यकारस्यानापेक्षमनुष्येयत्वं । ब्रुवेऽप्ये मन्यो वेदेन विरुद्धार्थस्य प्रतिपादकोऽस्तिरुद्धार्थस्य वा ।
अथैवत्यार्थत्वेऽप्यप्रामाण्यमेव स्यात् । ब्रुवत्येतिप्रणीतचार्त्ताकाशवत् अन्येऽनापीत्वेऽपि वेदमूल-
कत्वेन स्मृतित्वस्य प्रामाण्यमेव । स्मृतीनां प्रामाण्यं हि वेदमूलकत्वेन, न तु ऋषिप्रणीतत्वेन ।

अन्यथा कणादप्रणीतशास्त्रस्यापि प्रामाण्यं स्यात् । तस्याप्रामाण्यं बाग्भट्टसङ्गीतपुराशा-
स्त्रपुराणो विस्तरेण प्रपञ्चितम् । अत एव मायवामचन्द्राचर्यप्रणीतकालनिर्णयदेः प्रामाण्यम् ।
बाग्भट्टसङ्गीतवैद्यकस्यापि चरकाचरितोऽयंप्रामाण्यम् । न तु स्मृतीनां ऋषिप्रणीतत्वे सति वेदावि-
रुद्धार्थकत्वेन प्रामाण्यमिति चेत्, न; अत्राभेद वेदाविरुद्धार्थकत्वेन तत्रामाण्यस्योचितत्वात् ॥

॥ इति धीरामभ्रमंधराचर्यात्ता दुर्जनमुखचपेटिका समाप्ता ॥

परिशिष्ट (३)

महाप्रभु-श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण-विरचिता

श्रीमद्भागवतदशमस्कन्धानुक्रमणिका



गोस्वामिश्रीद्वारिकेश्वरविरचितया
व्याख्यया
समलंकृता



महाप्रभु-श्रीवल्लभाचार्यचरण-प्रवर्तितशुद्धाद्वैतसम्प्रदाय-
पञ्चमपीठाधिष्ठितगोस्वामिश्रीगोविन्दरायात्मजेन
श्रीद्वारिकेशेन सम्पादिता

सम्पादकीय

महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचित दशमस्कन्धानुक्रमणिकाकी प्रम्नन व्याख्या इदं प्रथमतया प्रकाशित हो रही है।

भक्तकवि श्रीसूरदासजी तथा श्रीपरमानन्ददासजी को महाप्रभुने ये कारिकाये पढाई थी। श्रीमहाप्रभुके मेवोपममुखमे इन कारिकाओंकी दिव्य रसवृष्टीके श्रवणके कारण इन दोनों महानुभवोंके हृदय तथा वाणी में श्रीमद्-भागवतके दशमस्कन्धमें दणित भगवल्लीलाओंका भाव पूर्णतया भरकर लहराने लग गया था यह प्रसिद्ध है। ऐसे लहराते हुये भगवल्लीलावर्णनके सागर जैसे सूरसागर तथा परमानन्दसागर में कौन पण्डितमार्गीय अपरिचित हो सकता है!

ये मूल कारिकाये तो पहले भी बैसे एकाधिक बार प्रकाशित हो चुकी है किन्तु व्याख्याके साथ यह प्रकाशन प्रथम बार हो रहा है। इस ग्रन्थकी मूलप्रति स्वयं ग्रन्थकारके हस्ताक्षरोंमें लिखित हमारे यहाँ (पंचमरीठ-कामा-राज-स्थान में) के ग्रन्थालयमें सुरक्षित है। इस एकमात्र प्रतिके आधार पर यथामति यह सम्पादन किया गया है। प्रतीत होता है कि प्राथमिक लेखनके बाद स्वयं ग्रन्थकार इसका पुनरवलोकन-संशोधन कर नहीं पाये हैं। अतएव विषय वर्णन तथा लेखनशैलीमें सर्वत्र एकरूपता नहीं झलकती है। उस एकरूपताके निर्वाहके लिये, अतएव, हमने कभी-कहीं कोष्ठकमें कुल-कुछ अण जोड़े हैं।

प्रस्तुत व्याख्याकार श्रीमथुरानाथदासजी गं. श्री द्वारिकेश्वरजी गं. श्रीविठ्ठलनाथप्रभुचरणके ज्येष्ठारम्भ श्रीगिरधरजीके वंशमें उनसे दसवी पीढ़ी-पर वि. सं. १८५६ में प्रकट हुए हैं (दृष्टव्यः श्रीवल्लभवंशवृक्ष प्रथमः गृह)। षोडशश्रयान्तर्गत यमुनाष्टक आदि अनेक ग्रन्थोंपर इनकी व्याख्या उपलब्ध तथा प्रकाशित भी है।

भागवतार्थनिबन्धके परिशिष्टके रूपमें इसे प्रकाशित करने हुये हम प्रसन्नता हो रही है। विश्वास है कि इससे भागवतरसवाग्वाहनके प्रेमियोंका निरतिशय उपकार होगा।

गोस्वामी द्वारिकेश

श्रीमद्भागवतदशमस्कन्धार्थानुक्रमणिका

श्रीकृष्णाय नमः।

राजप्रश्नो हरेर्जन्मकारणं भूमिसातेनम् ॥

कंसवोधनयत्पुत्रवधः कंसभयं नृप ॥ १ ॥

मायाजापनदवादित्पुतिः कृष्णसमुद्भवः ॥

वर्णनं कृष्णरूपस्य वसुदेवस्य संस्तुतिः ॥ २ ॥

देवव्यादिपुराकृत्यकथनं जगदीशित् ॥

गोकुले नयनं कन्याभारणं तद्विभाषणम् ॥ ३ ॥

सातेवनं वसुदेवस्य मोचनं भाय्या सह ॥

कंसदुर्मज्वरैर्येषु (स्थानां!) साधुबालज (लाष्टु!) पदवः ॥ ४ ॥

प्रादुर्भूते व्रजे कृष्णे व्रजराजमहोत्सवः ॥

मथुरागमनं नंदवसुदेवसमागमः ॥ ५ ॥

पूतनासुपयःपानं नंदगोपादिविस्मयः ॥

शकटव्यत्ययो वैत्यक्षत्रवातवधः शिशोः ॥ ६ ॥

संलालने मुखे धाट्या जूभणे विश्वदर्शनम् ॥

रामकेशवयोनिम्नः करणं केलिरेतयोः ॥ ७ ॥

घोर्त्य गोपवधूणेहे प्रसंगाद्भक्षणं मुदः ॥

दर्शनं विश्वरूपस्य नंदभाग्यपुराकथा ॥ ८ ॥

चौर्यं ह्यंगवस्याथ बंधनं दामभिर्बलात् ॥

यमलार्जुनताशापो भंगश्चैव स्तुतिस्तयोः ॥ ९ ॥

१. मारणम्. २. प्रसंगमृदभक्षणम् ३. चैवानतिस्तयोः.

बालक्रीडोपनंदादिमंत्रणं गमनं ततः ॥
 बुंदावने तयोः क्रीडा वयस्यैर्दानचारिणोः ॥ १० ॥
 वत्सासुरस्य च वधो बकाघासुरयोरपि ॥
 भोजनं सखिभिस्तोरे यमुनाया हरेर्मुदा ॥ ११ ॥
 वत्सापहरणं धात्रा कृष्णत्वं वत्सपालयोः ॥
 ब्रह्मणो मोहगमनं स्तुतिः कृष्णरतिर्गतिः ॥ १२ ॥
 गोक्षारणं महाकायधेनुकादिवधस्तथा ॥
 व्रज आगमनं कृष्णगोपीनेत्रमहोत्सवः ॥ १३ ॥
 मृतान् विषांभपानेन गोपान् हृरिरजीवयत् ॥
 कालीयदमने स्तोत्रं तद्भार्याणां प्रलापनम् ॥ १४ ॥
 हृदे कालीयसंबंधकथनं बह्निमोचनम् ॥
 क्रीडाप्रलंबनिधनं दावाग्नेर्नान्वनं गवाम् ॥
 वर्षाशिरद्वर्णनं च गोपीनां वचनामृतम् ॥ १५ ॥
 व्रतं गोकुलकन्यानां वस्त्राणां हरणं मुदा ॥
 वनभाग्यकथा गोपप्रार्थना प्रेषणं मखे ॥ १६ ॥
 विप्रभायप्रिसादश्च पश्चात्तापो द्विजन्मनाम् ॥
 यागभंगो महेंद्रस्य धूमिर्गोवर्धनस्य च ॥ १७ ॥
 सुरेंद्रगर्वहरणं गर्गगीतस्य वर्णनम् ॥
 गोपशंकापगमनमिन्द्रधेनुविधायाननम् ॥ १८ ॥

१. वत्सचारिणोः २. वत्साद्याहरणं. ३. महाक्रीडा
 ४. वधस्ततः, ५. व्रजे कृष्णस्यागमनं ६. दमनम् ७. विलापनम्.

नंदस्य मोक्षणं गोपवैकुण्ठागमनं ततः ॥
 पंदाध्याय्यां निशि क्रीडा सर्वात्रंदस्य मोक्षगम् ॥ १९ ॥
 शंखजूडवधः पश्चाद् गोपीगीतं वृशदानम् ॥
 कंसानादसंबादः कंसाक्रूरकथा ततः ॥ २० ॥
 केशिनो नियनं कृष्णाभारदर्शकथा ततः ॥
 व्योमासुरवधोऽक्रूरागमनं गोकुलैषु च ॥ २१ ॥
 दर्शनानंदहृष्टास्मरोमांजो गद्गदा गिरः ॥
 संबादो रामकृष्णार्थ्यां वर्णितं कंसचेष्टितम् ॥ २२ ॥
 रामकृष्णप्रयाणं च तथा गोपीप्रलापनम् ॥
 मथुरागमनं मध्ये हृदे कण्ठे च दर्शनम् ॥ २३ ॥
 स्तुतिः पुरगतिः पश्चाद्दर्शनं पुरसंपदः ॥
 रजकस्य शिरश्छेदो वायवस्य वरादयः ॥ २४ ॥
 मुदाम्नो वरदानं च कुब्जासंदर्शनं हरेः ॥
 धनुर्भंगः सन्धवधः कंसदहंतुदर्शनम् ॥ २५ ॥
 रंगोत्सवे कुवलयापीडयुद्धविघातनम् ॥
 दर्शनं रामकृष्णस्य पौराणां प्रेमदर्शनम् ॥ २६ ॥
 मत्स्यानां निधनं रंगे कंसस्य सह बंधुभिः ॥
 पित्रोश्च सांतवनं सर्वसुहृदां परितोषणम् ॥ २७ ॥
 उग्रसेनाभिवेकश्च नंदादिव्रजप्रेषणम् ॥
 ईषद्विजातिसंस्कारः पठनं च गुरोर्गृहे ॥ २८ ॥

१. वैकुण्ठागमनम् २. निजा ३. गोपीगीतववार्दानम् ४. नंदगोकुले
 ५. हृष्टात्मा.

मृतपुत्रप्रदानं च गुरोः चजनादनम् ॥
 पुनरागमनं शौरैर्मध्युष्या महोत्सवः ॥ २९ ॥
 उद्धवप्रेषणं गोपीविलापपरिसादनम् ॥
 कुञ्जारतिस्तयाकूरप्रेषणं गजसाह्वये ॥ ३० ॥
 पीडवेपु च वैषम्यं धुतराष्ट्रस्य बोधनम् ॥
 इत्येवं दशमस्कंधपूर्वार्धे विनिरूपितम् ॥ ३१ ॥
 जरासन्धसमानातसैन्यस्य बहुशो वधः ॥
 जामातृवधसंतप्तजरासंधचमूवधः ॥
 बहुशः सैनयोद्घेपो द्वारकादुर्गकारणम् ॥ ३२ ॥
 यवनस्य वधो दृष्ट्या मुचुकुंदस्य संस्तुतिः ॥
 वरं दत्त्वा ततो म्लेच्छवधं कृत्वा धनं ततः ॥ ३३ ॥
 नीयमाने वरैर्दुःप्तजरासंधात्पलायनम् ॥
 रैवताद्रेषतीकन्या बलदेवसमर्पणम् ॥ ३४ ॥
 रुक्मिणीप्रियसंदेशश्रवणादखिलान् रिपून् ॥
 निजित्य निर्गमो गेहादंबिकाया हृतिर्बलात् ॥ ३५ ॥
 चैद्यसांतवनमुखीशैस्ततो रुक्मिसमागमः ॥
 युद्धालोपापराधे च मुंडनं तस्य कृष्णतः ॥ ३६ ॥
 रुक्मिणोदुःखशमनं रामवाक्यं च मोक्षणम् ॥
 ततो विवाहो रुक्मिण्या विधिसस्त्वपुरे तयो ॥ ३७ ॥
 प्रद्युम्नोत्पत्तिकथनं हरणं सूतिकागृहात् ॥
 मायावत्योक्तवृत्तान्तः शंभरस्य वधस्ततः ॥ ३८ ॥

१. स्कन्धे २. पूर्वार्धे विनिरूपितम् ३. जामातुः ४. धनेः
 ५. युद्धालोपापराधो ६. मुदा.

पुनरागमनं गेहे संतोषो द्वारकौकसाम् ॥
 सुयस्त्व्यमंतकपापित्यावनं तस्य वै हरेः ॥ ३९ ॥
 तत्संबंधात्प्रसेनस्य वधोऽकीर्तिहरेस्तथा ॥
 तन्माजनाय ऋक्षस्य गेहे गमनसेतयोः ॥ ४० ॥
 ज्ञात्वा सुरर्षभं युद्धाज्जांबवत्याः समर्पणम् ॥
 सवाजितस्य प्राप्तस्य स्वतो दानं मुरारिणा ॥ ४१ ॥
 विवाहः सत्यभामाया वृत्तायाः प्रीतये हरेः ॥
 रामेण सह कृष्णस्य गमनं गजसाह्वये ॥ ४२ ॥
 अकूरकृतवर्मभ्यां प्रेरिताच्छतधन्वनः ॥
 सवाजितवधो मध्ये कृष्णाच्छतधनोर्वधः ॥ ४३ ॥
 रामस्य मिथिलायात्वा गदाशिक्षा सुयोधने ॥
 अकूरमणिदानं च शक्रप्रस्थे हरैर्गतिः ॥ ४४ ॥
 कालिद्या संगतिः शौरेर्विवाहः स्त्रपुरे ततः ॥
 मित्रविदाहृतिमिजित्युद्वाहोस्त एव च ॥ ४५ ॥
 भद्राया लक्ष्मणायाश्च विवाहो मुरघातिना ॥
 पितुस्तत्तनयानां च नरकस्य च घातनम् ॥ ४६ ॥
 भूमिस्तुतो राजकन्याप्रेषणं स्वपुरे ततः ॥
 गत्वा महेंद्रभवनं परिजाताहृतिर्बलात् ॥ ४७ ॥
 उद्वाहो राजकन्याया रुक्मिणीकृष्णकौतुकम् ॥
 कृष्णभायकिया पुत्रनामान्युद्वाहपर्वणि ॥ ४८ ॥

१. सतः २. वासो. ३. इन्द्रप्रस्थे. ४. नाम्निजित्युद्वाहनमेवच ।
 ५. मदैव च. ६. पीठतत्तनयानां च ७. परिजातहृति.

रामाद्रविमवधो द्यूते बाणस्य हरसंकथा ॥
 उषास्वप्नकथा चित्रलेखया हरणं हरेः ॥ ४९ ॥
 पौत्रस्य बंधनं चापि बाणयादवसंयुगे ॥
 कृष्णशंकरयोर्द्वन्द्वं शबरसंस्तवनं ततः ॥ ५० ॥
 बाणबाहुच्छिवा रुद्रस्तुतिर्बाणाभयं वरः ॥
 उषाप्रार्थितं गार्हपत्यं बलभद्रब्रजगमः ॥ ५१ ॥
 गोपीबिलापो रामस्य स्तुतिर्गोपीभिरैव च ॥
 यमुनाकर्षणं काशीपतिर्षोडशघातनम् ॥ ५२ ॥
 काशीदाहः स्वकृत्यातो द्विविदस्य बलाद्धधः ॥
 लक्ष्मणाहरणं रामविक्रमो गजसाह्वये ॥ ५३ ॥
 नारदेन हरेर्ललादर्शनं गृहमेधिनाम् ॥
 आह्निकं वासुदेवस्य राजा विज्ञापनं त्वृषैः ॥ ५४ ॥
 मंत्रणादुद्धवस्येन्द्रप्रस्थे गमनमीशितुः ॥
 जरासंधवधः स्तोत्रं राजां सत्कृतिरेव च ॥ ५५ ॥
 राजसूये हरेः पूजा शिशुपालवधस्तथा ॥
 दुर्योधनाभिमानस्य भंगः प्रद्युम्नशाल्वयोः ॥ ५६ ॥
 युद्धं त्रिणवरात्रं च हरेरागमनं ततः ॥
 शाल्वस्य दंतवक्रस्य तद्भ्रातुर्ललिया वधः ॥ ५७ ॥
 तीर्थयात्राथ रामस्य मध्ये सूतवधस्ततः ॥
 तत्पुत्रस्थापनं तत्र बलवलस्य वधस्ततः ॥ ५८ ॥
 यात्रासमस्ततीर्थानामृषिमियाजनं बलात् ॥
 भक्तानां जन्मसाफल्यं पृथुकाहयानमेव च ॥ ५९ ॥

१. स्वकृत्यादि २. गृहमेधिनः ३. हरेः ४. बलेः.

सूर्योपरागे निखिलैः कुरुक्षेत्रे समागमः ॥
 बंधुभिर्वसुदेवस्य गोपिकापतिवचनम् ॥ ६० ॥
 कृष्णभार्याविवाहानां कथनं विस्मयो नृणाम् ॥
 ऋषीणां गमनं तत्र कृष्णेन प्रतिपूजनम् ॥ ६१ ॥
 वसुदेवस्य संप्रानो नारदोक्तिरथोत्तरम् ॥
 याजनं तस्य ऋषिभिः प्रमोदोऽखिलदेहिनाम् ॥ ६२ ॥
 वसुदेवस्य विज्ञानं देवक्याः षट्सुतागमे ॥
 बलिकृष्णस्तुतिकथा षण्णां गमननिर्गमे ॥ ६३ ॥
 मुभद्राविजयोद्वाहो मिथिलगमनं हरेः ॥
 मंथिलश्रुतदेवाभ्यां पूजनं गतिरेतयोः ॥ ६४ ॥
 वेदस्तुतिर्हरेर्भक्त्या दारिद्र्यविनिरूपणम् ॥
 आशुतोषकथा शंभोरनर्थोऽस्य वरस्य च ॥ ६५ ॥
 वृकामुरवधे बुद्धेर्मोचनं गिरिजापतेः ॥
 मृतपुत्रप्रदानं च विप्रस्य स्वालयाद्धरेः ॥ ६६ ॥
 हरेरेवास्ति देवत्वं भृगुवाचवदंश्च निश्चयः ॥
 क्रोडा स्त्रीभिर्हरेः पूजा विरहात् स्त्रीविभाषणम् ॥ ६७ ॥
 महारथानां नामानि हरेर्वशावल्लस्तथा ॥
 यादवानंत्यमित्येवमुत्तरार्धं निरूपितम् ॥ ६८ ॥

इति श्रीमद्बलभद्रीशितविरचिताश्रीमद्भागवतदशमस्कंधार्थानुक्रमणिका समाप्ता ।

१. षट्सुतागमः २. षडागमननिर्गमो ३. श्रुतदेवस्य
 ४. अनर्थोऽप्रो न तस्य च ५. वृकामुरवधो ६. हरेरेव सुदेवत्वम्
 ७. विरहस्त्वभिभाषणम् ८. यादवानंत ९. श्रीमद्बलभक्त्या.

श्रीमान्महानादिमश्रीधदशधुरधरोगिरिधरो
 दामोदरोविदुतोश्रीमदधनआदिमोगिरिधरो
 श्रीविष्णुकोदण्डिकधीशमोक्षसुतःस्वयंगिरिधरो
 श्रीमोक्षुरेशोभूसाक्ष॥१॥एतेषामनुकंपयोलघुम
 तिःश्रीवैशनाचार्यजिज्ञाचगुटतमासदासुखकरी
 व्याख्यातवानस्यहासापुष्पाजिरिधरो
 ध्याज्ञेयथाचतयाश्रीमदधनलोशनामडपरश्रीमोक्षी
 ष्यमस्त्विसाःसदासिनेवो॥१॥पञ्चोत्तरेकनिवेशेक्ष्यमा
 वेभुक्तेरपीतिथो॥कुजे॥माथीक्षारिकेशोरसस्यत्यामिभोभुता

॥ श्रीमद्वल्लभाधोशो जयति ॥

दशमानुक्रमणिका सटीका

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

गिरिवराधिपं चिक्कणप्रियं
 ललितत्रिगाङ्गं महाद्भुतम् ।
 शुक नमाम्यहं ब्रल्लभाधिपं
 सिद्धिबुद्धि-प्रदायकम् ॥१॥

दशमानुक्रमणिकां व्याख्यास्येहं यवामतिः ।
 सहायं तत्र कुर्वन्तु श्री...चार्यवंशजाः ॥२॥

अथ श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणाः स्वीयानां हृदये दशमस्कन्धार्यम् अनायासे-
 नेव स्थापयितुं दशमस्कन्धमहावाक्यानुक्रमणिकां कृत्वा निजसेवकौ सुरदास-
 परमानन्ददासौ अध्यापयत्मासुः । तौ च तदनुसारेण गापयाञ्चक्रतुः । ततः
 परम्परया स्वकीयान् बोधयितुम् उपन्यसन्ति—

राजप्रश्नो हरेर्जन्मकारणं भूमिसांत्वनम् ।
 कंसबोधनं षट्पुत्रवधः कंसभयं नृबु ॥१॥

‘राजप्रश्नः’ इति । राज्ञः प्रश्नो राजप्रश्नः । अथवा प्रश्नानां राजा
 राजप्रश्नः । “राजदंतादिपु परम्” । “कथितो वंशविस्तारः . . .” इत्यादि ।
 हरेः जन्मनः कारणम् । “विवयसापेक्षस्थाने ववचिदसमर्थेऽपि समासः” इति
 भाष्यम् । “भूमिदृप्तनृपव्याजदेत्यानीकशनायुते . . .” इत्यादि भूमेः
 सान्त्वनम्, “आश्ववास्य च महीं गीभिः स्वधाम परमं ययौ” । कंसस्य बोधनम् ।
 पद् च ते पुत्राञ्च षट्पुत्राः तेषां वधः । कंसबोधनपूर्वकः षट्पुत्रवधः । शाक-
 पाथिवादि । न द्वन्द्वो, द्वयेकवचनाभावात् । कंसबोधनं तु मायाकृतं वसुदेवकृतं

नारदकृतं च ज्ञेयम् । “अस्यास्त्वामष्टमो गर्भो हत्वा यां नयसेज्बुधः” इत्यादि
तामसं वधोद्यमहेतुत्वात् । तदुक्तम् “इत्युक्तः स खलः पापो भोजानां कुल-
पांसतः । भगिनीं हन्तुमारब्धः . . .” (इति) । “श्लाघनीयगुणः शूरैर्मेवान्
भोजयशस्करः । स कथं भगिनीं हन्यात् . . .” इत्यादि वसुदेवकृतं सात्विकं
सुहृद्वधनिवृत्तिहेतुत्वात् । तदुक्तम्— “सुहृद्वधान्निवृत्ते कंसस्तद्विषयसारिवत्
.. .” ॥ २ ॥ “नंदाद्या ये श्रेजे गोपा याश्चामीपां च योषितः” . . . इत्यादि
नारदकृतं राजसं वधावधरूपबंधनहेतुत्वात् । तदुक्तम् “देवकीं वसुदेवं
च निगृह्य निगडैर्गृहे . . .” ॥ ३ ॥ **षट्पुत्रवधः** : “ . . . ज्ञातं जातमहन् पुत्रं तपोर-
जनशङ्कया” । कंसाद् भयम् **कंसभयम्**, नृषु पुंसु । तेन देवादीनामपि
सङ्ग्रहः । प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टाग्रहणात् स्त्रीणामपि सङ्ग्रहः । अत
एव “मातरम् . . .” इत्यादिकं देवकीनिग्रहं रोहिण्यदि—सप्तदशानां गोकुले
प्रेषणं कन्यायाः शिलायां क्षेपः । तदुक्तम्— “मातरं पितरं भ्रातृन् सर्वाञ्च
सुहृदस्तथा । धनन्ति ह्यसुनुपोलुब्धा राजानः प्रायशो भुवि ।” तयोदशभिः
प्रश्नः त्रयोदशमासीयलीलानां पृष्टव्यत्वात् । एकेन संगतिः । द्वाभ्यां प्रशंसा ।
नवभिः जन्मकारणम्, पूर्णतयाय । एकेन भूमिसातवनम् । कंसबोधनम् अष्ट-
त्रिंशद्भिः, दुष्टबोधनस्य बहूपायसाध्यत्वात् । षट्पुत्रवधः द्वाभ्याम् । भयं
त्रिभिः ॥ ६९ ॥ **एकोनसप्ततिः श्लोकाः** । इति प्रथमाध्यायसङ्ग्रहः ॥ १ ॥

द्वितीयम् अनुकामन्ति—

मायाज्ञापनदेवादिस्तुतिः

‘माया’ इति । मायाया आज्ञापनम् । देवादीनां स्तुतिः । मायाज्ञापन-
पूर्विका देवादिस्तुतिः । पूर्वकालेति समासः । मायाज्ञापनं सार्द्धपञ्चदशभिः ।
तत्र षड्भिः विपरीतगुणवर्णनम् । सार्द्धसप्तभिः आज्ञा । एकेन कृतिः । एकेन
फलम् । सप्तविंशतिभिः देवादिस्तुतिः । तत्र द्वाभ्यां वसुदेवे आवेशः । द्वाभ्यां
देवक्याम् । पञ्चभिः कंसविचारः । एकेन ब्रह्माद्यागमनम् । पञ्चदशभिः
भगवत्स्तुतिः । एकेन देवकीस्तुतिः । एकेन गमनम् ॥ ४२ ॥ (द्विचत्वारिंशत्
श्लोकाः । इति द्वितीयाध्यायसङ्ग्रहः) ॥ २ ॥

तृतीयम् अनुकाम्यन्ति—

कृष्णसमुद्भवः ।

वर्णनं कृष्णरूपस्य वसुदेवस्य संस्तुतिः ॥ २ ॥

देवक्यादि—पुराकृत्य—कथनं जगदीशितुः ।

गोकुले नयनं

कृष्णस्य कलरूपस्य सम्यक् ऊर्ध्वभवनं सर्वोत्कण्ठेण वर्तनं समुद्भवः । “अथ
मर्वगुणां पितं . . .” इत्यादि सार्द्धाष्टभिः, गेष्वर्यस्य अष्टविधत्वात् अर्द्धमात्रायाः
द्वौ परत्वात् । “ऐश्वर्यं चाष्टधा यस्मात् अष्टैश्वर्यगुणान्वितः” । कृष्णस्य
रूपस्य वर्णनं “तमद्भूतम् . . .” इत्यादि चतुर्भिः वीर्यस्य चतुर्बाहुसाध्यत्वात् ।
वसुदेवस्य संस्तुतिः “कस्तरि पण्ठी” । “विदितोसि भवांसाक्षाद् . . .” इत्यादि
दशभिः । भगवद्यणसः (दश) दिगन्तलितत्वाद् । लिङ्गाविशिष्टपरिभाषया
देवकीस्तुतेरपि सङ्ग्रहः । सा च नवभिः “अथैनमात्मजं वीक्ष्य . . .” इत्या-
दिभिः, श्रिया नवनिधिरूपत्वात् । देवकी आदिर्यस्य तस्य पुराकृत्यस्य कथनं
“द्वमेव पूर्वमर्गं भूः पृथिनः स्वायम्भुवे सति” इत्यादि चतुर्दशभिः, ज्ञानस्य
चतुर्दशविध्यामाध्यत्वात् । देवक्याः आदित्वं पूर्णप्राकट्यात् । जगदीशितुः
गोकुले नयनं प्रापणम् “इत्युक्त्वासीद्विरिः तूर्णानि भगवान् . . .” इत्यादि अष्टभिः,
अष्टैश्वर्यवति कृष्णे पूर्णराग एव वैराग्यमिद्वेः ॥ ५३ ॥ (त्रिपञ्चाशत्
श्लोकाः । इति तृतीयाध्यायसङ्ग्रहः) ॥ ३ ॥

चतुर्थं (म् अनुकामन्ति)—

कन्यामारणं तद्विभाषणम् ॥ ३ ॥

सान्त्वनं वसुदेवस्य मोचनं भार्यया सह ।

कंसदुर्मन्त्रदत्येषु साधुवत् . . . ७५द्वयः ॥ ४ ॥

कन्यायाः मारणं “वहिरन्तः पुरन्दारः . . .” इत्यादि अष्टभिः, (ऐश्वर्यम्) ।
तस्याः विभाषणं “सा तद्विस्ताद् . . .” इत्यादि पञ्चभिः, (अविद्या पञ्चपूर्वा) ।
वसुदेवस्य सान्त्वनं दशभिः (यगोक्षुपम्) “तथाभिहितमाकर्ण्य . . .” इत्यादिभिः ।
भार्यया सह मोचनं “मोचयामास निगडाद्विध्वंसाः कन्यका गिरा । देवकीं

वसुदेवं च..." इत्यादि पञ्चभिः (विद्यापर्वरूपैः) । कंसस्य दुष्टो मन्त्रो येः ते कंसदुर्मन्त्राः ते च ते दैत्याश्च तेषु तन्निमित्तं साधुवालानाम् उपद्रवः । तदुक्तम्—
 "आकर्ष्य भर्तृगदितं तमूचुर्देवशत्रवः । देवान् प्रति कृतामर्षा दैतेया नाति-
 कोविदाः ॥" (इति) । यदि कोविदाः स्युः भर्तृकार्यं साधयेयुरेव । अतः
 तन्निमित्तमेवेति । यद्वा । कंसदुर्मन्त्राश्च ते दैत्याश्च कंसदुर्मन्त्रदैत्याः तेषाम्
 इषवः तैः साधुवालानाम् उपद्रवः । यद्वा । कंसस्य दुर्मन्त्राश्च दैत्याश्च
 इषवश्च तैः साधुवालानाम् उपद्रवः । तदुक्तम्—“एवं दुर्मन्त्रिभिर्कंसः सह
 संमन्व्य दुर्मतिः । कामरूपधरान्दिभु दानवान् गृहमाविशत् ॥ अस्त्यतस्ते
 शरन्नतैर्हृन्वमानाः समंततः । संदिश्य साधुलोकस्य कदने कदनप्रियान् ॥
 अनिर्देशान्निर्देशाश्च हनिष्यामोज्ज वै शिशून् ॥” अष्टादशभिः, अष्टादश-
 विद्याविपरीतज्ञानम् असुरणाम् ॥ ४६ ॥ (षट्चत्वारिंशत् श्लोकाः ।
 इति चतुर्थाध्यायसङ्ग्रहः) ॥ ४ ॥

पञ्चमम् अनुकामन्ति—

प्रादुर्भूते ब्रजे कृष्णे ब्रजराजमहोत्सवः ।
 मथुरागमनं नन्दवसुदेवसमागमः ॥ ५ ॥

‘प्रादुर्भूते’ इति । ब्रजस्य राजा ब्रजराजः तस्य महोत्सवः “नन्दस्त्वात्मज
 उत्पन्ने..." इत्यादि अष्टादशभिः, महोत्सवस्य अष्टादशविद्या-साध्यात्वात् ।
 “गोपान् गोकुलरक्षायाम्..." इत्यनेन मथुरायां गमनम् । नन्दवसुदेवयोः
 समागमः “वसुदेव उपश्रुत्य..." इत्यादि त्रयोदशभिः, त्रयोदशसु मासेषु वसु-
 देवस्य सात्वनाय ॥ ३२ ॥ (द्वात्रिंशत् श्लोकाः । इति पञ्चमाध्यायस-
 ङ्ग्रहः) ॥ ५ ॥

(षष्ठाध्यायम् अनुकामन्ति)

पूतनासुपयःपानं नन्दगोपाबिबिष्यमयः ।

असवश्च पयश्च असुपयसी, पूतनायाः असुपयसी तयोः पानं “नन्दः पथि
 वचः शौरे..." इत्यादि त्रिंशद्भिः । तदुक्तम्—“तत्प्राणैः समं रोपसमन्वितो-
 ऽपिवत्..." (इति) । तत्र एकेन पूर्वनिवादः । अष्टभिः पूतनायाः आगमनम् ।

एकेन असुपयःपानम् । सप्तभिः तस्याः मरणम् । त्रयोदशभिः रक्षा । नन्द-
 गोपः आदिर्येतां तेषां विस्मयः “तावन्नदादयो गोपा मथुरायाः ब्रजं गताः..."
 इत्यादि अष्टभिः ॥ ३८ ॥ (अष्टात्रिंशत् श्लोकाः । इति षष्ठाध्याय-
 सङ्ग्रहः) ॥ ६ ॥

गणमम् अनुकाम्यन्ति—

शकटस्य व्यत्ययो दैत्यचक्रवातवधः शिशोः ॥ ६ ॥
 संलालने मुखे धाढ्या जूषणे विश्ववर्षणम् ।

शकटस्य व्यत्ययः “येन येन..." इत्यादि सप्तदशभिः । तत्र त्रिभिः प्रश्नः ।
 त्रिभिः उत्पन्नवर्षणम् । एकेन अनोव्यत्ययः । त्रिभिः आश्वर्षणम् । सप्तभिः
 स्तनपान-शकटस्थापन-स्वस्तिवाचनाशीर्षानादि-गोपाभिषेकाशिवः । दैत्य-
 ग्चामां चक्रवातश्च दैत्यचक्रवातः तस्य वधः शिशोः शिशुकर्तृकं “एकदारोह-
 माष्टं लालयती मुतं सती..." इत्यादि सप्तदशभिः । संलालने क्रियमाणे
 जूषणसमये धाढ्याः यशोदायाः पुत्रत्य मुखे विश्वस्य दर्शनम् “एकदारं कमादाय
 ..." इत्यादि चतुर्भिः । तदुक्तम्—मुखं लालयती राजन् जूषन्तो ददुशे इवम्..."
 (इति) ॥ ३८ ॥ (अष्टात्रिंशत् श्लोकाः । इति सप्तमाध्यायसङ्ग्रहः) ॥ ७ ॥

अष्टमम् अनुकामन्ति—

रामकेशवयोर्नानो कारणं केलिरतयोः ॥ ७ ॥
 धौत्यं गोपवधुर्गेहं प्रसङ्गमूढभक्षणम्
 दर्शनं विश्वरूपस्य नन्दभाग्यपुराकथा ॥ ८ ॥

रामश्च केशवश्च रामकेशवौ तयोः नाम्नः गगनार्यद्वारा कारणम् “पार्गः
 पुराहितो राजन्..." इत्यादि एकत्रिंशत्त्रिभिः, स्वर्गः । एतयोः रामकेशवयोः
 केलिः “कालेन ब्रजताल्पेन..." इत्यादि पञ्चभिः, धर्मः । धौत्यं गोपवधुर्गेहं
 “ततस्तु भगवान् कृष्ण..." इत्यादि पञ्चभिः, (अविद्यापर्व) । मूढः अभक्षणं
 मूढभक्षणम्, प्रसङ्गात् मूढभक्षणं प्रसङ्गमूढभक्षणम् “एकदा..." इत्यादि
 पञ्चभिः (विद्यापर्व) । तदुक्तम्—“नाहं भक्षितवानम्व सर्वं मिथ्याभिर्गंसिनः
 ..." (इति) । पञ्चभिः विश्वरूपस्य दर्शनम् ऐश्वर्यादिभिः “सा तत्र ददुश

विश्वं जगत्स्याणु चरिणु च ...” (इति) । “इत्थम् ...” इत्यादि त्रिभिः मोहनम् एतदङ्गमिति पृथक् न उक्तम् । नन्वस्य भाग्यस्य पुरा पूर्वकल्पसम्बन्धिनी कथा “नन्दः किमकरोद् ब्रह्मन् श्रेय एवं महोदयम् । यशोदा च महा-भागा ...” इत्यादि सप्तभिः, (धर्मसंहितैः) ॥ ५३ ॥ (त्रिपञ्चाशत् श्लोकाः । इति अष्टमाध्यायसङ्ग्रहः) । ८ ॥

नवमाध्यायम् अनुक्राम्यन्ति—

चौर्यं ह्येगवस्यथ बन्धनं दामभिरलत्

चोरस्य भावः कर्म वा चौर्यं व्यञ्ज्य, गोदोहोद्भवस्य “एकदा ...” इति दशभिः, दशविधभक्तियुक्तस्यैव ग्राह्यत्वात् । तदुक्तम् ... “जहार ह्येगव-मन्तरं गतः ।” (इति) । बन्धनं त्रयोदशभिः, त्रयोदशमासेषु भक्तप्रेरणा-वद्धत्वात् । “कृतागसं तं प्रश्वेतमक्षिणी कषन्तम् ...” इत्यादिभिः । तदुक्तम् “गोपिकोलूखले दाम्ना ववन् प्रकृतं यथा” (इति) । तत्र द्वाभ्यां वशीकरणो-द्यमः, कर्मकाण्डज्ञानकाण्ड-समावेशार्थः । “न चान्तरं वहिर्यस्य ...” इत्यादि षड्भिः वशीकरणम्, गुणानां षड्विधत्वात् । “एवं संदर्शिता ह्यङ्ग हरिणा भक्तवश्यता” इत्यादि पञ्चभिः भक्तिप्रशंसा, भक्तेः विद्यायाः पंचमपर्वत्वात् ॥ २३ ॥ (त्रयोविंशति श्लोकाः । इति नवमाध्यायसङ्ग्रहः) ॥ ९ ॥

दशमाध्यायम् अनुक्राम्यन्ति—

यमलार्जुनताशापो भङ्गश्चैवानतितस्तयोः ॥ ९ ॥

‘यमलाः’ इति । यमलौ च तौ अर्जुनौ च यमलार्जुनौ तयोर्भावः तत्ता । यमलार्जुनतायै शापः “कथ्यतां भगवन् ...” इत्यादि द्वाविंशतिभिः । तत्र एकेन प्रश्नः । “हृदस्यानुचरो भूत्वा ...” इत्यादि षड्भिः शापोद्यमः । “न ह्यन्यो जुपतो जोष्यान् ...” इत्यादि द्वादशभिः शापहेतुः । “यदिनी लोक-पालस्य पुत्रो भूत्वा तमःप्लुतो ...” इत्यादि त्रिभिः शापः । भङ्गः “स एव-मुक्तो देवर्षिः ...” इत्यादि षड्भिः । तत्र पंचभिः पातनम् । एकेन स्तुत्युद्यमः । तयोः यमलार्जुनयोः आ समन्तात् नतिः स्तुतिः “कृष्ण कृष्ण महायोगिन् ...” इत्यादि दशभिः, भगवद्गुणानां दशविधु व्याप्तत्वात् । पञ्चभिः अनुग्रहः

“इत्थं संकीर्तितस्ताभ्याम् ...” इत्यादिभिः ॥ ४३ ॥ (त्रिवत्वारिंशत् श्लोकाः । इति दशमाध्यायसंग्रहः) ॥ १० ॥

एकादशाध्यायम् अनुक्राम्यन्ति—

बालक्रीडोपनन्दादिमन्त्रणं गमनं ततः ।

वृन्दावने तयोः क्रीडा वयस्येवंत्सचारिणोः ॥ १० ॥

वत्सासुरस्य च वधो बकाधामुरयोऽपि ।

भोजनं सखिभिरस्तौ यमुनाया हरैर्मुदा ॥ ११ ॥

वत्साद्याहरणं धात्रा कृष्णत्वं वत्सपालयोः ।

ब्रह्मणो मोहगमनं स्तुतिः कृष्णरतिर्गतिः ॥ १२ ॥

‘बालक्रीडा’ इत्यादि । बालानां क्रीडा, बालवत् क्रीडा (वा) “गोपा नन्दादयः श्रुत्वा ...” इत्यादि नवभिः, पूर्णत्वाय । तत्र आद्यैः षड्भिः मोचनम्, भगवदीयगुणानां मोचकत्वाय । तदुक्तं “नन्दः प्रहसद्बदन्तो विमुमोच ह” (इति) । “गोपीभिः स्तोभितोऽनृत्यद् भगवान् ...” इत्यादि त्रिभिः मुग्धलीला, मोहस्य सात्त्विकादिभेदेन त्रिविध-त्वात् । तदुक्तम् “उद्गायति क्वचिन्मुग्धः ...” (इति) । उपनन्दा आदिः येषां तेषां मन्त्रणं गुप्तपरिभाषणम् “गोपबुद्धाः ...” इत्यादि नवभिः, पूर्णत्वाय । तदुक्तं “व्रजकार्यममन्वयन्” (इति) । ततः बृहदनाद् गमनं “तच्छ्रुत्वा ...” इत्यादि पञ्चभिः, पञ्चभिः कार्यसिद्धयै । तदुक्तं—“यूरूडपरिच्छदा” (इति) । तयोः कृष्णवलभद्रयोः क्रीडा लीला वयस्यैः सखिभिः “वृन्दावनं संप्रविश्य ...” इत्यादि षड्भिः । तत्र आद्याभ्यां प्रीतिः । सा उक्ता—“वीक्ष्या-सीदुत्तमा प्रीतिः ...” (इति) । चतुर्भिः क्रीडा लीला “एवं व्रजौकसां प्रीतिः ...” इत्यादिभिः सा उक्ता । वत्सान् चारयितुं शीलं ययोः तौ, तयोः “चारया-मासनुवंत्सान् नानाक्रीडापरिच्छदौ” (इति) । वत्सरूपः असुरः वत्सासुरः तस्य वधः प्राणवियोगः “कदाचित् ...” इत्यादि षड्भिः । तदुक्तं—“वत्सासुरं हनं श्रुत्वा व्रजे गोप्याञ्च विस्मिताः” (इति) । वकञ्च अधश्च बकाधौ तौ च

तो असुरो च तयोः अपि वधः । तत्र वकस्य वधः—“स्वं स्वम्...” इत्यादि नवभिः । तदुक्तम्—“तदा वकारि सुरलोकवासिनः...” (इति) । ततो ज्ञानं पञ्चभिः—“अहो वतास्य बालस्य...” इत्यादिभिः । अधामुरवधस्तु प्रक्षिप्ताध्याये प्रथमः । तदुक्तम्—“... अघोपि यत्स्पर्शनधीतपातकः प्रापात्समाप्त्यं त्वसतां मुदुर्लभम्” (इति) । ‘वकाघासुरयोः’ इति समासस्तु प्रक्षिप्ताध्यायवयस्य एकादशाध्याये प्रक्षिप्तत्वसूचनाय । अध्यायवयस्ये—“एवं विहारेः कोमारः कोमारं जहत्तुव्रजे निवासेः नेतुवर्धेमर्कटोत्पलवनादिभिः ॥” इति श्लोकोपन्यासात् । “अपि शब्दः प्रक्षिप्तत्वसूचनार्थः । एकादशाध्यायस्य एकपञ्चाशत् श्लोकाः ॥ प्रक्षिप्तप्रथमस्य चतुश्चत्वारिंशत् । तत्र दशभिः लीला । भाग्याभिनन्दनं द्वाभ्याम् । एकविंशतिभिः अधामुरवधः । ततो द्वाभ्यां देवमुखम् । द्वाभ्याम् आश्चर्यम् । द्वाभ्याम् अधामुरमुक्तिः । एकेन राजप्रशंसा । त्रिभिः प्रश्नः । एकेन शुकसमाधिः (इति) ॥ ४४ ॥ (प्रक्षिप्तद्वितीयस्य चतुष्षष्टिः) मुदा हर्षेण सखिभिः समं यमुनायाः तीरे हरेः भोजनं चतुभिः । तत्र त्रिभिः प्रश्नाभिनन्दनपूर्वकं कथनप्रतिज्ञा । “लयाघवदानामृत्योः...” इति एकादशभिः भोजनम् । तदुक्तं—“... स्वर्गे लोके मियति बुभुजे यज्ञभुग् बालकेभिः” (इति) । वत्साः आदौ येषां ते वत्सादयः गोपाः तेषाम् आ समन्तात् हरणं प्राप्य स्वकीकारः स्तेयं नाशनं च । नाशनम् अदर्शनम् अत्र धावा ब्रह्मणा “अभोजनमजनिस्तदंतरगतः...” इत्यादि चतुभिः । तदुक्तं “... तद्रत्सानितो वत्सपान् । नीत्वान्यत्र कुरुद्रुहति रवध्यात्...” (इति) । वत्सश्च पालश्च वत्सपाली तयोः कृष्णत्वम् । जातो एकवचनम् । “यावद्रत्सकवत्सकाल्पकवपुः...” इत्यादि एकादशभिः । तदुक्तं “स्वयमात्मगोवत्सान् प्रतिवायोत्सवत्सनेः” (इति) । ब्रह्मणः मोहस्य गमनं “तावदेत्यात्मभूः...” इत्यादि पञ्चविंशतिभिः । तदुक्तम्—“एवं सम्मोहयन् विष्णुं विमोहं विश्वमोहनम् । स्वयैव मायायाजोपि स्वयमेव विमोहितः ॥” (इति) ॥ ६४ ॥ (प्रक्षिप्ततृतीयस्य एकषष्टिः) स्तुतिः प्रकरणत् ब्रह्मणा कृता कृष्णस्य स्तुतिः—“नीमीड्य तेऽश्रवणुपे तद्विदम्बराय...” इत्यादि चत्वारिंशद्भिः । तदुक्तं कृष्णस्य रतिः रमणं क्रीडा सखिभिः सह भोजनरूपा ‘इयभिट्टय

भूमानम्...” इत्यादि पञ्चभिः । तदुक्तं—“वैकोप्यमोजिकवल एहीतः मधु भुज्यताम्...” (इति) ; गतिः गमनं प्रकरणत् कृष्णस्य व्रजे । तदुक्तं “ततो हसन्...” इत्यादि त्रिभिः । अग्रे एकदशभिः एतस्यैव प्रपञ्चः प्रियत्वकारणरूपाः, म त्तु नानुक्रान्तः प्रक्षिप्तत्वात् ॥

द्वादशाध्यायम् अनुक्रामन्ति—

गोचारणे महाक्रीडा धेनुकादिवधस्तथा ।

व्रज आगमनं कृष्णगोपीनेत्रमहोत्सवः ॥ १३ ॥

मृताभिविधाभयानेन गोपान् हरिरजोवयत् ।

‘गोचारणे’ इति । गोचारणं “ततश्च पौगण्डयः श्रितौ...” इत्यादि नवभिः, पूर्णत्वाय । तदुक्तं—“गाश्चारयन्ती सखिभिः समं पदैः” (इति) । तस्मिन् महती क्रीडा दशरसोद्बोधिता—“एवं वृत्तावने...” इत्यादि दशभिः । तदुक्तं—“क्वचिद् क्रीडापरिध्यात्तम्...” इत्यादिभिः । धेनुकादिवधः तथा महान्—“श्रीदामा नाम...” इति विशरथा, देर्यानां नखरूपत्वात् । तदुक्तं—“जातयो धेनुकस्य ये...” (इति) । व्रजे आगमनम् “अथ तालफलात्...” इत्यादि सप्तभिः, धर्मरूपैः । तदुक्तं—“साप्रजो व्रज आत्रजत्...” (इति) । तत्रैव कृष्णस्य गोपीनां नेत्राणां महोत्सवः । तदुक्तं—“पीत्वा मुकुन्दमुखसार-घमक्षिभुङ्क्तेः...” (इति) । अत्र एवं क्रमः—एकेन पूर्वोपसंहारः । एकेन आगमनम् । द्वाभ्यां वर्णनम् । द्वाभ्यां मातृसत्कृतिः । एकेन सर्वमनोरथ-पूर्तिः । यद्वा—कृष्णगोप्योः नेत्रयोः महोत्सवः । कमलभुङ्क्तयोः संगमे उत्सवो लोकप्रसिद्धः । कृष्णनेत्रे कमलपत्रिकापुल्ये गोपीनां भृङ्गतुल्ये । हृत्तिः विधाभयानेन मृतान् गोपान् अजोवयत् । तदुक्तं—“विधाभः तदुपसृश्य देवोपहतचेतसः । निपेतुर्व्यसवः सर्वे मलिनान्ते कुरुद्रहः ॥ ४९ ॥,” “वीक्ष्य तान् वै तथा मृतान् कृष्णो योगेश्वरः । ईक्षयामृतवर्षिण्यां स्वनाथान् सम-जीवयत् ॥ ५० ॥” “एवं योगेश्वरः कृष्णः...” इत्यादि पञ्चभिः धर्मरूपैः । एकञ्च अस्मिन् अध्याये द्विपञ्चाशत् श्लोकाः ॥ ५२ ॥ (इति द्वादशाध्याय-सङ्ग्रहः) ॥ १२ ॥

त्रयोदशाध्यायम् अनुक्राम्यन्ति—

कालीयदमनं स्तोत्रं तद्भार्याणां प्रलापनम् ॥ १४ ॥

‘कालीय’ इति । कालियः कालीयः इति पाठद्वयं साधु । कालीयस्य दमनं द्वात्रिंशद्भिः लक्षणरूपैः । तत्र एवं क्रमः—“उद्यमश्चापराधश्च परीक्षा कार्य-मेव च । स्तुतिः प्रसादः इत्यत्र पठ्यार्थाः परिकीर्तिताः ॥ १ ॥” तत्र उद्यमः अष्टाभिः ऐश्वर्यरूपैः । तत्रापि एकेन संक्षेपः । द्वाभ्यां प्रश्नः । पञ्चभिः हृदप्रवेशः । तदुक्तं “विलोक्य दर्शितां कृष्णाम्...” इति । ततः अपराधः त्रिभिः “तं प्रेक्षणीयम्...” इत्यादि वीर्यरूपैः । ततः परीक्षा “अथ प्रज...” इत्यादि एकादशभिः यशोरूपैः । तत्रो दमनरूपं कार्यम् “इत्थं स्वपोकुलमनन्य...” इति श्रीरूपैः दशभिः । तदुक्तं—“नृत्यन्यदानुनमयन् दमयां वभूव...” इत्यादि । स्तोत्रं तद्भार्याणां नागपत्नीनां स्तोत्रं ज्ञानरूपम् एकत्रिंशत्या आदित्यां वैः । तत्र “दंडानुमोदनं पद्भिर्नमनं दशभिस्तथा । प्रार्थना पञ्चभिश्चेति मेधा स्तुतिरुदीर्यते ॥ १ ॥” “न्याय्यो हि धंड...” इत्यादि पद्भिः दण्डानुमोदनं धर्मरूपैः । “नमस्तुभ्यं भगवते...” इत्यादि दशभिः नमनम् इन्द्रियरूपैः । “एवं ह्यस्य जन्मस्थिति संयमान्...” इति पञ्चभिः प्रार्थना विद्यारूपैः । प्रलापनं प्रसादः वैराग्यरूपः चतुर्दशविद्यासाध्यः कालीयस्य अर्थात् “इत्थं स नागपत्नीभिः...” इत्यादि चतुर्दशभिः । तत्र द्वाभ्यां नेत्ररूपाभ्यां कालीयस्य देहानुसन्धानम् । चतुर्भिः कालीयप्रलापनम् “इत्याकर्षणं...” इति । पञ्चभिः भगवत्प्रसादः विद्यापर्वरूपैः । “एवमुक्तः...” इत्यादि त्रिभिः पूजनपमने । एकेन उपसंहारः । एवं च अस्मिन् अध्याये सप्तपठित् श्लोकाः ॥ ६७ ॥ (इति त्रयोदशाध्यायसंग्रहः) ॥ १३ ॥

चतुर्दशम् अनुक्रामन्ति—

हृदे कालीयसम्बन्धरूपं वल्लिमोचनम् ।

‘हृदे’ इति । श्रीयमुनायाः हृदे कालीयसम्बन्धः कथम् इति राज्ञा एकेन प्रश्ने कृते श्रीशुकैः (शुकस्य) तदुत्तरत्वेन एकोनविंशत्या उत्तरकथनम् “नागालयः...” इत्यादिभिः । तदुक्तम्—“अवात्सीद् गरुडाद्भीतः...”

(इति) । तत्र एकेन प्रश्नः । “उपहार्यैः सर्वजनैः...” इत्यादि सप्तभिः गरुडाध्यायिका । चतुर्भिः सोमर्षाध्यायानम् । “कृष्णं हृदाद्...” इति बहूनेः दावानेः मोचनं मुक्तिः । भगवन्तीत्यय बहूनेः मुक्तिरेव जाता । अष्टभिः कृष्णनन्दादिसङ्गमः ॥ १९ ॥ अन्यथा कालान्तरे पुनरपि उपद्रवं कुर्वन् । बहूनेः सकाशाद् गोपानां च मोचनं पञ्चभिः विद्यापर्वभिः । तदुक्तं “तमस्मिन्मपिदच्छ्रीघ्रमनंत...” (इति पञ्चाविंशति श्लोकाः) ॥ २५ ॥ (इति चतुर्दशाध्यायसंग्रहः) ॥ १४ ॥

पंचदशाध्यायम् अनुक्रामन्ति—

श्रीडाप्रलम्बनिधनं—

‘श्रीडा’ इति । “अथ कृष्णः परिवृतः—” इत्यादि षोडशभिः कृष्ण-कलाभिः श्रीडा । तदुक्तम्—“एवं ती लोकसिद्धाभिः श्रीडाभिश्चेरतुर्वने...” (इति) । तत्र एकेन प्रत्यापत्तिः । द्वाभ्यां ग्रीष्मप्रवृत्तिः । त्रिभिः सरसता । एकेन तुमुमादिसंपत्तिः । एकेन भगवत्प्रवेशः । सप्तभिः श्रीडा । एकेन उप-संहारः । षोडशभिः रामकलाभिः प्रलम्बनिधनम् ॥ ३२ ॥ (द्वात्रिंशत् श्लोकाः । इति पञ्चदशाध्यायसंग्रहः) ॥ १५ ॥

षोडशाध्यायम् अनुक्रामन्ति—

दावानेर्मोचनं गवाम् ॥ १५ ॥

‘दावानेः’ इति । अजानरूपात्मदोषरूपदावानेः सकाशाद् गवां मोचनं रक्षणम् । गवाम् इति उपलक्षणम् भोगोपालमहिषाश्वहरिणादीनाम् । “गोपाश्च गावः प्रसमीक्ष्य भीताः” इति वाक्यात् । तत्र पद्भिः धर्मैः वनप्रवेशः । द्वाभ्याम् अजानात्मदोषाभ्यां भयम् । द्वाभ्यां ज्ञानदेव्याभ्यां प्रार्थनम् । चतुर्भिः पुरुषार्थैः भयमोचनम् । द्वाभ्यां दयास्नेहाभ्यां गोकुले प्रत्यापत्तिः । ॥ १६ ॥ (षोडश श्लोकाः । इति षोडशाध्यायसंग्रहः ॥ १६ ॥)

सप्तदशम् अनुक्रामन्ति—

वर्षाशरद्वयं च

‘वर्षा’ इति । वर्षा एकविंशतिभिः । तत्र द्वाभ्यां पूर्वस्माद्विशेषः । “ततः..” इति द्वाविंशत्या वृष्टिः । तत्र एकेन प्रावृट्प्रावृत्तिः । एकविंशतिः दिव्यधर्माः “सान्द्रनीलाम्बुदे..” इति एकविंशत्या । तत्रापि एकेन आदित्यवर्णनम् । त्रिभिः लोकवर्णनम् । पंचभिः... (क्र) तुभ्यायेन वर्णना । “जलस्थलीकसः सर्वः..” इत्यादि द्वादशभिः मासन्यायेन वर्णनम् । तत्र कारिका मासन्यायेन—“जोवा नद्यः पर्वताश्च मार्गाः कामिन्यः एव च । विद्यावान् चन्द्रमा वर्हो भक्ता वा तापस्तथा ॥ गृहिणो वैदिका मार्गाः राजानश्चेति कीर्तिताः ।” ततः सप्तभिः भगवतः गुणानां च रमणम् । तत्र ‘एवं वनं तद्विष्टम्..’ इत्यनेन भगवत्प्रवेशः । “धेनवो मन्दगामिन्यः..” इति पञ्चभिः क्रीडा । “प्रावृष्टभियं च तां वीक्ष्य..” इति एकेन अभिनन्दनम् । शरद्वर्णनम् अष्टादशभिः “एवं निवसतोस्तस्मिन् रामकेशवयो..” इत्यादिभिः । तत्र सामान्यतः शरत्प्रवृत्तिः एकेन । सप्तदशभिः शरत्कार्याणि । तत्र षोडशकलासहितस्य जीवस्य सप्तदशात्मकस्य शुद्धिः उच्यते । तथाच कारिका—“जलानां सर्वभूतानाम् अभ्रानां ज्ञानिनां तथा । कुटुम्बिनां दरिद्राणां विरक्तानां विमुक्तिनाम् ॥ १ ॥ योगिनां गोपिकानां च शरत्सम्बन्धतो हरिः । दशदोषान् निवार्याथ चित्तस्थायि निवार्य च ॥ २ ॥ सर्वांशोभयद्देवः पद्मगुणैश्चन्द्रमानवाः । गावः पश्यानि भूमिश्च वर्णाश्चैव विभाविताः ॥ ३ ॥ शरदः कार्यमेतावद्भगवानविशद्यतः ।” ॥ ४९ ॥ (एकोनपञ्चाशत् श्लोकाः इति सप्तदशाध्यायसंग्रहः) ॥ १७ ॥

अष्टादशम् अनुकामन्ति—

गोपीनां वचनानामृतम् ।

‘गोपी’ इति । गोपीनां वचनम् अमृतञ्च । तत्र एवं क्रमः कारिकायां— “प्रवेशबोधने तासाम्..” इत्यादि । एकेन वनप्रवेशः । द्वितीयेन वेशुवाचनम् । तृतीयेन गोपीनां वर्णनोद्यमः । चतुर्थेन अशक्तिः । पञ्चमेन गुणसौल- विशिष्टोद्बुद्ध-श्रृङ्गार-रसात्मक-स्वरूप-स्थापनम् । षष्ठेन वर्णनाभिरमणे । “अशप्वताम्..” इति त्रयोदशभिः वेणुगीतम् । कारिका—“रसद्वयार्थं द्वितयं वेणुपूरणमेकतः । स्वच्छन्दपादगमने हेतुश्चापि तथा परः ॥ १ ॥ चतुर्भिः

पीठिकैव स्यात् पङ्क्तिर्वेणोस्तु वादनम् । द्वाभ्यां भक्तेः प्रतिष्ठा च दोषः स्याद्वर्णनेन्यथा । वेणुरीत्यात्समाधानमन्यथा स्यात्तु द्वुषणम् ॥ २३ ॥” अन्तिमेन अमृतं भाष्यः । तदुच्यते— “वर्णयत्यो मिथो गोप्यः क्रीडास्तेनमयतां ययुः ॥ २० ॥ (विंशति श्लोकाः । इति अष्टादशाध्यायसंग्रहः) ॥ १८ ॥

एकोनविंशाध्यायम् अनुकामयन्ति—

वनं गोकुलकन्यानां वस्त्राणां हरणं मुदा ॥ १६ ॥

वनभायकथा

‘व्रतम्’ इति । गवां कुलं समूहो यस्य स गोकुलः तन्दगोपः तस्य कन्यानां सम्पादितानां व्रतं व्रतकरणं “हेमन्ते प्रथमे म.सि..” इत्यादि साङ्केसत्त्वभिः । वस्त्राणां हरणं मुदा हर्षेण अर्थात् त.म.मेव. देहलोदीपकन्यायेन मध्यमे (मुदा ?) तत्रापि योज्यम्, “भगवान्मदभिप्रेत्य..” इति एकविंशत्या, कालकृत- प्रतिबन्धपापमार्थम् । तत्र एकेन भगवदागमनम् । एकेन वस्त्रहरणम् । द्वाभ्यां गोप्याकारणम् । द्वाभ्यां क्रीडावचनोद्यमे । द्वाभ्यां गोपीवचनानि । एकेन भगवद्वचनम् । एकेन किञ्चिद् भगवद्वाक्यकरणम् । एकेन भगवत्प्रसादः । एकेन भगवद्वाक्यम् । एकेन भगवदुक्तकरणम्, सगुणनिर्गुणभेदेन । “तास्तथा..” इत्यनेन वासोदानम् । “वृद्धं प्रलुब्धाः..” इत्यनेन तासां धैर्यम् । “परिधाय..” इत्यनेन वासोधारणम् । “तासां विज्ञाय..” इति एकेन वरोद्यमः । “सङ्कल्पो विदितः..” इत्यादि त्रिभिः वरदानम् । “इत्यादिष्टाः भगवता..” इति एकेन कुमारीणां व्रजगमनम् ॥ २८ ॥ वनस्य भाग्यस्य कथनम् “अय गोपे..” इति दशभिः । तत्र “अथ गोपे..” इत्यनेन स्थानांतरगमनम् । “निदाधा- कतिपे..” इत्यनेन वचनहेतुः । “श्रे कृष्णा..” इत्यादि पञ्चभिः वनभाय- कथनम् । “इति प्रवावस्तवकः..” इत्यनेन यमुनापुलिनगमनम् । तत्रगाः पायातिव्याप..” इत्यनेन जलपानम् । “तस्य उपवने..” इत्यनेन प्रार्थनो- द्यमः । एवंसाङ्केनचत्वारिंशत् ॥ ३९ ॥ (इति एकोनविंशाध्याय संग्रहः ॥ १९ ॥)

विशाध्यायम् अनुक्राम्यन्ति—

गोपप्रार्थना प्रेषणं मखे ।

विप्रभायप्रिसादश्च पश्चात्तापो द्विजन्मनाम् ॥ १७ ॥

'गोपप्रार्थना' इति । श्रीरामकृष्णं प्रति गोपकृता प्रार्थना "राम राम..." इति एकेन । श्रीकृष्णेन गोपानां प्रेषणं द्विजमखे अङ्गिरसाख्ये "इति विज्ञापितो गोपैः..." इति षोडशभिः कलाभिः । "श्रुत्वाच्युतमुपायान्तम्..." इति एकविंशत्याः विप्रमार्यासु प्रसादः । चकारेण एकस्याः अङ्गीकारः । (अत्र 'शोधपत्रम्'—'मखे प्रेषणं द्वादशभिः पुरुषावयवैः । तत्र एकेन भगवद्ब्रह्मचनोद्यमः । द्वाभ्यां हरिवचः ॥ ३ ॥ एकेन गोपगमनम् ॥ ४ ॥ त्रिभिः गोपैः अत्रयाचनम् ॥ ७ ॥ चतुर्भिः द्विजतूष्णींभावेन गोपप्रत्यापत्तिः ॥ १२ ॥ (?) विप्रभायप्रिसादश्च "तद्पाकार्ण्यः" इत्यादि एकविंशत्याः । तत्र एकेन भगवद्ब्रह्मचनोद्यमः । एकेन आज्ञा । एकेन यज्ञपत्नीसमीपे गमनम् । द्वाभ्यां याचना । चतुर्भिः अभिसार-दर्शने । एकेन भगवद्रूपवर्णनम् । एकेन तापहानिः । एकेन हर्युक्त्युद्यमः । चतुर्भिः हरिवचनानि । द्वे यज्ञपत्नीवचने । द्वे कृष्णवचने एकेन पत्नीगमनम् ॥ २१ ॥ चकारेण एकस्याः अभ्युपगमः । एकेन भोजनम् । एकेन उपसंहारः । इतिशोधपत्रम्) "अथानुस्मृत्य विप्राः" इति पञ्चदशभिः पश्चात्तापो द्विजन्मनाम् । एवञ्च एकपञ्चाशत् (श्लोकाः) ॥ ५१ ॥ (इति विशाध्यायसंग्रहः ॥ २० ॥)

एकविंशाध्यायम् अनुक्रामन्ति—

यागभङ्गो महेंद्रस्य

'याग' इति । "भगवानपि तत्रैव..." इति अष्टविंशद्भिः । तत्र द्वाभ्याम् इन्द्रयागोद्यमः । पञ्चभिः भगवत्कृतः प्रश्नः विद्यापर्वरूपैः । "पञ्चन्यो भगवानिन्द्रः..." इति चतुर्भिः नन्ददत्तोत्तरः पुरुषार्थरूपैः । "वचो निशम्य..." इति एकेन भगवद्वाक्यहेतुः । "कर्मणा जायते..." इति अष्टादशभिः

१ अत्र शोधपत्रमिदं ग्रन्थकृतैव पत्रेषु योजितम् (संग्रहकः)

भगवद्वाक्यनि विद्यारूपैः । "कात्वात्मना..." इति सप्तभिः धर्माधर्मरूपैः भगवद्भक्तगोवर्द्धनयागकरणम् । "इत्यद्विगोद्विजमखम्..." इति एकेन प्रत्यापत्तिः ॥ ३८ ॥ (अष्टाविंशत् श्लोकाः । इति एकविंशाध्यायसंग्रहः) ॥ २१ ॥

द्वाविंशाध्यायम् अनुक्रामन्ति—

धृतिर्गोवर्धनस्य च ।

सुरेन्द्रगर्वहरणम्

'धृतिः...' इति । "इन्द्रस्तदात्मनः पूजाम्..." इत्यादि त्रयस्त्रिंशद्भिः । तत्र आर्षैः दशभिः ऐ... रुषार्थनाशर्कैः इन्द्रकृता व्रजपीडा । "अत्यासार..." इति त्रिभिः कायवाड्यनोभिः गोपानां शरणगमनम् । "शिलावर्ष..." इति पञ्चभिः भगवद्विचारः । "इत्युक्त्वैकेन हस्तेन..." इति पञ्चभिः गोवर्द्धनोद्धरणं विद्यापर्वरूपैः । चकारः अनुच्चयसमुच्चायकः सुरेलीस्वरदिषु अङ्गुल्यादि... । "कृष्णयोगानुभावं तम्..." इति पञ्चभिः गोवर्द्धन-स्थापनम् । सुरेन्द्रस्य गर्वस्य हरणम् "कृष्णयोगानुभावम्..." इति एकेन । "तं प्रेमवेगात्प्रभृता व्रजोवस..." इत्यादि पञ्चभिः प्रेमोद्रेकः । (॥ ३३ ॥) एवं त्रयस्त्रिंशत् (श्लोकाः । इति द्वाविंशाध्यायसंग्रहः) ॥ २२ ॥

त्रयोविंशाध्यायम् अनुक्रामन्ति—

गर्गगीतस्य वर्णनम् ।

गोपशङ्कापगमनम्

'गर्गगीतस्य वर्णनम्' इति । "एवं विधानि..." इति चतुर्दशभिः चतुर्दशविधाज्ञानम्, गोपानां शङ्का । "श्रूयतां मे वचो गोपाः..." इति अष्टभिः 'गर्गगीतस्य वर्णनम्' ऐश्वर्यं च अष्टधा । "इत्यद्धा माम्..." इति साधेद्वाभ्यां गोपशङ्कापगमनम् । 'देवे वर्पति यज्ञविप्लवरुपा...' इति एकेन शुककृतं भगवन्नमनम् ॥ २५ ॥ (साद्धपञ्चविंशति श्लोकाः । इति त्रयोविंशाध्यायसंग्रहः) ॥ २३ ॥

क्युरुन्मत्तकवद्...” इति पादोनदशभिः तापस्य लक्षणम् । “इत्युन्मत्तकवो गोप्यः...” इति अर्द्धेन तापस्य फलम् । “लीला भगवतः...” इति सार्द्धेनवभिः लीलायाः लक्षणम् । “एवं कृष्णं पृच्छमाना...” इति एकैकं लीलायाः फलम् । “पदानिव्यक्तमेतानि...” इति दशभिः भगवतः लक्षणम् । “इत्येवं दर्शयत्यस्ता...” इति अर्द्धेन भगवत्फलम् । “...यां गोपीमनयत्...” इति सार्द्धेनवभिः गुणातीतायाः मानांतद्धानतापाः । गानस्य तु लक्षणं तृतीये । फलं चतुर्थे ॥ एवं चतुश्चत्वारिंशत् श्लोकाः ॥ (४४ ॥ इति सप्तविंशध्यायसंग्रहः ॥ २७ ॥)

एषाम् अदर्शने । अष्टाविंशो दर्शनाभावो गोपीनां । तेन वाक्प्राणव्यापाराः । “... दयितदृशयाताम्...” “... सरसिजोदरश्रीमुपादृशा” । “जलहहाननं चारु दर्शय...” । “... धनरजस्वलं दर्शयन्मुहुः” । “प्रिय-प्रेमवीक्षणम्” । “तृटिर्युगायते स्वामपश्यताम्” । “जडउदीक्षतां पक्ष्मकृद्दृशाम्” । “... प्रहसिताननं प्रेमवीक्षणम् । बृहदुरः श्रियो वीक्ष्य धाम ते...” । वाक्प्राणस्तु तृतीयाः स्यात् । गोप्य ऊचुः- “स्वयि धृतासवः” । “मधुरया गिरा बल्युवाक्यया...” । “तव कथामृतम्...” । “... रहसि संविदो या हृदि स्पृशः...” । “रहसि संविदं हृच्छयोदयम्...” । तथा च “जयति...” इत्यादि चतुर्षु पद्येषु राजसी-तामसी-सात्त्विकी-निर्गुणा क्रमेण अन्यपूर्वाः । “ज्वरचिताभयम्...” इति चतुर्षु गुणातीता-सात्त्विकी-तामसी-राजसी इति क्रमेण अनन्यपूर्वाः । “तव कथामृतम्...” इति त्रिभिः सात्त्विकी-तामसी-राजसी इति क्रमेण अनन्यपूर्वाः । “दिनपरिक्षये...” इति त्रिभिः तामसी-राजसी-सात्त्विकी इति क्रमेण अन्यपूर्वाः । “अटति...” इत्यादि त्रिभिः राजसी-तामसी-सात्त्विकी इति क्रमेण अन्यपूर्वाः । “वृजवनीकसाम्...” इति द्वाभ्यां राजसीसात्त्विकयो अनन्यपूर्वे ॥ एवम् एकौनविंशति श्लोकाः ॥ १९ ॥ (इति अष्टाविंशध्यायसंग्रहः) ॥ २८ ॥

चतुर्थे स्वीकारः गोपीनाम् । ततः इन्द्रियैः लीला । “ताः समादाय कालिद्या निर्विषय पुलिनं विभुः...” । “काचित् कराम्बुजं शोरेर्जग्धे...” इत्यादि । तथा च “इति गोप्यः...” इत्यादि त्रिभिः प्रादुर्भावैः । “काचित्

कराम्बुजं शोरेः...” इत्यादि पंचभिः इन्द्रियैः कार्यम् । “सर्वास्ताः...” इति द्वाभ्यां तापपरित्यागः । “ताः समादाय...” इति चतुर्भिः पुलिनप्रवेशः । “यमाजयिस्ता...” (इति) एकैकं वाक्यप्रस्तावना । “यजतोऽभुभजन्ति...” इत्यनेन प्रश्नः । “मिश्रो भजन्ति...” इति पङ्क्तिः प्रत्युत्तरः ॥ एवं द्वाविंशति श्लोकाः ॥ (॥ २२ ॥ इति एकौनविंशध्यायसंग्रहः ॥) ॥ २९ ॥

पञ्चमे विहारः । शारीरीलीला । “... तदङ्गोपचिताशिवः ॥ तवारभत गोविन्दो रासकीडामनुव्रतः ॥” “गृहीत कंठयस्तद्द्वार्यां गायन्त्यस्तं विजहरे” । “रेमे रमेशो ब्रजसुन्दरीभिः...” । “कृष्ण विक्रीडितं वीक्ष्य...” । “... रेमे य भगवांस्त्राभिः” । “तासामतिविहारेण...” । “रेमे स्वयं स्वरतिरत्र गजेन्द्रलील...” । “विक्रीडितं ब्रजवर्धुभिः...” । “जहुविरहजं तापं तदङ्गोपचिताशिवः” । “... अन्योग्यावद्वाहाहुभिः” । “... गृहीतानां कंठे स्वनिकटं स्त्रियः” । “पादस्यासंभुंजविधुतिभिः...” । “... गोप्य समं भगवता तनुतुः...” । “... तत्कररहस्यर्षप्रमोदाः” । “... अङ्गसङ्घृष्टस्त्रजः...” । “... आत्मन्यवरुद्धसौरतः...” । “... तन्येच्छयास्तवपुषः...” । “... एष कीडनदेहभाक्” । तथाच “इत्यं भगवतो गोप्यः...” इति एकैकं तापत्यागः “तवारभत...” इति सप्तभिः रासः । “उच्चैर्जगुन्तयमाना...” इति सप्तभिः गानपूर्विका पङ्क्तिर्मलीसा । “कर्णोत्पलालकः...” इति पद्येन गाडनृत्यम् । “एषं परिष्वङ्गकराभिमर्शः...” इति चतुर्भिः निधुननम् । “तासामति-विहारेण...” इति श्रमापनोदनम् । “गोप्यः स्फुरत्सुरटकुंडलः...” इति मानगाने । “ताभिर्पुतः श्रममनोहितुम्...” इति द्वाभ्यां जलक्रीडा । “ततश्च कृष्णोपवने...” इति द्वाभ्यां विचरणोपसंहारी । “संस्थापनाय...” इति त्रिभिः प्रश्नः । “धर्मव्यतिक्रमो दृष्टः...” इति अष्टभिः प्रश्नस्य उत्तरः । “तासुयन् घ्नन् कृष्णाय...” इति ब्रजवृत्तान्तः । “ब्रह्मरावः...” इति गोपीनां प्रत्यापत्तिः । अन्तिमेन फलम् । एवञ्च एकौनवत्वारिंशत् (श्लोकाः) ॥ ३९ ॥ (इति त्रिंशध्यायसंग्रहः) ॥ ३० ॥

एकविंशध्यायम् अनुक्रमन्ति—

सर्पस्त्रन्दस्य मोक्षणम् ॥ १९ ॥

शंखचूडवधः

‘सर्पात्’ इति । ‘भीत्रार्थानां भयहेतुः’ इति अपादानम् । मथुरातः पश्चिमदिशे अर्बुदाचलाद् योजनचतुष्टये स्थिते तीर्थविशेषे अत्रिकालये कोटी-श्वराधिष्ठिते सरस्वतीतीरे मुक्तस्य नन्दस्य सर्वविद्याधररूपात् सप्तत् विमोक्षणं श्रीकृष्णेन कृतम् विशत्या पद्यैः । अत्र अर्द्धं पद्यं पतितम् । अर्द्धस्यैव वा पूर्णत्वेन गणना । तदुक्तम्—“एकदा देवशात्रायाम्...” इत्यादि । तत्र एकेन अम्बिकावनगमनम् । “तत्र...” इति त्रिभिः तीर्थकृत्यम् । “केशिन्महान्-हृस्तिस्मिन्...” इति सार्द्धैस्त्रिभिः सर्पेण नन्दप्रासः । “तमस्पृशत्पदा...” इति सार्द्धेन कृष्णेन नन्दमोचनम् । “तमपृच्छद्...” इति एकेन प्रश्नोद्यमः । “को भवान्...” इति प्रश्नः । “अहं विद्याधरम्...” इति सार्द्धैः पद्भिः सप्तभिः वा प्रत्युत्तरः । “इत्यनुजाप्य...” इति द्वाभ्यां प्रत्यापत्तिः सर्पेण नन्दयोः । “कदाचिद्...” इति त्रयोदशभिः शंखचूडवधः । तत्र सार्द्धेन रामोद्यमः । “अलंकृतः...” इति सार्द्धैः त्रिभिः पद्मगुणवर्णनम् ; “गवं विकीडितोः स्वैरं...” इति अष्टभिः शंखचूडनाम्नः नारदसंप्रेषितस्य धनदानुचरस्य वधः । न तु मोक्षः । अतः मुष्टिना मारणम् । तत्सत्ता अग्रहणं च । तदुक्तम्—“अग्रजाशब्दास्त्रीत्यां पश्यन्तीनां च योषिताम्...” (एवं त्रयस्त्रिंशत्श्लोकाः) ॥ ३३ ॥ (इति एकत्रिंशत्श्लोकाः) ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशत्श्लोकाः अन्तुक्राम्यन्ति—

पश्चाद् गोपीगीत

‘पश्चाद्’ इति पारोक्ष्ये । यदा भगवति वने गते “तमनुद्रुतचेतसः” । पश्चाद् पदं फलप्रकरण-समाप्ति-सूचकम् । गोपीभिः गीतं गोपीगीतम् । वृषस्य अर्द्धं हिंसनम् । ‘अर्द्धहिंसनं, चुरादिः । गोपीगीतं च वृषार्द्धं च एतयोः समाहारः । ‘गोपीः’ इति समासः तमःप्रधाने गोकुले अध्यायवयेण गजसप्रकरणेय लीलाकारणसूचकः । द्वादशभिः युगैः गोपीगीतम् । तत्र अयं क्रमः—“देवस्त्रियस्तथा गावाः सन्तिः पादपा लताः । पक्षिणश्च तथा मेघाः ब्रह्माद्या गोपिकास्तथा । इरिण्यो देवगन्धर्वः द्विधा च भगवान् हरिः” उपक्रमोपसंहाराभ्यां च एकं युगलम् अधिकमसलीनाबोधकम् ॥

(एवं षड्विंशति श्लोकाः) ॥ २६ ॥ (इति द्वात्रिंशत्श्लोकाः) ॥ ३२ ॥

त्रयस्त्रिंशत्श्लोकाः अन्तुक्राम्यन्ति—

वृषार्द्धनम् ।

कंसनारदसंवादः कंसकूरकथा ततः ॥ २० ॥

‘वृषार्द्धनम्’ इति । वृषस्य अर्द्धं नाशः सार्द्धैश्चदशभिः । तत्र सार्द्धैर्भ्याम् अरिष्टायमनम् । सार्द्धेन अरिष्टवलवर्णनम् । सार्द्धेन वज्रोक्तसं भयम् । एकेन भगवता त्रप्रवास्याश्वत्थसन्पूर्वकम् अरिष्टाह्वानम् । एकेन अरिष्टाक्षेपः । पंचभिः अरिष्टेन समं भगवतः युद्धम् । एकेन अरिष्टमारणम् । एकेन त्रियमाणस्य वर्णनम् । एकेन भगवतः गोष्ठप्रवेशः । सार्द्धैर्भ्यां कंसनारदसंवादः । कंस-कूरकथा ततः त्रयोविंशतिभिः । तत्र द्वाभ्यां त्रयोदशवन्धः । सप्तभिः केशिप्रेष-णम् । एकादशभिः अक्रुराज्ञानम् । द्वाभ्याम् अक्रुरविज्ञानम् । एकेन कंसस्य गृहप्रवेशः ॥ (एवं षट्त्वारिंशत् श्लोकाः) ॥ ४० ॥ (इति त्रय-स्त्रिंशत्श्लोकाः) ॥ ३३ ॥

चतुस्त्रिंशत्श्लोकाः अन्तुक्राम्यन्ति—

केशिनो निधनं कृष्णान्नारदविकथा ततः ।

व्योमामुरवधः

कृष्णात् हेतोः केशिनः निधनं मरणं तत्रभिः । कृष्णः आकर्षकः । स च केशी । केशेण गृहीत्वा आकर्ष्य मुगमः । अन्ये मारयित्वा त्यजन्ति भगवन्तु मारयित्वा गृह्णाति । अतएव तद्द्वारे भूजप्रवेशः । तत्रभिः इयं कथा (नव-गुणसंख्या) । तत्र द्वाभ्यां सबलस्य केशिनः व्रजे आगमनम् । एकेन भगवता केशी आहूतः । चतुर्भिः केशिभगवतः युद्धम् । एकेन केशिमरणम् । नारदवि-कथा षोडशभिः कलासंख्याकैः । पञ्चदशैः गुणाः मध्ये षोडशकलः पूर्णचन्द्रः । एकेन नारदागमनम् । चतुर्दशभिः नारदवाक्यानि । तत्र पञ्चभिः कृतवर्णनम् । सप्तभिः करिष्यमाणवर्णनम् । द्वाभ्यां गतिनती । व्योमवधः तत्रभिः । व्योमः व्यापकवन्तु । व्यापकत्वस्य ईश्वरधर्मत्वेन तन्ममसंनयाकैः पद्यैः तद्वध-

निरूपणम्, नवगुणातीत ईश्वरः (इति) । (एवं चतुस्त्रिंशत् श्लोकाः) ॥ ३४ ॥
(इति चतुस्त्रिंशोऽध्यायसङ्ग्रहः) ॥ ३४ ॥

पंचत्रिंशाध्यायम् अनूत्कामन्ति—

अक्रूरगमनं गोकुलेषु च ॥ २१ ॥

दर्शनानन्दं हृष्टात्मारोमांचो गद्गदा गिरः ।

द्वाभ्याम् अक्रूरगमनम् । विशत्या अक्रूरमनोरथः । चतुर्भिः भगवदीय-
देहप्राप्तिः । षड्भिः दर्शनम् । द्वाभ्यां भक्तिप्रपत्ती । पञ्चभिः भगवत्कृतं
सन्मानम् । त्रिभिः नन्दकृतम् । एवं त्रिचत्वारिंशत् । “अक्रूरागमनं गोकुलेषु
...” इति बहुवचनं तु सर्वेषां गोपानां गोकुलानि पृथक्-पृथक् स्थितानि तत्र
सर्वत्र भगवान् गोदीह्नं कुरुते । तत्र सर्वत्र अक्रूरगमनं भातम् । चकारेण स
अक्रूरः भगवत्पदं प्रापत् । तस्मिन् देहे भगवता अमङ्गलनिवृत्त्यर्थम् अन्यः जीवः
स्थापितः । अताएव मणिचौर्यादिकं सङ्गच्छते । (तथा च) “अक्रूरोऽपि...”
इति द्वाभ्याम् आगमनम् । “किं मयाचरितम्...” इत्यादि विशत्या मनोरथः ।
प्रथमेन भगवन्माहात्म्यम् । द्वाभ्यां वाधकपरिहारः । “कंसो वत...”
इत्यनेन कंसप्रणशः । “यदचित्तम्...” इति सप्तभिः दर्शनप्र (आ?)शंसा ।
“अथावष्टब्द...” इति अष्टभिः दर्शनानन्तरमनोरथः । “किं वाग्रजः...” इति
एकेन बलदेवविषयकः मनोरथः । “इति संचिन्तयन्...” इत्यनेन गोकुलप्रवेशः ।
दर्शनानन्देन हृष्टः आत्मा चतुर्भिः । “ददर्श...” इति षड्भिः दर्शनम् ।
“रयात्तूर्णमवप्लुत्य...” इति द्वाभ्यां रोमांचः गद्गदा गिरः । “भगवांस्त-
मभिप्रेत्य...” इति पंचभिः सन्माननम् । “पप्रच्छ...” इति त्रिभिः नन्दकृतं
वाचिकं सन्माननम् ॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥ (एवं त्रिचत्वारिंशत्
श्लोकाः) ॥ ४३ ॥ इति पञ्चत्रिंशाध्यायसङ्ग्रहः ॥ ३५ ॥

षट्त्रिंशाध्यायम् अनूत्कामन्ति—

संवादो रामकृष्णाभ्यां वर्णितं कंसचेष्टितम् ॥ २२ ॥

रामकृष्णप्रयाणं च तथा गोपीप्रलापनम् ।

मथुरागमनं मध्ये हृदे कृष्णस्य दर्शनम् ॥ २३ ॥

‘संवादः’ इति । ‘सुखोपविष्टः...’ इत्यादि नवभिः अक्रूरस्य राम-
कृष्णाभ्यां संवादः । तत्र त्रिभिः सुखेन स्थितिः । चतुर्भिः भगवत्कृतः प्रणः ।
द्वाभ्याम् अक्रूरेण कंसचेष्टितं वर्णितम् । “तच्छ्रुत्वा भगवान्कृष्णः...” इत्यादि
मार्द्धत्रिभिः रामकृष्णप्रयाणम् । चकारेण गोपिकानामपि सहयानम् ।
“गोप्यस्तास्तदुपभृत्स्य...” इत्यादि पंचत्रिंशत्त्रिभिः गोपीप्रलापनम् । तत्र
आद्यः षड्भिः काथिकः प्रलापः । “अहो विधातस्तव न क्वचिद् दयाः...”
इत्यादि द्वादशभिः वाचनिकः । तत्र त्रिभिः ब्रह्मोपालम्भः । चतुर्भिः भगव-
दुपालम्भः । “नैतद्विद्मः...” इति एकेन अक्रूरोपालम्भः । “अनाद्रीधोः...”
इत्यनेन सर्वोपालम्भः । “निवारयामः...” इति एकेन वाधवोपालम्भः ।
“यस्यानुरागः...” इति द्वयेन स्वात्मोपलम्भः । “एवं युवाणा...” इति
एकेन मानसिकः । मथुरागमनं “स्त्रीणामेव...” इत्यादि षड्भिः मध्ये हृदे
कृष्णस्य दर्शनं “भगवानपि संग्राप्तः...” इत्यादि विष्णुत्वा । तत्र सप्तभिः—
“प्राप्तिश्च जलपानं च स्नानं च विधिपूर्वकम् । अपतो दर्शनं भूयः स्पन्दे दर्शनं
तयोः ॥ १ ॥ विस्मयः सलिले भूयो ह्यन्तरनिदर्शनम् । एकेन बलरूपस्य
वर्णनं मत्तभिर्हरेः ॥ २ ॥ द्वयेन भक्तसाहित्यं जक्तिसाहित्यमेकतः । भावो-
त्पत्तिस्तथैकेन गिरागद्गदाया स्तुतिः ॥” (एवं सप्तपञ्चाशत् श्लोकाः ॥ ५७ ॥
इति षट्त्रिंशाध्यायसङ्ग्रहः) ॥ ३६ ॥

मत्तत्रिंशाध्यायम् अनूत्कामन्ति—

स्तुतिः

‘स्तुतिः’ इति । अक्रूरकृता भगवत्स्तुतिः । सा चतुर्णां सुबोधिन्ध्यायम् उक्ता—
“स्वरूपेण प्रमाणेन युक्त्या वस्तुस्वरूपतः । अवतारफलैश्चैव सर्वस्यैव विनिर्णयः”
इति । तत्र “नतोस्म्यहम्...” इति द्वाभ्यां स्वरूपेण स्तुतिः स्वरूपस्य
मूलरूपावताररूपाभ्यां द्विविधत्वात् । “नैते स्वरूपम्...” इत्यादि नवभिः
प्रमाणेन, प्रमाणस्य ब्रह्म-योगि-साधु-वैतानिक-द्विज-ज्ञानि-संस्कृतात्मशैवा-
न्यदेवभक्त-तत्समुदायभेदेन तत्रिविधत्वात् । “तुभ्यं नमस्त...” इत्यादि
चतुर्भिः युक्त्या वस्तुस्वरूपतः स्तुतिः । अवतारफलैः स्तुतिः “यानि यानीह

रूपाणि. . .” इति पञ्चदशभिः । तत्रापि एकेन सामान्यतः सर्वावितारनिरूपणम् । पङ्क्तिभिः दशावतारनिरूपणम् । “भगवत्सर्वलोकोयम्. . .” इत्यनेन सर्वदुःखनिवेदनम् । “अहं च. . .” इति चतुर्भिः स्वदुःखनिवेदनम् । “सोऽहं तव. . .” इत्यनेन शरणागतः । “नमो विज्ञानमात्राय. . .” इति द्वाभ्यां नतिप्रार्थने ॥ एवं त्रिंशत् (श्लोकाः ॥ ३० ॥ इति सप्तत्रिंशोऽध्यायसङ्ग्रहः) ॥ ३७ ॥

अष्टत्रिंशोऽध्यायम् अनूत्कामन्ति—

पुरगतिः पश्चाद्दर्शनं पुरसंपदः ।

रजकस्य शिरच्छेदो वायकस्य वरादयः ॥ २४ ॥

सुदान्नो वरदानं च

‘पुर’ इति । आधाः पञ्चश्लोकाः “स्तुवतस्तस्य भगवान्दर्शयित्वा जले वपुः” इत्यादयः पूर्वशेषाः । “इत्युक्त्वा चोदयामास. . .” इत्यादिभिः त्रयोदशभिः, तत्र त्रयोदशमासीय-लीलायाः कर्तव्यत्वात् । तत्र एवं विभागः— एकेन गमनम् । “मागं ग्रामजनाः. . .” इत्यनेन सर्वेषां दर्शनम् । “तावद्. . .” इत्यनेन नन्दादिप्रतीक्षा । “तान्. . .” इत्यनेन नन्दकृष्णसमागमः । “भवान्. . .” इत्यनेन अक्रूरं प्रति गमनाज्ञा । “नाहं भवद्भ्याम्. . .” इत्यादि षड्भिः ऐश्वर्यादिक्रमेण अक्रूरकृता भगवत्प्रार्थना । “आयास्य. . .” इत्यनेन अक्रूरं प्रति गृह्यागमनाज्ञा । पश्चाद् इति “एवमुक्तो भगवता. . .” इत्यनेन अक्रूरगमनानन्तरम् । पुरसंपद्वर्शनं त्रयोदशभिः । तत्र “अथापरान्ति. . .” इत्यनेन गमनोद्यमः । चतुर्भिः धर्मार्थकाममोक्षबोधनेः “ददशं ताम्. . .” इत्यादिभिः दर्शनम् । “तं संप्रविष्टो वसुदेव. . .” इत्यादि पञ्चभिः स्वीसत्कारः । “दध्यक्षते. . .” इत्यादि द्वाभ्यां पौरकृतः कायिकवाचिकसत्कारः । रजकस्य शिरच्छेदो “रजकं कंचिद्. . .” इत्यादि अष्टभिः । वायकस्य वरादयः । आदिपदेन सारूप्य-जलेश्वर्य-स्मृतीन्द्रियाणि । “ततस्तु वायकः. . .” इत्यादि त्रिभिः । सुदान्नो वरदानं च दशभिः । “ततः सुदान्नः. . .” इत्यादि त्रिभिः । तत्र अद्धेन एतद्गृहप्रवेशः । “तौ दृष्ट्वा. . .” इत्यादि सार्द्धः षड्भिः तस्य भक्त्यादिभिः, तत्रापि सार्द्धेन कायिकी पूजा । “प्राह तः मार्थकं

जन्मः. . .” इत्यादिभिः चतुर्भिः (वाचिकी ?) । का. . . “तावां ज्ञापयताम्. . .” इत्यनेन मानसी । “इत्यभिप्रेत्य. . .” इत्यनेन मातापरिधापनम् । “ताभिः स्वलंकृताः. . .” इत्यनेन भगवति शोभा । “मोपि. . .” इति द्वाभ्यां वरदानगती ॥ एवं द्विपञ्चाशत् (श्लोकाः ॥ ५२ ॥ इति अष्टत्रिंशोऽध्यायसङ्ग्रहः) ॥ ३८ ॥

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायम् अनुत्कामन्ति—

कुब्जासंदर्शनं हरेः ।

धनुर्भङ्गः सैन्यवधः कंसदुर्हेतु दर्शनम् ॥ २५ ॥

‘कुब्जा. . .’ इति । द्वादशभिः “अथ व्रजन्. . .” इत्यादिभिः । तत्र एकेन कुब्जामागमः । “का त्वं वरोर्वा. . .” इत्यनेन भगवत्प्रश्नः । “दास्यस्म्यहं मुन्दरवर्ये. . .” इति कुब्जोत्तरम् । “रूपपेशलमाधुर्यं. . .” इति अनुनेपदानम् । “ततस्तावद्भङ्गः. . .” इति अनुलेपाङ्गीकारः । “प्रसन्नो भगवान्. . .” इति प्रसादः । “पद्भ्यामाक्रम्य प्रपदे. . .” इति ऋजुकरणम् । “सा तदूर्जसमानाङ्गी. . .” इति द्वाभ्याम् अतद्भुवद्विः । “एहि वीर गृहम्. . .” इति भगवत्प्रार्थना । “एवं स्त्रियाम्. . .” इति भगवद्बचनोद्यमः । “एष्यामि. . .” इति भगवद्बचनम् । “विसृज्य माध्या वाण्या ताम्. . .” इति वणिग्जनकृतपूजा । “तद्दर्शनस्मरक्षोभाद्. . .” इति साधारणस्त्रीणाम् उपयोगः । धनुर्भङ्गः “ततः. . .” इति पञ्चभिः । तत्र “ततः पौरान्. . .” इति पञ्चभिः धनुर्भङ्गः । “अथ तान्. . .” इति द्वाभ्यां सैन्यवधः । “तयोः. . .” इति चतुर्भिः भगवच्चरित्रम् । “कंसस्तु धनुष. . .” इति षड्भिः कंसदुर्हेतुदर्शनम् । “व्युष्टायां निशि. . .” इत्यादि सप्तभिः रङ्गोत्सवः । (एवम् अष्टत्रिंशत् श्लोकाः ॥ ३८ ॥ इति एकोनचत्वारिंशोऽध्यायसङ्ग्रहः ॥ ३९ ॥)

चत्वारिंशोऽध्यायम् अनुत्कामन्ति—

रङ्गोत्सवे कुचलयापीड-युद्ध-विधातनम् ।

दर्शनं रामकृष्णस्य पौराणां प्रेमदर्शनम् ॥ २६ ॥

‘कुवलयपीड...’ इति। कोः पृथिव्याः बलयं समुद्रम् आसमन्ताद् पीडयति तस्य युद्धे विधातनम् “अथ कृष्णश्च रामश्च...” षोडशभिः। “अथ कृष्ण...” इत्यनेन अनाहृतयोः रामकृष्णयोः रङ्गदर्शनार्थं प्रवृत्तिः। “रङ्गद्वारं समासाद्य...” इति त्रयोदशभिः। कालस्य त्रयोदशमासात्मकत्वात् कुवलयपीडस्य कालांतक-यमोपमत्वात् तस्य जयस्य तावद्भिः निरूपणम्। तत्र एकेन गजदर्शनम्। “बद्ध्वा परिकरम्...” इति वचनोद्यमः। “अभ्रवण्ड...” इति निर्भर्त्सनम्। “एवं निर्भर्त्सितोऽभ्रवण्ड...” इति दशभिः कुवलयपीडेन सह भगवतः युद्धम्। “पतितं तम्...” इत्यनेन विधातनम् ॥ १४ ॥ ‘वर्शनम्’ इति—“मृतकं द्विपमृत्युज्य दन्तपाणिः समाविशत्...” इति अर्द्धेन प्रवेशः। “अंसन्यस्तविषाणः...” इति पञ्चभिः दर्शनं रामसहितकृष्णस्य। तत्र द्वाभ्याम्....

(पांडुलिप्याम् इतः लुटिः पत्रद्वयात्मिका)

पित्रोश्च सात्वतं सर्वसुहृदां परितोषणम् ॥ २७ ॥

उग्रसेनाभिषेकरश्च नन्वादिवजप्रेषणम्।

ईषद्द्विजातिसंस्कारः पठनं च गुरोर्गुहे ॥ २८ ॥

मृतपुत्रप्रदानं च गुरोः पञ्चजनादनम्।

पुनरागमनं शौरेर्मधुपुर्यां महोत्सवः ॥ २९ ॥

...नम्। एकेन शक्तिः। “मयि भूरय...” इति त्रिभिः उग्रसेनस्य राज्यदानम्। पितरि मृते पुत्रस्य राज्यं क्रमः। पुत्रे मृते पितुः राज्यं व्युत्क्रमः इति जापयितुं श्रीभागवते पूर्वमुक्तेऽपि उग्रसेनराज्याभिषेकः श्रीमदाचार्यचरणैः पश्चाद् अनुत्क्रान्तः। सर्वसुहृदां परितोषणम् “सवान्स्वजाति संवन्धान्...” इत्यादि पञ्चभिः। नन्वादीनां व्रजे प्रेषणम् “अथ नन्दम्...” इत्यादि षड्भिः। तत्र कारिकाः “संभाषणार्थं मद्योगः पूर्वस्थापनमेव च। निराकृतिश्च वाधानां प्रेषणाज्ञापना ततः ॥ १ ॥ दानं च प्रीतिसंसिद्धौ गमनं चापि रूप्यते” ॥ २ ॥ ईषद्द्विजातिसंस्कारः “अथ शूरसुत...” इत्यादि पञ्चभिः। “संस्कारो दक्षिणापूर्वस्मितमन्तोपदेशनम्। स्वरूपगोपनं लोका-

नाट्येनेति विनिश्चयः ॥ १ ॥ गुरोः गृहे पठनं “अथ गुरुकुले वासम्...” इत्यादि षड्भिः। “गुरो वासो गुरोः मेवा गुरोः संतोषणं हरो। वेदोपदेशः मांगः सोपानपत्को रहस्यवान् ॥ १ ॥ धनवेदोपदेशाश्च धर्मन्यायोपदेशनम्। आन्वीक्षिको राजनीतिरूपदिष्टे सकृद्दर्शितम् ॥ २ ॥ चतुःषष्टि कलाशिक्षा तावद्भिर्दिवसैः हरेः। गृहदक्षिणायाचार्यकृच्छ्रदं भगवत्कृतम् ॥ ३ ॥ चकारेण गुप्तेवा दोहनपत्रार्थं श्रीकरप्रसारणं यष्टयानयनं च समुच्चयीते। यदा चकारेण गुरो पूर्वसर्वगुपस्थापनं समुच्चयीते। मृतपुत्रप्रदानं च गुरोः “द्विजस्तयोस्तं महिमानम्...” इति द्वादशभिः। तत्र एवं क्रमः— आद्येन गुरोः मृतपुत्रयाचना। “तथेत्यथ...” इत्यनेन मृतपुत्रानयनार्थं प्रभासे गमनं हरेः। “तमाह...” इत्यनेन समुद्रं प्रति गुरुपुत्रानयनाज्ञा। “नैवाहापमहम्...” इति पद्येन गुरुपुत्रः शंखामुरेण हतः न मया इति समुद्रेण विज्रपत्म्। “तच्छ्रुत्वा...” इत्यनेन पंचजनार्दनम्। “ततः संयमनीम्...” इति हरेः यमपुरगमनम् “शंखनिर्हार्दम्...” इति यगेन मपथ्यां कृता “उवाचावत...” इति यमकृता प्रार्थना। “गुरुपुत्रमिहानीनम्...” इति भगवदाज्ञा यमं प्रति। “तथा...” इति पद्येन गुरवे यमानीतपुत्रदानम्। “यम्यक् संपादित...” इति द्वाभ्यां गुरुणा हरो आशीर्दानम् ॥ ४ ॥ “गुरुणैवम्...” अनेन पुनरागमनम्। “समनन्दन...” इति मधुपुरीमहोत्सवः। एवं सार्द्धपञ्चशत् (श्लोकाः) ॥ ५० ॥ (इति द्वाचत्वारिंशाध्यायसङ्ग्रहः ॥ ४२ ॥)

विचत्वाग्निाध्यायार्थम् अनुत्क्रामिः—

उद्धवप्रेषणम्

‘उद्धवप्रेषणम्’ इति। तत्र एवं विभागः—“वृष्णीनां प्रवरः...” इत्यनेन उद्धवप्रशांसा। “तमाह...” इति भग्नियोगः। “गच्छोद्धव...” इति चतुर्भिः भगवद्वाक्यं प्रमाणप्रमेयोपपत्तिवाधकभेदेन। “इत्युक्त उद्धव...” पद्येन उद्धवगमनम्। “प्रप्तो नन्द...” इति उद्धवस्य गोकुलप्रतिः ॥ ८ ॥ “वासितार्थं नियुध्यद्भिः...” इति पंचभिः वीर्यादिभेदेन श्रीगोकुलवर्णनम्। “तमागतम्...” इति द्वाभ्यां नन्दकृतम् उद्धवार्चन-भोजन-शयन-प्रश्नादिकम्।

“कच्चिदंग...” इति पञ्चकादशेन नन्दोक्तिः । तत्र एकेन वसुदेवकुशलप्रश्नः । “दिष्ट्या...” इत्यनेन कंसवधानुवादः । “अपि स्मरति...” इति पञ्चनवकेन भगवद्गुणवर्णनम् । “इति संस्मृत्य...” इति द्वाभ्यां नन्दयशोदा-प्रेम-वर्णनम् । “तयोस्त्वम्...” अनेन उद्भववचनोद्योगः । “युवां श्लाघ्यतमौ...” इति त्रयोदशभिः । तत्र प्रथमेन नन्दयशोदयोः प्रशंसा । “एतौ हि...” इति द्वाभ्यां भगवतः महत्त्वम् । तत्र एकेन स्वरूपोत्कर्षः । द्वितीयेन धर्मोत्कर्षः । “तस्मिन् भवन्ती...” अनेन विषयसाधनाभिनन्दनम् । “आगमिष्यति...” इति खेदवारणम् पञ्चनवकेन । “एवं निशा...” इति षड्भिः गोपीभाववर्णनम् । तत्र आद्येन गोप्योत्कर्षः । “ता दीपदीप्तः” इति कायिकीशोभा । “भगवत्युदिते...” इति त्रिभिः गोप्युद्भवसमागमः, जिज्ञासाप्रकारेण । एवम् अष्टचत्वारिंशत् (श्लोकाः) ॥ ४८ ॥ (इति त्रिचत्वारिंशाध्याय-सङ्ग्रहः ॥ ४४ ॥)

चतुश्चत्वारिंशाध्यायम् अनुत्क्रामन्ति—

गोपीविलाप परिस्ताववनम् ।

‘गोपीविलाप’ इति एकविंशत्या । तत्र आद्यः त्रिभिः गोरीकृतः उद्भवनिन्दारः, आकृति-निश्चय-चेष्टा-भेदेन । स प्रथमो दोषः । द्वितीय-दोषोक्तिः “जानीम...” इति सप्तभिः । तत्रापि “जानीम...” इत्यनेन उद्भवस्य अन्यथागमन-निरूपणम् । “अन्यथा गोत्रजे...” इति पञ्चेन अन्यथागमन-समर्थनम् । “अन्येषु...” इति त्रिभिः दृष्टान्तदशकेन कृत्व-घ्नतासमर्थनम् । तत्र “निस्त्वम्...” इति द्वाभ्यां दृष्टान्ताष्टकम् । “इति गोप्य...” इति द्वाभ्यां देहादिस्मरणं भगवदासक्तिः च । इदमेव बीजम् । “काचिद्...” इति एकादशभिः भक्तिः । “अथोद्भव...” इत्यादि एकोन पञ्चाशता परिस्ताववनम् । तत्र एकेन स्तोत्रप्रस्तावना । “अहो यूयम् स्म...” इति षड्भिः स्तोत्रम्, ऐश्वर्यादिभेदेन । “भवतीनां वियोगो मे...” इत्यादि दशभिः उपदेशः । तत्र षड्भिः स्वरूपकथनं, पुरुषार्थाः ततः परे । “एवं प्रियतमादिष्टम्...” इति पञ्चदशभिः दोषनिवृत्त्या पूर्वस्नेहः । “चतुर्दश-

महाविद्या एकस्तासामुपक्रमः । श्रीवृन्दावनचन्द्रस्य सिद्धास्तासु कलाः समाः ॥ १ ॥ “ततस्ताः कृष्ण सन्देश...” इति चतुर्भिः भक्ति (ज्ञान ?) रूपस्य सर्वपुरुषार्थरूपतवात् । “पूजोपदेशो स्थानं च सुखो दर्शनमेव च” । “दृष्ट-ब्रैमादि गोपी...” इत्यादि सप्तभिः । तत्र “एताः परं तनुभूतः...” इत्यादि षड्भिः स्तुतिः । अन्यस्यापयोगाभावेच्छा च प्रार्थना । विशेषोत्कर्षनमने पडर्था क्रमशः स्थिताः ॥ १ ॥ “अथ गोपी...” इति षड्भिः द्वाभ्यां द्वाभ्यां त्रयोर्थाः । “उद्भवस्य रथे स्थानं नन्दादिप्रार्थनं ततः । प्रत्यापत्तिर्मुद्भवस्य षड्भिरर्थव्यं ध (?) तम् ॥ १ ॥” एवं सप्ततिः (श्लोकाः) ॥ ७० ॥ (इति चतुश्चत्वारिंशाध्यायसङ्ग्रहः ॥ ४४ ॥)

पञ्चचत्वारिंशाध्यायार्थम् अनुत्क्रामन्ति—

कुञ्जारतिस्तथाकूरप्रेषणं गजसाद्वये ॥ ३० ॥

‘कुञ्ज’ इति । कुञ्जयाः रतिः रमणं “अथ विज्ञाय...” इति एकादशभिः, एकादशेन्द्रिय-साध्यतवात् भोगस्य । तत्र एवं विभागः— “श्रीकृष्णागमनं गेहे साद्वेन गृहवर्णनम् । दर्शनं पूजनं कृष्णस्योद्भवस्य सभाजनम् ॥ प्रसाधनं च कुञ्जयाः रमणं हरिणा समम् । तापनाशो याचनं च चिरं रमणप्रार्थना ॥ प्रत्यापत्तिर्वरं दत्त्वा कुञ्जयाः निदनं शुक्रैः । रामोद्भवाभ्यामकूरभुवने गमनं हरेः ॥ दृष्ट्वा मोदपरिष्णं नमनं पूजनं हरेः । अलङ्कृतिः पादसेवा अकूरेण हरेः स्तुतिः ॥ दशभिः स्तुतिरुक्ता हि प्रार्थनैकेन दोषान् ॥ तत्र-“भगवत्कृत-कार्याणामभिनन्दनमेकतः । स्वरूपं भेदिनहारी दृष्टान्तेऽनेकवर्णनम् ॥ निवारणं च दोषाणां वन्धाभावोऽवतारोपि अवतारप्रयोजनं विशेषः कृष्णावतारे स्वगृहा-गमनस्तुतिः । हरिप्रपत्तेः स्तवनं प्रार्थना मोहलेदस्य मोहोद्योगो हरेःस्वतः ॥ सप्तैव हरिवाक्यानि त्रिभिर्मोहानि योजनम् । त्रिभिरेकेन कर्तव्याऽज्ञापनं स्वगृहागतिः ॥ (एवं षट्त्रिंशत् श्लोकाः ॥ ३६ ॥ इति पञ्चचत्वारिंशाध्यायसङ्ग्रहः ॥ ४५ ॥)

षट्चत्वारिंशाध्यायम् अनुत्क्रामन्ति—

पाण्डवेषु च वैषम्यं धृतराष्ट्रस्य बोधनम् ।

इत्येवं दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धविहितम् ॥ ३१ ॥

‘पाण्डव’ इति । वैषम्यं पंचदशभिः । तत्र “षड्भिः कार्यं हरेर्दिष्टं नवभिः कुंतिभावनम् । पृथार्तिसांत्वने द्वाभ्यां दशभिः राजबोधनम् ॥ १ ॥ एकेन कुंतीसामोष्यं षड्भिः कुंतीवर्वासि हि । स्मृतिसंभावना ह्याद्ये द्वितीये कृष्ण-रामयोः ॥ २ ॥ नृतीये सांवरनं काक्षा साक्षात्कारचतुर्थके । पंचमेत्यनिषेधोक्तिः षष्ठे नु शरणागतः । ३ ॥ सप्तमे रौदनं कुन्द्या अष्टमे सांत्वनं मुदा ।” “यास्यन्...” इति एकेन बोधनार्थम् । “भोः भोः...” इति त्रिभिः पद्यै रजः सत्त्वमोभिदा । धृतराष्ट्रस्य बोधनम् । “पुनस्तथैव शान्त्वेण रजस्तामससत्त्वकैः । तृतीये धृतराष्ट्रस्य ततो वाक्यचतुष्टयम् । प्रशंसा स्थित्यभावावशात्तयत्वं भगवन्नतिः । प्रत्यापत्तिनिवेदश्च पूर्वोद्धेय समापनम् ॥ ३ ॥” इत्येवमिति । ॥ इति श्रीमद्गीस्वामि-मथुरानाथात्मज-गोस्वामि-द्वारिकेश्वर-चिरञ्जिता दशम-पूर्वोद्दिष्टानुक्रमणिका व्याख्या ॥

॥ श्रीकृष्णास्याय नमः ॥

चंपकारण्यसंभूतमेतन्प्राप्तवासिनम् ।

चरणाद्री समासीनं वन्दे श्रीवल्लभाधिपम् ॥ १ ॥

अथ उत्तराद्धानुक्रमणिका व्याख्यास्ये । सप्तचत्वारिणाध्यायम् अनुकामन्ति—

जरासन्ध-समानोत-संशयस्य बहुशो वधः ।

जामतुर्वंघसंतप्त-जरासन्धचमूवधः ॥ ३२ ॥

बहुशः सेनयोद्देशे द्वारकादुर्गकारणम् ॥

जामातुः कंसस्य वधः स्वपुत्रीभ्याम् उक्तः तेन तप्तस्य जरासन्धस्य सम्बन्धनां चमूनां वधः मारणं, उत्तरार्द्धे एकचत्वारिंशद् अध्यायाः तत्समसंख्याकैः एकचत्वारिंशद्भिः । तत्र मुवोधिन्व्याम्—“उत्तरार्द्धसमैः श्लोकैरतिदेशस्तनः परम् । द्वाभ्यां कलाभिरपरः साधिकाभिरिति स्थितिः ॥” (का.) “कंसस्त्रियो-जरासन्धयोद्देशे गमनमेकतः । द्वितीये दुःखविज्ञप्तिस्मृतीये, संगरोद्यमः ॥ १ ॥ मथुरारोधनं न्युये पंचमे कृष्णवीक्षणम् । षष्ठे भगवत्तश्चिन्ता चतुर्भिवचनं हरेः ॥ २ ॥ द्वाभ्यां संगरमंपत्तिः साद्धेन वलबोधनम् । द्वाभ्यां युद्धाय गमनं

साद्धाभ्यां शत्रुभाषणम् ॥ ३ ॥ एकेन शत्रुहननं निषेधो दशभिश्च युत् । एकैकतो बंधमोक्षौ त्रिभिः शत्रुनिवर्तनम् ॥ ४ ॥ हरिप्रवेशः स्वपुरि पंचभि-वित्तदापनम् । एकेन रात्रे एवं हि चत्वारिण्यस्यैककः ॥ ५ ॥ द्वाभ्यां युद्ध-म्यातिरेणो द्वयेन यवनाग्रनिः । चत्वारि हरिवाक्यानि पंचभिर्द्वारिकाकृतिः ॥ ६ ॥ “बहुशः सप्तदशकृत्वा जरासन्धसेनयोद्देशेः तन्निवृत्तये द्वारिकादुर्ग-कारणम् ।” त्रिभिः समुद्दिष्टलोकानां साद्धेन गमनं हरेः । अर्द्धाधिकाष्टपंचा-शच्छ्लोका अस्मिन् प्रकीर्तिताः ॥ ७ ॥ (एवम् अर्द्धाधिकाष्टपंचाशत् श्लोकाः ॥ ५८ ॥ इति सप्तचत्वारिणाध्यायसङ्ग्रहः ॥ ४७ ॥)

अष्टचत्वारिणाध्यायम् अनुकामन्ति—

यवनस्य वधो दृष्ट्या मुचुकुन्दस्य संस्तुतिः ।

वरं दत्वा

‘यवनस्य वध’ इति । यवनस्य वधः मुचुकुन्दस्य दृष्ट्या स च उक्तः “तं विनोष्य...” इत्यादि एकविंशत्या । तत्र एवं विभागः—आद्यैः त्रिभिः भगवत्स्वरूपवर्णनम् । “वामुदेव...” इति द्वाभ्यां भगवत्सिद्ध्यर्थः । “इति निषिष्यस्य...” इति त्रिभिः हरेः पलायनम् । “एवं क्षिप्त...” इति द्वाभ्यां कन्दरुप्रवेश-मुचुकुन्दताडने । “स उल्थाय...” इति द्वाभ्यां मुचुकुन्दोन्मीलन-यवनदाहौ । एवं द्वादशः । “को नाम...” इति पंचप्रश्नाः एकेन पद्येन । “स इक्ष्वाकुकुले...” इति सप्तभिः मुचुकुन्दवृत्तान्तः । “एवमुक्तः...” इति मुचुकुन्दशयनम् । षट्त्रिंशता मुचुकुन्दस्य संस्तुतिः “यवने भस्मसाद्...” इति पंचभिः मुचु-कुन्दाय हरिणा स्वरूपं दक्षितम् । “को भवान्...” इति चतुर्भिः मुचुकुन्द-प्रश्नः । चतुर्भिः स्ववृत्तान्तकथनम् । “एवम्...” इति भगवद्ब्रह्मचरोद्यमः । “जनं कर्म...” इति साष्टाष्टभिः भगवद्ब्रह्मचरानि । “इत्युक्तः...” इति मुचुकुन्दयवनोद्यमः । “सिमोहितोऽयं जनः...” इति त्रयोदशभिः मुचुकुन्देन हरिः स्तुतः । नव आद्यैः त्रिभिः तामस-राजस-सारिक-मोहाः । ततः त्रिभिः परमं दोषत्वयम् । “ततो निजित्य...” इति त्रिभिः राजस-तामस-सारिक-धर्मनिरूपणम् । “मन्ये मम...” इति त्रिभिः फलनिरूपणम् । “चिरमिह...”

इति रक्षाप्रार्थनम् । वरं दत्त्वा—“ततः गार्वभौमः...” इति पङ्क्तिः वरदानम् ।
एवं त्रिषष्टि (श्लोकाः) ॥ ६३ ॥ (इति अष्टचत्वारिंशोऽध्याय-
सङ्ग्रहः ॥ ४८ ॥)

एकोनपंचाशत्तमाध्यायम् अनुक्रामन्ति—

ततो म्लेच्छवधं कृतरः धने ततः ॥ ३३ ॥

नीयमाने धनं द्यूतजरासन्धात् पलायनम् ।

रेवताद्रे वतीकन्या-बलदेवसमर्पणम् ॥ ३४ ॥

रुक्मिणीप्रियसदेशश्रवणात्

‘ततो म्लेच्छवधम्’ (इति) । “इत्थं सोऽनुगृहीतः...” इति श्लोक-
चतुष्टये मुचुकुन्दवृत्तान्तः पूर्वशेषः । “भगवान् पुनः...” इति पद्ये म्लेच्छवधः ।
“नीयमाने धने गोभिः...” इत्यादि त्रयभिः द्यूतजरासन्धात् पलायनम् । तत्र
आद्ये जरासन्धागमः । “दिलोक्य...” इति द्वाभ्यां भगवत्पलायनम् ।
“पलायमानौ...” इत्यनेन जरासन्धात् पलायनम् । “प्रद्वय...” इति राम-
कृष्णयोः पर्वतारोहणम् । “गिरौ निलीनौ...” इति जरासन्धेन गिरिदाहः ।
“तत उत्पत्य...” इति हय्योः पर्वताद् उत्फालः । “अलक्ष्यमाणौ...” इति
भगवतः द्वारिकाप्रवेशः । “सोऽपि...” इत्यनेन जरासन्धप्रत्यापत्तिः ।
“आनर्ताधिपतिः...” इति पद्येन बलभद्रोद्वाहः । रेवताद् इति अपादाने
पंचमी । ‘असमर्थसमासो ज्ञापकसिद्धः’ । रेवत्येव कन्या तस्याः बलदेवाय
समर्पणम् । “भगवानपि गोविन्दः...” इति पद्याभ्यां संक्षेपेण श्रीकृष्णोद्वाहः ।
त्रिभिः विस्तारप्रश्नः । रुक्मिणीप्रियसदेशश्रवणं चतुर्विंशतिभिः तत्त्वसंख्याकैः ।
तव—“द्वाभ्यां श्रीरुक्मिणीजन्म गांधर्वोद्वाह एव च । उद्वाहोद्धारणं ज्ञानमेकैक-
स्मिन् द्विजागतिः ॥ १ ॥ भगवद्दर्शनं पूजा भोजनार्थिनिवेदनम् । पङ्-
वाक्यानि हरेर्धर्मबोधकानि शुकोक्तिः... ॥ २ ॥ सप्तभिः रुक्मिणीवाक्यानु-
वादे ब्राह्मणेन च । चत्वारिंशश्च चत्वारि पद्यान्वय स्थितानि हि ॥ ३ ॥
(एवं चतुश्चत्वारिंशत् श्लोकाः) ॥ ४४ ॥ (इति एकोनपंचाशत्
अध्यायसङ्ग्रहः) ॥ ४९ ॥

पंचाशत्तमाध्यायम् अनुक्रामन्ति—

अखिलान् रिपून् ।

निर्जित्य निर्गमो गेहार्द्विकाया हृतिर्बलात् ॥ ३५ ॥

‘अखिलान्’ इति । अत्र एवं विभागः—अंबिकायाः गेहाद् निर्गमो रुक्मिण्याः ।
अखिलान् रिपून् निर्जित्य बलाद् आहृतिः श्रीकृष्णकृता । “एकेन मैत्री द्वाभ्यां
श्रीकृष्णवाक्यं रथानतिः । द्वाभ्यामारुह्य गमनमेकेनैकेन तत्कृतिः ॥ १ ॥
पुरस्य वर्णनं द्वाभ्यां पित्रादीनां समर्चनम् । कन्यालंकरणं रक्षादानं चैकैकत-
स्ततः ॥ २ ॥ पङ्क्तिः कुंडिनवृत्तान्तो द्वाभ्यां बलसमागमः । रुक्मिणीचिन्तनं
सार्द्धेस्त्रिभिः चित्ताफलं ततः ॥ ३ ॥ अकुनं सफलं द्वाभ्यां द्विजदर्शनमेकतः ।
आवेदनं सरामस्य कृष्णस्यागमनस्य च ॥ ४ ॥ एकनैकेन नमनं त्रिभिः
श्रीकृष्णसत्कृतिः । एकेन सर्वसत्कारः पीरोत्साहस्त्रिभिस्ततः ॥ अतिदेशोर्द्धतो
यानं रुक्मिण्याः पूजनाय हि ॥ ५ ॥ पंचभिर्नमनं त्रिभ्यः चतुर्भिर्देवपूजनम् ।
रुक्मिणीहरणं पङ्क्तिः सप्तपंचाशदेव हि ॥ ६ ॥ (एवं सप्तपञ्चाशत् श्लोकाः
॥ ५७ ॥ इति पंचाशद् अध्यायसङ्ग्रहः) ॥ ५० ॥

एकोनपंचाशत्तमाध्यायम् अनुक्रामन्ति—

चैद्यसांत्वनमुर्वीशैः ततो रुक्मिनिसमागमः ।

युद्धाभेवापराधो च मुण्डनं तस्य कृष्णतः ॥ ३६ ॥

रुक्मिणोदुःखशमनं रामबाबयं च मोक्षणम् ।

ततो विदाहो रुक्मिण्याः विधिबत् स्वपुरे मुदा ॥ ३७ ॥

‘चैद्य’ इति । चैद्यस्य जिष्णुपालस्य सांत्वनम् उर्वीशैः जरासन्धादिभिः
सप्तदशभिः “इति सर्वे...” इत्यादिभिः । तत्र एवं विभागः—एकेन युद्धोद्यमः ।
एकेन युद्धाय यादवस्थितिः । एकेन शत्रुकृतः प्रहारः । एकेन रुक्मिणीविषादः ।
एकेन भगवाक्यम् । एकेन गदादिकृतः जरासन्धादिभिः संगरः । एकेन अवय-
विवधः । एकेन अवयववधः । एकेन शत्रुसेनापलायनम् । एकेन सांत्वनोद्यमः ।
पङ्क्तिः उर्वीशैः चैद्यसांत्वनम् । एकेन जिष्णुपालप्रत्यापत्तिः । तथा च उक्तम्—

“युद्धं च सप्तदशभिः प्रजापतिजयाय हि । मुञ्चन् सप्तदशभिः सार्द्धैः साम्य-
निवृत्तये । बोधनं सर्वविद्याभिरैश्वर्येण पस्त्रियहः ॥ १३ ॥” सात्त्विकं युद्धम् ।
मुण्डनं तामसम् । **रुक्मिसमागमः** । “रुक्मि तु . . .” इति पंचभिः सार्द्धैः ।
“रथैनेकेन . . .” इति एकेन युद्धम् । “आह चात्र क्षणम् . . .” इति द्वाभ्याम्
आक्षेपः । “स्मयन् . . .” इति सार्द्धैः चतुर्भिः अन्वयः । “तस्य चापतत . . .”
इति सार्द्धैः चतुर्भिः कृष्णेन **रुक्मिमुण्डनम्** । “तावद् . . .” इति अर्द्धेन रुक्मिसेना-
वधः । “कृष्णान्तिकम् . . .” इति सार्द्धेन रुक्मिमोचने **रुक्मिणीदुःखशमनम्** ।
“असाधिवदम् . . .” इति त्रयोदशभिः **रामबाधयानि** । “एवं भगवता तन्निवः . . .”
इति सार्द्धैस्त्रिभिः **रुक्मिमोक्षणम्** । “भगवान् भीष्मकसुताम् . . .” इति अष्टभिः
विधिवद् विवाहः । तत्र एवं विभागः “रुक्मि तु राक्षसः . . .” इत्यनेन रुक्मिणः
मत्सरः । “रुक्म्यमर्षी . . .” इति संरंभेण प्रतीजोद्यमः । “अहं त्वा . . .” इति
प्रतीजा । “इत्युक्त्वा . . .” इति द्वाभ्यां सूताज्ञापनम् । “विकल्पमान” इति
गमननिषेधः । “धनुर्विकृष्य . . .” इति युद्धम् । “कुत्र यासि . . .” इति द्वाभ्याम्
आक्षेपः । “अष्टभिः . . .” इति त्रिभिः भगवदीर्यम् । “ततो रयाद् . . .” इति
भगवन्निकटगमनम् । “तस्य च . . .” इति रुक्मिहृतनोद्यमः । “दृष्ट्वा . . .”
इति रुक्मिणीविपादः । “योगेश्वर . . .” इति भगवत्प्रार्थना । “तथा . . .” इति
वधनिवृत्तिः । “चैलेन . . .” इत्यर्द्धेन रुक्मिमुण्डनम् । “तावद् . . .” इत्यर्द्धेन
रुक्मिसेनावधः । “कृष्णान्तिकम् . . .” इत्यादि अष्टादशभिः बोधनं राजसम् ।
“कृष्णान्तिक . . .” इति सार्द्धेन बलभद्रकृते रुक्मिवन्धनदोष-मोचने । त्रयोदश-
वचनानि संकर्षणस्य । तत्र आद्येन कृष्णोपालम्भः । “मेवास्मान् . . .” इति
रुक्मिणीसात्वन्तम् । “बंधुर्वंधार्ह . . .” इति चतुर्भिः कृष्णोपालम्भः । तत्र आद्येन
वधनिषेधः । द्वाभ्यां क्षत्रियधर्मनिरूपणम् । “तव . . .” इति स्वोपालम्भस्य
स्थापनम् । “आत्ममोहः . . .” इति सप्तभिः ज्ञानेन बोधनं रुक्मिण्याः । तत्र
कारिकात्रयम्—“स्वरूपाज्ञानानात्वे देहादीनां च शतृता । अल्पत्रयं निरूप्यादौ
आत्मधर्मनिरूपणम् ॥ १ ॥” स्वरूपाज्ञानमात्मा हि अल्पवच्च निरूप्यते ।
जन्मादिदोषास्त्वस्यस्य ह्यतस्तैर्नैव क्षुप्यति ॥ २ ॥ असंसगग्रिहो भ्रान्तदृष्टान्तै
र्विनिरूप्यते । ततोपसंहृत्युक्ताज्ञानेनाज्ञाननुत्तये ॥ ३ ॥” “एवं भगवत् . . .”

इति बोधनफलम् । “प्राणावशेष . . .” इति पचनेन रुक्मिमोचनम् । “चक्रे . . .”
इति सार्द्धेन रुक्मिणः भोजकटे निवासः । “ततो भगवान् . . .” इति अष्टभिः
गुणानां रुक्मिण्युपगमनम् अष्टविधैश्वर्येण । तत्र आद्ये विवाहः । द्वितीये
मन्त्रोत्पन्नः सर्वेषाम् । तृतीये पारिवर्होपाहारः । चतुर्थपंचमाभ्यां पुरीश्रृंगारः ।
षष्ठे पट्टिशवभक्तानां मोदः । सप्तमे विग्नयः । अष्टमे महामोदः । (एवम्
एकपट्टिः श्लोकाः) ॥ ६१ ॥ (इति एकपंचाशत् अध्यायसङ्ग्रहः) ॥ ५१ ॥

त्रिंचाशत्तमाध्यायम् अनुक्रामन्ति—

प्रद्युम्नोत्पत्तिकथनं हरणं सूतिकागृहात् ।

मायावत्योक्तवृत्तान्तः शंबरस्य वधस्ततः ॥ ३८ ॥

पुनरागमनं गेहे संतोषो द्वारकोकसाम् ।

“प्रद्युम्न” इति । प्रद्युम्नोत्पत्तिकथनं “कामस्तु . . .” इति द्वाभ्याम् ।
प्रद्युम्नस्य शंबरेण सूतिकागृहाद् हरणं “तं शम्बर . . .” इत्यादि नवभिः ।
“भवावरागयणमुत् . . .” इत्यादि चतुर्भिः **मायावत्योक्तवृत्तान्तः** । “स च शंबर-
मभ्येत्य . . .” इति नवभिः **शंबरस्य वधः** । “आकीर्यमाण . . .” इति द्वाभ्यां **पुनः**
गेहे आगमनम् । ततः इति शंबरवधानन्तरम् । “तं दृष्ट्वा . . .” इति पंचदशभिः
संतोषः द्वारकोकसाम् । तत्र एवं विभागः—आद्याभ्याम् अनङ्गस्य सांगत्वम् आद्ये
पितृद्वारा द्वितीयेस्मिन् मातुतः । नवसु प्रथमे प्रद्युम्नस्य हरण-समुद्रप्रक्षेपो ।
द्वितीये मीनेन प्रद्युम्ननिगरण-मीननिग्रहो । तृतीये शंबराय मीनोपाहरण-मीन-
विदारणे । चतुर्थे सार्द्धे मायावत्यै प्रद्युम्ननिवेदन-तारदवचने । पंचमषष्ठ . . .
रतिवृत्तान्तः पत्न्यौ स्नेहश्च । सप्तमे प्रद्युम्नस्य यौवनधारणम् । अष्टमे रत्याः
प्रद्युम्नेन केलिः । नवमे प्रद्युम्नेन रतिः पृष्ठा । चतुर्विंशत्तमे प्रथमे हरिसुतत्व-
ज्ञापनम् । द्वितीये शंबरवधप्रार्थना । तृतीये वधावषयकत्वाय मातुदुःख-
निवेदनम् । चतुर्थे मायादानम् । नवम प्रथमे कामेन युद्धाय शंबराह्वानम् ।
द्वितीये शंबररागमनम् । तृतीये शंबरेण गदाप्रक्षेपः । चतुर्विंशत्तमे गदा
प्रतिक्षिप्ता । पंचमे शंबरेण मायया अश्रमवर्षणम् । षष्ठे प्रद्युम्नेन सर्वमायोप-
मर्दनम् । सप्तमे गौत्वाकादि-मायाप्रयोजन-प्रदर्शने । अष्टमे शंबरस्य शिरः—

छेदः । द्वयोः गमनागमने । पंचदशसु— “दर्शनं कृष्णमननं वैलक्षण्यावधारणम् ।
स्निग्धीस्तन्यसंस्त्रावः कस्यायामिति संशयः ॥१॥ स्वात्मजस्मरणं कृष्णसारूप्ये
संशयो महान् । स्वात्मजाध्यवसायः श्रोत्रकृष्णस्यागमनं ततः ॥२॥ तूष्णींभावावो
हरेर्वीणापाणिना सर्वभाषणम् । श्रुतवाच्यं महानंदः सर्वेषां परिरम्भणम् ॥३॥
आनन्दो द्वारकास्थानां माहात्म्यं शंबरद्विपः । साढ्यां ह्येकोनचत्वारिंशच्छ-
लोकाञ्च संमताः ॥४॥” (एवं साढ्यैकोनचत्वारिंशत् श्लोकाः ॥ ३९३ ॥
इति द्विपंचाशत् अध्यायसङ्ग्रहः ॥ ५२ ॥)

त्रिपंचाशत्तमाध्यायम् अनुक्रामन्ति—

सूर्यात् स्यमंतकप्राप्तियानं तस्य वै हरेः ॥३९॥

तत्सम्बन्धात्प्रसेनस्य वधाऽकीर्तिर्हरेस्तया ।

तन्मार्जनाय ऋक्षस्य गेहे गमनमेतयोः ॥४०॥

युद्धं ज्ञात्वा स्वऋषभं जांबुवत्याः समपर्णम् ।

सत्वाजितस्य प्राप्तस्य सतोः दानं मुरारिणा ॥४१॥

विवाहः सत्यभामायाः दत्तायाः प्रीतये हरेः ।

‘सूर्यात्स्यमंतक’ इति । सत्वाजितः भक्तस्य स्वसेव्यात् सूर्यात् स्यमंतकस्य
प्राप्तिः “सत्वाजितः स्वतनयाम्...” इति साढ्यैकादशभिः । तत्र आद्ये संक्षेपः ।
द्वितीये प्रश्नः । तृतीये सूर्येण सत्वाजिते मणिदानम् । चतुर्थे द्वारकास्थानां सत्वा-
जितः अज्ञानम् । पंचमे भगवते सूर्यशक्तितानां शंसनम् । षष्ठे पंचसन्धोर्धनैः
भगवन्नमनम् । सप्तमे सूर्यागमनशंसनम् । अष्टमे विरंचयागमनशंसनम् ।
नवमे भगवत्कृतः निषेधः । दशमे सत्वाजिता देवसदने मणिः निवेशितः ।
मणिप्रभावः साढ्यै एकादशे । हरेः सत्वाजितः मणियाचनं द्वादशे । मणिसम्बन्धात्
प्रसेनस्य वधः व्याघ्रकृतः “तमेकदा...” इति साढ्याभ्याम् । “अपश्यन्...”
इति साढ्येन हरेः अकीर्तिः । अकीर्त्तिमार्जनाय हरेः ऋक्षस्य गेहे गमनं “भगवास्त-
दुपाकर्णम्...” इति पंचभिः । आद्ये गमनम् । द्वितीये हतानां दर्शनम् । तृतीये
भगवतः बिले प्रवेशः । चतुर्थे तत्र मणिदर्शनम् । पंचमे धातया आक्रोशः ।
“स वै भगवता...” इति चतुर्भिः एतयोः हरिजांबवतोः युद्धम् । “जानेताम्...”

इति पद्भिः ऋक्षस्य स्वऋषभज्ञानम् । आद्ये त्रिभिः स्तुतिः । भगवद्बचनोद्यमः
चतुर्थे । पंचमे भगवत्कराभिमर्षणेन ऋक्षस्य व्यथापनोदनम् । षष्ठे भगव-
दावयम् । “इत्युक्तः स्वाम्...” इत्यादि षड्भिः जांबवत्याः समपर्णम् । तत्र
आद्ये मणिकन्यादानम् । द्वितीये वहिः स्थितानां द्वारकागमनम् । तृतीये देव-
व्यादिविपादः । चतुर्थे सत्वाजितं शपतां दुर्गापस्थानम् । पंचमे भगवत्प्रादुर्भावः
जांबवत्याः साकम् । षष्ठे सर्वेषां महोत्सवः । सत्वाजिते मणिदानं “सत्वाजितम्...”
इति द्वाभ्याम् । सत्वाजितसम्बन्धिनः सूर्यात् प्राप्तस्य सतो मणोः मुरारिणा दानम्
अर्थात् सत्वाजिते । आद्ये मणिदानम् । द्वितीये सत्वाजितः गृहे गमनम् । हरेः
प्रीतये दत्ताया सत्यभामायाः विवाहः “सोन्ध्यायन्...” इति षड्भिः । तत्र आद्ये
त्रिभिः सत्वाजितपरिस्तापः । त्रिभिः विवाहः । तत्र आद्ये मणिकन्यादानम् ।
द्वितीये विवाहः । तृतीये मणिप्रतिदानम् । (एवं साढ्यैषच्छत्वारिंशत्
श्लोकाः) ॥४५३॥ (इति त्रिपंचाशत् अध्यायसङ्ग्रहः ॥ ५३ ॥)

चतुःपंचाशत्तमाध्यायम् अनुक्रामन्ति—

रामेण सह कृष्णस्य गमनं गजसाह्वये ॥४२॥

अक्रूरकृतवर्मभ्यां प्रेरिताच्छतधन्वनः ।

सत्वाजितवधो मध्ये कृष्णाच्छतधनोर्बंधः ॥४३॥

रामस्य मिथिलायात्वा गदाशिक्षा सुयोधने ।

अक्रूरमणिदानं च

‘रामेण सह’ इति । “विज्ञातार्थोपि...” इति द्वाभ्याम् । तत्र आद्ये
गमनम् । द्वितीये लौकिककरणम् । “लक्ष्मैतदंतर्म्...” इति सप्तभिः सत्वाजि-
द्वधः । तत्र आद्याभ्यां कृतवर्मकराभ्यां शतधनुप्रेरणम् । तृतीये सत्वाजिद्वधः ।
चतुर्थे मणिम् आदाय शतधन्वनः गमनम् । पंचमे सत्यभामायाः पितृमूर्तिज्ञानम् ।
षष्ठे सत्वाजितः तैलद्रोष्यां प्रासनं सत्यभामायाः हस्तिनापुरगमन-भगवद्दिज्ञाप-
नानि । अन्तमे भगवतः प्राकृतानुकृतिः । ‘शतधनोर्बंधः मध्ये सत्वाजितो मरण-
सांपर्यायिकयोः अंतरः । “आगत्य भगवान्...” इत्यादि साढ्यैश्चतुर्दशभिः अविद्या-
रूपस्य शतधनोः वधः । तत्र एवं विभागः— आद्ये भगवदागमनम् । द्वितीये शत-

धन्वनः कृतवर्मणः सहायप्रार्थनम् । तृतीयचतुर्थाभ्यां कृतवर्मणः अनंगीकारः ।
पंचमे अक्रूरप्रार्थनम् । षष्ठसप्तमाष्टमैः अक्रूरकृतं प्रत्याख्यानम् । नवमे
अक्रूरे मणिं न्यस्य शतधन्वनः पलायनम् । दशमे भगवतः अनुयानम् । एकादशे
मिथिलीपवने पद्भ्यां हरेः अनुद्रवणम् । द्वादशे शतधनुबधः । त्रयोदशे रामाभ्ये
मण्यप्राप्तिकथनम् । चतुर्दशे बलेन हरेः द्वारकाप्रेषणम् । "इत्युक्त्वा..." इति
द्वाभ्यां रामस्य मिथिलायात्रा । एकेन सुयोधनस्य बलेन गदायुद्धशिक्षा । "केणवो
द्वारकामेत्य..." इत्यादि षोडशभिः अक्रूराय भगिदानम् । "तत्राद्ये स्वपुरे
यानम् द्वितीये सांपरायिकं । सत्राजितः तृतीयेऽक्रूरस्य काशीपलायनम् ॥११॥
उपद्रवाश्वतुर्थे पंचमे विस्मरणं हरेः । अक्रूरपूर्ववृत्तान्तो द्वाभ्यां स्थविर
वक्तुतः ॥२॥ अक्रूराकारणं दूतैः सप्तमे तु प्रियाः कथाः । चतुर्भिः कृष्ण-
वाक्यानि सामदानादिभेदतः ॥३॥ चतुर्दशे मणिप्राप्तिः सर्वेषां दशितं मणोः ।
अक्रूराय पुनर्दानं षोडशे तु फलस्तुतिः ॥४॥ द्विचत्वारिंशत्ताच्छ्लोकेऽसा-
द्वैरध्यायपूरणम् ।" (एवं साद्वद्विचत्वारिंशत् श्लोकाः ॥ ४२ ॥ इति चतुः
पंचाशत् अध्यायसङ्ग्रहः ॥५४॥)

पंचपचाशतमाध्यायम् अनुकामन्ति-

इन्द्रप्रस्थे हरेर्गतिः ॥४४॥

कालिद्या संगतिः शौरैरिवाहः स्वपुरे ततः ।

मित्रविदाहूतिर्नग्नजित्युद्वाहनमेव च ॥४५॥

भद्राया लक्ष्मणयाश्च विवाहः

'इन्द्रप्रस्थे हरेर्गतिः' इति सप्तदशभिः । तत्र आद्यैः द्वादशभिः भक्तिः
द्वादशांगस्य पुरुषस्य । पंचभिः कर्म । द्वादशसु प्रथमे भगवतः शक्रप्रस्थगमनम् ।
द्वाभ्यां भक्तानां कृत्यम् । चतुर्थे भगवत्कृतिः । पंचमे द्रौपद्यभिवन्दनम् । षष्ठे
भगवदीयपूजा । सप्तमे पृथाभिरम्भणम् । अष्टमे पृथाप्रेम । द्वाभ्यां पृथास्तुतिः ।
एकादशे युधिष्ठिरविज्रतिः । द्वादशे मुखेन वासः । पंचसु प्रथमाभ्यां खांडव-
वनप्रवेशः । तृतीये व्याघ्रादिवेधः । तुरीये अर्जुनस्य यमुनातटे गतिः । पंचमे
जलपानम् । "तामासाद्य..." इति एकादशभिः कालिद्याः संगतिः "एकादशेऽत्रियैः

कामः ।" तत्र आद्ये अर्जुनसंप्रेषो द्वितीये प्रश्नपंचकम् । त्रिभिः कालिदीविज्रतिः
षष्ठे कृष्णाय वन्दनम् ॥१॥ रथारोपश्च कन्यायाः सप्तमे पुरनिर्मितिः । अष्टमे
सारथिः कृष्णो जिष्णोः खाण्डवदाहने ॥२॥ नवमे वाल्लिसंतोषो धनुः प्रभृति-
दापनम् । भयस्य मोचनं षड्वक्त्रो तेन सद्ये सभा कृता ॥३॥ 'शौरि' पदं
देहली-दीपकन्यायेन संगती विवाहे संबध्यते । शौरैः कालिद्या सह विवाहः ।
द्वारिकायां तिष्ठतः सतः "स तेन..." इति द्वाभ्याम् । पूर्वस्मिन् कालिद्या सह
द्वारिकागमनम् । उत्तरस्मिन् उपयमः । "विन्दान् विन्दौ..." इति द्वाभ्यां सांख्य-
वैराग्यरूपाभ्यां मित्रविन्दाविवाहः । तत्र पूर्वस्मिन् प्रतिबन्धनिवृत्तिः । अपर-
स्मिन् हृत्वा विवाहः द्वारिकायाम् इति पूर्वस्मात् अनुवर्तते । नाग्नजित्युद्वाहः
चतुर्विंशत्या सफलभवते चतुर्विंशतिविधत्वात् । तत्र आद्ये सत्योत्पत्तिः । द्वितीय-
स्मिन् सत्यायाः अन्याशक्तत्वम् । तृतीये अयोध्यागमनं हरेः । चतुर्थे भगवत्स-
त्कारः । पंचमषष्ठयोः सत्यामनोरथः । सप्तमे नग्नजिन्मनोरथः । अष्टमे हरेः
आसनपरिग्रहः । नवमे भगवदाश्चा । दशमे हृदिप्रणंसा । एकादशे स्वसमयवि-
ज्ञापनम् । द्वादशे वृषवीर्यवर्णनम् । त्रयोदशे भगवते वाग्दानम् । चतुर्दशे
भगवतः परिकरवन्धनम् । पञ्चदशे वृषदमनम् । षोडशे सत्याविवाहः । सप्त-
दशे अन्तःपुरे परमोत्सवः । अष्टादशे वादिववादानादयः महोत्सवाः । एकोन-
विंशति-विंशतितमयोः पद्विधपारिवर्हदानम् । एक विंशतितमे दंपतीप्रेषणम् ।
द्वाविंशतितमे राजपुत्ररोधः । त्रयोविंशतितमे प्रतिबन्धनिवारणम् । चतुर्विंशति-
तमे श्रीकृष्णस्य द्वारिकाप्रत्यापत्तिः । भवितप्रकार (त?) स्तु २३ तः (?) ।
देवीजननाद् राज्ञः देवप्रसादः प्रथमे । नृपाणाम् अज्ञेयत्वेन देवरूपता द्वितीये ।
गृहे भगवदागमनेन देवरोपकता तृतीये । भगवद्-दास्य-करणेन शंभुसमता
चतुर्थे । सत्यायाः भगवदद्वैगत्यकामनया कृष्णसमता पंचमे । अब्जस्य
शीर्ष्णि पादरजोधारणकथनेन ब्रह्मसमता षष्ठे । अचित्तस्य पुनः प्रार्थनेन श्रेय-
युक्तता सप्तमे । भगवतः आसनपरिग्रहेण स्थितत्वेन स्थिरकार्यकारितम् अष्टमे ।
भगवतः स्वयम् उद्यम्य सौहृदेच्छया लोकोद्धारकत्वं नवमे । राजा भगवतः
सर्वाधिकत्वकथनेन क्रियाशक्तिमत्वं षड्वक्त्रो । दीनतया स्वकृतसमयविज्ञापनेन
भक्तिनिष्ठा एकादशे । गोवृषपात्मन्त्वकथनेन वंगो द्वादशे । भगवतैव वृषद-

मनजानेन जानशक्तिः तयोदशे । भगवता समयं श्रुत्वा परिकरवन्धनेन सानु-
भावभक्तिः चतुर्दशे । सप्तोक्षदमनेन हृदिनाशकहननभक्तिः पंचदशे । वेदम-
न्त्रोक्तविधिना सत्योपयमेन मन्त्रनाशकहननभक्तिः षोडशे । राजपत्नीनां परमो-
त्सवेन वैदिकभक्तिः सप्तदशे । शंखादिवादित्रनादेन भगवता संबद्धा भक्तिः
अष्टादशे । भगवते पारिवर्द्धनेन संसारान्मोचनभक्तिः एकोनविंशे । शतगुणा-
धिककदानेन अतिभक्तिः विंशे । दंपत्योः प्रेपणे हृदये स्नेहविकलेदेन धैर्ययुक्ता-
भक्तिः एकाविंशे । दुष्टैः मार्गप्रतिवन्धने रंतिदेवसमा भक्तिः द्वाविंशे । अर्जुनेन
प्रतिवन्धनिराकरणेन परमाभक्तिः त्रयोविंशे । द्वारकां एत्य सत्यया रमणेन
सकलभक्तिफलरूपः प्रादुर्भावं चतुर्विंशे । “श्रुतकीर्तैः...” इति पद्ये भद्रा-
विवाहः । “मुतां च मद्राधिपते...” इति पद्ये लक्ष्मणाविवाहः । “अन्याश्चैवम्...”
इति पद्ये चकारेण समुच्चितः षोडशसहस्रनायिकाविवाहः । (एवम् अष्ट-
पञ्चांशत् श्लोकाः ॥ ५८ ॥ इति पंचपञ्चाशत् अध्यायसङ्ग्रहः ॥ ५५ ॥)

षट्पंचाशत्तमाध्यायम् अनुकामन्ति—

मुरघातिना ।

पीठतत्तनयानां च नरकस्य च घातनम् ॥ ४६ ॥

भूमिस्तुतो राजकन्याप्रेषणं स्वपुरे ततः ।

गत्वा महेन्द्रभवनं पारिजातहृतिबलात् ॥ ४७ ॥

उद्गाहो राजकन्यानां ।

‘मुर’ इति । इदं पदम् उभयत्र संबध्यते । प्रश्नः एकेन । नवभिस्साद्धैः
मुरविघातनम् । तत्र एकेन प्रश्नः । साद्धैः हरेः प्राग्ज्योतिषपुरगमनम् । “गिरि
दुर्गेः...” इत्यनेन पुरदाडर्धम् । “गदया...” इति द्वाभ्यां दुर्गवेदः । “तांचजन्य...”
इति मुरोत्थानम् । “निगूल...” इति मुरस्याभिद्रवणम् । “आविध्य गूलम्...”
इति मुरस्य अपराधः । “तदापतत्...” इति हरिणा मुरताडनम् । “तामा-
पतंतीम्...” इति साद्धैः मुरघातः । ‘घातिना’ इति पूर्वाग्रिमाभ्यां संबध्यते ।
“घातनम्” इति पाठस्तु सुगमः । “तस्यात्मजाः सप्त पितुर्वंधातुराः...” इति
त्रिभिः ताम्रादिप्राणहृणं पीठहननं च । “स्वानीकपान...” इत्यादि साद्धैः नवभिः

नरकस्य घातनम् । चकारो सैन्यघातनसूचको । तदुक्तम्— “...पीठं पुरस्कृत्य
चमूपति मूधे...” । “दृष्ट्वा विद्रावितं सैन्यम्...” । “तद्भीमसैन्यं भगवान्
गदाप्रजः...” इत्यादि । “ततश्च मूः कृष्णमुपेत्य कुंडले...” इति भूम्या छत्रकुंड-
लादिदानं स्तुत्युद्यमौ । “नमस्ते देवदेवैण...” इत्यादि सप्तभिः भूमिस्तुतिः ।
तत्र आद्यैः चतुर्भिः नमनम् । “त्वं वै सिन्धु...” इत्यनेन माहात्म्यम् । “अहं
पदोज्योतिः...” इति स्वहृत्पम् । “तस्यात्मजोऽयम्...” इति प्रार्थना । राज-
कन्याप्रेषणं पंचभिः । “इति भूम्या...” इति पद्ये भीमगृहप्रेषणः । “तत्र
राज्यम्...” इति राजकन्यादर्शनम् । “नं प्रविष्टम्...” इति राजकन्याभिः कृष्ण-
वर्णम् । “भूयात्पतिरयम्...” इति तासां हरौ भावेन हृदयधारणम् । “ताः
प्राहिणोद...” इति तासां द्वारिकाप्रेषणम् । “पैरावतकुल...” इति ताभिः सह
चतुःपटि राजप्रेषणम् । षोडशकलस्य भगवतः एकैकस्याः कलायाः सहस्रे-सहस्र-
रूपाः ताः । ‘गीतं वाद्यम्...” इत्यादि कलाहृताः गजाः । ततः तत्प्रेषणानन्तरं
बलात् पारिजातहरणं “गत्वा मुरेन्द्र...” इति चतुर्भिः । आद्ये स्वर्गगमनं
छत्रकुंडलदानम् । “नोदितः...” इति पारिजातहरणम् इन्द्रादिजयश्च । तृतीये
सत्यभामागृहोद्याने पारिजातस्थापनम् । “ययाच...” इति देवाड्यघातनिन्दनम् ।
चतुर्भिः राजकन्योद्गाहः । “अथो मुहूर्तं...” इति विवाहः । “गृहेषु...” इति
ताभिः रमणार्थं तासां गृहेषु प्रत्येककूपेण स्थितिः । “इत्थं रमापतिम्...”
इति तासां कामद्वेषम् । “प्रत्युद्गमासन...” इति तासां भक्तिकृता द्वादशधा
मेवा । (एवं साद्धैः षट्पञ्चांशत् श्लोकाः ॥ ४६ ॥ इति षट्पंचाशत्
अध्यायसङ्ग्रहः ॥ ५६ ॥)

षट्पंचाशत्तमाध्यायम् अनुकामन्ति—

रविमणौकृष्णकौतुकम् ।

‘रविमणौ’ इति । रविमणौकृष्णयोः कौतुकम् परिहासः इति यावत् ।
य च समस्ताध्यायेन । तत्र कौ पृथिव्यां तुलं सुखं जलं वा शिरो वा । सुखे-
“अयं हि परमो लाभः...” (श्लो. ३१) जले— “...समुद्रं शरणं गतान्...”
(श्लो. १२) शिरसि— “यद्वाञ्छयानूपशिखामणयः...” (श्लो. ४१) । तत्र

एवं विभागः—“प्रथमे सप्तमी मेवा त्रिभिर्मदिरवर्णनम् । बीजनोपासना द्वाभ्यां
रुक्मिणीरूपवर्णनम् ॥ १ ॥ एकेन कृष्णवीक्षा परिहासवचामि तु । एकादशमि-
रवैव द्वाभ्यामनुचितः कृतेः ॥ २ ॥ चतुभिः दूषणं वस्तु . . व हेतुचतुष्टयम् ॥”
तथाहि मुबोधिन्याम्— रूपतः फलतश्चैव संमत्या युक्तिभिस्तथा । चतुभि
दूषणं प्राह चतुर्विधमिहाच्युतः ॥ अज्ञानमग्रिमकृतिस्ततो द्वाभ्यां निरूपिता ।
अतः परं यत्कसंख्यं द्वाभ्यां तद्दूष्यते पुनः ॥ ३ ॥ हेतुः स्वहरणे द्वाभ्यामेकेन
स्वाननेक्षता ॥ ४ ॥ हरेर्निवृत्तिरेकेन रुक्मिण्याः प(?)तनं विभिः । सम्यग्
ज्ञानेन किञ्चिज्ज्ञानेन मोहेन तस्मिन् ॥ ५ ॥ चतुभिः सांख्यं पू(?)संस्विभि-
विक्रियेन सांख्यनम् । हर्षभिप्रेतकरुणं द्वाभ्यामुत्तरदापनम् ॥ ६ ॥ रुक्मिण्याः
पंचदशभिर्भोगवद्वचसां ततः । उत्तरारण्येकादशभिः द्वयेन प्रार्थना ततः ॥ ७ ॥
भावस्य वर्णनं द्वाभ्यां नवभिस्तत्प्रसंगनम् । अतिदेशस्ततो द्वाभ्यामन्याम्ब-
ध्यायपूरणम् ॥ ८ ॥ एकोनषष्टिः पद्यानि ह्यध्यायेस्मिन्स्थितानि हि ॥ ८ ॥
(एवम् एकोनषष्टिः श्लोकाः ॥ ५९ ॥ इति सप्तपंचाशत् अध्याय सङ्ग्रहः
॥ ५७ ॥)

अष्टपंचशतमाध्यायम् अनुक्रामन्ति—

कृष्णभार्याकथा पुत्रनामाव्युद्वाहपर्वणि ॥ ४८ ॥

रामादुक्मिवधो द्युते

‘कृष्ण’ इति । वैदिकं रमणं ह्याद्ये प्राकृतत्वं च पंचभिः । एवं षष्टिभिः
कृष्णभार्याणां कथा सर्वतोधिक्या ॥ तत्र भोहकपञ्चमर्मा दोषाभावो हरेस्ततः ।
ब्रह्माद्यगम्यपदवेः सेवादास्यं द्विषड्विधम् ॥ २ ॥ “तासां या दशपुत्राणाम्
...” इत्यादि साङ्ख्ययोदशभिः पुत्रनामानि । तत्र अयं क्रमः—“प्रतिजा प्रथमे
द्वाभ्यां रुक्मिणीमुतवर्णनम् । साङ्खेन सत्यभाभायाः जांबुवत्यास्तथैव हि ॥ १ ॥
सत्यायाः सूर्यजातायाः लक्ष्मणामित्रविद्ययोः । भद्रायश्च सुता एकैकेनाङ्गेन
सुता हरेः ॥ २ ॥ रोहिण्याः पीततत्पुत्रा द्वाभ्यां सर्वत मातृता । साद्वाभ्यां
राजप्रश्नश्च चकाराः पुत्रिसूचकाः ॥ ३ ॥ प्रयुक्तोपयमे द्वाभ्यामुक्तं हेतुद्वयं
युक्तैः । कन्यादानं तथैकेनानिरुद्धोद्घनं विभिः ॥ ४ ॥ उद्वाहे पंचदशभिर्वर्णनं

रामरुक्मिणी । तत्राद्ये रुक्मिणा कन्या भागिनेयाय दापिता ॥ ५ ॥ द्वितीयेऽ-
पहृतातेन जित्वा राज्ञः स्वयंवरैः । कामोपयमेन हेतुद्वयं द्वाभ्यामुदीरितम् ॥ ६ ॥
तृतीये रुक्मिणीकन्यादानं भगवता कृतम् । दीहित्रायानिःशुद्धाय चतुर्थे रोच-
नामदात् ॥ ७ ॥ पंचमे गमनं कृष्णदीनां भोजकटेपुरे । षष्ठे निवृत्त उद्वाहेऽथ
द्युतं रामरुक्मिणीः ॥ ८ ॥ द्युतक्रीडापट्टभिः ज्योत्कैस्तत्राद्ये रुक्मिणिक्षणम् ।
कनिङ्कराजा द्वितीये बलाह्लनं तृतीयके ॥ ९ ॥ . . . जितवान् रुक्मी कालिगः
प्राह्मद्वयम् । तृथे रामत्रये रुक्मी मृषा स्वजयमुत्तवान् ॥ १० ॥ पंचमे
रामसंरंभः षष्ठे रामजयः पुनः । सप्तमेस्त्वाकागवाणी ह्यष्टमे तदनादरः ॥ ११ ॥
आधिपतः पंचदशके रुक्मिणा मुगलायुधः । अतः परं रुक्मिवधो रामेण परिवेष
हि ॥ १२ ॥ द्वितीये तु कालिगस्य राज्ञो रदनगतनम् । अन्येषां छिन्नभिन्नानां
राजामाण्यं पन्नायनम् ॥ १३ ॥ तृतीयेऽथ चतुर्थे तु तूष्णीमावो हरेस्ततः ।
प्रत्यापत्तिः कुशस्यर्त्यां रथेन वरकन्ययोः ॥ १४ ॥ अध्यायेऽस्मिन्दिचत्वा-
रिणंश्लोकाः व्यायंरुदीरिताः ॥ १४ ॥” (एवं द्विचत्वारिंशत् श्लोकाः
॥ ४२ ॥ इति अष्टपंचाशत् अध्यायसङ्ग्रहः ॥ ५८ ॥

एकोनषष्टितमाध्यायम् अनुक्रामन्ति—

बाणस्य हरसंकथा ।

उषास्वप्नकथा चित्रलेखाया हरणं हरेः ॥ ४९ ॥

पीतस्य बन्धनं चापि

‘बाणस्य हरसंकथा’ इति—“बाणः पुत्रगतः...” इति नवभिः । “बाणः
पुत्रः...” इति द्वाभ्यां बाणे महादेवसंतोषः । “स एकदाः...” इति चतुर्भिः
बाणेन हरप्रार्थना । “तच्छुत्वाः...” इति हरक्रोधः । “इत्युक्तः...” इति
बाणस्य स्वकीर्यनाशप्रतीक्षा । उषास्वप्नकथा “तस्योषाः...” इति दशभिः ।
“तस्योषाः...” इति पद्ये उपायाः स्वप्ने प्रायुष्मिन्ना रतिः । “सा तत्रः...”
इति उपायाः विह्वलता । “बाणस्य मंत्रीः...” इति चित्रलेखोपापाख्यानम् ।
“कांतं मृगयसेः...” इति चित्रलेखायाः प्रश्नः । “दृष्टः...” इति द्वाभ्याम्
उपावचनम् । “व्यसनं तेः...” इति चित्रलेखाप्रतिज्ञा । “इत्युक्त्वाः...” इति

त्रिभिः दैत्यमनुजोतिरुद्धलेखनम् । “त्रिवलेखा तम्...” इति पंचभिः हरेः अनिरुद्धस्य हरणम् । तत्र आद्ये चित्रलेखायाः विहायसा द्वारकागमनम् । “तत्र सुप्तं स्व...” इति अनिरुद्धहरणम् । “सा च तं सुन्दरवरम्...” इति त्रिभिः रमणम् उपानिरुद्धयोः । “तां तथा...” इति त्रिभिः अनिरुद्धबन्धनम् । “तां तथा...” इति भटानाम् अनिरुद्धज्ञानम् “भटाः...” इति वाणाय आवेदनं द्वाभ्याम् । “ततः प्र...” इति वाणस्य कन्यागारगमनम् । “कामात्मजम्...” द्वाभ्यां वाणस्य दर्शनविस्मयी । “स तं प्रविष्टम्...” इति द्वाभ्याम् अनिरुद्धेन वाणसैन्यविद्रावणम् । “तं नाग...” इति अनिरुद्धबन्धनम् । “चापि” इति अव्यययुगेन दर्शन-विस्मय-सैन्यविद्रावणं संगृहीतम् । एवं चैतस्मिन् अध्याये एकविंशत् श्लोकाः । पुस्तकान्तरेषु क्वचित् चरवारः अधिकाः विगीताः दृश्यन्ते । सुबोधिनोस्वारस्येन सद्भिः उपेक्षयाः ते । (एवम् एकाविंशत् श्लोकाः) ॥३१॥ (इति एकोनविंशः अध्यायसङ्ग्रहः) ॥५९॥

षष्ठितामध्यायम् अनुकामन्ति—

बाणयादवसंयुगः (ने?) ।

कृष्णशंकरयोर्युद्धे ज्वरसंस्तवनं ततः ॥५०॥

बाणबाहुक्लिष्टा रुद्रस्तुतिर्बाणभयं वरः ।

उषा प्राप्तिः

‘बाणयादव’ इति । “अपश्यताम्...” इति पंचभिः पदैः बाणयादवयोः संयुगः । तत्र आद्ये वन्धनात् अनिरुद्धशोचनम् । द्वितीये नारदात् अनिरुद्ध-वृत्तान्तज्ञानं शोणितपुरगमनं च । तृतीये अष्टमहारथानां नामानि । “अक्षी-हिणीभिः...” इत्यनेन शोणितपुररोधः । “भज्यमान...” इति वाणागमनम् । कृष्णशंकरयोः युद्धं “वाणार्थे...” इत्यादि षोडशभिः । तत्र आद्ये रुद्रागमनम् । “आसीत् सुतुमुलम्...” इति शिवकृष्णयोः युद्धम् । “कुम्भाण्डकूपकणं...” इति पर्यन्तं चरवारिर्द्वंद्वानि । “ब्रह्मादयः...” इति देवानां युद्धदर्शनार्थम् आगमनम् । “शंकरानुचरान्...” इति द्वाभ्यां शिवानुचरानुद्रावणम् । “पृथग्विधानि...” इति

त्रिभिः अन्वयुद्धम् । “स्कन्द...” इति गुह्यपलायनम् । “कुम्भाण्डः...” इति वलवद्रेण वाणाभात्यहननं सैन्यद्रावणं च । “विशीर्यमाणम्...” इति त्रिभिः कृष्णवाणयोः युद्धम् । “तन्माता...” इति कोटरागमनम् । “ततस्तिर्यङ्...” इति वाणपलायनम् । “विद्राविते...” इत्यादि दशभिः श्रीकृष्णयुद्धार्थं ज्वरागमनम् । “अथ नारायणः...” इति ज्वरयोः युद्धम् । “माहेश्वरः...” इति साङ्गेन ज्वरस्य कृष्णशरणागतिः । “नमामि...” इत्यादि चतुर्भिः ज्वरसंस्तवनं स्वरूप-वल-कार्य-रक्षाप्रार्थनाभेदेन । “त्रिजिरस्मे...” इत्यस्मिन् ज्वरानुशासनम् । “इत्युक्तः...” इति ज्वरगमनवाणागमने । “ततो वाहुसद्वेणे...” इति त्रिभिः बाणबाहु-कृतनम् । अस्वमोक्षः करछेदो रुद्रस्तुत्युद्यमस्तथा । “त्वं हि ब्रह्म...” इत्यादि द्वादशभिः रुद्रस्तुतिः संवत्सरात्मककालातिप्रगार्थम् । तत्र सुबोधिन्याम्—“याद्गो भगवान्कृष्णः संयोगेनैव गम्यते । दृश्यमानस्तु शास्त्रेण विसंवादी हि दृश्यते ॥१॥ इति ज्ञापयितुं प्रोक्ता भूम्यादीनां तथा गता । अंगान्यपि हरेर्लोकैः भिन्नानि ति विदुयंतः ॥२॥ अस्मदर्थं च भगवान् समागत इति श्रुतिः । निर्दोषपूर्णगुण-कोऽप्यस्मदादिभिरीयते ॥३॥ यथाधिकारे तत्रापि हेतुहि भगवान्परः । अन्तरायस्तदज्ञाने यदासीत्तस्य च स्वयम् ॥४॥ प्रकाशको महान्साक्षादतोऽस्माकं हितो भवेत् । कृष्णेच्छयैव सर्वेषामिवं वृद्धिपरिषयः ॥५॥ अन्यथा धनपुत्रादी कथं मुग्धाः विवेकिनः । तस्मात्पुत्रापरिप्राधानां क्षमा नित्या हरौ परे ॥६॥ तथापि चेन्न सेवन्ते व्यर्थजीवास्तु ते मताः । अनेन भजनं प्रोक्तं वाणोपि भजते यतः ॥७॥ प्राकृताभजने हेतुर्दुरदृष्टं निरूप्यते । वयं तु लोकीरत्यैव भक्त उत्कर्षहेतवः ॥८॥ युद्धार्थमागताः किन्तु भक्ता एव न संशयः । प्रकटेन प्रकारेण शरणागतिश्च्यते ॥९॥ तादृशस्य हितं यस्मादकृतं व्यभिचि साध्यता ॥ बाणाभयं चतुर्भिर्हि अंगीकारेण पूर्वतः । दत्ताभयेन दर्पस्य शान्त्या शिष्टस्य रक्षणात् ॥११॥ उषानिरुद्धानयनं द्वाभ्यामेकेन मोदतः । स्वलंकृतद्वारकायां प्रवेशेन फलेन च ॥२॥ उषाप्राप्तिश्चतुर्भिर्हि त्रिपंचशतयार्द्धकम् । (एवं साङ्गेत्रिपंचशत् श्लोकाः) ॥५३॥ (इति षष्ठिः अध्यायसङ्ग्रहः ॥६०॥)

एकषष्टितमाध्यायार्थम् अनुक्रामन्ति—

नृगाह्यानम्

‘नृग’ इति । नृगस्य आह्वयानं चतुःशतवारिणश्चिः । तत्र एवं विभागः—
“कृकलाशत्वापगमः पङ्क्तिः प्रश्नो द्वयंन ह । उत्तरोद्यम एकेन नृगवाक्यानि
विंशतिः ॥१॥ पूर्वोदात्तः षोडशभिरेकेनाश्वयमेव हि प्रार्थना त्रिभिरेवा.....
एकेन गमनं हरेः ॥२॥ शिक्षोद्यमस्तथैकेन शिक्षा द्वादशभिः कृता । निजागारे
प्रवेशञ्चतुष्वशतवारिणश्च देव हि ॥३॥

(एवं चतुश्चतवारिणश्च श्लोकाः ॥४४॥ इति एकषष्टिः अध्यायसङ्ग्रहः ॥६१॥)

द्विषष्टितमाध्यायम् अनुक्रामन्ति—

बलभद्रब्रजागमः ॥५१॥

गोपीविलापो रामस्य रतिर्गोपीभिरेव च ।

यमुनाकर्षणम्

‘बल’ इति । बलभद्रस्य ब्रजागमः “बलभद्रः कुरुश्रेष्ठः...” इत्यादि
अष्टभिः । तत्र एवं विभागः—प्रथमे भगवदाविष्टबलस्य गोकुले आगमनम् ।
द्वितीये परिष्वंगाभिवादानाशिलः । तृतीये नन्दयशोदयोः नेत्रजलेन
बलभद्रसेचनम् । गोपबृद्धादिभिः यथायोग्यं हास्य-हस्तप्रहादिकं चतुर्ध-
पंचमयोः । षष्ठे अनामयादिप्रश्नः । सप्तमे बन्धूनां कुशलप्रश्नः । अष्टमे अभि-
नन्दनम् । “गोप्यो हसन्त्यः...” इत्यादि अष्टभिः गोपीविलापः । तत्र आद्ये द्वे
प्रश्नोद्योगः । “कच्चिदास्त (?)...” इति सार्द्धैः पंचभिः गोपीनां श्रीकृष्ण-
कुशलप्रश्नः । कुशलः हरिकृति-स्वकृति-हरिकृति-नागरीकृति-निषेधकृतिभेदेन ।
सप्तमे गोपीविलापः । अष्टमे गोपीसंरंजनम् । गोपेभिः गोपीभिः रामस्य रतिः
“द्वौ मासो...” इत्यादि पङ्क्तिः । वास-रमण-वारुणीपतन-तद्गन्धाष्टाण-पानो-
पगान-रूपवर्णनभेदेन । यम्—बलभद्रम् उ वित्तकं श्रीकृष्णेतरं वित्तक्यं न-
आयातायाः आसमन्तात् कर्षणम् “स आजुहाव...” इति दशभिः ।
आह्वानाकर्षण - निर्भर्त्सन - पादपतन - स्तवन - प्रार्थनावगाह्नोत्तीर्थ - नरवसन-

भूषण-परिव्रान-शोभाण्डमाहात्म्य-स्थापना निदेश-भेदेन ॥ (एवं सार्द्धं
द्वात्रिंशत् श्लोकाः) ॥ ३२ ॥ (इति द्विषष्टिः अध्यायसङ्ग्रहः ॥ ६२ ॥)

त्रिषष्टितमाध्यायम् अनुक्रामन्ति—

काशीपतिर्षोडशधातनम् ॥५२॥

काशीवाहः

‘काशीपति’ इति । काशीपतेः षोडशकस्य च घातनम् । सहायैर्न गौणता-
भूचनात् पूर्व षोडशकस्य घातनम् । पञ्चात् काशीपतेः । तत्र एवं क्रमः-पङ्क्तिशतया
काशीपति-षोडश-घातनम् । सप्तदशभिः काशीवाहः । पङ्क्तिशतौ “पूर्वानुवादः
प्रस्ताभौ हस्ये दूतयापनम् । दूतागमनमेकैकस्मिन्दाभ्यां दूतकथनम् ॥ १ ॥
हासः प्रत्युत्तरं द्वाभ्यामाक्षेपाहरणं ततः । हरेः काश्यागमो मिथ्यावासुदेवस्य
निष्क्रमः ॥२॥ अक्षरैर्हिणीभिस्त्रिभिः काशिराजस्य निष्क्रमः । हरिणा षोडशको
दृष्टो द्वाभ्यां तद्वेपवर्णनम् ॥ ३३॥ हरेर्होमो प्रहरणमरिभिः पूर्वमायुधैः ।
द्वाभ्यां युद्धं त्रिभिः क्षेपहनने षोडशकस्य हि ॥ ४ ॥ पतत्रिभिः काशिराजशोण्यैः
काश्यां निपातनम् । द्वारकागमनं चक्रपाणेः षोडशकोचनम् ॥ ५ ॥ संशयः
काशिमंस्थानां रोदनं माम्परायिकम् । मुदक्षिणस्य दुर्भावो देवविश्वेश्वरा-
चनम् ॥ ६ ॥ शिव प्रीतिर्वरोयञ्चत्वा शिववाक्यं तथाकृतिः । बह्व्युत्थानं
ततो द्वाभ्यां बह्विरूपस्य वर्णनम् ॥ ७ ॥ भयं कुशस्यलस्थानां क्रीडतः
प्रार्थना हरेः । प्रहस्याभयदानं तद्वाहार्थं चक्रमादिशत् ॥ ८ ॥ कृत्यादैनं
स्वचक्रेण कृत्यया भगवन्नय्य । मुदक्षिणस्य वह्नं ह्यरिणा काशिदाहृतम् ॥ ९ ॥
दग्ध्वा वाराणसीं भयश्चक्रस्य समुपस्थितिः । फलमेतस्य श्रवणे चत्वारि-
श्ववस्तथा ॥ १० ॥ (एवं त्रिचत्वारिणश्च श्लोकाः ॥ ४३ ॥) (इति त्रिषष्टिः
अध्यायसङ्ग्रहः ॥ ६३ ॥)

चतुःषष्टितमाध्यायम् अनुक्रामन्ति—

सकृत्पातः द्विविदस्य बलाद्धः ।

“स्वकृत्यात्” इतिपाठे स्वकृत्यात् स्वकृतापराधेन द्विविदस्य बलाद्
वधः । “सकृत्पात” इति सकृत् एकवारं पातने “य वाहू तालसंकाशो...”

इति द्विविदकृतेन अपराधरूपेण मारणहेतुभूतेन । अथवा “यादवेन्द्रोऽपि . . .”
इति बलभद्रकृतेन सकृत्पातेन बलाद् बलभद्राद् द्विविदस्य वधः । अथवा
“व्यदूषयञ्छकृन्मूत्रैः . . .” इत्युक्तेन शकृत्पातेन मारणहेतुभूतेन अपराधेन ।
तत्र एवं क्रमः-आद्यैः सप्तभिः सहाः अपराधः । “एवं देशान् विप्रकुर्वन् . . .”
इत्यादि सार्द्धाष्टभिः असह्यपराधः । “... तं तस्याविनयम् . . .” इति सार्धा-
ष्टभिः युद्धम् । “यादवेन्द्रोऽपि . . .” इति पद्ये द्विविदहनम् । अग्रे श्लोकद्वये
द्विविदपात-पुष्पवृष्टि-प्रत्यापत्तयः । श्लोक(१)स्तु— “प्रश्नो द्विविदचिह्नानि
कपिना पुरदाहनं । शैलोत्पातो जलोत्पातः शकृत्पातोऽग्निष्पु स्वतः ॥ १ ॥
योषित्पुरुषरोधसः सह्योपद्रव उच्यते । रैवते गमनं तत्र बलभद्रस्य दर्शनम् ॥
रामसौन्दर्यकथनं स्त्रीषु शिश्नप्रदर्शनम् । तरुणीनां विहासश्च कपिना गुद-
दर्शनम् ॥ रामेण प्रावप्रक्षेपः कपिना वस्त्रपाटनम् । कपेश्च विप्रकरणं क्रोधो
रामस्य वानरे ॥ ४ ॥ रामेण शालतरुक्षेपो मुशलेन कपेर्हृतिः । पुनः शालतरु-
क्षेपः शतधा तस्य छेदनम् ॥ ५ ॥ वननिर्वृक्षकरणं शिलावर्षणवर्णनम् ।
मुष्टिपातो रामवक्षस्याक्षेपः कपिजत्वुणि ॥ ६ ॥ कपिपाताद् गिरेः कम्पो
देवानां पुष्पवर्षणम् । अष्टाविंशतमे पद्ये रामप्रत्यागतिः पुरे ॥ ७ ॥ (एवम्
अष्टाविंशतिः श्लोकाः) ॥ २८ ॥ (इति चतुःषष्टि अध्यायसङ्ग्रहः ॥ ६४ ॥)

पंचषष्टितमाध्यायम् अनुक्रामन्ति—

लक्ष्मणाहरणं रामविक्रमो गजसाहस्ये ॥ ५३ ॥

‘लक्ष्मणा’ इति । लक्ष्मणायाः दुर्गोधनमुतायाः साबेन हरणं
द्वादशभिः । तत्राद्ये लक्ष्मणाहारस्तिभिः कौरवभाषणम् । वन्धनोद्यमं
सांवस्याभिमुख्ये व्यवस्थितिः ॥ १ ॥ सांवस्याकिरणं बाणैः सांवस्या-
मर्षणं ततः । साबेन वेधनं . . . तैः सांवस्याभिपूजनम् ॥ २ ॥
रथादिछेदः सांवस्य वन्धनं गमनं पुरे । एवं द्वादशभिः
पद्यैर्लक्ष्मणाहरणं भतम् ॥ ३ ॥ द्विचत्वारिंशता पद्यैः विक्रमो रामकर्तुः ।
तत्राद्ये नारदाच्छ्रुत्वा यदनामुद्यमः कुरुन् ॥ ४ ॥ सांवयित्वा यद् राम-
भमनं हस्तिनापुरे । रथेन श्राद्धणैः सार्द्धमुद्भवेषणं पुरे ॥ ५ ॥ रामागमस्य

कथनं गतिर्मगलपाणिनाम् । गवाधर्षदान . . . नान्यनामयशिवंबचः ॥ ६ ॥
रामस्य वानययुगलं कुरूणां वानयपंचकम् । देहेन्द्रियप्राणमनआत्मोत्कर्षत्व-
बोधकम् ॥ ७ ॥ कुरूणां गेहगमनं क्रोधो रामस्य दुर्घटः । दशवाक्यानि रामस्य
प्रतिज्ञा नर्वायः कृता ॥ ८ ॥ दशमेऽयवमार्याहि द्वाभ्यां नगरकर्षणम् ।
एकेनागतिरेकेन सांबलक्ष्मणया समम् ॥ ९ ॥ पंचभिर्भगवत्तोत्रं दैव्येन
कुरुभिः कृतम् ॥ सुबोधिन्त्याम्— बुद्धिर्न शूद्रा नो शास्त्रं नापि ज्ञानं स्वतः
क्वचित् । प्रभुः स्यामी भवौञ्चापि धारकः क्षांतिमर्हति ॥ १ ॥ एकेना-
भयदानं च पारिवर्हेयुगेन हि ॥ १० ॥ अंगीकाराभिगमने . . . स्वकृतस्य
प्रशंसनम् । अद्यापि रामकार्यस्य सूचनं हस्तिनापुरे ॥ ११ ॥ चतुःपंचाशता-
पद्यैरध्यायपरिपूरणम् ॥ (एवं चतुःपंचाशत् श्लोकाः ॥ ५४ ॥ इति
पंचषष्टिः अध्यायसङ्ग्रहः ॥ ६५ ॥)

पट्षष्टितमाध्यायम् अनुक्रामन्ति—

नारदेन हरेर्लीलादर्शनं गृहमेधिनाम् ।

‘नारदेन’ इति । कृतमिति शेषः । वृहद्ब्रह्ममेकेन श्रुत्वाऽद्ये दर्शनेषणा ।
नारदस्य महच्चित्रं दर्शनायागतिः पुरे ॥ १ ॥ एतत्त्रयं तु सार्द्धाभ्यां वर्णनं
सार्द्धकैहरेः । कुशपुत्रमिषवनजलस्थलविभेदतः ॥ २ ॥ आन्तरं वर्णनं षष्टे
सप्तमेऽतःपुरं वहिः । सामान्यतो वर्णयित् प्रत्येकं गृहवर्णनम् (?) ॥ ३ ॥
अष्टमे त्वेकभवेने प्रवेशो नारदस्य ह । चतुर्भिवर्णनं तस्य तत्र त्रिभिरमुष्य
हि ॥ ४ ॥ शोभोक्ता सर्वकालीना रात्रिशोभा तथैकतः । नारदातिथ्यकरणं
हरिणा त्रिभिरुच्यते ॥ ५ ॥ मनयावपुषा वाचा नारदप्रार्थनं युगे । इत्यष्टा-
दशभिः पद्यैर्गमनं प्रथमे गृहे ॥ ६ ॥ द्वितीये भवने यानं चतुर्भिनारदस्य हि ।
तृतीयानिगृहे यानं चतुर्दशभिरुच्यते ॥ ७ ॥ अत्र गृहाः अष्टाविंशतिः द्वात्रिंशत्
चतुश्चत्वारिंशत् वा मतभेदेन ज्ञेयाः । वचनोद्यमं एकेन प्रार्थना युगलेन हि ॥ ८ ॥
तत एकेन हरिणा बोधितो नारदो मुनिः । द्वाभ्यां स्वैनाऽऽयवसितं प्राह केशव-
सन्निधौ ॥ ९ ॥ शुकस्ततो विस्मितस्य स्मरतः केशवं हृदि । सकौतुकस्य
देवर्षेरकेन गमनं पुनः ॥ १० ॥ लीलासमाप्तिरेकेन तथैकेन फलश्रुतिः ।

चत्वारिंशत्पञ्चदशान्यत्राध्याये सुसम्मताः ॥ ११ ॥” (एवं पंचचत्वारिंशत् श्लोकाः) ॥४५॥ (इति षट्षष्टिः अध्यायसंग्रहः ॥६६॥)

सप्तपष्टितमाध्यायम् अनुक्राम्यन्ति—

आह्निकं वासुदेवस्य राज्ञां विज्ञापनं हरेः ॥५४॥

‘आह्निकम्’ इति । वासुदेवगृहे अवतीर्णस्य आह्निकम् अहोनिर्वृतं दिनकृत्यं सार्द्धं द्वाविंशत्या पद्यैः । “अथोपसि...” इत्याश्रयम्... “कथाः” इत्यन्तम् । तत्र एवम् अवान्तरविभागः—आद्ये कामपराणां भगवत्कृत-धर्मा-सहित्पुत्रवम् । द्वितीये अन्तरंगवहिरंगानाम् अलिखयसां बोधकत्वम् । तृतीये रुक्मिण्यमर्षः । चतुर्थे भगवतः उत्थाताचमनध्यानानि । पंचमे ध्यानविषय-निरूपणम् । षष्ठे श्रीकृष्णस्य स्नान-वातःपरिधान-संध्योपगमादिकरण-तिलकादिधारण-होम-ब्रह्मजप-मौनानि । सप्तमे सूर्योपस्थान-देवधिपितृपंश-वृद्धविप्रार्चनानि । अष्टमनवमयोः गवां दानानि । दशमे गो-विप्र-देवता-वृद्ध-गुरु-भूत-नमस्कार-मंगलस्पर्शनं । एवं दशभिः धर्मपरिष्कारः कृतः । अतः परं सार्द्धैः त्रिभिः धर्मपरिष्कारः । तत्र एकादशे वस्त्राभरण-स्वीय-दिव्य-सामान्यानु-लेपादि-स्वीकारः । द्वादशे आज्यावेक्षणार्दश-गो-वृष-द्विज-देवता-दर्शनानि अर्द्धे । द्वादशत्रयोदशयोः सर्वेषाम् इष्टं दापयित्वा स्रक्तांबुलानुलेपनानि सर्वेभ्यः विभज्य अंगीकृतवान् । ततः चतुर्भिः सुधर्मोपवेशनम् । तत्र आद्ये रथम् आनीय सूतस्य प्रणम्यावस्थानम् । द्वितीये भगवतः रथारोहः । तृतीये सर्वेषां हरि-दर्शनम् । तुर्ये हरिगमनम् । एकोनविंशे सुधर्मोपवेशः । विंशे उप-मन्त्र्यादिनाम् उपस्थानम् । एकविंशे षड्विधवाद्यनृत्यगीतादि । पूर्वरज-कथाकथनं द्वाविंशे । एवं चतुर्भिः सुधर्मोपवेशः । तावता वासुदेवाह्निकं समाप्तम् । एतावत्कार्यं भगवता क्रियते । अह्ना निर्वस्यम् आह्निकम् । “तत्रैकः पुरुषः...” इति षड्विंशत्या राज्ञां विज्ञापनम् । तत्र त्रिभिः प्रस्तावना । तत्र आद्ये दूतागमनम् । द्वितीये नमस्कृतिः । तृतीये राजदुःखावेदनम् । “कृष्णकृष्ण...” इति षड्भिः ऐश्वर्यादिक्रमेण राजवचनकथनं दूतैः । अत्र ऋषेः ‘हरेः’ ‘रिपोः’ इति पाठत्रयं पुस्तकभेदेन दृश्यते । ऋषेः इति पाठे

विज्ञापनपदं पूर्वापरयोः संबध्यते । उभयत्र कर्त्तरि षष्ठी । ‘रिपोः’ जरा-सन्धस्य संवधि-विज्ञापनं हरेः अग्रे इति अध्याहार्यम् । एकाविंशे दूतवचनम् । ऋषेः नारदस्य कृतं विज्ञापनं “राजदूते...” इत्याश्रयं असमाप्तिः षोडशभिः । तत्र आद्ये नारदागमनम् । द्वितीये भगवदुत्थानम् । तृतीये हरिणा नारदसभा-जनम् । भगवद्भक्तं द्वे । तत्र आद्ये जगद्वृत्तान्तप्रश्नः । द्वितीये षाण्डव-वृत्तान्तप्रश्नः । अष्टवचनानि नारदस्य । तत्र त्रिभिः मायाऽभावप्रार्थनम् । “अथाप्याथावये...” इत्यादि त्रिभिः युधिष्ठिर-चिकीपित-ध्रावणम् । “श्रवणा-त्कीर्तनाद्...” इति द्वाभ्यां सर्वैर्गुह्यैः चरणोदकमाहात्म्यं च । एकेन भगव-द्वचनोच्यम् । एकेन भगवद्भक्तम् । एकेन उद्धवविचारः । (एवम् अष्टचत्वा-रिंशत् श्लोकाः) ॥४८॥ (इति सप्तपष्टिः अध्यायसंग्रहः ॥६७॥)

अष्टपष्टितमाध्यायम् अनुक्राम्यन्ति—

मन्त्रणादुद्धवस्येन्द्रप्रस्थे गमनमौशितुः ।

‘मन्त्रणाद्’ इति । तत्र एवं क्रमः—मन्त्रणं ह्युद्धवस्यैकादशभिर्निक्रमो हरेः । षड्भिर्मन्त्रिभिर्देवर्षेः द्वाभ्यां दूतस्य निक्रमः ॥ १॥ द्वाभ्यां हरेर्मर्गिगतिः द्वाभ्यां राज्ञः समुदगतिः । षड्भिः समागमः कृष्णराजोरष्टभिरेतयोः ॥ २ ॥ राजमागंशे नगरप्रवेशः कृष्णपूजनम् । अष्टभिः षट्चत्वारिंशच्छ्लोकाः समुदाहृताः ॥ ३ ॥ तत्र आद्येण एकादशम् प्रथमे उद्धवस्य सर्वमताज्ञानम् । सार्द्धेन ऋषिवाक्यप्रशंसता । सार्द्धेन स्वकार्यसिद्धिः । एकेन जरासन्ध-यवप्रशंसा । द्वाभ्यां जरासन्धवधोपायः । अष्टमे भगवतः सर्वकर्तृत्वम् । नवमे सहजयशस्वित्वम् । दशमे जरासन्धवधस्य भूर्यर्थत्वम् । एकादशे उद्धव-वाक्यप्रशंसा । “अथादिशत्...” इति सार्द्धैः षड्भिः हरेः निर्गमनोत्सव-निरूपणम् । तत्र आद्यैः सार्द्धैः त्रिभिः हरेः निक्रमः । “नृवाजि...” इति द्वाभ्यां प्रयाणप्रकारः । तत्र आद्ये असाधारणीनां प्रयाणप्रकारः । द्वितीये साधारणीनाम् । “बलं बृहद्...” इति भगवत्कटकवर्णनम् । “अथो मुनि...” इति एकेन नारदस्य अग्रे गमनम् । “राजदूतम्...” इति दूतसमाधानम् । “इत्युक्तं...” इति दूतगमनम् । भगवतः इन्द्रप्रस्थपर्यन्तम् आगमनम् “आनर्तं

..” इति द्वाभ्यां स्थलजलोत्तरण-प्रयत्न-वेदात् । ततः निकटे समागमने युधिष्ठिरस्य स्नेहपूर्वकं कृत्यं “तमुपागतम् ..” इति चतुर्भिः । तत्र द्वाभ्यां प्रत्युद्यमः । द्वाभ्यां भक्तिः । एकेन भीमादिकृत्यं प्रेम्णा । “अर्जुनेन ..” इति द्वाभ्यां लौकिककृत्यं सर्वेषाम् । “मदंग..” इति पद्विध-वाद्य-स्तुति-नृत्य-गीतानि । “गवं मुहूर्त्भिः..” इत्यादि अष्टभिः पुरप्रवेशः । तत्र आद्ये दर्शनस्थानात् चलनम् । भगवत्प्रविष्टपुरवर्णनं “मंसिक्त..” इति द्वाभ्यां प्रजाराजगृहभेदेन । “प्राप्तं निगम्य..” इति प्रजानाम् औत्सुक्यम् । “तस्मिन्..” इति तत्रत्यानां भगवद्दर्शनम् । “तत्र तत्र..” इति पुरुषाणां भावः । “ऊचुः स्त्रियः..” इति इन्द्रप्रस्थस्थम्बीकृतं मुकुन्दपत्नीनां सभा-जनम् । “अन्तःपुरजनेः..” इति अन्तःपुरवासिकृत्यम् । “वृथाबिलोन्वय..” इति कुन्तीकृत्यम् । “भोविन्दं गृहम्..” इति युधिष्ठिरकृत्यम् । “पितृवसुः..” इति भगवत्कृत्यम् । “श्वश्रवा सं..” इति भगवत्पत्नीपूजा द्वाभ्याम् । “मुखं निवासयामास..” इति राज्ञः स्थिरकृत्यम् । “तर्पयित्वा..” इति द्वाभ्यां भगवतः स्थिरकृत्यम् । (एवं सार्द्धेष्टचत्वारिंशत् श्लोकाः) ॥ ४६^३ ॥ (इति अष्टषष्टिः अध्यायसंग्रहः ॥ ६८ ॥)

एकोनसप्ततितमाध्यायम् अनुक्राम्यन्ति—

जरासन्धवधः

‘जरा’ इति । जरासन्धस्य वधः सप्तचत्वारिंशदभिः । तत्र एवं षमः-विजापनार्थप्रसंगे द्वाभ्यां प्रार्थनमुच्यते । चतुर्भिर्नैर्ष्यसिद्धयर्थं पंचभिः कृष्ण-वाचनम् ॥ १ ॥ सार्द्धेस्त्रिभिर्दिविबजयः त्रिभिर्ब्रह्मण्यधरणम् । मगधे गमनं चापि चतुर्भिस्तस्य याचनम् ॥ २ ॥ भीमकृष्णार्जुनैः राज्ञः पंचभिर्दनिनिश्चयः । दानप्रतिज्ञा चैकेन भगवद्वाचनययुष्मकम् ॥ ३ ॥ त्रिभिर्जरासन्धवाक्यैः तिरस्कारो मनीषिणाम् । युद्धप्रतिज्ञा भीमेन पुराद् गमनमेकतः ॥ ४ ॥ चतुर्भिर्गदया युद्धं मुष्टियुद्धं तु युष्मतः । तेज आप्सयायनं द्वाभ्यां त्रिभिःधातो जराजने ॥ ५ ॥ भीमपूजनमेकेन सार्द्धेन ह्यभिषेचनम् । सहदेवस्य मोक्षश्च राज्ञां यस्मै कृतं महत् ॥ ६ ॥ मत्कोपरिष्टः चत्वारिंशच्छ्लोका ह्यत्र कीर्तिताः ।” (एवं सप्त-

चत्वारिंशत् श्लोकाः ॥ ४७ ॥ इति एकोनसप्ततिः अध्यायसंग्रहः ॥ ६९ ॥)

मत्तनिनमाध्यायम् अनुक्राम्यन्ति—

स्तोत्रं राज्ञां सत्कृतिरेव च ॥ ५५ ॥

‘स्तोत्रम्’ इति । ‘राज्ञाम्’ इति पदं देहलीदीपप्रायेण उभयत्र अन्वेति । पूर्वनिवयित्वे कर्त्तरि षष्ठि । उत्तरान्वायित्वे कर्मणि षष्ठी । तत्र “अयुते द्वे शतानि..” इत्यारभ्य षोडशभिः स्तोत्रम् । “संस्तुयमान..” इत्यारभ्य एकोनविंशत्या सत्कृतिः । तत्र षोडशसु सार्द्धेन राज्ञां निष्कमणम् । त्रिभिः राज्ञां हरिदर्शनम् । सार्द्धेन प्रेमप्रणामी । एकेन म्नुत्सुधमः । नवभिः स्तुतिः प्रार्थना मत्स्यराभावां गतराज्यानुभोदनम् । युक्तिस्तत्र दोषोक्तिः स्वराज्य-स्थायिनन्दनम् ॥ वैराग्यस्युपदेशस्य प्रार्थना स्वाधिकारिता । एकोनविंशो-आद्ये हरिवचनोद्यमः । पद् हरिवचनानि । भक्तिदानं बुद्धिशंसा राज्यदोषः क्रियाकृतिः । ऋणत्रयं निराकृत्य तत्र चिन्ताविरागता ॥ सप्तभिः राजस्तुतिः । पंचभिः प्रत्यापत्तिः ॥ ३५ ॥ (एवं पंचविंशत् श्लोकाः ॥ ३५ ॥ इति सप्ततिः अध्यायसंग्रहः ॥ ७० ॥)

एकमत्तनिनमाध्यायम् अनुक्राम्यन्ति—

राजसूये हरेः पूजा शिशुपालवधस्तथा ।

अत्र विंशता पूजा । पंचविंशत्या शिशुपालवधः । तत्र त्रिंशति पंचभिः भक्तिविराधपरिहारः । सार्द्धेकादशभिः यज्ञसमुद्धिः । द्वाभ्यां पूज्यविमर्शः । पद् सहदेववचनानि । पंचभिः कृष्णपूजा । एकेन शिशुपालरोषः । सप्तभिः परुषवचनानि । नवभिः शिशुपालवधः । एकेन यज्ञपूतिः । पंचभिः सर्वेषां प्रतियोगम् । एकेन दुर्योधनमानभङ्गः । एकेन फलस्तुतिः । (एवं ५४^३ सार्धं चतुःपंचाशत्) श्लोकाः । (इति एकसप्ततिः अध्यायसंग्रहः ॥ ७१ ॥)

द्वामत्तनिनमाध्यायम् अनुक्राम्यन्ति—

दुर्योधनाभिमानस्य भङ्गः

नव एवं विभागः द्वाभ्यां राजप्रश्नः । पंचभिः बान्धवानां कार्याधिकारः ।

एकेन वैदिकं कर्म । दशभिः अवभृथस्नानार्थं गमनम् । त्रिभिः अवभृथस्नानम् । त्रिभिः यजमानपुरःसराणाम् अलंकारः । त्रिभिः सर्वेषां प्रतियानम् । द्वाभ्यां मुहूर्दां निवासनम् । एकेन युधिष्ठिरमनोरथपूतिः । त्रिभिः दुर्योधनपरितापः । द्वाभ्यां युधिष्ठिरसमुद्भिः । द्वाभ्यां दुर्योधनस्य जलस्थलभ्रमः । साद्वैस्त्रिभिः दुर्योधनमानसङ्गः । साद्वैचत्वारिणन् श्लोकाः । (एवं साद्वैचत्वारिणशत् श्लोकाः ॥ ४० ॥ इति द्वाप्तपतिः अध्यायसंग्रहः ॥ ७२ ॥)*

*ननु अत्र "अर्हति ह्यच्यतथेष्टघम् . . ." इत्यादि वाक्यानां वक्ता सहदेवः मागधोः पांडवो वा इति बहुना संशयः । तत्र मागधः इति केचित् पाण्डवः इत्येके । तत्र आद्यपक्षिणां स्वकीयेन कृता प्रशंसा न उत्कर्षाय भवतीति मागधः एव । ननु तस्य पिता भगवता इदानीमेव छूनेन मारितः स कथं साम्प्रतम् अपृष्टः भगवदुत्कर्षं वदेत् ? सत्यम्, प्रह्लादावतारत्वात् भगवदुत्कर्षं वदेदपि । प्रह्लादावतारत्वं च अस्य नृसिंहावतारलीलायाः कृतत्वात् । गर्भस्तुतो देवैः "मत्स्याश्वकच्छप . . ." इति श्लोके दशावतार-लीलानुकरणस्य यथा एतेषु कृतावतारः नः पासि तथा अधुना इति प्रार्थितत्वात् । न च अस्य पिता भीमेन हतः न भगवता, सहदेवामिषेकः भगवता कृतः न ब्रह्मणा कृतः इति कथं नृसिंह लीलानुकरणम्, कर्तुः मिश्रत्वात् । सत्यम्, "नकुलो द्रव्यसाधने इति" "नकुल-माप्याययत्स्वेन तेजसा" इति वाक्येन "यास्यैर्यदशैर्नमैर्बलपार्थिवभीम व्याजाह्वयेन हरिणा" इति वाक्येन च सर्वस्यापि सर्वत्र भगवतैव कृतत्वेन बलक्षणया-भावात् सहदेवः मागधः एव इति प्राप्ते । वयं ब्रूमः सहदेवः पाण्डवः एव । "सहदेवस्तु पूजायाम् . . .", इति पूजाधिकृतस्यैव अस्य सहदेवस्य अग्रे पुण्य-निर्णयस्य कर्तुम् उचितत्वात् । न च पूजाधिकारोऽपि मागधस्यैव अस्तु इति वाच्यम्, "वांधवाः परिचर्यायां तस्यासन् . . ." इति वचनेन च पाण्डवत्वस्यैव निश्चयात्, मागधस्य वाधवत्वाभावात् । किञ्च सहदेवस्य मागधत्वे "तत्र सहदेवः साक्षात् पूर्णपरब्रह्मत्वं सर्वदोषरहितत्वं हेतुं मन्यमानः कृष्णो भगवति तत्साधयितुम् अत्रवीत् । स हि ज्ञानकलावतारः सर्वज्ञः द्वादशवापिकथमेवं जानाति तथापि अपृष्टः न वदति । अत्र तु विज्रासायां सर्वं पृष्टा भवन्तीति भगवत्प्रेरणया

विसप्ततितमाध्यायम् अनुकामन्ति—

प्रद्युम्नशाल्वयोः ॥ ५६ ॥

युद्धं तिनवरावं चः

'प्रद्युम्न' इति । शाल्वस्य अल्पाचूत्वत्वेऽपि प्रद्युम्नस्य पूर्वनिपातः अभ्य-हितत्वात् जयसूचकः । तत्र एवं विभागः आद्यपद्ये शूकेन राज्ञः प्रोत्साहः । द्वितीयतृतीययोः शाल्वस्य पूर्ववृत्तान्तः । तृतीये शिवाराधन-धूलिभक्षणे । पंचमे हस्ततोपः । षष्ठे यानवरणम् । सप्तमे सोम . . . अष्टमे शाल्वस्य

अत्रवीत्" इति सहदेववचनारंभे सुबोधिनो । वचनान्ते च "एवं युधिष्ठिरम् उक्त्वा स्वयम् उद्यमम् अकृत्वा तूष्णींभूतः । अन्यथा पूजार्थं स्वयम् उद्यम्य वलादेव मामपीं संपादयेत् । तत्र हेतुः कृष्णानुभाववित्" इति सुबोधिनी न संगच्छते । तस्मात् पाण्डवः एव सहदेवः पूजाधिकारी । स एव वक्ता च । अपरं च मागधत्वं शिशुपालोऽपि स्वपक्षापातिजगसन्ध-युववाक्यं श्रुत्वा "वृद्धानामपि यद्वृद्धिर्निवाक्यैर्बिभिक्षते" । " . . . मा मन्थ्यं बालभाषितम् . . ." इति न निन्देत् । किं च देशदोषेण दुष्टो मागधो भगवन्माहात्म्यज्ञो न भवितुम् अर्हति । तथा च श्रीमदाचार्यचरणाः—"ननु भगवतं दुष्ट्वा भक्तिः कथं न उत्पन्ना वस्तुसामर्थ्यात् कथम् अवहेता इति आश्चर्यायाम् आह 'मागधः' इति देशदोषात् न सद्बुद्धिः इति सहदेवेऽपि स दोषः तदवश्यः । ननु पूर्वम् उक्तं नृसिंहलीलानुकरणत्वात् प्रह्लादत्वम् एतस्य तेन भगवन्माहात्म्यज्ञोऽपि इति चेत्, तथापि उच्यते अत्र वामन-नृसिंहावतारलीला-द्वयानुकरणं हि अत्र ब्रह्म-वेपथु याचनं वामनावतारलीला । तथा च जरासन्धे वलित्वमपि संभाव्यते । तच्च न सर्वथा । भगवदादीनां मन्दाः इति सम्बोधनेन "न त्वया भीरुणा" इति भगवन्नन्दनवाक्याच्च । तन्त्यायेन न अस्य पुत्रस्यापि प्रह्लादत्वम् । तेन लीलानुकरणे लीलाप्रदर्शनमेव न तदुपयोगिनां तत्वम् । अत एव पूतनायन्ती शकटायायन्ती इत्यादीनां गोपीनां न दैत्यत्वं भवत्त्वमेव निबोधम् । तेन न कोऽपि शकृत्कालेशः इति दिक् । नच वक्तव्यं "वान्धवा परिचर्यायाम्" इति वाक्येन वांधवाग्रहात् न सहदेवो मागधः । तत्र उच्यते अत्र न वांधवाग्रहः "परिवेषणे

द्वारवतीगमनम् । नवमे पुर्युद्यानभंजनम् । दशमे सर्वत्र शस्त्रवृष्टिः । एकादशे शिलादि-सप्तक-वृष्टिः । द्वादशे नगरीसंतापः । त्रयोदश-चतुर्दश-पंचदशषु सुप्रजां सांत्वयित्वा प्रद्युम्नादीनां युद्धाय गमनम् । षोडशे युद्धप्रवृत्तिः । सप्त-दशे मायानाशः । अष्टादशे पंचविंशत्या शरैः शाल्वसैन्यपालताडनम् । एकोन-विंशे ससैन्यशाल्वताडनम् । विंशे शत्रुमित्रैः प्रद्युम्नप्रशंसा । एकविंशद्वा-विंशयोः सौभवर्णनम् । त्रयोविंशे सार्वतयुधपैः सौभे शरमोकः । चतुर्विंशे शाल्वस्य मोहः । पंचविंशे यादवानां युधिष्ठिरैर्म । षड्विंशे द्युमता प्रद्युम्न-पीडनम् । सप्तविंशे सूतेन प्रद्युम्नापोवाहनम् । चतुभिः प्रद्युम्नेन सूतोपालम्भः ।

द्रुपदजा (कर्णो दाने महामनाः!) । "युग्धानो विकर्णश्च हादिक्यो विदुरादयः । वाल्मीकिपुत्रा भूयश्चा ये च संतर्दनादयः ॥" एतस्मिन् वाक्ये भिन्नानामपि कर्माधिकारकथनात् । न हि द्रुपदजा पत्नी, पितृव्यो विदुरः । युग्धानो यादवः हादिक्यश्च संतर्दनादयो अन्ये युधिष्ठिरबान्धवाः भवितुम् अर्हन्ति । तर्हि वाक्यं कथं योजनीयम्? बान्धवाः तस्य प्रेमबन्धनाः आसन् । अन्ये तु प्रेमरहिताः आसन् एवं योजनीयम् । तस्मात् पूजाधिकारी वक्ता च मागध एव सहदेवः इति चेत् न, अत्र पूजाधिकारो बान्धवानामेव द्रौपद्याः पंच-बन्धुत्वपत्नीत्वेन बन्धवधीञ्जतया बन्धुत्वमेव । कर्णस्य मातृपुत्रत्वात् बन्धुत्वम् । सुबोधिन्यामत्र "योधानः सात्यकिः यादवोऽपि अर्जुनशिष्यः । विकर्णदियोऽपि बान्धवाः । ब्राह्मीकः शन्तनोः भ्राता । तस्य पुत्राः भरिश्चवादयः सन्तर्दनाद-यश्च गोत्रजाः ।" इति । अत्र श्रीमदाचार्यैः बन्धुत्वमेव सर्वेषां प्रतिपादितम् । यादवानां पांडवानां च बन्धुत्वव्यवहारो भगवत्कृतः कृपया स्फुटः एव । पितृव्य-पितामहादीनां भातृबन्धुव्यवहारो लोकसिद्धः एव । तेन पाण्डव एव सहदेवः पूजाधिकारी वक्ता च, न मागधः सर्वैर्वेति अलं प्रसक्तानुप्रसक्त्या । भारतेऽपि भीष्मो युधिष्ठिरेण पृष्टः श्रीकृष्णमेव आदौ पूजनीयम् आह "तदा तस्मै भीष्मा-भ्यनुज्ञातः सहदेवः प्रतापवान् । उपाजह्लेभ विधिवत् बाष्णेयायार्धमुत्तमम् । प्रतिजग्राह तं कृष्णः शास्त्रद्रष्टेन कर्मणा ।" एतेनापि सहदेवः पाण्डव एव निश्चितः । (ग्रन्थकृतेषु पश्चाद् योजितौशः)

द्वाविंशत्यस्त्रिशता सूतप्रतिवचनम् ॥ (एवं त्रयस्त्रिंशत् श्लोकाः ॥ ३३ ॥ इति त्रिसप्ततिः अध्यायसंग्रहः) ॥ ७३ ॥

चतुःसप्ततितमाध्यायम् अनुकाम्यन्ति---

हरेरागमनं ततः

शाल्वस्य-

'लीलया बधः' इत्यपकृत्यते । हरेः इति ततः इन्द्रप्रस्थाद् हरेः द्वारकायाम् आगमनम् । उद्धवमंत्रणाद् इन्द्रप्रस्थं गतस्य । श्लोकपंचकस्तु पूर्वाध्या-यशेषः । तत्र आद्ये देशितस्य प्रद्युम्नस्य सूत प्रति द्युमत्समीपनयनाज्ञापनम् । द्वितीये शरैः द्युमद्वेधः । तृतीये अष्टभिः शरैः द्युमद्वाहादिवेधपूर्वकः मस्तकछेदः । चतुर्थे गदादिभिः सौभपतेः बलधातः । पंचमे विनवरात्रं युद्धपरिसमाप्तिः । षड्भिः भगवदागमनम् । द्वाभ्याम् इन्द्रप्रस्थाद् निष्क्रमः । एकं (?) भगद्वाक्ये । नवमे कदनवीक्षण-पुररक्षे । दशमे सूताज्ञापनम् । एकादशे गह्वप्रवेशदर्शनम् । द्वादशे श्रीकृष्णसूतोपरि शक्तिशेषः । त्रयोदशे तस्याः शतधा छेदः । चतुर्दशे षोडशशरैः शाल्ववेधः । पंचदशे शाङ्गधनुःपातः । षोडशे भक्तानां खेदः । सप्तदशे शाल्वदुर्वाक्ये । अष्टादशेकोनविंशतयोः भगद्वाक्यम् । विंशे गदया शाल्वजनुच्छेदः । एकविंशे शाल्वांतर्दानम् । द्वाविंशतिसाद्धेन मायापुरुष-वाक्यम् । त्रयोविंशे हरेः मानुषीप्रकृतिगमनम् । चतुर्विंशे भगवतः विस्मय-वाक्यम् । पंचविंशे शाल्वेन मायिकं वसुदेवानयनम् । षड्विंशे शाल्वदुर्वचनम् । सप्तविंशे मायिक-वसुदेवापराधः । अष्टविंशे भगवद्बोधः । नवविंशे शाल्व-हननोद्यमः । त्रिंशे परमतकथनम् । द्वाभ्यां भगवति मोहासंभवः । त्रय-स्त्रिंशति शाल्वस्य वर्म-धनुः-शिरोमणिछेदः । चतुस्त्रिंशति सौभस्य तोये पातः । पंचत्रिंशति शाल्वस्य बाहुछेदः । षट्त्रिंशति शाल्वशिरच्छेदः । सप्तत्रिंशति देवानां हर्षः । अष्टत्रिंशति दन्तववत्रागमनम् । अष्टत्रिंशच्छ्लोकाः । (एवम् अष्टत्रिंशत् श्लोकाः ॥ ३८ ॥ इति चतुःसप्ततिः अध्यायसंग्रहः ॥ ७४ ॥)

पंचसप्ततितमाध्यायम् अनुक्राम्यन्ति—

दन्तवक्त्रस्य तद्भ्यातुर्लीलाय वधः ॥५७॥
तीर्थयात्राय रामस्य मध्ये सूतवधस्ततः ।
तत्पुत्रस्थापनं तत्र

‘दन्तवक्त्र’ इति । “शिष्णुपालस्य . . .” इति द्वाभ्यां दन्तवक्त्रगमनम् । तृतीये श्रीकृष्णप्रतिगमनम् । त्रीणि दन्तवक्त्रस्य दुर्बलानि । सप्तमे श्रीकृष्णे गदाक्षेपः । अष्टमे दन्तवक्त्रस्तनान्तरं गदया हननम् । नवमे दन्तवक्त्रस्य व्यसोः पातः । दशमे दन्तवक्त्रज्योतिषः श्रीकृष्णे आवेशः । एकादशद्वादशयोः विद्वरथवधः । त्रिभिः द्वारवतीप्रवेशः श्रीकृष्णस्य देवमनुष्यस्तुतस्य । षोडशे उपसंहारः कथायाः अथ शब्दः स्वरूपपरावृत्तिबोधकः । रामस्य तीर्थयात्रा “श्रुत्वा युद्धोद्यमम् . . .” इति चतुर्विंशत्या । तन्मध्ये “रोमहर्षणम् . . .” इति सप्तभिः सूतवधः । सार्द्धसप्तभिः तत्पुत्रस्य उग्रधवसः स्थापनम् । द्वाभ्यां बलवलवध प्रार्थनम् । एकेन तीर्थयात्राप्राथनम् । सप्तदशे यात्रारंभः । अष्टादशे प्रभास यात्रा । एकोनविंशे तीर्थाष्टकम् । विंशे नैमिषगमनम् । एकविंशे शौनकादिभ्यो प्रणामार्चने । द्वाविंशे सूतेक्षणम् । त्रयोविंशे सूतोपरिकोपः । चत्वारि कोपवाक्यानि । अष्टाविंशे कुशाग्रेण सूतवधः । एकोनविंशे ऋषीणां खेदः । त्रिभिः ऋषिकृतप्राथनम् । त्रयस्त्रिंशच्चतुस्त्रिंशत्योः रामस्य ऋषिप्राथितकरणप्रतिज्ञा । पंचत्रिंशति विधेयप्राथना । षट्त्रिंशे सूतशुत्रस्थापनम् । सप्तत्रिंशे रामेण पुनः ऋषयः प्रार्थिताः । त्रिभिः बलवलवध-प्रार्थनम् ॥ (एवं चत्वारिंशत् श्लोकाः) ॥४०॥ (इति पंचसप्ततितः अध्यायसंग्रहः ॥५२॥)

षट्सप्ततितमाध्यायम् अनुक्राम्यन्ति—

बलवलस्य वधस्ततः ॥५८॥

यात्रा समस्ततीर्थानां ऋषिनिर्वाजनं बलेः ।

‘बलेः’, बलभद्रस्य । ‘बलु’ प्रापने, ‘सम्बधुतिभ्यः इन्’ छन्दानुरोधात् । ‘बलवलस्य’ इति । “अष्टाविंशत् बलवलवधश्चतुर्दशभिरेव तु । तीर्थयात्रा बलकृता कुरुक्षेत्रे तु सप्तभिः ॥ गतिनिवारणं युद्धासजनं सार्द्धपंचभिः ।” तत्र एवं

विभागः—आद्ये बलवलगमनम् । द्वितीये यज्ञगालायाम् अमध्यवृष्टिः । तृतीये वलेन बलवलः दृष्टः । तुर्थे हलमुशलरमरणम् । पंचमे वलेन हलेन बलवलम् आकृष्य तन्मूर्ध्नि मुशलेन हननम् । षष्ठे सूतवक्त्रस्य पातः । सप्तमे ऋषिभिः बलभद्रस्य स्तुत्याशीर्गभिकेकाः कृताः । अष्टमे ऋषिभिः बलदेवाय वैजयन्ती-दिव्यवासाभरणादि-दानम् । नवमादि सार्द्धत्रयोदशश्लोकैः समस्ततीर्थयात्रा । चतुश्चत्वारिंशत् तीर्थानि । कौशिकी-मानसरोवर-सरयु-प्रयाग-गुल्हाश्रम-गोमती-गंडकी-विषाशा-शोण-गया-गंगासागर-महेन्द्राचल-सप्त-गोदावरी-वेणा-गंगा-भीमरथी-स्कन्द-श्रीगैल-बेंकाटादि- कामकोण्यः । कांची-कावेरी-श्रीरंग-ऋषभाद्रि-दक्षिणमथुरा-समुद्रमेघ-कृतमाला-ताम्रपर्णी-मलय दक्षिणाण्व-कन्यागिरी-फाल्गुन-पंचान्नरस-केरल-त्रिगल्लक-गोकर्ण-आर्याद्वैपायनी-शुपरिक-तापी-पयोष्णी-निर्विन्द्या-दंडक-रेवा-महिष्मतिपुरी-मनुतीर्थ-प्रभासाः । सप्तभिः कुरुक्षेत्रगमनम् । तत्र आद्ये भूभारहरणमननम् । द्वितीये कुरुक्षेत्रगमनम् । तृतीये युधिष्ठिरादिनां रामदर्शनाद् भयम् । चतुर्थे रामेण गदायुद्धं दृष्टम् । पंचमत्पञ्चयोः द्वे निवारणवाक्ये । सप्तमे रामवाक्य-ग्रहणम् । एकोनविंशे रामस्य द्वारवतीगमनम् । याजनं बलेः सार्द्धपंचभिः । विंशे नैमिषे ऋषिभिः बलस्य याजनम् । एकत्रिंशे ज्ञानदक्षिणा । द्वाविंशे ज्ञातिबंधु-सुहृद्भिः स्वपत्न्या अवभृथरनानम् । त्रयस्त्रिंशे रामचरित्रानन्त्यम् । चतुःत्रिंशे विष्णुदयितत्वं फलम् । (एवं सार्द्धचतुःत्रिंशत् श्लोकाः) ॥४३॥ (इति षट्सप्ततितः अध्यायसंग्रहः ॥७६॥)

सप्तसप्ततितमाध्यायम् अनुक्राम्यन्ति—

भक्तानां जन्मसाफल्यम्

‘भक्तानाम्’ इति । पंचचत्वारिंशता भक्तानां मुद्गाम्नः परिकरणां जन्मनः साफल्यम् भगवत्कृपया । तत्र विभागः एवम्—चतुर्भिः राजप्रश्नः । एकं सूतवाक्यम् । द्वाभ्यां मुद्गाम्नः पूर्ववृत्तान्तः । एकेन पतिव्रतायाः पति-समीपगमनम् । सार्द्धैविभिः स्त्रीवचनानि । सार्द्धेन द्वारिकागमननिश्चयः । सार्द्धेन उपायनसम्पादनम् । सार्द्धैविभिः मुद्गाम्नः हरिमंदिरप्रवेशः । पंचभिः

मुदाम्नः पूजा । एकेन हरिपत्न्या चामरव्यजनकरणम् । एकेन अन्तःपुरजन-
विस्मयः । द्वे तेषां वचने । एकेन भगवत्सुदाम्नः यातकिरणोद्यमः । सप्तभिः
साधारणवाता । पंचभिः इन्धनानयनप्रसंगः । त्रीणि गुरुवाक्यानि । एकम्
अतिदेशवाक्यम् । द्वाभ्यां मुदाम्नः प्रार्थना । (एवं पंचचत्वारिंशत् श्लोकाः)
॥४५॥ (इति सप्तसप्ततिः अध्यायसंप्रहः) ॥७७॥

अष्टसप्ततितमाध्यायम् अनुक्राम्यन्ति—

पृथुकाख्यानमेव च ॥२८॥

'पृथुक'—इति । "वाक्योद्यमो हरेदेविक्यंमदानं चिन्तनं हरेः । स्वयं च हरणं
तृप्तिवाक्यं श्रीप्रतिषेधनम् ॥१॥ सुखं स्वगेहगमनं स्वयं कृष्णाश्रयाचनम् ।
मार्गं विचारो मनसि निजमंदिरदर्शनम् ॥२॥ मीमांसा प्रत्युद्गमनं स्वपत्नी-
दर्शनं गतिः । पदार्थवर्णनं गेहे समुद्धेयलोकनम् ॥३॥ तर्को विषयभोगाश्च
प्रशंसा चक्रपाणिनः । विप्रस्य मोक्षः श्रवणे फलं बन्धविमोचनम् ॥४॥
द्वाभ्यां वाक्यं च साद्धाभ्यामेकेन द्वपंकमेकतः । द्वाभ्यामेकक्रियात्पद्भिः
साद्धाभ्यामेकमेकतः ॥५॥ त्रिभिरेकेन पंचभ्यश्चतुर्भ्यः परिपूरणम् ॥ (एवम्
एकचत्वारिंशत् श्लोकाः) ॥४५॥ (इति अष्टसप्ततिः अध्यायसंप्रहः)
॥७८॥

एकोनाशीतितमाध्यायम् अनुक्राम्यन्ति—

सूर्योपरागे निखिलैः कुक्षेत्रे समागमः ।

बन्धुभिवंसुदेवस्य गोपिका परिसातवनम् ॥२९॥

'सूर्य'— इति । सूर्यस्य समीपे रा राहोः आगे आगमने निर्मिते सति कुक्षेत्र-
समीपे सन्निहितसरसि वासुदेवस्य मोक्षदातुः निखिलैः बन्धुभिः सह सभ्यागमनं
द्वारवत्याः । मिलापो वा । वासुदेवस्य इति दैहलीदीपकन्यायेन गोपिकाभिरपि
संबध्यते । कर्त्तरि षष्ठी च । पूर्वान्वये सम्बन्धे षष्ठी । तत्र एवं स्थूलविभागः
एकत्रिंशता सर्वसमागमः । 'विशल्लक्षणवानराज्ञ... सवत्सा' इति वाक्यम् ।
अष्टदशविद्याभिः गोपिकापरिसातवनम् । मध्यमविभागःस्तु- साद्धेकादशभिः
कुक्षेत्रागमन-स्नान-दान-भोजन-उपवेशनानि । साद्धैः षड्भिः सर्वबन्धु-दर्शनं,

परिष्वंगाभिवादानाशीर्वाद-कुशलप्रशंगादीनि । त्रयोदशभिः परस्परसंभाषणो-
पालम्भ-नु-खनिवेदनाचन-नामप्रशंसादयः । अष्टाभिः— नन्दयशोवादि-
वसुदेवदेवकीरोहिण्यादि-समागमाश्लेष-भाषण-प्रशंसादयः । दशभिः गोपिका-
श्लेषानामयप्रश्न-रहस्यवाता-ज्ञानदानप्रार्थनादयः । सुधर्मविभागस्तु- आद्ये
सूर्योपरागसंबधः माघे अमावास्यायाम् । द्वितीये तं ज्ञात्वा मनुजानां समंतपं-
चकयानम् । तृतीये परशुरामेण तत्र महाहृदकरणम् । तुरीये परशुरामयागः ।
पंचमषष्ठयोः भारतीप्रजायाः सवृष्ण्याद्यायानम् । सप्तमे अनिरुद्धादीनां रक्षा-
द्यधिकारः । अष्टमे गजादीनां रोचिः । नवमे तत्र स्नानादिकम् । दशमे दान-
मोक्ष-स्नानादि । एकादशद्वादशयोः स्वर्णदानानुज्ञा-भोजनोपवेशन-दर्शनानि ।
त्रयोदशचतुर्दशयोः नल्लयादि-नन्दगोप्यादीनां दर्शनम् । पंचदशे पुरुषार्थां पर-
स्परम् आश्लेषः षोडशे स्त्रीणाम् । सप्तदशे अभिवादानादयः । अष्टादशे
पृथायाः मुहूर्त्दर्शनम् । एकोनत्रिंशद्विंशयोः वसुदेवोपालम्भः । एकत्रिंशद्वाविंशयोः
वसुदेवस्य दैन्यम् । त्रयोविंशे वसुदेवोपलसेनाद्यैः नृपाचनम् । त्रिषु भीष्मादीनां
नामानि । गप्तविंशे राज्ञां श्रीकृष्णदर्शनं कृष्णप्रणंतीद्यमः । त्रिषु कृष्णपरि-
ग्रहप्रणंसा । तत्र आद्ये हरिदर्शनदौर्लभ्यम् । तिस्रे हरिप्रशः आदीनां माहा-
त्म्यम् । एकत्रिंशे यादवानां कुतकृत्यता । द्वात्रिंशे नन्दस्य सपरिकरस्य वसुदेवा-
वमोचने आगमनम् । त्रयोविंशे वृष्णीनां नन्दपरिष्वंगः । चतुस्त्रिंशे वसुदेव-
नन्दपरिष्वंगः । पंचत्रिंशे श्रीकृष्णरामयोः नन्दयशोदापरिष्वंगः । षट्त्रिंशे यशो-
दया श्रीकृष्णरामयोः उत्संगारोपणपरिरंभो । सप्तत्रिंशे रोहिणीदेवक्योः यशोदा-
परिष्वंगः । अष्टादशदेकोनचत्वारिंशत्योः रोहिणीदेवकीभ्यां यशोदाप्रार्थना ।
चत्वारिंशे धोषतीर्तमंतिनीनां श्रीकृष्णदर्शनेन भगवद्भावः । एकचत्वारिंशे
श्रीकृष्णेन एकात् आश्लेषानामयप्रश्न-प्रहासवचनानि । द्विचत्वारिंशे स्मृति-
प्रश्नः । तिचत्वारिंशे असूयाप्रश्नः । चतुःचत्वारिंशे पारतन्त्र्यम् । पंचचत्वा-
रिंशे भक्तिमाहात्म्यम् । षट्चत्वारिंशे स्वमाहात्म्यम् । सप्तचत्वारिंशे अध्यात्म-
शिक्षा । अष्टचत्वारिंशे गोपीनां श्रीकृष्णाधिगमनम् । एकोनपंचाशत्यां
चरणारविन्दस्य मनस्युदयप्रार्थना । पूर्तिः अध्यायस्य । (एवम् एकोनपंचाशत्

श्लोकाः) ॥४९॥ (इति एकोनाशीतिः अध्यायसङ्ग्रहः ॥७९॥)

अशीतितमाध्यायम् अनुक्रामन्ति-

कृष्णभार्याविवाहानां कथनम्

‘कृष्णभार्या’ इति । कृष्णस्य भार्या गोपिका महिष्यञ्च । भर्तुं योग्या युधिष्ठिरादयश्च । भार्याणां विवाहानां च कथनम् । यद्वा-कृष्णभार्याभिः विवाहानां कथनम् । ‘विवाहो वरणं’ परमानुग्रहः इति यावत् । तदुक्तम्- “तयानुगृह्य भगवान्...” इत्यादि त्रिचत्वारिंशत्ता । आद्ये अनुग्रहः गोपिकामु, कुशलप्रश्नः युधिष्ठिरादिषु । द्वितीये सर्वेषां हर्षः । तृतीयचतुर्ययोः राज्ञां प्रार्थना । पंचमे विवाहकथाप्रसंगः । द्वाभ्यां द्रौपद्याः प्रश्नः । अष्टमे हस्तिमणोविवाहवातात् “...ममार्चनाय” इत्युक्तत्वात् इयम् अर्चनभक्तिरूपा । नवमे सत्यमामायाः श्रवणरूपं..... कर्णे कर्णे जपन्...” । दशमे जांबुवत्याः स्मरणरूपा सीतापति स्मृत्वा दत्तत्वात् । एकादशे कालिन्याः पादसेवन-रूपायाः ... “स्वपादस्पर्शकाम्यया” इत्युक्तत्वात् । द्वादशे मित्रविन्दायाः कीर्तनरूपायाः कीर्त्यमाने “स्वयंवरे उपेर्य” नीतत्वात् । त्रयोदशे सत्यायाः दास्यरूपायाः “...तद्दास्यमस्तु मे” उत्युक्तत्वात् । चतुर्दशे भद्रायाः वन्दनरूपायाः “...अस्य मे पादसंस्पर्शो भवेत्...” इति वंदने मस्तके पादसंस्पर्शस्य जातत्वात् । चतुर्दशभिः लक्ष्मणायाः सख्यरूपायाः सख्यस्य साप्तपदीनस्य जीवद्वयसाध्य-त्वात् । तत्र आद्ये लक्ष्मणायाः मुकुंदे चित्तस्थितिः । अष्टादशे बृहत्सेनेन उपायः कृतः । एकोनविंशे द्रौपदी-स्वयंवर-स्मारणम् । विंशे सर्वभूपागमनम् । एकविंशे सर्वेषाम् अर्चनम् । द्वाविंशे धनुर्हृतां राज्ञां पातः । त्रयोविंशे मांगधादिवलिष्ठानां मत्स्यावस्थित्यज्ञानम् । चतुर्विंशे अर्जुनशरेण मत्स्य-स्पर्शः । द्रयोः भगवता मत्स्यच्छेदः । सप्तविंशे देवानां हर्षः । अष्टाविंशे लक्ष्मणायाः रंगप्रवेशः । एकोनत्रिंशे मुरारेः असे मालानिधानम् । विंशे पंचशब्दवाद्यवादनम् । एकविंशे नृपाणाम् असहत्नम् । द्वात्रिंशे चतुर्भुजस्य सूर्यया सह रथे स्थितिः । त्रयोविंशे दारुकेण रथप्रेरणम् । चतुर्विंशे मार्गे राजपुत्रैः संरोधः । पंचत्रिंशे भगवता तेषां निपातः । षट्त्रिंशे भगवतः कुशस्थली-

समावेशः । सप्तत्रिंशे बृहत्सेनेन सुहृत्सेन्यन्धनां पूजनम् । अष्टात्रिंशे बृहत्सेनेन भगवते आयुधादिदानम् । एकोनचत्वारिंशे लक्ष्मणया भगवत्प्रार्थना । चतुर्भिः षोडशसहस्रमहिषी प्रार्थना । तत्र आद्ये सर्वासां विवाहवातात् । एकचत्वारिंशे साम्राज्याद्यकागना । द्विचत्वारिंशे चरणरजःकामना । त्रिचत्वारिंशे ब्रजस्त्रीणां प्रशंसा । अध्यायपूर्तिः । (एवं त्रिचत्वारिंशत् श्लोकाः) ॥४३॥ (इति अशीतिः अध्यायसंग्रहः) ॥८०॥

एकनाशीतितमाध्यायम् अनुक्रामन्ति-

विस्मयो नृणाम् ।

ऋषीणां गमनं तत्र कृष्णेन प्रतिपूजनम् ॥६९॥

वसुदेवस्य संप्रश्नो नारदोक्तिरथोत्तरम् ।

याजनं तस्य ऋषिभिः प्रमोदोऽखिलदेहिनाम् ॥६२॥

‘विस्मय’ इति । प्रथमे पृथादि.....यादि गोपिकान्तानां नृणां विस्मयः । चतुर्भिः तत्र विनयने ऋषीणां गमनम् । तत्र आद्ये ऋषीणां गमनम् । त्रिभिः ऋषीणां नामानि षट्त्रिंशत्तिः । षष्ठादि-त्रयोदशांशेः अष्टभिः श्रीकृष्णेन ऋषीणां प्रतिपूजनम् । तत्र आद्ये उत्थानप्रणामौ । सप्तमे सप्तोपचारेः ऋषीणाम् अर्चनम् । अष्टमे वाचनिकोद्यमः । पंच भगद्वचनानि । तत्र आद्ये स्वप्राकट्य साफल्यम् । दशमे अस्य फलत्वे तर्कः । एकादशे तीर्थदेवापेक्षया साधुप्रशंसा । द्वादशे अग्न्याद्यपेक्षया साधुप्रशंसा । त्रयोदशे साध्वपेक्षया सर्वेषां निन्दा । चतुर्दशे मुनीनां धीर्घमः । पंचदशे विचार्य वचनोद्यमः । एकादशभिः मुनीनां प्रतिवचनम् । तत्र आद्ये भगवन्मायाया विश्वसृजामपि मोहः । सप्तदशे भग-वच्चरितस्य परस्परविरोधः । अष्टादशे स्वजनगुप्तये सत्वधारणम् । एकोनविंशे ब्राह्मणोत्कर्षः । विंशे भगवतः ब्रह्मरथकत्वम् । एकविंशे स्वकृतकृत्यता । द्वाविंशे पंचरूपाय भगवते नमनम् । त्रयोविंशे भगवदज्ञानं भूपवृष्णीनाम् । द्रयोः दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकौ । षड्विंशे कृष्णप्रार्थनम् । सप्तदशे मुनीनां जिग-मिषा । वसुदेवस्य संप्रश्नः द्वाभ्याम् । आद्ये वसुदेवस्य मुनीनां समीपे गमनम् । द्वितीये प्रश्नः । नारदोक्तिः चतुर्भिः । तत्र आद्ये वसुदेवस्य कृष्णे अर्भकभावः ।

एकत्रिंशो सन्निकर्षस्य अनादरकारणता । युगलेन कृष्णमाहात्म्यवसुदेवदोषो ।
 चतुःत्रिंशो वचनोद्यमः । अथ भिन्नप्रक्रमेण ऋषिदत्तः वसुदेवप्रश्नोत्तरः सप्तभिः ।
 तत्र आद्ये विष्णुयागेन कर्मनिर्हारः । षट्त्रिंशो यागस्य धर्मत्वम् । सप्तत्रिंशो
 यागस्य सुमार्गत्वम् । अष्टात्रिंशो दूषणत्रयपरित्यागः । एकोनचत्वारिंशो ऋणत्रया-
 पाकरणस्य आवश्यकत्वम् । चत्वारिंशो ऋणत्रयापाकरणोपायः । एकचत्वारिंशो
 पुत्रार्चनाज्ञा तत्र कुक्षेत्रे । तस्य वसुदेवस्य ऋषिभिः याज्ञं चतुर्दशभिः
 विद्यारूपैः । तत्र आद्ये वसुदेवस्य ऋत्विग्वरणम् । द्वितीये याजनम् । तृतीये
 राजवृष्णीनाम् अलंकारः । षट्चत्वारिंशो महिषीणाम् अलंकारः । सप्तचत्वारिंशो
 वाद्यनृत्यानि । अष्टचत्वारिंशो गानाभिषेको । नवचत्वारिंशो वसुदेवश्रृंगारः ।
 पंचाशति ऋत्विक्श्रृंगारः । एकपंचाशति श्रीरामकृष्णयोः सपरिवारयोः
 श्रृंगारः । द्विपंचाशति प्राकृतत्रिकृतयागैः यजनम् । त्रिपंचाशति ऋत्विग्वग्भ्यः
 दक्षिणादानम् । चतुःपंचाशति अवभृथस्नानम् । पंचपंचाशति बन्दिभ्यः
 वस्त्रादानम् । अखिलदेहिनां प्रमोदः सप्तदशभिः प्रजापतिरूपैः । सार्द्धेन बन्धु-
 पूजनम् । अर्द्धे प्रशंसतां बन्धूनां गमनम् । द्वयोः धृतराष्ट्रादीनां गमनम् ।
 एकादशभिः नन्दवृत्तान्तः । तत्र आद्ये वसुदेवेन नन्दः ।
 षट्त्रयो वसुदेवेन नन्दकरग्रहणम् । एकषष्टितः चत्वारि वसुदेववाक्यानि । तत्र
 आद्ये स्नेहपाशस्य दुस्स्थजत्वम् । द्वितीये नन्दमैत्र्याविकलत्वम् । त्रिषष्ट्यां स्वस्य
 प्रत्युपाकरणे असामर्थ्यम् । चतुर्थे— श्रीमदनन्दनम् । षट्षष्टितमे वसुदेव-
 रुदन्तम् । सप्तषष्टितमे, नन्दस्य मासत्रयं वासः । अष्टषष्टितमवषष्ट्योः नन्दस्य
 गृहीतपारिवर्हस्य गोकुले गमनम् । सप्तती गोपीगोपीनां गमनम् । एकसप्तती
 वृष्णीनां द्वारवतीप्रवेशः । द्वासप्तती द्वारकास्थेभ्यः कथनम् । अष्टयागपूर्तिः ।
 (एवं द्वासप्ततिः श्लोकाः ॥७२॥ इति एकाशीतिः अध्यायसंप्रहः) ॥८१॥

द्व्यशीतितमाध्यायम् अनुक्राम्यन्ति—

वसुदेवस्य विज्ञानं देवक्याः षट्सुतागमः ।

बलिकृष्णस्तुतिकथाः षडागमननिर्गमौ ॥६३॥

'वसुदेवस्य' इति । वसुदेवस्य विज्ञानं पंचविंशत्या । तत्र द्वे शुकवाक्ये ।
 तत्र प्रथमं संकर्षणाच्युतयोः वसुदेवसमीपगमनम् । द्वितीये मुनीनां वचः स्मृत्या

वसुदेवभाषणम् । द्व्यारभ्य अष्टादशपर्यन्तं वसुदेववचनानि । स्तोत्रं कृत्वा-
 ष्टादशभिः सर्वविद्यानिरूपकैः । शरणागततिपर्यन्तमुभयोरात्मनस्तथा ॥
 स्वकृपादाहः सर्वासां विद्यानामभिव्यञ्छितम् ॥ तत्र आदौ भगवत्कारणता ।
 द्वितीये जगदुपता । तृतीये सृष्टेषु भगवदनुग्रवेशः । चतुर्थे स्थितेः आधिदैविकं
 रूपम् । कर्ता सर्वप्रविष्टात्मा नानारूपस्तथा परः । चतुर्धा वेदरक्षार्थं चतुरूपो
 निरूपितः ॥१॥ सप्तमे भगवद्भूतिरूपनिरूपणम् । अष्टमे जलवायोः हरि-
 रूपता । नवमे आकाशवाह्याभ्यन्तरभेदेन हरिरूपता । दशमे भगवतः इन्द्रिय-
 रूपता । एकादशे भगवतः कारणकारणता । द्वादशे हरेः कार्यस्य कार्यता ।
 त्रयोदशे भगवतः सर्वाधारत्वम् । चतुर्दशे भगवद्दृश्यतिरिक्तानाम् अभावः ।
 पंचदशे एनस्त्रिद्वान्तगजानां निन्दा । षोडशे भगवति आत्मत्वेन ज्ञानं
 भक्तप्रदाये दोषः । सप्तदशे स्नेहपाशेन सर्वजगद्वन्धनम् । अष्टादशे भगवति
 अकारजानम् । एकोनत्रिंशो वसुदेवस्य भगवच्छरणागतः । त्रिंशो सूतीगृहे
 यातीस्मरणम् । एकत्रिंशो भगवद्बचनोद्यमः । चत्वारो भगवद्बचनानि । तत्र आद्ये
 वसुदेवोक्तताभिनन्दनम् । त्रयोविंशो वीप्रोपदेशः । चतुर्विंशो अण्डात्मत्वबोधः ।
 पंचत्रिंशो व्यवस्थया नानात्वबोधनम् । षट्त्रिंशो भगवदुक्तस्य वसुदेवद्वि-
 स्थितिः । अथ त्रयत्रिंशो देवक्याः षट्सुतागमः । तत्र आद्ययोः देवकीस्मरण-
 वचनोद्यमो । पंचमु देवकीवचनानि । षट्त्रिंशो वसुदेवस्य देवक्याः स्वस्य याथावर्थ-
 ज्ञानेन भारावतारणाय अवतीर्णत्वेन उत्पत्ति-लयादिकर्तृत्वेन च । द्वाभ्यां गुरु-
 पुत्रातिदेशेन स्वपुत्रानयनप्रार्थना । एकेन हरिचलयोः सुतलगमनम् । चतुर्भिः
 वनिना द्वौ समतया पुजितौ नमन-पादप्रक्षालन-समर्हण—चरणधाराणाभिभेदेन ।
 ततः अष्टभिः बलिना उभौ स्तुतौ षड्गुणप्रतिपादकैः भगवत्प्रतिपादकेन प्रार्थनया
 च । तत्र आद्ये सप्तरूपाय भगवते नमनम्, ईश्वरो हि नमस्यः । द्वितीये
 भगवद्दर्शनस्य दौर्लभ्यम्, वीर्यवतां समागमः दुर्लभः । तृतीये दैत्यादिद्वादशानां
 नामानि । शंखचक्ररावणादिमारणे ते हि भगवद्दशगोपायकाः । बलि-प्रह्लाद-वृष-
 पवाणिः ननकवर-मणिश्री-व-विभोषण-महादेवाद्यः भगवद्दशगोपातारः ।
 यद्वा हिरण्यकशिपु-शंवर-गन्धर्वाः... 'गन्धर्वान् कोटिशो जघ्ने भरतो विजये
 दिशाम्' (भा० ९-११-१३) इति गन्धर्वाः अपि भार्गवीयाः । एतयोः मारणे

न गन्धर्वादयः यशः गायन्ति । चत्वारः सप्तसाधारणाः । चतुर्थे स्वस्य
अप्येषां च नित्यनिवद्धवैरत्त्व-कथनेन भगवतः श्रीः निरूपिता । यस्य श्री
भवति तमेव सर्वे द्विषन्ति । निःश्रेकं कोऽपि न द्वेषि । पंचमे देव-
ज्ञानापेक्षया दैत्यज्ञानोत्कर्षः । षष्ठे प्रायः सर्वेषाम् इदमित्यतया योगमाया-
ज्ञानाभावेन रागाभावः वैराग्यम् । सप्तमे परित्यागाज्ञाप्रायेण । अष्टमे
शिक्षाप्रायेण । पंच भगवद्वचनानि । तत्र त्रिभिः, अप्रजातां विजन्मीनं
वृत्तान्तम् । चतुर्थे स्वकर्तव्यम् । पंचमे नामानि स्मरः जानसः, उद्गीथः
प्राणः, परिष्वंगः श्रोत्रम्, पतंगः नेत्रम्, क्षुद्रभृत् जिह्वा, घृणिः स्पर्शः
तेषां स्वप्नसादेन ऋषिलोकप्रापणम् । बलिश्च कृष्णश्च बलिकृष्णो स्तुतिश्च
कथा च स्तुतिकथे । अत्र यथासंभ्यम् । वलिकृता स्तुतिः अष्टभिः । कृष्णकृता
कथा पंचभिः । इत्युक्त्वा..." इत्यादि षड्भिः षण्णां कीर्तितमादीनाम् आगमन-
निर्गमौ । तत्र आद्ये माते स्वाग्रजदानम् । देवक्याः स्वपुत्रमूर्द्धाघातं त्रिपंचा-
शति । तेभ्यः स्तनदानं चतुःपंचाशति । हरि-पीत-शेषामृतपयःपानेन तेषां
ज्ञानशक्त्युदयः पंचपंचाशति । हरि-देवकी-वसुदेव-बलान् नमस्कृत्य विहायसा
ऋषिधामगमनं षट्पंचाशति । देवक्याः विस्मयः सप्तपंचाशति । भगवच्चरित्रा-
नन्त्यम् अष्टपंचाशति । सूतवाक्येन फलस्तुतिः नवपंचाशति । (एवम् एको-
नषष्टिः श्लोकाः) ॥५९॥ (इति द्व्यशीतिः अध्यायसंग्रहः) ॥८२॥

व्यशीतितमाध्यायम् अनुक्राम्यन्ति-

सुभद्राविजयोद्वाहो मिथिलागमनं हरेः ।

मैथिलश्रुतदेवस्य पूजनं गतिरतेयोः ॥६४॥

'सुभद्रा' इति । सुभद्राविजययोः उद्वाहः द्वादशभिः । तत्र आद्ये राजप्रश्नः ।
द्वितीये अर्जुनस्य प्रभासे गमनम् । तृतीये अर्जुनस्य विदंडी भूत्वा द्वारकागमनम् ।
चतुर्थे पौरैः जिष्णुसभाजनम् । पंचमे बलभद्रेण जनता च यतये भैक्षभोजनम् ।
षष्ठे अर्जुनस्य सुभद्रादशेनम् । सप्तमे सुभद्रायाः अर्जुनकामना । अष्टमे अर्जुनस्य
जितश्रमः । नवमे अर्जुनेन सुभद्रायाः हरणम् । दशमे शूरविद्रावणम् । एकादशे
बलभद्रकोपः । द्वादशे अर्जुनाय पारिवर्हदानम् । हरेः मिथिलागमनं चतुर्दशभिः

"कृष्णस्यासीत्..." इत्यादिभिः । तत्र आद्यैः त्रिभिः श्रुतदेवब्राह्मणवृत्तान्तः प्रसिद्धि-
निवास-निवाहं भेदेन । षोडशे राजः भक्तशतदेशः । सप्तदशे भगवतः मिथिला-
गमनम् । अष्टादशे द्वादशमुनीनां नामानि । एकोनविंशे मार्गे पौरजानपदानाम्
उपम्यानाधर्षा । विंशे द्वादशदेशस्थानां नूनःरीणां श्रीमुख-लावण्य-वानं दूशिभिः ।
एकविंशे तेभ्यः भगवता श्रेयदान-स्वययशःश्रवणे । द्वाविंशे भगवतः विदेहगमनं
तेषां गृहीताहंणानाम् अभिगमनं च । त्रयोविंशे विदेहानां हरिदर्शनप्राप्तौ ।
चतुर्विंशे मैथिलश्रुतदेवयोः पादपातः । पंचविंशे उभाभ्यां भगवन्निसम्बन्धं
युगपत् । षड्विंशे भगवतः सपरिकररय सह मुनेः द्विरूपस्य उभयगोह्यगमनम् ।
मैथिलश्रुत श्रुतदेवश्च तयोः समाहारः । मैथिलपूर्वकः वा । मैथिलसहितः
वा । कर्त्तरि पठ्ये । द्रन्द्रान्ते श्रूयमाणं प्रत्येकं संवद्यते । तथाच-मैथिलकृतं
भगवत्पूजनम् एकादशभिः पूजनस्य इन्द्रियावच्छिन्नसाध्यत्वात् । तत्र चतुर्भिः
कायिकमानसिके । षड्भिः वाचनिकम् । एकेन फलम् । तत्र आद्ये आसनदानम् ।
द्वितीये तत्त्वा चरणक्षालनम् । तृतीये मूर्ध्ना चरणोदकवहनं पूजनं
षोडशोपचारैः । उपचारास्तु- आसनं-नमनम्-अंध्रिखालनं-गन्धः-कुसुमानि-
वस्त्राणि - भूषणानि - धूपदीपम् - अर्घ्यम्-गोवृषः- मथुरावाक् - नेत्रेण-पादसेवनं
स्तुतिः-प्रार्थना-तांबूल-विश्राम-शयनम् । तुरीये वचनोद्यमः । स्तुतौ
आद्ये ऐश्वर्यम् । द्वितीये वैराग्यम् । तृतीये ज्ञानम् । तुर्थे यशः । पंचमे श्रीः ।
षष्ठे वीर्यम् । भगवन्निकासः फलम् । श्रुतदेवकृतं पूजनं विशत्या । तत्र षड्भिः
कायिकमानसिके । षड्भिः वाचनिकम् । एकेन हरिहस्तग्रहः । सप्त भग-
वद्वाक्यानि । तत्र कायिकषट्के प्रथमे नृत्यम् । द्वितीये आसनांध्रिखालने ।
तृतीये पादोदकवहनम् । तुरीये फाहंणोपचाराः । पंचमे तर्कः । पादसेवन-
स्तुत्युद्यमौ पठ्ये । स्तुतिषट्के प्रथमे सदा दर्शं... । द्वितीये सृष्टेव् अनुप्रवेशः ।
तृतीये भक्तिपंचकवद्धृदये हरेः सदा भासः । तुरीये वहिर्मुखानाम् अदर्शनम् ।
पंचमे पंचरूपाय नमः । षष्ठे शिक्षाप्रायेणम् । पंचाशति भगवत्करग्रहः ।
सप्त हरिवर्चांसि । तत्र आद्ये मुनिमाहात्म्यम् । द्वितीये देवादीनां शनैः पावकरवम् ।
तृतीये ब्राह्मणोत्कर्षः । तुर्थे द्विजानां स्वतुन्यता । द्विजान् अवजानतां दुष्प्रज्ञत्वं
पंचमे । विप्रहृदये स्वस्मितिः । द्विजानांजा । एकेन बहुलाम्बश्रुतदेवयोः

गतिः भगवत्प्राप्तिः । चरमे भगवतः द्वारका प्रत्यापतिः : (एवम् एकोनषष्टिः श्लोकाः) ॥५९॥ (इति ऋषीतिः अध्यायसंग्रहः ॥८३॥)

चतुरशीतितमध्यायम् अनुक्राम्यन्ति—

वेदस्तुतिः

‘वेदः’ इति । वेदकृता हरेः स्तुतिः पंचाशत् । तत्र एवं विभागः— प्रथमे राजप्रश्नः । द्वितीये कार्यन्तुष्टयार्थं चतुर्धा सृष्टिः । तृतीये हृदि उपनिषद्धारिणां क्षेमगतिः । चतुर्थे पूर्वैतिहासप्रश्नेषु । पंचमे नारदवृत्तान्तः । षष्ठे नारायणवृत्तान्तः । सप्तमे नारदप्रश्नानुवादे नारायणस्य मुग्धावस्था । अष्टमे संक्षेपेण उत्तरदानम् । नवमे तेन संदेहानुपगमे नारायणेन पुरावृत्तकथनम् । सार्द्धं दशमे नारदस्य अज्ञानकारणम् । एकादशे श्रोतृमुच्छकवक्तृत्वाधिकारः । द्वादशे भगवच्छयनम् । त्रयोदशे श्रुतिप्रबोधोद्यमः । अतः परम् अष्टाविंशतिभिः वेदस्तुतिः । तत्र आद्ये प्रकृतिप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः । द्वितीये पुरुषप्रतिपादिकानाम् । तृतीये साधनव्यवस्था । तुरीये देवतान्तर-कर्मान्तरविधिनिर्णयः । पंचमे बहुविध भगवदुपासकफलनिर्णयः । षष्ठे अनुप्रवेशश्रुतीनां निर्णयः । सप्तमे जीवस्वरूपवर्णनम् । भगवत्कथया जीवानाम् आनन्दः अष्टमे । नवमे जीवानां हरिस्सेवाऽवश्यकता । दशमे भगवत्सेवाप्रकारः । एकादशे शास्त्रद्वयकिरोध-परिहारः । द्वादशे भगवद्भजनासहिष्णु-निषेधः । त्रयोदशे अन्यसिद्धान्त-परिहार-पूर्वक-दोषद्वय-परिहारः । चतुर्दशे भक्तदोषनिराकृतिः । पंचदशे अभजननिषेधः । षोडशे कार्यद्वारा प्राप्तदोषनिराकृतिः । सप्तदशे भगवदधीनत्वम् । अष्टादशे जीवसंघातयोः भगवदात्मकता । एकोनविंशे भगवत्सेवकानां कालभयाभावः । विंशे योगनिन्दा । एकविंशे स्वजनादि-त्याग-पूर्वकं हरिभजनम् । द्वाविंशे भजने क्रमः । त्रयोविंशे लौकिकसत्त्व-निराकरणम् । चतुर्विंशे लौकिके असत्स्थापनं च । पंचविंशे लौकिके चित्त-निराकरणम् । षड्विंशे लोके अचिच्छापानम् । सप्तविंशे लोके आनन्द-निराकरणम् । अष्टाविंशे लोके भगवदानन्दस्य देशकाला-परिच्छेद्यत्वम् । एतदुपसंहारः अस्य प्रवृत्तिश्च नवभिः । तत्र पंचभिः उपसंहारः ।

तत्र आद्ये गुरुपूजनम् । द्वितीये आत्मानुशासन-माहात्म्यम् । तृतीये नारदं प्रति एतद्-धारणाज्ञा । एतावद् नारायणवाक्यम् । तुर्ये नारदस्य एतद्धारणम् । पंचमे नारदेन श्रीकृष्णाय नमनम् । द्वाभ्यां प्रवृत्तिः । तत्र आद्ये नारदस्य द्वैपायनाथमे गतम् । द्वितीये व्यासासे एतद्वर्णनम् । एकोनपंचाशति श्री-शुकेन राजे उत्तरदानसमर्थनम् । पंचशति श्रीगुकेः संक्षेपेण श्रुतिगीतार्थकथनम् । (एवं पंचाशत् श्लोकाः) ॥५०॥ (इति चतुरशीतिः अध्यायसंग्रहः) ॥८४॥

पंचशीतितमध्यायमर्थम् अनुक्राम्यन्ति—

हरेर्भक्त्या दारिद्र्यचिन्तिरूपणम् ।

आशुतोषकथा शंभोरनर्थोसौ न तस्य च ॥६५॥

वृकासुरवधो बुद्धेः मोचनं गिरिजापतेः ।

‘हरेर्भक्त्या दारिद्र्य’ इति । हरेः श्रीकृष्णस्य भक्त्या सेवा-भावाभ्यां दारिद्र्यस्य दरिद्रभावस्य विशेषेण निरूपणं प्राप्तिः । यदा ‘दारिद्र्यस्य चिन्ति-पूदनं नाशः । अत एव मूले ‘प्रायः’ पदं ध्रुव-अंबरीष-प्रह्लाद-विभीषणादयः धनितः भोजाश्च । इयं कथा एकादशभिः । तत्र आद्याभ्यां राजः प्रश्नः । ततः द्वाभ्यां शिववृत्तान्तः । एकेन हरेः । ततः षड्भिः श्रीकृष्ण-युधिष्ठिर-संवावः । तत्र आद्ये युधिष्ठिर-प्रश्नातिदेशः । द्वितीये उत्तरोद्यमः । चत्वारि श्रीकृष्ण-वाक्यानि । तत्र आद्ये हूतधनस्य स्वजनपरित्यागः । द्वितीये भगवदीयैः सह मैत्री । तृतीये अनुग्रहः । चतुर्थे बहिर्मुखानाम् अवज्ञा । आशुतोषस्य कथनं नारदेन वृकं प्रति एकादशभिः । तत्र आद्ये शापप्रसाद-दातृनिर्णयः । द्वितीये उपाह्वयानोपश्लेषः । तृतीये नारदं प्रति वृकासुरप्रश्नः । तुरीये हरस्य आशुतोषकोपी । पंचमे दशास्यवाणयोः वरं दत्त्वा हरस्य संकटकथा । षष्ठे नारदोपदेशेन वृकस्य ऋष्यहोमः । सप्तमे वृकस्य स्वमूर्द्धच्छेदोद्यमः । अष्टमे शिवेन निवारणम् । नवमे वराय अभिमन्त्रणम् । दशमे वरयाचनम् । एकादशे वरदानम् । शंभोः अनर्थः सार्द्धाभ्याम् । अस्ती आत्मिकः विप्रकृष्टो वा । च पुनः । तस्य न ईश्वरत्वाद् अनर्थः न तस्य शिवस्य । तत्र आद्ये वरपरीक्षार्थं शिवमूर्द्धनि वृकस्य हस्ताधारणोद्यमः । द्वितीये शिवस्य कंप-पलायनी । अर्द्धे

सुरेश्वराणां तूष्णीभावाः । वृकासुरवधः ब्रह्मया उपायवातुर्येण एकादशभिः । तत्र आद्यसार्द्धं शिवस्य बदरिकाश्रमगमनम् । द्वितीये तं दृष्ट्वा भगवतः बटु-
वामनभावः । तृतीये रूपवर्णनाभिवादाने । तुर्यपंचमाभ्यां वाक्येणलेन वृका-
सुरबुद्धिमोहः । षष्ठे हरये वृकेण पूर्वातुष्टानकथनम् । त्रितयेन शिवनिदया
वृकबुद्धिभेदः । सार्द्धेन वृकवधः । सार्द्धज्येण शिवमोचनम् । सार्द्धेन देवा-
दीनाम् उत्सवः । द्वाभ्यां महादेवप्रशंसा । एकेन श्रवणफलम् । (एवं चत्वारिंशत्
श्लोकाः) ॥४०॥ (इति पंचाशीतिः अध्याय संग्रहः) ॥८५॥

षडशीतितयाध्यायम् अनुकाम्यन्ति—

हरेरेव सुदेवत्वं भृगुवाक्येश्च निश्चयः ॥६६॥
मृतपुत्रप्रदानं च विप्रस्य स्वालय्यादरेः ।

‘हरेरेव’ इति । हरेः श्रीकृष्णस्यैव सुदेवत्वं पूज्यदेवत्वम् । ‘सु पूजने’ ।
सार्द्धविंशत्या । तत्र आद्ये ऋषीणां ‘त्रिषु कः महान्?’ इति तर्कः । द्वितीये
तद्ज्ञानाय भृगुप्रेषणम् । तृतीये ब्रह्मातिक्रमः । तुरीये क्रोधोद्भवप्रशमो ।
पंचमे भृगोः कैलासगमनम् । षष्ठे शिवातिक्रम-शिवक्रोधो । सप्तमे देव्याः
शिवसार्त्वन-भृगुवैकुण्ठगमने । अष्टमे भृगुणा जनार्दनवक्षसि पदा संताडनम् ।
नवमे विष्णुना उत्थाय भृगुधामापनम् । दशमे स्वपाविन्द्यप्रार्थना । सार्द्धेवं
एकादशे विष्णोः स्वकृताश्रव-भावना । भृगोः वाक्यैः चकारेण भक्त्यनुभावेन
श्रीकृष्णे महाधीशत्वनिश्चयः नवभिः । तत्र आद्ये भक्तिप्रसारः । द्वितीये
स्वसत्रे आवृज्य स्वानुभववर्णनम् । तृतीये मुनीनां विष्णो महत्त्वश्रद्धा । चतुर्भिः
भगवन्माहात्म्यम् । अष्टमे मुनीनां हरिसंबन्धा तद्गतगमनम् । नवमे श्री-
शुक्रोक्ति-श्रवणफलम् । मृतपुत्रप्रदानं, षट्चत्वारिंशता । हरेः इति कर्त्तरि
षष्ठी । हरिणा स्वालय्याद् विप्रस्य मृतानां दश पुत्राणां प्रदानम् । इदम् अनिरुद्ध-
चरित्रम् “अंजसा वर्तयामास धर्मं धर्मसुतादिभिः” इति उपसंहारात् ।
कृष्णावतारे पूर्णं सर्वतः भगवद्भामसु हरिदर्शनाभावात् कालपुरे पूर्वं पुरुषोत्तमः
स्थित्वा अनिरुद्धाशेन अर्जुनेन सह गतवान् इति लभ्यते । अतएव तत्र प्रणा-
माज्ञापनादि सर्वं सङ्गच्छते । अन्यथा परात्परतमस्य श्रीकृष्णस्य अन्यत्

प्रणामादिकम् अनुपपन्नं भवेत् । तत्र एवम् अनुक्रमः— आद्ये विप्रसुतस्य स्वालय-
प्रापणम् । द्वितीये मुलदेहस्य विप्रेण राजद्वारि उपाधानम् । द्वाभ्यां विप्रेण
राजदोषनर्णनम् प्रकृताप्रकृतभेदात् । पंचविशो अष्टकृत्वा अतिदेशः । षड्विंशो
नवमापयये अर्जुनेन उत्तरदानम् । त्रीणि अर्जुनवर्चांसि प्रश्न-राजदोष-प्रतिज्ञा-
भेदात् । द्वे विप्रवचनी निषेध-प्रश्न-भेदात् । द्वे फाल्गुनवाक्ये स्वश्लाघा-
प्रतिज्ञाभेदात् । चतुर्विंशो विप्रस्य गृहे गतिः पार्थवीर्यं कथयतः । पंचविशो
प्रसूतिकाले विप्रेण जिष्णुप्रार्थनम् । षट्विंशो अर्जुनेन अस्त्राणि स्मृत्वा गांडीव-
सज्जीकरणम् । सप्तविंशो प्रसूतिस्थाने शरपंजरकरणम् । अष्टविंशो विप्र-
कुमार-देहस्यापि अदर्शनम् । त्रीणि अर्जुनवर्चांसि स्वनिन्दन-प्रवृत्त्यादिनिषेधा-
र्जुनधिकरण-भेदात् । द्विचत्वारिंशो फाल्गुनस्य संयमनीगमनम् । त्रिच-
त्वारिंशो अमरावत्यादि-गमनम् । चतुश्चत्वारिंशो रसातलादि-गमनम् । पंच-
चत्वारिंशो अर्जुनस्य अग्निप्रवेशोद्योगः । षट्चत्वारिंशो श्रीकृष्णेन निवारणम् ।
सप्तचत्वारिंशो अर्जुनेन सह प्रतीच्यां गमनम् । अष्टचत्वारिंशो लोकालोकात्
परं तमः प्रवेशः । नवचत्वारिंशो भगवदश्वानां गतिभ्रंशः । पंचशतमे अग्रे
सुदर्शनप्रक्षेपः । एकपंचाशत्तमे सुदर्शनेन तमोविदारणम् । द्विपंचाशत्तमे
अर्जुनस्य नेत्रविधानम् । त्रिपंचाशत्तमे सलिलप्रवेशः तत्र अद्भुतभवनदर्शनम् ।
चतुःपंचाशत्तमे तस्मिन् महाभीम-सर्पदर्शनम् । त्रिभिः भगवद्दर्शनं तत्स्वरूप-
वर्णनं च । अष्टपंचाशत्तमे तत्र स्थितं वदनं तदाज्ञानं च । द्वे भगवद्वाक्ये कार्ये
कृत्वा शीघ्रागमन-धर्माचरणभेदात् । एकषष्ठे भूमानम् आनम्य द्विज-
दारकादानम् । द्विषष्ठे गगनमार्गणैव द्वारकागमन-विप्रपुत्रदाने । त्रिषष्ठे
पार्थस्य विस्मयः कृष्णानुक्तं पया पीडयमानं च । चतुःषष्ठे अनेकवीर्याणि दर्शयतः
हरेः ग्राम्यविषय-भोग्यात्युजित-मल्लजातकरणे । पंचषष्ठे प्रजासु कामवर्षण-
श्रेष्ठयास्थाने । षट्षष्ठे अर्जुनादिद्वारा दुष्टघातः युधिष्ठिरादिद्वारा धर्मा-
वर्तनं । (एवं षट्षष्ठः श्लोकाः) ॥६६॥ (इति षडशीतिः अध्यायसंग्रहः)
॥८६॥

सप्ताशीतितमाध्यायम् अनुकामन्ति—

ऋडा स्त्रीमिहरेः पूजा विरहस्त्रयभिभाषणम् ॥६७॥

महाराथानां नामानि हरेर्वंशावलिस्तया ।

यादवानेक इत्येवमुत्तरार्धं निरूपितम् ॥६८॥

॥ इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचिता दशमस्कन्धानुक्रमणिका समाप्ता ॥

‘ऋडा’ इति । षोडशसहस्रस्त्रीभिः हरेः बुद्धिहर्तुः ऋडा द्वावशभिः । तत्र चतुर्भिः द्वारिकावर्णनम्, पुरुषजुष्ट-स्त्रीजुष्ट-चतुरंगसेनाजुष्ट-उद्यानाद्य भेदात् । पंचमे प्रत्येकरमणम् । सप्तभिः समुदायेन रमणम् । तत्र आद्ये जल-वर्णनम् । द्वितीये श्रीकृष्णवर्णनम् । तृतीये गीतवाद्यादिवर्णनम् । चतुर्थे हरि-महिषीणां सेकेप्रतिसेकौ । पंचमे महिषीभिः कृष्णोपगूहनम् । षष्ठे मुख्यं रमणम् । सप्तमे उभयेः नटादिभ्यः वस्त्रालंकारदानम् । विरहस्त्रयभिभाषणम् अष्टा-दशभिः । तत्र त्रयोदशे स्त्रीणां बुद्धिहरणम् । चतुर्दशे स्त्रीणाम् उन्मत्तवचनार-म्भः । दश स्त्रीणां वचांसि । कुररीचक्रवाकोऽब्धिश्चन्द्रमा मलयानिलः । मेघकोकिलवालाः त्रिस्तन्नद्यो हंस एव च ॥ १ ॥ दशधा भगवत्सनेहैरुन्मत्तास्त्रीभिः स्वभावतः । मनसैव तिरोधानमुक्तं चोक्तं न पूर्ववत् ॥ २ ॥ पंचभिः उप-संहारः । प्रथमे इति भावेन स्त्रीणां परमगतिप्राप्तिः । द्वितीये भगवन्माहा-त्म्यम् । तृतीये महिषीणां माहात्म्यम् । चतुर्थे हरेः वेदोक्तधर्मानुष्ठानम् । (पंचमे) षोडशसहस्रस्त्रीभावः । पंचभिः महाराथानां नामानि । तत्र प्रथमे पूर्वकथानुवादः । द्वितीये पुत्रसंख्या । त्रिभिः महाराथानां नामानि । पंचभिः हरेः वंशावली । पुत्र-पौत्र-प्रपौत्र-प्रति (श्रुति) बाहु-सुबाहु-शान्तिसेन-श्रुतसेन-प्रशंसाभेदात् । षड्भिः यादवानेकस्त्वम् मूले ‘अनेक’पदं भावप्रधानम् । तत्र आद्ये संबन्धायाः अशक्यता । द्वितीये आचार्यसंख्या । तृतीये भृत्यसंख्या । तृतीये कंस-जरासन्धादीनाम् असुरत्वम् । पंचमे यदूनां देवत्वम् । षष्ठे तेषां प्रमाणे प्रभुत्वम् । इत्येवमिति । पंचभिः उपसंहारः । तत्र आद्ये षट्कर्मसु यादवानां कृष्णचित्तता । द्वितीये श्रीकृष्णमाहात्म्यम् । तृतीये श्रीकृष्णस्य लीलोपयोगि-पदार्थसहितस्य नित्यं वर्तमानता । तुर्थे श्रीकृष्णानुवृत्तिम्

इच्छूनाम् एतत्कथाश्रवणावश्यता । पंचमे पूर्वभगवदीयानुचरितम् उत्तरार्द्ध-निरूपितम् । (एव पंचाशत् श्लोकाः ॥ ५० ॥ इति सप्ताशीतः अध्याय-संग्रहः ॥ ८७ ॥)

॥ इति श्रीमद्वल्लभाचार्यवंशोय-नोस्वामि-मधुरानाथसूरिसूनु-द्वारिकेशसूरि-विरचिता दशमस्कन्धानुक्रमणिकाव्याख्या “सुगमबोधिनी” समाप्ता ॥

“श्रीमद्वल्लभविट्ठलो विजयतः श्रीमान्महानादिमः प्रोद्यद्दंशधुरंधरो गिरिधरो रामोदरो विट्ठलः । श्रीमद्वल्लभ आदिमो गिरिधरः श्रीविट्ठलो द्वारिका-धीशप्रेष्ठमुतः स्वयं गिरिधरो श्रीमाथुरेशो गुप्तः ॥ १ ॥ एतेषामनुकंपया लघुमतिः श्रीवल्लभाचार्यजिद्-वाचं गूढतपां सदा सुखकरीं व्याख्यातवानस्म्यहम् । सा पुष्पांजलिरपिता गिरिधरांघ्यञ्जे भया चेतया श्रीमद्वल्लभवंशजाः मदुपरि प्रीताः सदा सन्तु वै ॥ २ ॥ पंचोत्तरैकोनविंशे माघे शुक्लाष्टमी तिथौ । कुजेऽकार्षीद्द्वारिकेशो रासस्यत्यामिमां मुदा ॥ ३ ॥”